In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

10518

द्रव्यगुण विज्ञान

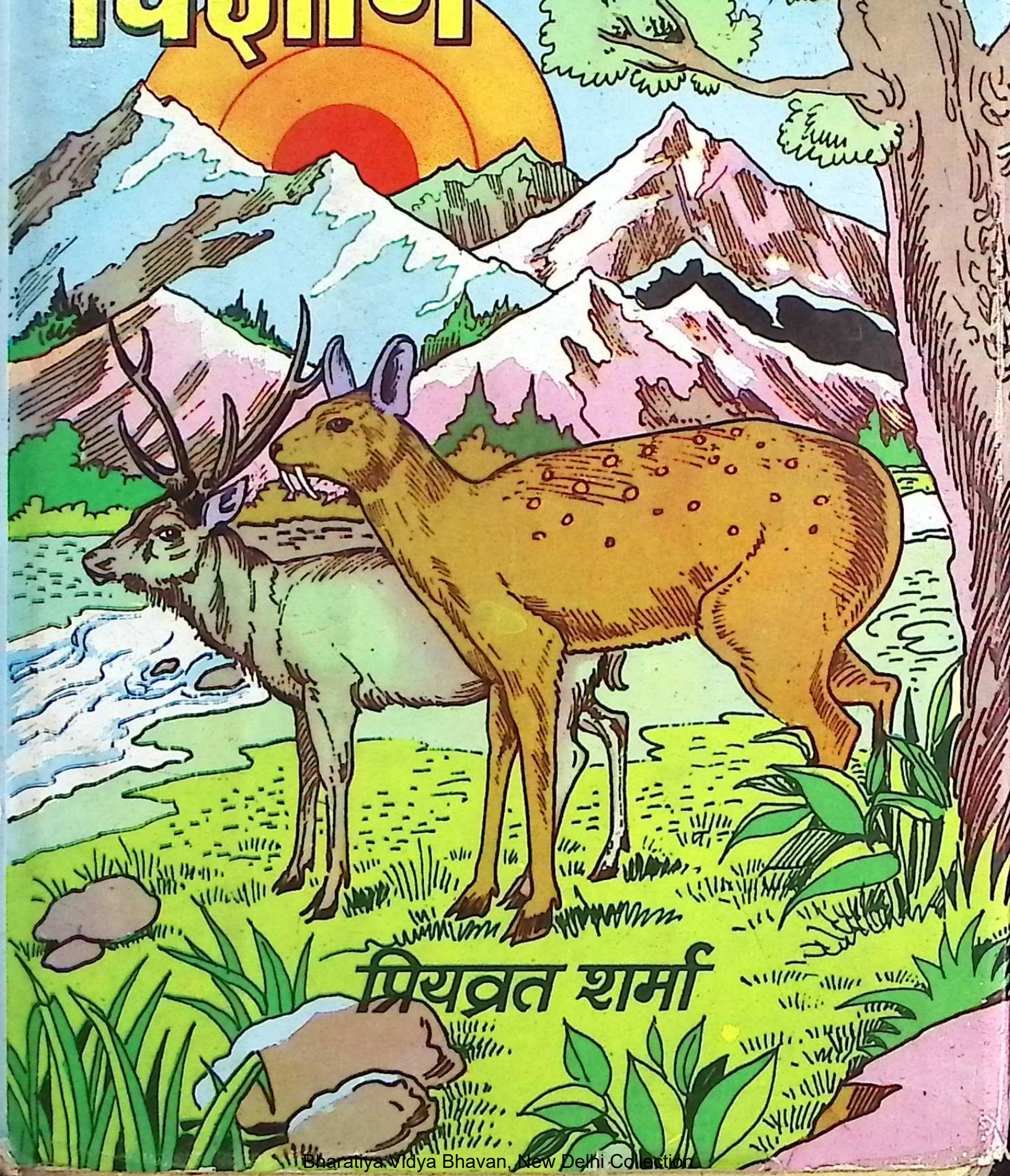

प्रियव्रत शर्मा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

INDIAN SOCIETY FOR HUMAN WELFARE
LIBRARY
Accn.No. 10518
Date 29/02/16

॥श्री॥

वि. आ. ग्रन्थमाला

३

द्रव्यगुण-विज्ञान

चतुर्थ भाग

(वैदिक औद्भिद द्रव्य एवं द्रव्यगुण का इतिहास)

लेखक

आचार्य प्रियव्रत शर्मा

भूतपूर्व अध्यक्ष, द्रव्यगुण विभाग

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी

चौखम्भा भारती अकादमी · वाराणसी

चौखम्भा भारती अकादमी

आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक

पो. ऑ. बॉक्स नं. १०६५

'गोकुल भवन' के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन

वाराणसी-२२१००१ (भारत)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशक
चौखम्भा भारती अकादमी
आकर ग्रन्थों के प्रकाशक एवं वितरक
पो. ऑ. बॉक्स नं. १०६५
गोकुल भवन' के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन,
वाराणसी-२२१००१ (भारत)
टेलीफोन : ०५४२-३३०३४९, ३३०३४५ (आ.)
३३२७०२, ३३२६३७ (नि.)

© चौखम्भा भारती अकादमी, वाराणसी
पुनर्मुद्रित : २००३

मूल्य : २२५.००

१. द्रव्यगुण-विज्ञान (मौलिक सिद्धान्त) प्रथम भाग
२. द्रव्यगुण-विज्ञान (औद्भिद औषध-द्रव्य) द्वितीय भाग
(चित्र पृथक्) द्वितीय भाग
३. द्रव्यगुण-विज्ञान (जांगम, पार्थिव ओषध-द्रव्य एवं आहार-द्रव्य) तृतीय भाग
४. द्रव्यगुण-विज्ञान (वैदिक औद्भिद द्रव्य एवं द्रव्यगुण का इतिहास) चतुर्थ भाग
५. द्रव्यगुण-विज्ञान (द्रव्य-विमर्श) पंचम भाग

(सम्पूर्ण १-५ भाग सचित्र)

अन्य प्राप्तिस्थान
चौखम्भा विश्वभारती
भारतीय संस्कृति तथा साहित्य के प्रकाशक एवं वितरक
पो. ऑ. बॉक्स नं. १०८४
के. ३७/१०९, गोपाल मन्दिर लेन
वाराणसी-२२१००१ (भारत)

मुद्रक: सुरभि प्रिंटर्स, वाराणसी।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

V. AYURVEDA SERIES

3

DRAVYAGUṆA-VIJÑĀNA

(Vedic Plants & History of Dravyaguṇa)

Prof. P. V. ŚARMĀ
Ex. Senior Professor & Head of the Department of
Dravyaguṇa, Institute of Medical Sciences,
Banaras Hindu University
Varanasi

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY
Publishers & Distributors of Monumental Treatises of the East
P.O. Box No. 1065
'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane
VARANASI-1 (INDIA)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Publishers:

CHAUKHAMBHA BHARATI ACADEMY

Publishers & Distributors of Monumental Treatises of the East

P.O. Box No. 1065

'Gokul Bhawan' K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-221001 (India)

Phone : (0542) 330349,330345 (O.)
332702,332637 (R.)

© Chaukhambha Bharati Academy, Varanasi

All Rights Reserved

Reprint : 2003

Aslo can be had of :

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI

Oriental Publishers and Distributors

P.O. Box No. 1084

K. 37/109, Gopal Mandir Lane

VARANASI-1 (India)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भूमिका

वैदिक काल में लोक का जीवन वनस्पति-मय था। वन्य प्रदेशों में तो वनस्पतियों का बाहुल्य था ही, ग्रामीण क्षेत्रों में भी उनकी अधिकता थी। इस कारण मनुष्य अपनी दैनन्दिन आवश्यकताओं की पूर्त्ति उसीके माध्यम से करता था। दन्तधावन से लेकर आहार तक तथा शय्या से लेकर रथ तक सभी में वनस्पति का ही प्रयोग था। वस्त्र एवं आच्छादन भी इन्हींसे प्राप्त होते थे। स्नान, अनुलेपन, अंगराग, तेल आदि भी इन्हीं से बनते थे। स्त्रियाँ अपने श्रृंगार-प्रसाधन में इनका उपयोग करती थीं तो पुरुष अपना शर-सन्धान इससे करते थे। गृहनिर्माण में वनस्पतियों का प्रभूत उपयोग था तो गृह के नाना उपकरण, पात्र आदि इन्हीं से बनते थे। लेखन कार्य में भी पेड़ों की महीन छाल का कागज के रूप में तथा अनेक रंजक वनस्पतियों के रस का स्याही के रूप में प्रयोग होता था।

यज्ञों में वनस्पतियों का विशेष उपयोग था। यज्ञशाला के निर्माण से लेकर यज्ञ की परिधि, यूप तथा विविध पात्र तक में विभिन्न वनस्पतियों का व्यवहार था। सोम तो यज्ञों में एक प्रधान द्रव्य था ही जिसके कारण इसे ओषधिराज का विशेषण प्राप्त हुआ है। इसके अभाव में प्रतिनिधिभूत अन्य द्रव्यों का भा भी प्रचलन था।

इन प्राकृत प्रयोजनों के अतिरिक्त विकार के निवारण के लिए भी वनस्पतियों का प्रयोग होता था। यज्ञ के लिए निर्दिष्ट अजा, अश्व आदि पशुओं के रुग्ण होने पर उनकी चिकित्सा करनी पड़ती थी जिसमें इन द्रव्यों का उपयोग होता था क्योंकि रुग्ण पशु का याग में प्रयोग निषिद्ध था। मनुष्य स्वयं अपने विविध व्याधियों के निराकरण के लिए इनका प्रयोग करता था। इस प्रकार वैदिक कालीन मानव के योगक्षेम में वनस्पतियों का महत्वपूर्ण स्थान था। यही कारण है कि वैदिक वाङ्मय में ओषधि-वनस्पतियों की स्तुति में अनेक मन्त्र उपलब्ध होते हैं। ऋग्वेद का ओषधि-सूक्त तो प्रसिद्ध है हीं, अथर्ववेद में भी ऐसे अनेक स्थल आते हैं जहाँ मन्त्रद्रष्टा महर्षि वनस्पतियों की स्तुति करते नहीं अघाते। वनस्पतियों का लोक-जीवन में महत्व होने के कारण अनेक स्थानों एवं जनपदों के नाम वनस्पति के आधार पर प्रचलित हुये यथा वरणावती, मुंजवान्, कारस्कर, शिग्रु आदि।

वैदिक मानव ने प्रकृति के साहचर्य से वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। सभ्यता के विकास के साथ जैसे-जैसे उसकी आवश्यकतायें उभरने लगीं वैसे-वैसे वनस्पतियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के प्रयोग का क्षेत्र भी विस्तृत होता गया। इस कार्य में सर्वाधिक सहायता उसे पशुओं से मिली। पशु-पक्षी अपनी आवश्यकताओं की पूर्त्ति के लिए जिन वनस्पतियों का उपयोग करते थे उनका प्रयोग मनुष्य ने अपने लिए भी करना प्रारम्भ किया। पशुओं की प्रयोगशाला में वह अनेक वनस्पतियों का अनुसन्धान कर उन्हें प्रकाश में लाने में सफल हुआ।[1] यद्यपि उस समय आज के समान तकनीकी यन्त्र-उपकरण नहीं थे तथापि सूक्ष्म पर्यवेक्षणशक्ति (दिव्य दृष्टि) के बल से उन्होंने सब कुछ सिद्ध किया। इस ज्ञान-साधना में पशु-पक्षियों के घनिष्ठ एवं महत्वपूर्ण योगदान होने के कारण ही हम देखते हैं कि अनेक ओषधियों के नाम पशु-पक्षियों पर आधारित हैं।

वनस्पतियों का वर्गीकरण

वैदिक वाङ्मय में वनस्पतियों का वर्गीकरण विस्तृत रूप में मिलता है जिससे उनके स्वरूप तथा गुणकर्म पर पूरा प्रकाश पड़ता है।[2] प्राचीन महर्षियों ने पत्र, पुष्प,

---

१. वराहो वेद वीरुधं नकुलो वेद भेषजीम्।
सर्पा गन्धर्वा या विदुस्ता अस्मा अवसे हुवे॥
याः सुपर्णा आंगिरसीर्दिव्या या रघटो विदुः।
वयांसि हंसा या विदुर्याश्च सर्वे पतत्रिणः॥
मृगा या विदुरोषधीस्ता अस्मा अवसे हुवे।
यावतीनामोषधीनां गावः प्राश्नन्त्यघ्न्या यावतीनामजावयः।
तावतीस्तुभ्यमोषधीः शर्म यच्छन्त्वाभृताः॥—शौ० ८।७।२३–२५

२. इस संबन्ध में देखें ऋग्वेद का ओषधिसूक्त (१०।९७।१–२३) तथा अथर्ववेद के संबद्ध स्थल (शौ० ८।७।१–८, ११।६।१६–१७) विशेषतः निम्नांकित मन्त्रः—
या फलिनीर्या अफला अपुष्पा याश्च पुष्पिणीः।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः॥ ऋ० १०।९७।१५
ओषधीः प्रतिमोदध्वं पुष्पवतीः प्रसूवरीः।
अश्वा इव सजित्वरीर्वीरुधः पारयिष्णवः॥—ऋ० १०।९७।३
या बभ्रवो याश्च शुक्रा रोहिणीरुत पृश्नयः।
असिक्नीः कृष्णा ओषधीः सर्वा अच्छावदामसि॥—शौ० ८।७।१
प्रस्तृणतीः स्तम्बिनीरेकशुंगाः प्रतन्वतीरोषधीरावदामि।
अंशुमतीः काण्डिनीर्या विशाखा ह्वयामि ते।
वीरुधो वैश्वदेवीरुग्राः पुरुषजीवनीः॥—शौ० ८।७।४
पुष्पवतीः प्रसूमतीः फलिनीरफला उत।
संमातर इव दुह्रामस्मा अरिष्टतातये॥—शौ० ८।७।२७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फल, काण्ड आदि अवयवों, अन्य रचनात्मक विशेषताओं, उद्भवस्थानों तथा गुणकर्मों का सूक्ष्म निरीक्षण कर उनके आधार पर वनस्पतियों को विभिन्न वर्गों में स्थापित किया है। सामान्यतः स्वरूप के अनुसार औद्भिद द्रव्य वनस्पति, वानस्पत्य, वीरुध् तथा औषधि इन चार वर्गों में विभाजित किये गये हैं। चरकसंहिता में भी ऐसा ही वर्गीकरण उपलब्ध होता है। ऋग्वेद में वानस्पत्य शब्द नहीं मिलता, इसके स्थान पर वनिन् शब्द प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसका अर्थ पलाश आदि वृक्ष किया है। अथर्ववेद में उपर्युक्त चारों विभाग स्पष्ट रूप में मिलते हैं।

ब्राह्मण ग्रन्थों में औषधि, वनस्पति और वानस्पत्य शब्द मिलते हैं किन्तु ऋग्वेद का 'वनिन्' शब्द नहीं मिलता तथा 'वीरुध्' भी नहीं है। 'वृक्ष' शब्द मिलता है। इसी प्रकार उपनिषदों में औषधि और वनस्पति तो मिलते हैं किन्तु वानस्पत्य और वीरुध् नहीं हैं। वृक्ष का प्रयोग हुआ है। सामान्य रूप से छोटे पौधों के लिए "औषधि" तथा बड़े वृक्षों के लिए 'वनस्पति' शब्द का प्रयोग प्रारंभ काल से होता रहा है तथा इनका युग्म रूप औषधि-वनस्पति समस्त वानस्पतिक जगत् का बोधक रहा है।[2] ऐसा प्रतीत होता है कि प्रारंभ में वनस्पतियों के यही दो विभाग रहे होंगे

या रोहन्त्याङ्गिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवा औषधीः सन्तु शं हृदे॥—शौ० ८।७।१७
आथर्वणीराङ्गिरसी मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्रजायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि॥—शौ० ११।४।१६
न त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत—शौ० १९।४४।७
अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः॥
—शौ० ८।७।९

१. वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः।
द्विपाच्चतुष्पादिष्णामि यथा सेनाममूं हनन्॥—शौ० ८।८।१४
अग्निं ब्रूमो वनस्पतीनोषधीरुत वीरुधः॥—शौ० ११।६।१
वनस्पतीन् वानस्पत्यानोषधीरुत वीरुधः॥—शौ० ११।९।२४
तं भूमिश्चाग्निश्चौषधयश्च वनस्पतयश्च वानस्पत्याश्च वीरुधश्चानुव्यचलन्॥
—शौ० १५।६।२

२. तमोषधीश्च वनिनश्च—ऋ० ७।४।५
औषधिवनस्पतयः—शौ० ४।१५।२ (सा०)
ऋ०—१।५।२।७, १।५।४।५, १।७।२।१९, २।२।४।३, ३।२।३।१९, ३।६।२।२६,
४।३।१।१४, ४।६।९।१६, ६।१।१।१३, १०।३।३।४, १०।५।४।१, १०।६।४।१,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जो आगे चलकर पुनः दो-दो विभक्त होकर चार हो गये। औषधि का ही गुल्म, लता आदि विशिष्ट संस्थान का बोध कराने के लिए वीरुध् एक वर्ग हो गया। उसी प्रकार वनस्पति का एक विभाग वानस्पत्य हो गया जो अपेक्षाकृत छोटे वृक्षों का बोधक है। कल्पसूत्रों में भी औषधि-वनस्पति का प्रयोग है।[1] पाणिनि ने 'विभाषौषधिवनस्पतिभ्यः' (८।४।६) में इसका निर्देश किया है। पातंजल महाभाष्य (५।१।११९) में भी औषधि-वनस्पति का उल्लेख है।

वनस्पति[2]

यास्क ने इसका अर्थ किया है वनों का पति (स्वामी, पालक)। सायण ने भी इसी आधार पर इसका अर्थ किया है ओषधिवनस्पतिरूप वनों का पालयिता।

११।५।३।७, १२।१।४।१, १२।४।१।७, १२।८।२।३६, (वनस्पतय इध्मः ओषधय आहुतयः)

गो०—१।१।१३, १।२।९,२२

ऐ० उ०—१।४, २।४, छा०—५।१०।६, या०—८।५

ओषधियों को लोम तथा वनस्पतियों को केश कहा गया है—बृ० ३।२।१३

इसके अतिरिक्त, तै० ब्रा०—१।७।१

यो देवा अग्नो यो अप्सु यो विश्व भुवनमाविवेश।

य ओषधीषु यो वनस्पतिषु तस्मै देवाय नमो नमः॥—श्वे० २।१७

ओषधीषु शाल्यादिषु वनस्पतिष्वश्वत्थादिषु—शांकर

१. कौ० सू०—३२।२६, ७४।२६, हि० श्रौ०—२६।२।६३, २६।३।६२, २७।१।२६, २८।१।८, बौ० गृ०—१।५।६, आ० गृ०—२।७।३, गो० गृ०—१।४।९, आप० ध०—१।२।७।४, १।३।११५, १।५।१६।१५, १।५।१७।१९, २५, २।१।२।४, या०—८।५

२. निघ०—५।२, या०—८।३ (एष हि वनानां पाता पालयिता वा), वनस्पतिः वनस्य पालयिता वृक्षसमूहः – ऋ०—१।१६६।५, वनस्पतीन् खदिरपलाशादिलक्षणान् वृक्षान्—ऋ०—१।३४।१०, वनानामोषधिवनस्पतिरूपाणां पतिः पालयिता—ऋ०—१।९१।६, वनस्पतयो वृक्षाः—ऋ०—८।२०।५, (सा०), वनस्पतिभ्यः सारवद्भ्यो वृक्षेभ्यः—शौ० ६।१२५।२, वनस्पतीन् वृक्षान्—शौ० ११।११।२४, १२।१।१५, काठ० गृ०—५।१७।१५, गो० गृ०—१।४।९, १।५।१५, १।८।१६, आ० गृ०—२।४।३, सा० गृ०—२।६।४, जै० गृ०—१।१, १८, बौ० गृ०—१।५।६, शां० लि० ध०—११६, श्रौ० बृ०—१।१०९, ३।२६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इससे वह खदिर पलाश आदि वृक्षों का ग्रहण करते हैं। कहीं कहीं 'वनस्पति' शब्द से यूप (ऋ० १०।११०।१०) यूपाग्नि (ऋ० २।३।१०), वनस्पतिनिर्मित रथ (ऋ० ३।५३।२०) तथा औषधियों के स्वामी सोम (ऋ० ९।१२।७) का ग्रहण करते हैं। अथर्ववेद में इससे सारवान् वृक्षों का ग्रहण करते हैं (शौ० ६।१२५।२) संहिताओं में फलग्रहि वनस्पतियों का भी उल्लेख हैं (यो वै वनस्पतीनां फलग्रहितमः स एषां वीर्यवत्तमः यथा वेणुः—मै० ३।१।२, क० २९।८, ३६।१, काठ० २३।४, तै० ५।१।१।४, ५।२।५।६)

शतपथब्राह्मण में यह कहा है कि हेमन्त में वनस्पतियों के पत्ते झड़ जाते हैं[1]। यह यज्ञ में उपयोगी होता है, यदि यह न होता तो यज्ञ कैसे होते[2]? सोम को भी वनस्पति कहा गया है[3]। वसन्त में वनस्पतियां परिपक्व होती हैं[4]। वनस्पतियों से रथचक्र तथा उलूखलमुशल आदि बनते थे[5]। वनस्पतियों में कार्ष्मर्य, अश्वत्थ, उदुम्बर, प्लक्ष, रज्जुदाल, पीतुदारु, बिल्व आदि श्रेष्ठ माने गये हैं तथा वेतस निकृष्ट माना गया है[6]। वनस्पतियों में अनेक सन्धिशाखायें होती हैं[7]। ऐतरेय ब्राह्मण में वनस्पति को प्राण कहा है[8]। वनस्पतिचतुष्टय में न्यग्रोध, उदुम्बर, अश्वत्थ और प्लक्ष परिगणित हैं[9] (ऐं० ब्रा० ८।१६)। कल्पसूत्रों में भी वनस्पति का प्रचुर प्रयोग मिलता है। पाणिनि के वनस्पत्यादि गण (६।२।१४०) में वनस्पति का उल्लेख है। वार्त्तिककार (२।४।१२) ने वनस्पति का उल्लेख किया है जिसका उदाहरण भट्टोजि ने 'प्लक्षन्यग्रोधौ' दिया है। पातंजल महाभाष्य (२।४।१२) में भी यह है।

---

१. ११५।४।५, हिमेन पर्णा मुषिता वनानि—शौ० २०।१६।१०

२. वनस्पतिर्यज्ञियः—श० ३।२।२।७, न हि मनुष्या यजेरन् यद् वनस्पतयो न स्युः—श० ३।२।२।९ तस्माद्धेतस्स आव्रश्चनाद् वनस्पतयोऽनु प्रजायन्ते—श० ३।६।३।१५

३. सोमो वै वनस्पतिः—श० ३।८।३।३३, ५।३।३।४,

४. वसन्ते'''वनस्पतयः पच्यन्ते—श० ४।३।१।१४,

५. वानस्पत्यानि चक्राणि रथ्यानि—श० ५।४।३।१६

६. श० ३।८।२।१७, ३।८।३।१२, १२।७।१।९, १३।४।४।६–८, ९।१।२।२४
(वैतसो वनस्पतीनामनुपजीवनीयतमो यातयामा हि सः)

७. श० ११।६।१।८
इसके अतिरिक्त श०—६।२।२।३७, ७।५।१।१५, ८।४।३।१७, १२।४।१।७

८. प्राणो वै वनस्पतिः—ऐ० ब्रा० २।४, १०, और देखें:—५।२६, ७।३९

९. वनस्पतयो वै द्रुः—तै० ब्रा० १।३।९।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वानस्पत्य

छोटे वनस्पतियों को वानस्पत्य या वृक्ष कहते हैं। ऋग्वेद में 'वानस्पत्य' शब्द नहीं है इसके लिए 'वनिन्' या 'वृक्ष' शब्द प्रयुक्त हुआ है। एक स्थल पर (ऋ० ५।५४।६) 'वृक्ष' शब्द है जिसका अर्थ सायण ने मेघ किया है—(वृश्च्यते विदार्यत इति वृक्षो मेघः) अथर्ववेद में 'वानस्पत्य' और 'वृक्ष' दोनों शब्द आये हैं। शतपथब्राह्मण में 'वानस्पत्य' शब्द वनस्पतिविकार अर्थ में प्रयुक्त है। पलाश, विकंकत, कार्ष्य, बिल्व, खदिर तथा उदुम्बर इन्हें यज्ञिय वृक्ष कहा गया है, विकंकत यज्ञपात्रीय वृक्ष है। (फल) का भी निर्देश है (१।१।१।१०)।

उपनिषदों में भी 'वानस्पत्य' शब्द नहीं है। इसके स्थान पर 'वृक्ष' शब्द आया है। वृहदारण्यक उपनिषद् (३।९।२८।१–६) में 'वनस्पति' के साथ 'वृक्ष' शब्द प्रयुक्त है। शंकराचार्य ने वनस्पति को 'वृक्ष' का विशेषण कहा है किन्तु वस्तुतः 'वृक्ष' शब्द वानस्पत्य का द्योतक प्रतीत होता है[1]।

कल्पसूत्रों में भी 'वानस्पत्य' शब्द वनस्पतिविकार के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[2] 'वृक्ष' शब्द का ही इस अर्थ में प्रयोग हुआ है।[3] विवाहकर्म में पुंनामा वृक्षों का प्रयोग है।[4] फलवाले वृक्षों को 'फलवृक्ष' या फलेग्रहि कहा गया।[5] पाणिनि (२।४।१२, ४।३।१३५) में 'वृक्ष' का उल्लेख है। पातंजल महाभाष्य में 'वनस्पतीनां समूहो

---

१. ऋ०—७।४।५, १०।६६।९, ५।५४।६, शौ०—१।२।३०, ८।८।१४, ११।९।२४
१२।१।२७, १२।३।१८, १५।६।२०,
वानस्पत्य—ऐ० ब्रा० ७।३३, ८।१६, श०—१।१।४।७,१०, ५।४।३।१६
११।१।७।२, १४।२।२।५३, ५४
वृक्ष—श० १।३।३।२०, २।२।४।१०, २।६।२।१७, ४।५।२।१२, ९।३।३।६
११।१।८।६, १४।६।९, ३१, ३२, ३४
बृ०—३।९।२८।१–६, छा०—६।९।१, २, ६।११।१, श्वे०—३।९,४।६०, ७०
तै० १०।१, मु०—३।१।१,२
वृक्षो व्रश्चनात्, वृत्वा क्षां तिष्ठतीति वा, क्षा क्षियतेर्निवासकर्मणः—
या० २।६०, १२।२९

२. बौ० श्रौ०—२।१२, हि० श्रौ०—३।३।५, काठ० गृ०—४।६।८, आ० गृ०—२।६।६

३. बौ० ध०—३।२।१५, वि०—३७।२४

४. शां० गृ०—१।१३।६

५. खा० गृ०—२।२।५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वानस्पत्यम्' (४।१।८५) है। इसके अतिरिक्त, वृक्ष 'शब्द का अनेक बार प्रयोग हुआ है।[1] इसके उदाहरण में शिंशपा दिया है।

ओषधि

ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में 'ओषधि' शब्द अनेक बार प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसकी निरुक्ति तथा व्याख्या अनेक प्रकार से की है यथाः—

१—ओषधिः प्रियंगुव्रीह्यादिः—ऋ० १।१६६।५, ४।५७।३, ६।३९।५

ओषधयो व्रीहियवाद्याः—शौ० ४।१५।२, ११।६।१७, ११।७।२०, ८।२।२२

२—ओषधयः फलपाकान्ताः—ऋ० १।९०।६

ओषध्यः फलपाकान्ताः लताः—ऋ० ८।२७।२

ओषः फलपाकः अस्यां धीयत इति ओषधिः—शौ० १।२३।१

ओषः पाकः आसु धीयत इति ओषधयः सर्वा वीरुधः[2]—शौ० ६।९५।३

३—ओषधीः तृणानि—ऋ० १०।१६९।१

ओपधीः पक्वफलसंयुक्तास्तृणगुल्मादिकाः—ऋ० ३।३४।१०

४—ओषधीः अन्नानि—ऋ० १।१६३।७, ऋ० ५।८४।१० (अजीजन ओषधी-र्भोजनाय)

५—ओषन्ति माद्यन्ति अनेनेति ओषः सोमः स धीयते निधीयते येष्वित्योषधयो ग्रावाणः—ऋ० १०।१६९।१

६—ओषधीः ओषध्यभिमानिनो देवान्—ऋ० ६।२१।९

इस प्रकार ओषधि के फलपाकान्त लता, तृण, अन्न, ग्रावा, देव आदि अर्थ किये गये हैं।

यास्क (९।२७) ने इसकी निरुक्ति की है—'ओषधयः ओषद्धयन्तीति वा। ओषत्येना धयन्तीति वा। दोषं धयन्तीति वा'। अर्थात् जो शरीर में शक्ति उत्पन्न कर उसका धारण करे या जो दोषों को दूर करे।

ओषधियाँ ग्राम्य और आरण्य दो प्रकार की कही गई है (शौ० ११।६।६) ग्राम्यः पुनः दो प्रकार की होती है :—कृष्टपच्य और अकृष्टपच्य[3]। कल्पसूत्रों में सात

१. पा० म०—१।१।४५, ६४, १।३।९, २।१।५७, ४।३।११३, ५।१।२

२. ओषं धयेति तत ओषधयः समभवंस्तस्मादोषधयो नाम—श० २।२।४।५

३. श०—१।६।१३, २।२।३।५, ७।२।४।१७,१८ उभय्यो (ओषधयः)ऽस्मै स्वधिताः पचन्ति कृष्टपच्याश्चाकृष्टपच्याश्च—तां० ब्रा० ६।६।९, हि० श्रौ०—११।६।४५ (सप्त ग्राम्याः ओषधयः सप्तारण्याः—तिलमाषाः व्रीहियवाः प्रियंगवणवो गोधूमाश्चेति

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्राम्य तथा सात आरण्य औषधियों की गणना की गई है। कात्यायन श्रौतसूत्र में (१४।११०–११२) में सप्तदश अन्नों में व्रीहि-यव, तिल-माष, अणु-प्रियंगु, गोधूम, मसूर, खल्व और खलकुल[1] ये दस ग्राम्य और शेष आरण्य कहे गये हैं (१४।११३)। हि० श्रो० (२६।७।३९) में "शम्योषा" शब्द आया है जिसकी व्याख्या की गई है कोशीधान्यानि माषमुद्गचणकादीनि ।

ब्राह्मणग्रन्थों में औषधि को आहुति, बर्हि, या लोम-श्मश्रु, नख, और वनस्पति को इध्म या केश कहा गया है जिससे उनके स्वरूप का तुलनात्मक ज्ञान होता है[2]। आरण्य औषधियों को प्रशस्त माना गया है[3]। औषधियाँ रसवती कही गई है[4]। औषधियों को वस्त्र के समान आच्छादक मानते हैं, संभवतः पृथ्वी का आच्छादन करने के कारण ऐसी मान्यता है[5]। इनके मूल के ग्रहण का विधान है क्योंकि अग्रभाग शुष्क होने पर भी इनका मूल आर्द्र रहता है[6]। हेमन्त में औषधियाँ म्लान हो जाती हैं।[7] औषधियाँ प्रचुर परिमाण में होती है[8]। औषधियाँ मूलिनी कही गई हैं जिन्हें पशु खाते हैं—और जिनसे दूध उत्पन्न होता है[9]। वर्षा से इनकी उत्पत्ति होती है। फलिनी औषधियों का भी निर्देश है[10]। इनका विकास ऊपर की ओर होता है[11]। जल के साथ इनके सेवन का विधान है[12]। वसन्त में औषधियाँ

सप्त प्रारण्याः, वेणुश्यामाकनीवारा जर्त्तिका गवीधुका, मर्कटका गार्मुताश्चेति सप्तारण्या ओषधयः—व्या०), १२।६।५, १३।२।२१

१. देखें—बृहदारण्यक उपनिषद् ६।३।१३

२. ओषधयो बर्हिर्वनस्पतय इध्मा—ऐ० ब्रा० ५।२८, श०—१।८।२।११,७।४।२।११, १२, ९।३।१।४, १२।१।४।१, बृ०—१।१।१, ३।२।१३

३. श०—१।१।१।१०

४. श०—१।२।२।२

५. श०—१।३।१।१४

६. ता इमा आर्द्रमूला ओषधयस्तस्माद् यद्यपि शुष्काण्यग्राणि भवन्त्यार्द्राण्येव मूलानि भवन्ति—श० १।३।३।४

७. तस्मात् हेमन् म्लायन्त्योषधयः—श० १।५।४।५

८. तस्मादिमा अतिरिक्ता असंमिता ओषधयः प्रजायन्ते—श० १।९।२।३०

९. श०—२।३।१।१०, ३।४।३।७, १२।४।१।७,

१०. सु०—१।५।१, कौ० गृ०—१।१४।८, शां० गृ०—१।२२।१०, पा० गृ०—१।१५।६

११. ऊर्ध्वा ओषधयो जायन्ते ऊर्ध्वा वनस्पतयः—श० ३।२।३।१९

१२. श०—३।६।१।७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पन्न होती हैं तथा शरद् में पक जाती है[1]। औषधियों की पशुपति संज्ञा है[2]। इन्हें देवपत्नी भी कहते हैं[3]। अप्सरा भी इन्हें कहा गया है[4]। औषधियां कहीं सौम्य और कहीं आग्नेय कही गई हैं इसका कारण संभवतः उनकी अग्नीषोमीय प्रकृति है[5]। यज्ञ का शिर कट जाने पर जो रस गिरा उससे औषधियों की उत्पत्ति बतलाई गई है[6]।

उपनिषदों में औषधियाँ जल का सार कही गई है[7]। कल्पसूत्रों में औषधियों का निर्देश विस्तृत रूप में उपलब्ध होता है[8]। पाणिनि ने 'औषधि' का अनेक स्थलों पर प्रयोग किया है[9]। वार्तिककार ने औषधि के प्रसंग में नीली का उल्लेख किया है (नीलादोषधौ) तथा "फलपाकशुषामुपसंख्यानम्" वार्त्तिक के द्वारा इसके फलपाकान्त स्वरूप का भी संकेत किया है। पातंजल महाभाष्य में

---

१. वसन्त ओषधयो जायन्ते शरद्यूग्रस ओषधयः पच्यन्ते—श० ४।३।१।१४, १७ शरच्छृता अस्यामोषधयो भवन्ति—या० ४।२५

२. श०—६।१।३।१२,

३. ओषधयो वै देवानां पत्न्यः—श० ६।५।४।४

४. अग्निर्गन्धर्वस्तस्योषधयोऽप्सरसः—श० ९।४।१।७,

५. सौम्या ओषधयः—श० १२।१।१।२, जै० ब्रा०—१।३५४ आग्नेय्यो ह्योषधयः—ऐ० ब्रा० १।६

६. श०—१४।१।२।१९

७. एषां वै भूतानां पृथिवी रसः पृथिव्या आपोऽपामोषधयः ओषधीनां पुष्पाणि पुष्पाणां फलानि फलानां पुरुषः पुरुषस्य रेतः— बृ० ६।४।१, ५, छा०—१।१।२, मुं०—१।१।७, २।१।५, ९, तै०—१।७।१, २।१।१

८. द्रा० श्रौ०—१।१।१४, ५।२।४ (गन्धवतीभिरोषधीभिः) व्रीहयः शालयो मुद्गाः गोधूमाः सर्षपास्तिलाः। यवाश्चौषधयः सप्त विपदो घ्नन्ति धारिताः॥ कर्मप्रदीप (गो० गृ० १९।१६ की टीका में उद्धृत), कौ० सू०—८३।११, अ० प०—७०।६।१, बौ० गृ०—२।९।१९, बो० पि०—१।६।१, हि० गृ०—२०।८।२ (श्रवणपक्षे ओषधीषु जातासु हस्तेन पौर्णमास्यां वाऽध्यायोपाकर्म), पा० गृ०—२।१०।१, आ० गृ०—४।१।१२, शा० गृ०—४।५।२ (ओषधीनां प्रादुर्भावे हस्तेन श्रवणेन वा जुहुयात्), ४।६।३, १।२८।२३, काठ० गृ०—३।४।३, बौ० ध०—१।१०, ९, ३।२।१५, वि० ध०—३७।२४

९. पा०—४।३।१३५, ५।४।३७, ६।३।१३२, ८।४।६, दासीभारादिगण (६।२।४२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषधि के उदाहरण में "ब्राह्मी" दिया है (६।४।१७१) इसके अतिरिक्त, धान्य और तृण का भी निर्देश है जिसके उदाहरण क्रमशः 'व्रीहियवम्' और 'कुशकाशम्' दिये गये हैं (२।४।१२)। इससे स्पष्ट है कि पतंजलि वनस्पति को तो मानते थे किन्तु वानस्पत्य के स्थान पर वृक्ष का प्रयोग किया। औषधि के अन्तर्गत उन्होंने तीन विभाग किये—(१) औषधीयगुणसंपन्न यथा ब्राह्मी (२) आहारद्रव्य (धान्य) यथा व्रीहियव (३) तृण–अन्य क्षुद्र वनस्पति।

वीरुध्

'वीरुध्' शब्द ऋग्वेद तथा अथर्ववेद में अनेक स्थलों पर आया है। सायण ने इसके भिन्न-भिन्न अर्थ किये हैं :—

१—वीरुत्सु औषधीषु—ऋ० १।६७।५, २।३५।८, १०।४०।९, १०।४५।४, १०।९१।६ विरोहणशीलानां औषधीनां—शो० ११।८।१५, वीरुधः विरोहन्त्यः—ऋ० १०।९७।३, शो० १।३२।१

२—वीरुधां वनस्पतीनाम्—ऋ० ९।११४।२

३—वीरुधं लतारूपां—ऋ० १०।१४५।१
वीरुधः विरोहणशीला लतारूपा आरण्याः—शो० ११।६।१७, विरोहणशीलाः लताः–शो० ११।९।२१

४—विरुन्धन्ति विनाशयन्ति रोगान् इति वीरुधः औषधानि—शो० २।९।३ विरुधः औषधानि च—शो० २।९।४

५—अरण्यजा वीरुधः—शो० ११।७।२०
विरुधः विरोहणशीला आरण्या औषधि-वनस्पतयः—शो० ४।१५।३

सायण इस प्रकार "वीरुध्" से औषधि, वनस्पति और लता सभी का ग्रहण करते हैं। "लिबुजा" शब्द भी आता है जिसका अर्थ व्रतति या वल्ली किया गया है[1]।

ब्राह्मणग्रन्थों तथा उपनिषदों में इसका उल्लेख नहीं मिलता। परवर्ती वाङ्मय में इसके अन्तर्गत लता, गुल्म आदि का ग्रहण किया गया है। कल्पसूत्रों में लता, वल्ली, गुल्म शब्द आये हैं[2]। पाणिनि के न्यंक्वादिगण (७।३।५३) में वीरुध् का निर्देश है।

---

१. ऋ०–१०।१०।१३, (व्रततिः), १४ (वल्ली), ऋ०–८।४०।६, शौ०–७।९५।१ (व्रततिः)

२. आ० गृ०–२।१४।१, बौ० ध०–३।३।५, १५, वि० ध०–३७।२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनस्पतियों का नामकरण

वनस्पतियों के नाम अत्यन्त प्राचीनकाल से चले आ रहे हैं। निरुक्त में इन संज्ञाओं की निरुक्ति देकर उनका आधार स्पष्ट करने का प्रयत्न किया गया है किन्तु वह तो एक प्रयासमात्र है। वस्तुतः आदिम मानव ने इन वनस्पतियों का जो नाम दे दिया वही प्रचलित हो गया। संभव है, ऐसा करते समय उसके स्वरूप और कर्म का ध्यान रक्खा हो किन्तु अनेक संज्ञायें रूढ़ भी हुई। जो यौगिक थी वह भी कालान्तर में रूढिग्रस्त हो गई। विद्वानों की मान्यता है कि वनस्पतियों के नामकरण पर अन्तर्राष्ट्रीय प्रभाव भी कम नहीं था। प्राचीन सभ्यताओं ने स्वभावतः परवर्त्ती सभ्यताओं को प्रभावित किया। भारतीय वनस्पतियों के अनेक नाम असीरियन नामों से मिलते जुलते हैं[1]। किसने किसको प्रभावित किया यह निश्चयात्मक रूप से कहना कठिन है किन्तु अधिकांश विद्वानों की मान्यता है कि अतिप्राचीन काल में भारत से इन देशों का संपर्क था और भारतीय सभ्यता से ये सभ्यतायें प्रभावित थीं। अतः इसमें कोई सन्देह नहीं कि ओषधियों के नाम भी उनके व्यवहार के साथ साथ वहां भारत से ही गये[2]।

---

१. R. G. Harshe : Sivakosa, Introduction, PP. XLX–LII.

२. Nothing was known about synchronism of civilizations in sumer and India till recent times. The discoveris of Mohenjo Daro and Harappa opened new vistas into the field of oriental research. We know now that India was well known in sumer. Between Mohenjo Daro and sumer a close trade connection is proved by the fact that seals of exactly the same type as those found in India have also been found in Babylonia" Hall and Haddon have already advanced the opinion that the people of sumer probably came from India. In fact the migration of the Sumerians from India seems to be implied by Gebesis and confirmed by Berosus. A Babylonian chronicle mentions the name of Andubar as of an Indian who taught astronomy to the early inhabitants of Mesopotamia. The Indian tradition about trade relations between India and sumer is recorded in the Baberu Jataka. We cannot doubt at present about the frequent

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैदिक काल में जो नाम मिलते हैं उनमें कुछ तो ज्यों के त्यों अब तक चले आ रहे हैं यथा उदुम्बर, अश्वत्थ आदि। कुछ नाम ऐसे हैं जो कालक्रम से परिवर्त्तित हो गये यथा गुल्गुलु-गुग्गुलु, काष्मर्य-काश्मर्य आदि। तीसरी कोटि में ऐसे नाम हैं जो आगे चल कर लुप्त हो गये और उनके स्थान पर नये नाम प्रचलित हुये यथा जंङ्गिड, खलकुल आदि।

अनेक शब्द जो आजकल वनस्पतियों के नाम में प्रयुक्त हो रहे हैं वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होते हैं किन्तु अन्य अर्थ में यथा द्रवन्ती, (ऋ० ५।४१।१८), ज्योतिष्मती (ऋ० १।४६।६), त्रिवृत् (ऋ० १।१४०।२), विश्वभेषज (ऋ० १०।६०।१२, १०।१३७।३)। इसी प्रकार आथर्वण शान्तिकल्प में अमृता, ब्राह्मी, गायत्री, ऐन्द्री, अपराजिता, अभया महाशान्तियों का उल्लेख है जिनके आधार पर आगे चलकर औषधियों की संज्ञायें निर्धारित हुई। "अतस" शब्द ऋग्वेद में काष्ठ के अर्थ में प्रयुक्त है जिससे 'अतसी' शब्द बना। 'अरणी' शब्द अग्निमन्थन काष्ठ की संज्ञा थी जो बाद में एक औषधि का नाम हुआ। करंज और अरलु ऋग्वेद में राक्षसों के नाम हैं जो बाद में वनस्पतियों के नाम हुये। इसी प्रकार "कृतव्यधनी" "कृतवेधन" हुआ और घृताची लाक्षा का पर्याय बना। "जीवन्ती" को अथर्ववेद में औषधित्व प्राप्त हुआ। "रास्ना" शब्द जो रशना (मेखला) के अर्थ में प्रयुक्त होता था बाद में औषधिविशेष का वाचक बना। इट ऋग्वेद (१०।१७१।१) में एक ऋषि का नाम है जो वनस्पतिविशेष का भी बोधक है। महाबला अ० प० (७१।१७।७) में देवताविशेष का बोधक है जो बाद में औषधिविशेष में रूढ़ हुई। इसी प्रकार मुचकुन्द एक महामुनि थे (खि० २।१।७) जो कालान्तर में एक वृक्ष हुये।

जैसा कि पहले कहा जा चुका है, पशुपक्षियों से औषधियों के ज्ञान में पर्याप्त सहायता प्राप्त हुई है अतः स्वाभाविक ही था कि उनके नामकरण में भी इनका योगदान हो। निम्नांकित उदाहरण इस संबन्ध में पर्याप्त होंगे :—

१—वाराही	६—हंसपदी
२—नाकुली	७—मृगादनी
३—सर्पगन्धा	८—अजशृंगी
४—गन्धर्वहस्त	९—मेषशृंगी
५—काकमाची	१०—अश्ववार

---

intercourse existing between both countries from very ancient times.—R. V. H. Heres, S. J., the kingdom of Magan, B. C. Law vol. I, PP. 546–547.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैदिक औषधियों का नामकरण भी साधार है जिसके कुछ उदाहरण यहां दिये जा रहे हैं :—

१—**स्वरूपवाचक**—अणु, आण्डीक, तीक्ष्णश्रृंगी, नितत्नी, न्यग्रोध, पुनर्नवा, विषाणका

२—**अवयववाचक**—

पर्ण—उत्तानपर्णा, चित्रपर्णी, पर्ण, पृश्निपर्णी, बाणपर्णी, सहस्रपर्णी, स्रेकपर्ण, हिरण्यपर्ण,

फल—फलवती

पुष्प—हिरण्यपुष्पी, विषपुष्प, शंखपुष्पी

कुन्द—कान्दाविष

३—**उद्‌भववाचक**—क्याम्बू, शीतिका, मण्डूकी, वर्षाहू

४—**गुणवाचक**—

रूप—अर्जुन, असिक्नी, पीतदारु

रस—मधुक, मधुला, रसा

गन्ध—अश्मगन्धा, औक्षगन्धि, पूतिरज्जु, सर्पसुगन्धा, सुगन्धितेजन

५—**कर्मवाचक**—सामान्य—अपामार्ग, अमला, उदोजस, ऊर्जयन्ती, सहमाना, जीवला, त्रायमाणा, रोहिणी, विकंकत

विशिष्ट—केशदृंहणी, केशवर्धनी, क्लीबकरणी, मशकजम्भनी, सुभंगकरणी, संवननी, शेपहर्षणी, सरूपंकरणी ।

रोगपरक—ईर्ष्याभेषज, किलासभेषज, क्षेत्रियनाशिनी, विषदूषणी, हरितभेषज, बलासभेषज ।

६—**प्रशस्तिवाचक**—पूतद्रु, भद्र, अर्क ।

वनस्पति के अवयव

वनस्पति के विभिन्न अवयव यथा काण्ड,, शुंग, पर्व, पत्र, पुष्प, फल और मूल का उल्लेख वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध होता है । प्राचीन महर्षियों ने अपुष्पा तथा सपुष्पा और अफला तथा फलिनी औषधियों का विभाजन अत्यन्त सूक्ष्मता से किया था । पत्र की विशिष्ट रचना, आकृति आदि पर भी उनका ध्यान गया था । फल तथा मूल की प्रधानता के अनुसार क्रमशः फलिनी तथा मूलिनी औषधियों का भी निर्धारण हुआ था । श्रृङ्गाकार फल को देखकर "तीक्ष्णश्रृङ्गी" आदि विशेषणों का प्रयोग हुआ । फल के लिए "पिप्पल" शब्द प्राचीन वाङ्मय में प्रयुक्त हुआ है और सपिप्पला औषधियों की प्रशस्ति की गई है ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अथर्ववेद में (८।७।१२) सुन्दर शैली में सभी अवयवों का उल्लेख है। पयस्वती-रोषधयः से ओषधियों के क्षीर का संकेत होता है। शतपथब्राह्मण (१।३।३।२) में अर्क के प्रसंग में विभिन्न अवयवों का निर्देश किया गया है यथा पर्ण, पुष्प कोशी, समुद्ग, धाना, अष्ठीला, मूल। मूल के संबन्ध में अन्यत्र लिखा है कि ओषधियों के अग्रभाग यद्यपि शुष्क हो जाते हैं तथापि उनके मूल आर्द्र रहते हैं।

न केवल वाह्य रचना का अपितु आभ्यन्तर रचना का भी वर्णन उपलब्ध होता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (३।९।१–६) में पुरुष के अवयवों एवं धातुओं के समानान्तर वनस्पतियों तथा वृक्षों की रचना का वर्णन निम्नांकित मिलता है :—

पुरुष	वनस्पति
१–लोम	१–पर्ण (Leaves & hairs)
२–त्वक्	२–बहिस्त्वपाटिका (Epiderm)
३–रक्त	३–निर्यास (Latex)
४–मांस	४–शकर (Mesoderm)
५–स्नायु	५–किनाट (Endoderm)
६–अस्थि	६–आभ्यन्तरकाष्ठ (Heartwood)
७–मज्जा	७–मज्जा (Pith)

तना काट देने पर मूल से पुनः प्ररोह निकलते हैं किन्तु मूल काट देने पर वृक्ष का पुनरुद्भव नहीं होता। बीज से उत्पन्न होने वाले वृक्षों को धानारुह कहा है। बाह्य त्वक् से वनस्पतियों की रक्षा होती है[1]।

परवर्ती वाङ्मय में भी पत्र, पुष्प, फल, मूल आदि अवयवों का उल्लेख हुआ

१. मधुमन्मूलं मधुमदग्रमासां मधुमन्मध्यं वीरुधां बभूव।
मधुमत्पर्णं मधुमत्पुष्पमासाम्—शौ० ८।७।१२
यद्यपि शुष्काण्यग्राण्यग्राणि भवन्त्यार्द्राण्येव मूलानि भवन्ति—श० १।३।३।४
ओषध्यो मूलिन्यः—श० २।३।१।१०
द्वय्यो वा ओषधयः पुष्पेभ्योऽन्याः फलं गृह्णन्ति, मूलेभ्योऽन्याः—
तै० ब्रा० ३।८।१७।४
एतद्वै तासां समृद्धं रूपं यत् पुष्पवत्यः सुपिप्पलाः—श० ६।४।४।१७
तेजो ह वा एतद् वनस्पतीनां यद् बाह्याः शकलः, तस्माद् यदा बाह्याशकलमपतक्ष्णुवन्त्यथ शुष्यति—श० ३।७।१।८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है[१]। पाणिनि ने पर्ण, पुष्प, फल, मूल, वाल का उल्लेख किया है (४।१।६४)। वार्त्तिककार ने 'पुष्पमूलेषु बहुलम्' (४।३।१६६) में पुष्प और मूल का उल्लेख किया है। फल का अनेक स्थलों पर उल्लेख हुआ है[२]। पातंजल महाभाष्य में वृक्ष के मूल, स्कन्ध, फल और पलाश का निर्देश है[३]। इसके अतिरिक्त, वृक्ष के क्षीर और कण्टक का भी उल्लेख है[४]।

वनस्पतियों का उद्भव एवं विकास

अथर्ववेद में कहा गया है कि वनस्पतियों का पिता अन्तरिक्ष तथा माता पृथवी हैं और इसके मूल समुद्र में रहते हैं। इससे अन्तरिक्ष में फैलनेवाली या दिव्य ओषधियों, पृथ्वी पर होनेवाली तथा समुद्री वनस्पतियों का संकेत होता है[५]। पृथ्वी पर होनेवाली वनस्पतियों के भी दो वर्ग हो गये एक पर्वतीय प्रदेश में होने वाली दूसरी समतल भूमि में होनेवाली[६]। अथर्ववेद में एक स्थल पर इन्हें क्रमशः पर्वतीय और बाह्य कहा गया है[७]। त्रिककुत् पर्वत पर आंजन की उत्पत्ति बतलाई गई है। इसी प्रकार विष की उत्पत्ति भी पर्वत पर कही गई है[८]। वातबहुल (जांगल) प्रदेश में होनेवाली वनस्पतियों का भी उल्लेख है[९]। जल में होनेवाली वनस्पतियों का भी निर्देश है जो शेवाल से आवृत रहती है[१०]। ऋग्वेद के ओषधिसूक्त में ठीक ही कहा है कि ओषधियों के सैकड़ों उद्भवस्थान हैं[११]। इनमें भूमि सर्वोत्तम मानी गई है[१२]।

---

१. गौ० ध०—७।१२, बौ० ध०—१।१०।९

२. पा०—४।३।१६६, २।४।१२, ५।२।१२१

३. वृक्ष इत्युक्ते—अर्थोऽपि कश्चिद् गम्यते मूलस्कन्धफलपलाशवान्, एकत्वं च—पा० म० १।२।४५, १।४।२१

४. क्षीरिणो वृक्षाः, कण्टकिनो वृक्षाः—पा० म० ५।२।९४

५. यासां द्यौष्पिता पृथिवी माता समुद्रो मूलं वीरुधां बभूव—शौ० ८।७।२

६. या रोहन्त्यांगिरसीः पर्वतेषु समेषु च।
ता नः पयस्वतीः शिवाः ओषधीः सन्तु शं हृदे ॥—शौ० ८।७।१७

७. देवांजन त्रैककुद परि मा पाहि विश्वतः। त्वा तरन्त्योषधयो बाह्याः पर्वतीया उत ॥—शौ० १९।४४।६

८. सर्वे ते वध्रयः कृताः वध्रिर्विषगिरिः कृतः—शौ० ४।६।७
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्—शौ० ४।६।८

९. देखें—बिभीतक (ऋ० १०।३४।१)

१०. अवकोल्वा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृंग्यः ॥—शौ० ८।७।९

११. शतं वो अम्ब धामानि सहस्रमुत वो रुहः—ऋ० १० ९७।२

१२. इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समुजग्रभम् ॥—शौ० ६।२१।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनस्पतियों का विकास मुख्यतः जल और अग्नि इन दो तत्वों से होता है। अग्नीषोमीय सिद्धान्त के अनुसार जीवजगत् के संचालक ये ही दो प्रमुख तत्व हैं[1]। इन्हीं के आधार पर औषधियां सौम्य और आग्नेय कही गई हैं। शीत और उष्ण वीर्य का निर्धारण भी आगे चलकर इसी आधार पर हुआ। जल पोषक तत्व का प्रतीक है जो अग्नि के द्वारा रूपान्तरित होकर वनस्पति शरीर को विकसित करता है।

पयस्वतीरोषधयः (शौ० १८।३।५६) ओषधियों के सौम्य स्वरूप का संकेत करता है। शतपथ ब्राह्मण में अनेक स्थलों पर ओषधियों में जल की स्थिति का निर्देश हुआ है[2]। इसी प्रकार वनस्पतियों में अग्नि की स्थिति का भी उल्लेख है[3]।

'वनस्पतियों के विकास का सुन्दर वर्णन उपनिषदों में मिलता है[4]।

वनस्पतियों में चेतना की उपस्थिति का भी निर्देश उपलब्ध होता है[5]।

वनस्पतियों का उपयोग

शतपथ ब्राह्मण में जो यह कहा कि वनस्पतियों न होती तो यज्ञ कैसे होते वह नितान्त अर्थपूर्ण है। जैसा कि पहले कहा गया है, शाला के निर्माण से लेकर मनुष्य

---

१. शौ०—३।१३।५, राजानो वा एतौ देवनानां यद् अग्नीषोमौ—
तै० २।६।२।१, ७, शौ० ६।५४।२

२. आपो हि एतासां रसः—श० १।२।२।१, ३।६।१।७,
ओषधयो वा अपामोद्म यत्र ह्याप उन्वन्त्यस्तिष्ठन्ति तदोषधयो जायन्ते—
७।५।२।४७
सौम्या ओषधयः—श० १२।१।१।२,
अपां रसाः ओषधिभिः सचन्ताम्—शौ० ४।१५।२

३. य आ विवेशोषधीर्यो वनस्पतींस्तेभ्यो अग्निभ्यो हुतमस्त्वेतत्—शौ० ३।२१।१,२
अग्निर्भूम्यामोषधीष्वग्निमापो बिभ्रत्यग्निरश्मसु।
अग्निरन्तः पुरुषेषु गोष्वश्वेष्वग्नयः—शौ० १२।१।१९, १९३।२
अग्निर्वनस्पतीनामधिपतिः स मावतु—शौ० ५।२४।२

४. बृ०—३।२।१६, एषां भूतानां पृथिवी रसः, पृथिव्या आपो रसः, अपामोषधयो रसः,
ओषधीनां पुरुषो रसः—छा० उ० १।१।२
तै० उ०—२।१।१

५. ऋ०—१०।९७।२१, शौ०—११।६।१०
शिरीषोऽधः स्वपिति, सुवर्चश्च आदित्यमनुपर्येति—पा० म० ३।१।७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

को आहार एवं औषध तथा विभिन्न उपकरणों एवं पात्रों[1] के लिए वनस्पतियों का ही सहारा लेना पड़ता था। यज्ञ में यूप, परिधि, दण्ड आदि तथा स्फ्य, स्रुक्, स्रुव आदि उपकरण वनस्पतियों से बनते थे तथा इनके लिए विशिष्ट वनस्पति निर्धारित थे। उदुम्बर की चार वस्तुयें होती थीं जिन्हें चतुरौदुम्बर कहते हैं[2]—स्रुव, चमस, इध्म और उपमन्थनी। स्रुवा विकंकत की बनती थी। उपनयन में दण्ड वर्णानुसार विभिन्न वृक्षों के लिये जाते थे। यज्ञ में उपयोगी वृक्षों में बिल्व, खदिर, पलाश, रोहीतक, उदुम्बर, काश्मर्य, रज्जुदाल, सुगन्धितेजन आदि प्रमुख हैं। कृषि के उपकरण भी वनस्पतियों से ही बनते थे। हल का फाल खदिर से बनता था[3]।

औषधीय प्रयोग

आहार तथा अन्य लौकिक उपयोग के अतिरिक्त औषधियों तथा वनस्पतियों का औषधरूप में प्रयोग महत्वपूर्ण था। जब से मनुष्य ने शरीरधारण किया, रोगों का प्रादुर्भाव हुआ और तभी से इस विघ्न के निराकरण के लिए औषध का प्रयोग प्रारंभ हुआ। यह स्वाभाविक ही था कि वन्य प्रदेश में रहने वाले महर्षियों का ध्यान अपने वातावरण में वर्त्तमान वनस्पतिजगत् की ओर आकृष्ट होता जिससे पशु-पक्षी भी रुग्णावस्था में लाभ उठाते थे।

पाश्चात्य मनीषियों की ऐसी धारणा है कि वैदिक काल में केवल अन्धविश्वास के आधार पर जादू-टोने के रूप में ही औषधियों का व्यवहार था उनका कोई सयुक्तिक प्रयोग नहीं था किन्तु यह तथ्य के विपरीत है। वेदों में आयुर्वेद के मौलिक तत्व निहित हैं और चिकित्सा का आधार भी सूत्ररूप में निर्दिष्ट हैं। विशेषतः अथर्ववेद के काल तक तो यह बहुत कुछ व्यवस्थित रूप धारण कर चुका था। त्रिदोष के स्वरूप[4] भी निर्धारित हो रहे थे जिनके द्वारा शरीर के प्राकृत एवं वैकृत प्रक्रियाओं की व्याख्या

---

१. बौधायन धर्मसूत्र (१'८।३०–३४) में तीन प्रकार के पात्रों का उल्लेख है— दारव, वैणव और फलमय।

२. चतुरौदुम्बरो भवत्यौदुम्बरः स्रुवः औदुम्बरश्चमस औदुम्बर इध्म औदुम्बर्यौ उपमन्थन्यौ—बृ० ६।३।१३

३. शौ० १०।६'८

४. यो अभ्रजा वातजा यश्च शुष्मो—शौ० १।१२।१, ३, १।२४।१, ५।२८।३
य एकमो जस्त्रेधा विचक्रमे––शौ० १।१२।१
इन्द्र त्रिधातु शरणं त्रिवरुथं स्वस्तिमत्—शौ० २०।८३।१

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

की जा रही थी। वैश्वानर अग्नि[1], वायु[2] तथा जल[3] के मानवशरीरस्थ कार्य का भी अध्ययन हो रहा था। शरीरान्तर्गत अग्नियों के कार्य के अतिरिक्त अग्नि के रक्षोघ्न स्वरूप की भी प्रतिष्ठा हो चुकी थी[4]। इतना होते हुए भी मनुष्य दैवी शक्तियों के प्रति भी विश्वास बनाये था। इस प्रकार रोग-निवारण के लिए वह दोनों प्रकार के उपाय काम में लाता था, ओषधियों के द्वारा दोषों का शमन करता था तथा साथ-साथ राक्षसों का भी विनाश करता था। तत्कालीन भिषक् रक्षोहा तथा अमीवचातन[5]

---

१. आज्यस्य परमेष्ठिन् जातवेदस्तूनत्रांशन्।
अग्ने तौलस्य प्राशान् यातुधानान् विलापय।—शौ० १।७।२, ५।८।२
तनूनां सकलप्राणिशरीराणां जाठराग्निरूपेण वशयितः—सा०
वैश्वानरस्य महतो महिम्ना शिवं मह्यं मधुमदस्त्वन्नम्—शौ० ६।७१।३,
अग्निः प्राणान्त्संदधाति चन्द्रः प्राणेन संहितः—शौ० ३।३१।,
(अग्निः अशितपीतपरिणामहेतुः अन्तरवस्थितो जाठररूपः—सा०)
अग्निः पचन् रक्षतु त्वा पुरस्तात्—शौ० १२।३।२४ वैश्वानरो रक्षतु जातवेदा—शौ० ८।१।११ (विश्वेषां नराणां संबन्धी जाठरोऽग्निः—सा०) विश्वं सर्वं प्राणिजात बिभर्ति अनुप्रविश्य अशितपीतादिपचनेन पोषयतीति विश्वंभरो जाठराग्निः (सा० शौ० २।१६।५); त्वं भिषक् भेषजस्यासि कर्त्ता त्वया गामश्वं पुरुषं सनेम—शौ० ५।२९।१

२. उत्समक्षितं व्यचन्ति ये सदा च आसिंचति रसमोषधीषु।
पुरो दधे मरुतः पृश्निमातृंस्ते नो मुंचन्त्वंहसः॥—शौ० ४।२७।२-५

३. आपो हि ष्ठा मयोभुवस्ता न ऊर्जे दधातन। महे रणाय चक्षसे॥
उशतीरिव मातरः॥
यो वः शिवतमो रसस्तस्य भाजयतेह नः।—शौ० १।५।१-२
आप इद् वा उ भेषजीरापो अमीवचातनीः। आपो विश्वस्य भेषजीः-शौ० ३।७।५
जलाषभेषज—शौ० २।२७।६, ६।५७।२
भिषग्भ्यो भिषक्तरा आपो अच्छा वदामसि—शौ० १९।२।३,
इदमापः प्र वहतावद्यं च मलं च यत्—शौ० ७।९४।३

४. शौ० ८।३।१-२६

५. यत्रौषधीः समग्मत राजानः समिताविव।
विप्रः स उच्यते भिषग् रक्षोहामीवचातनः॥—ऋ० १०।९७।६
उप प्रागाद् देवो अग्नी रक्षोहामीवचातनः—शौ० १।२८।१
अमीवाः सर्वाश्चातय जहि रक्षांस्योषधे—शौ० १९।३४।९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दोनों था। यही दोनों परम्परायें आगे चलकर क्रमशः दैवव्यपाश्रय एवं युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा कहलाईं। रोग भी दो प्रकार के निर्दिष्ट हैं—शपथ्य और वरुण्य[1]। पहला संभवतः शापादिजन्य तथा दूसरा प्रज्ञापराधजन्य है। पहले में दैवव्यपाश्रय तथा दूसरे में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा का प्रयोग है। केशवपद्धति में भी लिखा है कि व्याधियाँ दो प्रकार की होती हैं—आहारनिमित्त और अन्यजन्मपापनिमित्त। प्रथम प्रकार की चिकित्सा आयुर्वेदीय विधियों से तथा दूसरे प्रकार की चिकित्सा अथर्ववेदोक्त विधियों से होती है[2]। निज तथा आगन्तु रोगों का भी क्रमशः 'रोग' तथा 'आस्राव' शब्द से अभिधान है। रोग दोष-प्रकोपजन्य विकार है तथा आस्राव (रक्तस्राव आदि) अभिघात आदि से व्यथापूर्व उत्पन्न होता है। रोग के साथ-साथ 'आस्राव' शब्द का प्रयोग महत्वपूर्ण है[3]।

अग्नेः शरीरमसि पारयिष्णु रक्षोहासि सपत्नहा।
अथो अमीवचातनः पूतद्रुर्नाम भेषजम् ॥—शौ० ८।२।२८

१. मुचन्तु मां शपथ्यादथो वरुण्यादुत—शौ० ६।९८।२
वरुण रात्र्यभिमानी तथा जलाधिपति देवता हैं। रात्रि अन्धकार रूप होने से अज्ञान (प्रज्ञापराध) का प्रतीक है।
मुञ्चामि त्वा हविषा जीवनाय कमज्ञातयक्ष्मादुत राजयक्ष्मात्।
—शौ० २०।९६।६
या ते प्राणप्रिया तनूर्यो ते प्राण प्रयेसी।
अथो यद् भेषजं तव तस्य नो धेहि जीवसे ॥—शौ० ११।४।९

२. तत्र द्विविधा व्याधयः, आहारनिमित्ता अन्यजन्मपापनिमित्ताश्च। तत्राहार-निमित्तेषु चरकवाहटसुश्रुतेषु—व्याध्युपशमनं भवति, अशुभनिमित्तेषु अथर्ववेद-विहितेषु शान्तिकेषु व्याध्युपशमनं भवति—के० प्र० देखें—अथर्ववेदभाष्य (होशियारपुर), भाग १, पृ० ३२

३. एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्—शौ० १।२।४
सायण ने यहाँ रोग से ज्वरातीसारादि तथा आस्राव से मूत्रातीसार लिया है किन्तु रोग से इसके पृथक् अभिधान में दी गई युक्ति सबल नहीं है। व्यवहारतः भी तृणपंचमूल मूत्रातीसार में लाभकर नहीं होता। अन्य स्थलों में भी जब ऐसा प्रयोग आता है तब इसके विशिष्ट प्रयोग की ओर ध्यान जाता है। इस संबन्ध में देखें—शौ० २।३।२-५
'तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्।'
कुछ लोग इससे अतीसार लेते हैं, देखें ग्रिफिथ (शौ० १।२।४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिकित्सा के तीसरे प्रकार 'सत्वावजय का भी संकेत पर्याप्त है। रोगी को धैर्य दिलाना जिससे वह रोग पर विजय प्राप्त कर ले और मृत्यु से भयभीत न हो इसका मुख्य प्रयोजन था। ऐसे अनेक स्थल अथर्ववेद में मिलते हैं[1]। इसके अतिरिक्त, ईर्ष्या[2], क्रोध[3] आदि के शमन का भी विधान है। इन चिकित्साविधियों से चिकित्सक को इतना आत्मविश्वास रहता था कि मृत्यु के मुख से भी रोगी को लौटा ले[4]।

अथर्ववेद में अनेक ओषधियों का प्रयोग रूपसाधर्म्य के आधार पर हुआ है यथा हरिद्रा का कामला में, लाक्षा का रक्तस्राव में आदि; किन्तु यह प्रयोग परम्परा से भी परिपुष्ट होगा इसमें कोई सन्देह नहीं। परम्परा में प्रयुक्त ओषधियों को ही शास्त्र में समय समय पर निबद्ध किया गया है। इसके संकेत भी मिलते हैं[5]। मन्त्रों का तात्पर्य यह नहीं है कि केवल मन्त्र पढ़ने से ही रोगी अच्छे हो जाते थे प्रत्युत ओषधि-सेवन के साथ मन्त्र पढ़ने से उसकी शक्ति बढ़ जाती थी और रोगी पर मनोवैज्ञानिक प्रभाव भी पड़ता था। उदाहरण के लिए, कामला में हरिद्रोदन का (शौ० १।२२) तथा श्वित्र में नीली आदि का (शौ० १।२३) प्रयोग। इस सबन्ध में कौशिक सूत्र का भैषज्य-प्रकरण अवलोकनीय है। जिन वृक्षों के मणि के धारण का विधान है वह भी

---

१. प्रत्यक् सेवस्व भेषजं जरदष्टिं कृणोमि त्वा—शौ० ५।३०।५
मा बिभेर्न मरिष्यसि जरदष्टिं कृणोमि त्वा—शौ० ५।३०।८
पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि।
यं जीवमश्नवामहे न स रिष्याति पुरुषः—शौ० ६।१०९।२
सोऽरिष्ट न मरिष्यसि न मरिष्यसि मा बिभेः—शौ० ८।२।२४
कृणोऽम्यस्मै भेषजं मृत्यो मा पुरुषं वधीः—शौ० ८।२।५
२. देखें :—ईर्ष्याभेषज (शौ० ७।४६।१), ६।१८।१–३, ७।४५–१–२,
३. शौ० ६।४२।१–३, ६।४३।१–३—दर्भ मन्युशमन कहा गया है।
४. यदि क्षितायुर्यदि वा परेतो यदि मृत्योरन्तिकं नीत एव।
तमा हरामि निर्ऋतेरुपस्थादस्पार्शमेमं शतशारदाय॥—शौ० २०।९६।७
५. त्वया पूर्वमथर्वाणो जघ्नू रक्षांस्योषधे।
त्वया जघान कश्यपस्त्वया कण्वो अगस्त्यः॥—शौ० ४।३७।१
अत्रिवद् वः क्रिमयो हन्मि कण्ववज्जमदग्निवत्।
अगस्त्यस्य ब्रह्मणा सं पिनष्म्यहं क्रिमीन्॥—शौ० ५।२३।१०
यद् ब्रह्मभिर्यद् ऋषिभिर्यद् देवैः विदितं पुरा।
यद् भूतं भव्यमासिन्वत् तेना ते वारये विषम्॥—शौ० ६।१२।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रतीकमात्र है । उसका अर्थ यह है कि वह द्रव्य परम्परा में औषधरूप में व्यवहृत था । इन्हीं सब कारणों से आयुर्वेद ने अथर्ववेद में अपनी भक्ति प्रदर्शित की है[1] ।

औषधियों के रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव की भी स्थापना हो चुकी थी और अनेक पक्षों से इनका अध्ययन हुआ था[2] । फिर औषधियों के खनने के समय तथा प्रयोग के समय मन्त्रोच्चार होता था[3] । अथर्ववेद में एक बड़ा ही रोचक प्रसंग है कि कि कैरातिका कुमारी औषधि खनती है और युवा भिषक् आकर उसका विनियोग करता है[4] । औषधि-खनन के बाद भूमि के क्षत के शीघ्र रोहण के लिए प्रार्थना भी की जाती थी[5] ।

औषधियों की संख्या हजारों में थी और उसके जानकार भी बहुत थे । ज्ञानपूर्वक औषधियों का जो प्रयोग करता था वही योग्य भिषक् माना जाता था[6] । इसके बाद भी

---

१. च० सू० ३०।१९

२. ओषधयः सोमराज्ञीर्वह्वीः शतविचक्षणाः ।
बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः ॥
शतविचक्षणाः शतविधदर्शनाः, रसवीर्यविपाकेन नानाविधज्ञानोपेता इत्यर्थः—(सा०); वनस्पतीनामुत वीर्याणि—शौ० १।३५।३, नानावीर्या ओषधीर्या बिभर्ति—शौ० १२।१।८

३. इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम् ।
यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम् ॥—शौ० ३।१८।१
और देखें—शौ० ६।१३७।१, ७।३८।१

४. कैरातिका कुमारिका सका खनति भेषजम् ।
हिरण्ययीभिरभ्रिभिर्गिरीणामुप सानुषु ॥
आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः ।
स वै स्वजस्य जम्भनः उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥—शौ० १०।४।१४-१५

५. यत् ते भूमे विखनामि क्षिप्रं तदपि रोहतु ।
मा ते मर्म विमृग्वरि मा ते हृदयमर्पिपम् ॥—शौ० १२।१।३५

६. अधीतीरध्यगादयमधि जीवपुरा अगन् ।
शतं ह्यस्य भिषजः सहस्रमुत वीरुधः ॥
देवास्ते चीतिमविदन् ब्रह्माण उत वीरुधः ।
चीतिं ते विश्वे देवा अविदन् भूम्यामधि ॥
यश्चकार स निष्करत् स एव सुभिषक्तमः ।
स एव तुभ्यं भेषजानि कृणवद् भिषजा शुचिः ॥—शौ० २।९।३-५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुत सी ओषधियाँ अज्ञात रह जाती थी[1]।

प्रयोगभेद से ओषधियाँ चार प्रकार की मानी गई हैं—आथर्वणी, आंगिरसी, दैवी और मनुष्यजा। शान्ति-पौष्टिक कर्मों में उपयुक्त ओषधियाँ आथर्वणी कहलाती थीं उच्चाटन, मारण आदि घोर कृत्यों में प्रयुक्त ओषधियाँ आँगिरसी थीं। देवों के समान अजर-अमर बनाने वाले रसायन आदि ओषधप्रयोग दैवी तथा सामान्यतः रोगनिवारण के लिए प्रयुक्त मनुष्यजा कहलाती थीं।[2]

इसी प्रकार अर्थववेदीय ओषधविज्ञान पर्याप्त विकसित था और यह दीर्घकालीन प्रयोग एवं अनुभव का परिणाम था[3]।

कुछ भारतीय विद्वानों की भी धारणा है कि अथर्ववेद में जादू-टोना (Charm System) था और कौशिक सूत्र से ओषधप्रयोग (Drug system) हुआ।[4] यह यथार्थ नहीं है। जैसा कि ऊपर कहा गया है, अथर्ववेद-काल में युक्तिव्यपाश्रय चिकित्सा प्रचलित थी।

यावतीषु मनुष्या भेषजं भिषजो विदुः।
तावतीर्विश्वभेषजीरा भरामि त्वामभि ॥—शौ० ८।७।२६
ओषधयः सं वदन्ते सोमेन राज्ञा।
यस्मै कृणोति ब्राह्मणस्तं राजन् पारयामसि ॥—ऋ० १०।९७।२२

१. याश्चाहं वेद वीरुधो याश्च पश्यामि चक्षुषा।
अज्ञाता जानीमश्च या यासु विद्म च सम्भृतम् ॥
सर्वाः समग्रा ओषधीर्बोधन्तु वचसो मम।
यथेमं पारयामसि पुरुषं दुरितादधि ॥—शौ० ८।७।१८–१९

२. आथर्वणीराङ्गिरसीर्दैवी मनुष्यजा उत।
ओषधयः प्र जायन्ते यदा त्वं प्राण जिन्वसि ॥—शौ० ११।४।१६

३. It is clear beyond all doubt that the Science of Medicine as revealed in the Atharvavedic texts is far from being in a state of infancy, It presupposes a good deal of experiments and observation, and seems to be based on a wide genralisation.

—Majumdar, Vanaspati, P. 160.

४. Karambelker : The Atharvaveda and the Ayurveda, P. 51–59.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भगवान् बुद्ध के काल (६ ठीं शती ई० पू०) में भी औषधियों का विस्तृत ज्ञान प्राप्त किया जाता था।[1]

निम्नाङ्कित कर्मों में औषधियों के प्रयोग मुख्यतः मिलते हैं :—

१—मूत्रजनन (शौ० १।३।१-९, कौ० सू० २५।१० (प्रमेहण)
२—गर्भप्रसावन (शौ० १।११।१–६)
३—गर्भाधान (शौ० ५।२५।१-१३, ६।८१।१-३, ६।१८।१-४, ३।२३।६)
४—गर्भदोषनिवारण (शौ० ८।६।१-२६)
५—वाजीकरण (शौ० ४।४।१-८, ६।१०१।२, ६।७३।३, जै० ब्रा०—१।१६।१ १६९, ३।१५१, २९९)
६—विषघ्न (शौ० ४।६।१-८, ४।७।१-७, ६।१००।१-३, ७।५६।१-८,८।७।१०)
७—सर्पविषनिवारण (शौ० ५।१३।१-११, ७।८८।१, ६।१२।१-३, १०।४।१-२६)
८—रक्षोघ्न (शौ० ५।२९।१-१५)
९—केशवर्धन (शौ० ६।२१।३, ६।१३७।१-३)
१०—केशदृंहण (शौ० ६।१३।१-३, ६।२१।३)
११—वशीकरण (शौ० १।१३९।१-५)
१२—मशकजम्भन (शौ० ७।५६।२)
१३—क्रिमिनाशन (शौ० ४।३७।१-१२, २।३२।१-६, ५।२३।१-१२)
१४—कासहर (शौ० ६।१०८।१-५, कौ० सू० १०।१, ५७।३१)
१५—मेधाजनन (शौ० ६।१०८।१-५, कौ० सू० १०।१, ५७।३१)
१६—क्लीबकरण (शौ० ६।१३८।१-५)
१७—सौभाग्यवर्धन (शौ० ६।१३९।१-५)
१८—रसायन (शौ० ३।५।४, ३।११।१-८, १९।६०।१-२)
१९—निद्राजनन (शौ० ४।५।१-७)
२०—कृत्यादूषण (शौ० ८।७।१०)
२१—बल्य (शौ० १९।४६।१-७)

---

1. As Jivaka got exceedingly Proud, the Buddha humiliated him by showing his great knowledge of medicinal plants. Jivaka, Therefore, became a devoted disciple of the Buddha.
—R. C. Majumdar, Historical materials in Gilgit manuscripts, B. C. Law Vol., Pt. I, P. 139.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२२—दीपन (शौ० ४।१९।३)
२३—रोहण, सन्धान (शौ० ४।१२।१-७)
२४—श्लेष्मसंश्लेषण—शा० आ० २।१, ६।१२)
२५—स्वरवर्णकर—या० शि० ३६

मुख्यतः निम्नांकित रोगों में औषधियों के प्रयोग मिलते हैं :—

१—पर्वशूल (शौ० १।१२।२)
२—शिरोरोग (शौ० १।१२।३)
३—कास (शौ १।१२।३)
४—हृद्द्योत (शौ० १।२२।१)
५—हृदयामय (शौ० ५।३०।९)
६—हरिमा (शौ० १।२२।१)
७—किलास (शौ० १।२३।१-४,१।२४।२,)
८—पलित (शौ० १।२३।१-२)
९—तक्मन्[1] (शौ० १।२५।१-४, ५।४।१-१०, ५।२२।१-१४, ७।१२१।१-२)
१०—क्षेत्रियरोग[2] (शौ० २।८।१५, ३।७।१-७, ४।१८।१-८)
११—कुष्ठ (शौ० ५।४।१-१०)
१२—अंगज्वर (शौ० ५।३०।९)
१३—अक्षिरोग (शौ० ६।१६।१-४)
१४—रक्तस्राव (शौ० १।१७।१-३)
१५—जलोदर (शौ० ९।८।११)
१६—वातीकृत (शौ० ६।४४।३) ९।८।२० (वातीकार)
१७—अपची (शौ० ६।८३।१-३, ७ ७४।१-४, ७।७६।१-६,)
१८—क्षिप्त (शौ८ ६।१०९।१-३)

---

१. यह हरित रोग का जनक माना गया है :—रुद्रुर्नामासि हरितस्य देव स नः संविद्वान् परि वृङ्धि तक्मन्—शौ० १।२५।२
तक्मन् रोग का भाई बलास, बहन कासिका तथा भ्रातृव्य पाप्मा कहा गया है :—
तक्मन् भ्रात्रा बलासेन स्वस्रा कासिकया सह ।
पाप्मा भ्रातृव्येन सह गच्छामुं मरणं जनम् ॥—शौ० ५।२२।१२

२. क्षेत्रे परक्षेत्रे पुत्रपौत्रादिशरीरे चिकित्स्यः क्षयकुष्ठादिदोषदूषितपितृमात्रादिशरीरावयवेभ्यः आगतः क्षयकुष्ठापस्मारादिरोगः क्षेत्रिय इत्युच्यते । 'क्षेत्रियच् परक्षेत्रे चिकित्स्यः (पा० ५।२।९२) इति क्षेत्रियशब्दो निपात्यते—सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१९—विद्रध (शौ० ६।१२७।१)

२०—बलास[1] (शौ० ६।१२७।१), ५।२२।१२, ६।१४।१-३, ६।१२७।१, ८।७।१० १९।३४।९-१०)

२१—विसल्पक (शौ० ६।१२७।१)

२२—लोहितरोग (शौ० ६।१२७।१)

२३—कुनख[2] (शौ० ७।६५।३)

२४—क्रिमिरोग (शौ० २।३२।१-६, ४।३७।१-१२, ५।२३।१-१३)

२५—जायान्य[3] (शौ० ७।८०।३-४, ७।८१।१,)

२६—राजयक्ष्मा (शौ० ३।११।१)

२७—अश्मरी (शौ० १।१७।४)

२८—उन्माद (शौ० ६।११०।१-४)

इसके अतिरिक्त, विभिन्न अवयवों के अनेक विकार निर्दिष्ट हैं[4] जिनमें औषधियों का प्रयोग होता था।

वैदिक वाङ्मय

संप्रति वैदिक वाङ्मय का पूर्ण रूप उपलब्ध नहीं है। वैदिक वाङ्मय वटवृक्ष के समान विशाल है और समस्त ज्ञान-विज्ञान को अन्तर्भूत किये हैं। यह वाङ्मय सामान्यतः संहिता, ब्राह्मण, उपनिषद् और वेदांग इन चार खण्डों में विभक्त है। संहिताओं की अनेक शाखायें हैं और प्रत्येक शाखा की अपनी विशिष्ट परम्परा है। इन शाखाओं के विशिष्ट ब्राह्मण, आरण्यक तथा उपनिषद् निर्धारित हैं। चरणव्यूह में इनका विस्तार से विवरण है। चिकित्साशास्त्र का उपजीव्य मुख्यतः अथर्ववेद है जिसकी ९ शाखायें हैं :—पैप्पलाद, तोद, मोद, शौनकीय, जाजल, जलद, ब्रह्मवद, देवदर्श और चारणवैद्य। इनमें अनेक पतंजलि के काल (२ री शती ई० पू०) तक उपलब्ध थी ऐसा महाभाष्य के वचनों से प्रमाणित होता है[5]। संप्रति शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखायें उपलब्ध हैं। अथर्ववेद के पांच कल्पसूत्र हैं :—कौशिक, वैतान,

---

१. बलं शारीरम् अस्यति क्षिपतीति बलासः कासश्वासादिः (सा०)

२. श्यावदता कुनखिना बण्डेन यत् सहासिम।
अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे ॥ ७।६५।३

३. निरन्तरजायासंभोगेन जायमानः क्षयरोगः—सा०

४. ऋ०—१०।१६३।१-६, शौ०—२०।९६।१७-२३, ९।८।१-२२

५. उदगान् मौदपैप्पलादम्—पा० म० २।४।३, ४।१।१, ४।२।६६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नक्षत्रकल्प, आंगिरसकल्प तथा शान्तिकल्प। इसका ब्राह्मण गोपथब्राह्मण तथा उपनिषद् प्रश्न, मण्डूक तथा माण्डूक्य हैं। अथर्ववेद का महत्व इसीसे प्रतिपादित है कि इसे ब्रह्मवेद की संज्ञा दी गई। यहां तक कहा गया है कि जो ब्रह्मवेद में उपनीत है वह सब वेदों म उपनीत ह और जो इसमे उपनीत नहीं है वह सभी में अनुपनीत है। अन्य वदों का अध्ययन कर जो अथर्ववेद का अध्ययन करना चाहे उसे पुनः उपनयन कराना होगा[1]। 'ब्रह्म' शब्द यहां ज्ञानविज्ञानपरक ह और वेद के सभी प्रयोजनों की सिद्धि इसके द्वारा होती है। व्यावहारिक उपादेयता के कारण यह समाज मे भी प्रतिष्ठित हुआ और अथर्ववेद के ज्ञाता राजकाज में भी अपेक्षित होने लगे। गुरु पुरोहित और मन्त्री अथर्वविद् होने चाहिए ऐसा उल्लेख मिलता है।[2]

आयुर्वेद का विशेष सम्बन्ध अथर्ववेद से स्थापित किया जाता है। इसका कारण यह है कि इसमें रोगों की चिकित्सा का अन्य संहिताओं की अपेक्षा विस्तार से किया गया है और भेषज के द्वारा अमृतत्व की प्राप्ति का भी विधान है जो वस्तुतः ब्रह्मपद ही है। इससे भी अथर्ववेद का ब्रह्मवेदत्व सिद्ध होता है।[3]

अथर्ववेद, भृग्वङ्गिरस तथा अथर्वांगिरस के रूप में प्रसिद्ध रहा है।

अथर्वाङ्गिरस की उत्पत्ति का आख्यान गोपथ-ब्राह्मण में अत्यन्त स्पष्ट रूप में मिलता है[4]। अश्विनी के समान यह युग्म भी चिकित्सा की दो प्रचलित पद्धतियों का संकेत करता है। अथर्वन् मुख्यतः दैवव्यपाश्रयचिकित्सा करते थे और आंगिरस अंगों के रस से संबन्ध रखने के कारण युक्तिव्यपाश्रय से संबद्ध थे। ऐसी भी मान्यता

---

१. यो वै ब्रह्मवेदेषूपनीतः स सर्ववेदेषूपनीतः, यो वै ब्रह्मवेदेष्वनुपनीतः स सर्ववेदेष्वनुपनीतः॥ अन्य वेदे द्विजो यो ब्रह्मवेदमधीतुकामः स पुनरुपनेयः। देवाश्च ऋषयश्च ब्रह्माणमूचुः, को नो (इमो) ज्येष्ठः, क उपनेता, क आचार्यः, को ब्रह्मत्वं चेति। तान् ब्रह्माऽब्रवीत्—अथर्वा वा ज्येष्ठो ऽथर्वोपनेताऽथर्वाऽचार्योऽथर्वा ब्रह्मत्वं चेति॥—चरणव्यूह

२. यस्य राज्ञो जनपदे अथर्वा शान्तिपारगः।
निवसत्यपि तद् राष्ट्रं वर्धेत निरुपद्रवम्॥
तस्माद् राजा विशेषेण अथर्वाणं जितेन्द्रियम्।
दानसंमानसत्कारैर्नित्यं समभिपूजयेत्॥—अ० प० ४।६।१, ३

३. यद् भेषजं तद् अमृतं यद् अमृतं तद् ब्रह्म—गो० ब्रा० १।३।४
औषध के द्वारा ब्रह्मपद की प्राप्ति का ही चरम उत्कर्ष रसेश्वरदर्शन में हुआ।

४. एतद् वै भूयिष्ठं ब्रह्म यद् भृग्वङ्गिरसः। येऽङ्गिरसः स रसः, येऽथर्वाणस्तद् भेषजम्। यद् भेषजं तद् अमृतम्। यद् अमृतं तद् ब्रह्म।—गो० ब्रा० १।३।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है कि अथर्वन् शान्तिकपौष्टिक आदि सौम्य कर्म करते थे जब कि आंगिरस घोर कर्मों में प्रवृत्त थे। व्यवहार में वस्तुतः वे क्रमशः सोम और अग्नितत्व का प्रतिनिधित्व करते थे।

ऐसा भी संभव है कि आथर्वण तथा आंगिरस संप्रदाय क्रमशः आत्रेय तथा धान्वन्तर संप्रदायों का मूल स्रोत हो। ये वैज्ञानिक शोधकर्त्ता थे। स्मरणीय है कि अथर्वा ने ही अग्नि का अविष्कार किया।

वेदांग ६ हैं—शिक्षा, कल्प, व्याकरण, निरुक्त, छन्द और ज्योतिष। कल्पसूत्रों में श्रौतसूत्र, गृह्यसूत्र, धर्मसूत्र, पितृमेधसूत्र, तथा शुल्वसूत्र हैं। इस प्रकार विभक्त विस्तृत वाङ्मय उपलब्ध है। व्याकरण भी अनेक हैं किन्तु प्रस्तुत अध्ययन में पाणिनीय व्याकरण (अष्टाध्यायी, वार्त्तिक एवं महाभाष्य) का आकलन किया गया है।

वैदिक वाङ्मय का काल

वैदिक वाङ्मय में ऋग्वेद प्राचीनतम तथा ऐतिहासिक दृष्टि से महत्त्वपूर्ण अभिलेख है। इसके काल के संबन्ध में विद्वानों में मतभेद हैं, कुछ इसे बहुत आगे तथा कुछ बहुत पीछे ले जाते हैं। लोकमान्य तिलक ने ज्योतिष के आधार पर इसके कालनिर्णय का प्रयास किया है कृत्तिका नक्षत्र के आधार पर शतपथब्राह्मण का काल ४००० वर्ष पूर्व (ई० पू० २०००) निधारित किया गया है। इसी प्रकार मृगशिरा तथा पुनर्वसु के नक्षत्र के आधार पर ऋग्वेद का काल (ई० पू० ४००० या ६०००) रक्खा जाता है।

ऐसी मान्यता है कि भगवान् बुद्ध के आविर्भाव (६ ठी शती ई० पू०) तक वैदिक वाङ्मय अपना पूर्णरूप ले चुका था।[1] वेदांगों का क्रम अवश्य कुछ बाद तक चलता रहा जो शुंगकाल तक प्रायः पूर्ण हो गया। इस प्रकार वैदिक वाङ्मय का काल ईस्वी सन् के पूर्व ही समाप्त हो जाता है।

अथर्ववेद के काल के विषय में भी मतभेद है। कुछ लोग इसे अन्तिम संहिता मानते हैं और कुछ लोग इसे प्राचीनतम मानते हैं क्योंकि ऋग्वेद में भी अथर्वा का अग्नि के आविष्कारक के रूप में निर्देश उपलब्ध है[2]। अथर्ववेद अथर्वाङ्गिरस के नाम से प्रसिद्ध रहा है। बृहदारण्यक उपनिषद् के मधुविद्या-प्रकरण (२।५) में अश्विनीकुमार दध्यङ् आथर्वण से शिक्षा प्राप्त करते देखे जाते हैं। अश्विनीकुमारों के चिकित्सा तथा अन्य क्षेत्रों में चमत्कार के अनेक प्रसंग ऋग्वेद

१. Winternitz : History of Ancient Indian Literature, Vol. I

२. त्वामग्ने पुष्करादध्यथर्वा निरमन्थत।
मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः—ऋ० ६।१६।१३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

में दृष्टिगोचर होते हैं। इससे भी वह सिद्ध होता है कि आथर्वण संप्रदाय उसके पूर्व से प्रतिष्ठित था। ऐसा प्रतीत होता है कि अथर्वाङ्गिरस का ही पूर्णरूप अश्विनी में प्रतिफलित हुआ और वे भिषग्विद्या के प्रतीक बने।

आयुर्वेद किस वेद का उपवेद है इस संबन्ध में मतभेद है। चरणव्यूह में यह ऋग्वेद का उपवेद माना गया है तो अन्यत्र अथर्ववेद का। कोई इसे उपांग की एक स्वतंत्र कोटि में रखना चाहते हैं। इसके आधार पर विद्वानों की ऐसी भी धारणा है कि आयुर्वेद लोकविद्या (Folk Lore) के रूप में अत्यन्त प्राचीनकाल से अन्य वेदों के समानान्तर चलता रहा जो शास्त्रविद्या (Culture lore) के रूप में समाज में प्रतिष्ठित थे। इसी प्रकार अथर्ववेद लोकपरम्परा में आदि काल से प्रचलित था जिसे आगे चल कर अपनी उपादेयता के कारण समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त हुई। अतः ऐतिहासिक दृष्टि से अथर्ववेदीय सामग्री ऋग्वेद के समकालीन ही है।[1]

मनीषियों की ऐसी धारणा है कि अथर्ववेद के अन्तिम दो (१९ वां और २० वां) काण्ड प्रक्षिप्त हैं जो बाद में जोड़े गये हैं[2]। जो भी हो, अथर्ववेद ने क्रमशः समाज तथा वैज्ञानिक क्षेत्र में महत्वपूर्ण स्थान बना लिया।

कश्यप इसे अथर्ववेद से उत्पन्न होने पर भी पञ्चम वेद के रूप में सभी वेदों का उपजीव्य मानते हैं[3] इसका रहस्य भी यही है।

---

१. 'As for the Atharvaveda it seems to be a specialised collection of certain items and incidents in the folklore of the age of which the culture lore was collected in the three other Samhitas'. 'Normally speaking, we should hold that the material of the Atharvaveda is as old as that of the Rgveda'.

—B. K. Sirkar : the Positive Background of Hindu Sociology, BK, I, Ch. V.

२. Whitney : Atharvaveda (Eng. Tr.), Introduction, p. cxli.
Griffith : ,, ,, Preface, p. viii.
अथर्ववेद प्रातिशाख्य में इन काण्डों का उल्लेख भी नहीं है।

३. कं च वेदं श्रयन्ति ? अथर्ववेदमित्याह, ...सर्वान् वेदानित्येके, पद्यगद्यकथ्यगेयविद्याश्रयादिति; न चैतदेवं, आयुर्वेदमेवाश्रयन्त वेदाः। तद्यथा—दच्चिणे पाणौ चतसृणामंगुलीनामंगुष्ठ आधिपत्यं कुरुते, न च नाम ताभिः सह समतां गच्छति, पृथक्स्थितश्च पाणौ भवति, एवमेवायमृग्वेदयजुर्वेदसामवेदाथर्ववेदेभ्यः पञ्चमो भवत्यायुर्वेद इति।

—वि० १।१०

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust
Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ विद्वान पुराणों के आधार पर अथर्ववेद का काल १५०० ई० पू० निर्धारित करने हैं। परीक्षित का उल्लेख अथर्ववेद में हुआ है। विष्णुपुराण (४।२४।३२) के अनुसार परीक्षित के जन्म तथा मगधसम्राट् नन्द के बीच की अवधि १०१५ वर्षों की है। भागवतपुराण (१२।१२।२६) के अनुसार यह १११५ वर्षों की और वायु, मत्स्य तथा ब्रह्माण्डपुराणों के अनुसार १०५० वर्षों की है। इस प्रकार परीक्षित का काल लगभग १५०० ई० पू० ठहरता है।[1]

वेदों की भाषा रहस्यमय तथा प्रतीकात्मक है जो सामान्यतः बुद्धिगम्य नहीं होती।[2] परम्परागत परवर्ती वाङ्मय के आधार पर टीकाकारों ने मन्त्रों की व्याख्या करने का प्रयास किया है। अथर्ववेद के व्याख्यान में कौशिकसूत्र से सर्वाधिक सहायता मिली है जिसमें सूक्तों के विनियोग विस्तृत तथा स्पष्ट रूप में दिये गये हैं। इसके अतिरिक्त, नक्षत्रकल्प, अथर्वशान्ति, वैज्ञानसूत्र तथा अथर्वपरिशिष्ट में भी सूक्तों के विनियोग हैं। विद्वानों की धारणा है कि अन्य वेदों के विपरीत अथर्ववेद का ब्राह्मण (गोपथ ब्राह्मण) कौशिकसूत्र के बाद निर्मित हुआ जिससे इस परम्परा में भी ब्राह्मणग्रन्थ का अभाव न हो।

सायणभाष्य का मूल्यांकनः वनौषधियों की व्याख्या की दृष्टि से

वैदिक वाङ्मय के पुनरुद्धार का श्रेय अधिकांश सायणाचार्य को है। यदि उनकी व्याख्या उपलब्ध न होती तो वेदों की भाषा का अर्थ लगाना असंभव सा था। शब्दों के व्याकरणसम्मत अर्थ निकालने के साथ साथ प्रकरणग्रन्थों की सहायता से उनका सही सही प्रयोग का भी प्रतिपादन उन्होंने किया जिससे समस्त वाङ्मय सार्थकता के प्रकाश से आलोकित होने लगा। सायण व्याकरण, निरुक्त आदि वेदांगों के ज्ञाता तो थे ही, वैदिक परम्परा में भी निष्णात थे जिसके कारण शब्दों की अनेक प्रकार से निरुक्ति कर प्रकरणगत अर्थ निकालने में वह सफल हुये। किन्तु उनकी यह विद्वत्ता वनौषधियों को स्वरूप स्पष्ट करने में कहां तक सहायक हुई यह विचारणीय है।

सायण का काल १४ वीं शती है। आयुर्वेदीयवनौषधिशास्त्र के अध्येता जानते हैं कि मध्यकाल के प्रारंभ में ही वनौषधियों का स्वरूप अस्पष्ट होने से उनमें से अनेक सन्दिग्ध हो गई। डल्हण (१२ वीं शती) की व्याख्या से यह स्पष्ट संकेत मिलता है कि एक नाम से अनेक वनस्पतियां उस समय प्रचलित थीं और उनका स्वरूप

१. Filliozat : the Classical Doctrine of Indian Medicine, p. 83–84.

२. Griffith : op. cit.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सन्दिग्ध था। अतः यह स्वाभाविक है कि ऐसी परिस्थिति में सायण भी इससे ऊपर नहीं उठ सकते थे विशेषतः जब वह इस विषय से विशेष परिचित नहीं थे।

उदाहरणार्थ. आदार को उन्होने कहीं मध्यदेश-तृण (श० ४।५।१०।५), कहीं लताविशेष (श० १४।१।२।१२) और कहीं क्षीरयुक्त वल्लीविशेष (तै० ब्रा० १।४।७।५, ६) लिखा है। इससे स्पष्ट है कि इसका स्पष्ट परिचय उन्हें नहीं था। इसी प्रकार जङ्गिड के विषय में लिखा है कि उत्तर प्रदेश और वाराणसी में प्रसिद्ध है (शौ० २।४।१-६, १९।३५।१-५) किन्तु इसका कोई स्थानीय नाम या परिचय नहीं दिया। मदुघ (शौ० ६।१०२।३) के भाष्य में इससे मधूक वृक्ष या यष्टिमधुक का ग्रहण किया है किन्तु ये दोनों भिन्न द्रव्य हैं जिनमें शब्दसाधर्म्य होने पर भी स्वरूप एवं गुणकर्म में अन्तर है। पुनः दूसरे स्थल (१।३४।४) पर इसका अर्थ मधुस्रावी पदार्थ किया है। जीवन्ती, सहमाना आदि शब्दों का पाठा का पर्याय बतला कर कहा कि ये पृथक् पृथक् औषधियां भी हो सकती हैं (शौ० ८।३।६)। यह उनके अनिश्चय का द्योतक है। कहीं कहीं पर साधारण बुद्धिगम्य अर्थ को भी उन्होंने अपने पाण्डित्य के प्रदर्शन से जटिल बनाकर मघवा की टीका बिडौजा कर दिया है। पिप्पली क्षिप्तभेषजी कही गई है, इससे सीधा अर्थ यही निकलता है कि यह क्षिप्त (आक्षेप) की औषध है किन्तु सायण ने जो इसकी व्याख्या की है वह दर्शनीय है[1]। इन सब उदाहरणों से यही निष्कर्ष निकलता है कि वनोषधियों के सन्दर्भ में उनकी व्याख्या सर्वत्र प्रामाणिक नहीं मानी जा सकती और पाठक को विवेक से काम लेकर अर्थ का निर्णय करना चाहिए।

कतिपय सन्दिग्ध वनस्पतियाँ

जैसा पहले कहा गया है, वेदों की भाषा दुरूह होने के कारण उनका सम्यक् अर्थ करना कठिन था। जिन प्राच्य तथा पाश्चात्य विद्वानों ने इस दिशा में प्रयत्न किया वे सभी संस्कृत भाषा के तो पण्डित थे किन्तु वनस्पतियों के ज्ञाता न थे। अतः मन्त्रों के अन्तर्गत सूत्ररूप संकेत के द्वारा निर्दिष्ट वनस्पतियां के स्वरूप को स्पष्ट करना उनके लिए संभव न था। विभिन्न विद्वानों ने एक शब्द से भिन्न-भिन्न वनस्पतियों का ग्रहण

---

१. क्षिप्तभेषजी क्षिप्तानि तिरस्कृतानि अन्यानि भेषजानि यया सा तथोक्ता, यद्वा क्षिप्तस्य वातरोगविशेषस्य भेषजी निवर्त्तिका।
क्षिप्तस्य मुहुर्मुहुरवयवक्षेपणशीलस्य आक्षेपकनाम्नो वातरोगविशेषस्य।
—शौ० ६।१०९।१-३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया है जिससे वह अभी तक सन्दिग्ध बनी हुई है। प्रस्तुत प्रकरण में इन्हीं में से कुछ महत्वपूर्ण वनस्पतियों की समीक्षा की जायगी।

अजश्रृंगी—शौनकीय अथर्ववेद के चतुर्थ काण्ड के ३७ वें सूक्त में तीन मंत्र अजश्रृंगी के संबन्ध में हैं। अराट्की और तीक्ष्णश्रृंगी इसके पर्याय बतलाये गये हैं। इन मंत्रों में यह औषधियों तथा वीरुधों में वीर्यवती तथा अपनी गंध से अप्सराओं, गंधर्वों तथा राक्षसों का नाश करने वाली कही गई हैं। इससे संकेत मिलता है यह कोई वीरुध् (लता) या क्षुप जाति का उग्रगंधवाली औषधि है।

अन्यत्र रोगनाशन वनस्पतिदेवत्य सूक्त (६।४४।१-३) में विषाणका नामक औषधि का वर्णन है। यह सैकड़ों हजारों औषधियों में श्रेष्ठ आस्रावभेषज और रोगनाशन मानी गई है। इसका मूल गहरा होता है और यह वातशामक होती है। पैप्पलादसंहिता में यह रक्षोघ्न और क्रिमिघ्न भी बतलाया गया है। इसका एक पर्याय 'सहस्रचक्षु' भी दिया है। जलज औषधियों के विशेषण में भी तीक्ष्णश्रृंगी का प्रयोग किया गया है।

आयुर्वेदीय निघंटुओं में अजश्रृंगी कहीं कर्कटश्रृंगी और कहीं मेषश्रृंगी के पर्याय रूप में आया है। मजुमदार[1] कर्कटश्रृंगी (odina wodiar) तथा मेषश्रृंगी (Gymnema sylvestre) दोनों लेते हैं वेबर Prosopis Spicigera या Mimosa suma लेते हैं।[2] कर्कटवृक्ष बड़ा होता है और उसमें कोई विशिष्ट गंध भी नहीं होती अतः उसकी संभावना नहीं है। मेषश्रृंगी (Gymnema sylvestre) लता अवश्य है किन्तु उसमें भी कोई गंधविशेष नहीं होता। वेबर द्वारा संमत वनस्पतियों में प्रथम शमी और द्वितीय खदिरभेद है। ये भी बड़े वृक्ष होते हैं किन्तु गंध किसी में नहीं है।

हुलहुल में अजवत् गन्ध अवश्य होती है किन्तु वह अजश्रृंगी नहीं है। यदि विषाणका को अजश्रृंगी का पर्याय मानें तो इससे उत्तमारणी (Pergularia extensa N. E. Br.) तत्सदृश अर्ककुल की कोई अन्य वनस्पति ली जानी चाहिए।

अध्याण्डा—यह पापनामा द्रव्यों में परिगणित है। अन्त्येष्टि-प्रकरण में ऐसा निर्देश है कि श्मशान के निकट अध्याण्डा न हो। सायण ने अपने भाष्य में इसका परिचय देते हुए लिखा है 'अध्याण्डाशने सदृशफलो गुच्छः' इससे प्रतीत होता है कि इसका फल गुच्छों में होता है। दारिल ने कौशिकसूत्र की व्याख्या में 'पर्णफलेति

---

१. Ved. Pl. 646.
२. Ved. ind. i–13.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रसिद्धा' लिखा है। मजुमदार ने इससे निम्नांकित तीन वनस्पतियों का ग्रहण किया है[1] :—

१. Mucuna pruriens (कपिकच्छू)
२. Phyllanthus urinaria (भूम्यामलकी)
३. ,, niruri ,,

पर्णफला या पर्णफलिनी शब्द से पर्णबीज की ओर संकेत होता है। इसके बीज भी श्लेष्मल होते हैं जिनका पुंसवन में प्रयोग युक्तिसंगत है। किन्तु यह प्राचीन वनस्पति नहीं प्रतीत होती।

'कपिकच्छू' शब्द का निर्देश प्राचीन वैदिक वाङ्मय में नहीं है। अध्याण्डा से आयुर्वेदीय संहिताओं में पठित अध्याण्डा (काकाण्डोला—कपिकच्छूविशेष) का ग्रहण करना चाहिए। मेरी सम्मति में, कपित्थक के संदर्भ में शेपहर्षणी नाम से जिस औषधि का वर्णन अथर्ववेद (शौ० ४।४।१-८) में है वह कपिकच्छू हो प्रतीत होता है यद्यपि वहाँ उसके बीजों का प्रयोग न होकर मूल का है। अथर्वपरिशिष्ट में पल्लवों का भी उपयोग है। वह अन्वेषकों के लिए एक रोचक विषय होगा कि इसके मूल में भी वाजीकरण कर्म है या नहीं ?

अमूला—बाण को विषाक्त बनाने के लिए इसका प्रयोग होता था। इससे स्पष्ट है कि यह कोई विषाक्त औषधि है। मजुमदार इससे gloriosa superba (लांगली) तथा Cuscuta Sp. लेते हैं। ग्रिफिथ इससे methonica superba का ग्रहण करते हैं। सायण की व्याख्या इस पर उपलब्ध नहीं है अतः उनके मत का पता नहीं चलता। नाम से स्पष्ट है कि यह कोई पराश्रयी वनस्पति है जिसके स्वतंत्र मूल नहीं होते।

अरटु—खिलस्थान में यह अश्वत्थ, खदिर और धव के साथ पठित है। मेकडोनल एवं तथा ग्रिफिथ इससे Colosanthes indica का ग्रहण करते हैं जिसके काष्ठ से रथ का अक्ष बनता था। वेबर तथा मजुमदार इसे अराट्की का पर्याय मानकर इससे prosopis spicigera तथा Acacia suma लेते हैं।[2]

---

१. देखें—Ved. Pl. 646.
Ved. ind. i-20.

२. Ved. ind. i-33.
Ved. Pl.—647.
Griffith—Atharvaveda (Eng. Tr.)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कौशिकसूत्र में अरलु का उल्लेख है जिससे श्योनाक का ग्रहण किय जाता है। इसे पिशंगसूत्र कहा गया है। टीकाकार ने इसकी लड़की पीतवर्ण बतलाई है। इस आधार पर यह Oroxylum indicum प्रतीत होता है। किन्तु अरलु वस्तुतः Ailanthes excelsa है। कौशिकसूत्र के मूल में संभवतः A. excelsa का ही ग्रहण है किन्तु बाद में अरलु श्योनाक का पर्याय हो जाने के कारण उससे श्योनाक का ग्रहण किया जाने लगा जो परवर्ती टीकाकारों के लिए स्वभाविक ही था।

मेरे विचार से अरटु और अरलु एक ही है। इससे Ailanthes excelsa Roxb. का ग्रहण करना चाहिए।

अरुन्धती—यह जीवला, जीवन्ती आदि पर्यायों से अभिहित ओषधि का वाचक है। सायण इससे सहदेवी का ग्रहण करते हैं। मजुमदार इससे Sida cordifolia या S. rhombifolia (बला) का ग्रहण करते हैं।

अरुन्धती रोहिणी, लाक्षा या सिलाची का भी एक पर्याय है। मैकडोनल एवं कीथ इससे स्वर्णवर्ण की लता लेते हैं जिससे लाक्षा निकलती थी।

ग्रिफिथ इससे एक अज्ञात आरोहिणी लता का ग्रहण करते हैं[1]।

प्रथम अर्थ में जहाँ यह सहमाना का पर्याय है इससे बला का ग्रहण करना चाहिए। द्वितीय अर्थ में इसके प्रकरण से यह निश्चित नहीं होता कि यह कोई लता है। अतः यदि इससे वृक्षविशेष का ग्रहण किया जाय तो मांसरोहिणी (Soymida febrifuga A. juss.) का ग्रहण किया जा सकता है जिसका रोहणकर्म में प्रचुर प्रयोग है।

इस प्रकार अरुन्धती निम्नांकित द्रव्यों का वाचक है :—

१—लाक्षा

२—बला[2]

३—मांसरोहिणी

---

१. Arundhati : A climbing plant, not identified, probably a variety of Convolvulus or bindweed which is to bind fast the injured limb as it binds the tree round which it grows.

—Griffith : op. cit.

२. विश्वबन्धु की मान्यता है लाक्षा के सन्दर्भ में अरुन्धती विशेषण है और द्वितीय सन्दर्भ में विशेष्य। देखें :—

Viswa Bandhu : An Atharvan Hymn to Lac (Lākṣā), Siddha Bhāratī, Pt. I, P. 201–13.

३ द्र० च० भू०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदार :—यह सोम के प्रतिनिधि के रूप में ग्राह्य औषधि है। शतपथ ब्राह्मण में पूतीक इसका पर्याय है। इसमें सुगन्ध होती है तथा आग में डालने पर जलती है। सायण ने इससे कहीं मध्यदेशतृण, कहीं लताविशेष तथा कहीं क्षीरयुक्त वल्लीविशेष माना है। मजुमदार ने इससे आर्द्रक (संभवतः ध्वनिसाम्य के आधार पर) लिया है जो नितान्त अयुक्त है। अदरख का हवन में विधान नहीं है और उसके कन्द का ही उल्लेख है। पूतीक से वह कंटकी करंज तथा उपोदकी लेते हैं किन्तु इनमें भी कोई गन्ध नहीं होती। मेरे विचार से आदार तृणजाति की कोई सुगन्धित वनस्पति संभवतः रोहिष या गन्धतृण (Cymbopogon Sp.) होना चाहिए।

आबय :—सायण ने इससे सर्षप लिया है। तदनुसार ही इसका नाम Brassica Juncea तथा B. alba दिया गया है। ग्रिफिथ इससे किसी अज्ञात औषधि का ग्रहण करते हैं जो स्वाभाविक रूप में विषाक्त तथा पकाने पर औषधरूप में प्रयुक्त होती है। अथर्ववेद में बज और पिंग शब्द भी मिलते हैं। सायण ने इससे क्रमशः श्वेत और पीत सर्षप का ग्रहण किया है। मजुमदार बज से श्वेत और पीत सर्षप का ग्रहण करते हैं, पिंग का उल्लेख उन्होंने नहीं किया। ग्रिफिथ बज से कोई उग्रगन्धि औषधि लेते हैं जिसकी गन्ध से राक्षस भाग जाते हैं और पिंग उसी का पर्याय मानते हैं किन्तु अन्यत्र उन्होंने इससे दो भिन्न वनस्पतियों का ग्रहण किया है।

वस्तुतः बज से श्वेत (पीत) सर्षप का ग्रहण करना चाहिये जिसे वर्तमान निघण्टुओं में सिद्धार्थ या गौरसर्षप कहा गया है। पिंग से पिंगल (भूरे) वर्ण का सर्षप अभिप्रेत है। इसका लैटिन नाम Brassica campestris Var. Sarson Prain है। Brassi Ca juncea सर्षप नहीं, राजिका (आसुरी) है।

उपवाक :—शतपथ ब्राह्मण में इसका उल्लेख श्यामाक, गोधूम, बदर आदि के साथ हुआ है। इसका प्रयोग सक्तु या करम्भ के लिए होता था। 'यच्छ्लेष्माणस्ता उपवाका:' इससे संकेत होता है कि यह कोई पिच्छिल द्रव्य है। अनेक टीकाकारों ने इससे इन्द्रयव लिया है किन्तु यवाकार होने पर भी उसका प्रयोग अन्नरूप में नहीं होता। यह बात अवश्य है कि उपवाका का प्रयोग इन्द्रपूजा के निमित्त होता था और परवर्ती वाङ्मय में कुटज, जिसका बीज इन्द्रयव है, इन्द्रवृक्ष के नाम से प्रसिद्ध हुआ। कौशिकसूत्र की व्याख्या में दारिल ने कहा है—उपवाक इति अभियवाः सुराष्ट्राणां प्रसिद्धाः—इससे यह कोई यवभेद प्रतीत होता है। मजुमदार ने इससे असित कुटज (wrightia tinctoria) का ग्रहण किया है। किन्तु वस्तुतः यह कोई यवभेद ही प्रतीत होता है। संभवतः Avena byzantina C. koch हो।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उशाना :—शतपथ-ब्राह्मण के अनुसार यह सोमसदृश कोई पर्वतीय वनौषधि है जिसका अभिषवकल्प बनता था। मजुमदार ने इससे पिप्पली का ग्रहण किया है जो भ्रमपूर्ण है। पिप्पली का पर्याय 'ऊषणा' है 'उशाना' नहीं। सोम के प्रतिनिधिरूप में प्रचलित यह कोई लता मालूम पड़ती है।

औक्षगन्धि—गुग्गुलु, नलदी आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ पठित एक वनस्पति है जो होम में प्रयुक्त होती थी। ओक्ष एक प्रलेपन द्रव्य है उसके समानगन्ध वाली या ओक्ष (वृषभ) के समान गन्धवाली यह कोई वनस्पति है। जटामांसी वर्ग की ही कोई ओषधि प्रतीत होती है। संभवतः तगर (Valeriana wallichii DC) हो।

जङ्गिड :—केवल अथर्ववेदीय परम्परा में यह नाम मिलता है। यह तक्मन्, शोष, विष्कन्ध आदि रोगों में उपयोगी है। सायण ने इससे उत्तरदेश विशेषतः वाराणसी में प्रसिद्ध वृक्षविशेष का ग्रहण किया है। कौशिकसूत्र की व्याख्या में दारिल ने लिखा है "जङ्गिडोऽर्जुनः अचल इति दाक्षिणात्यः" संभवतः इसी आधार पर अनेक लोगों ने इसे अर्जुनवृक्ष (Terminalia arjuna) का ग्रहण किया है किन्तु इसमें निम्नांकित आपत्तियाँ है :—

१—अर्जुन केवल वाराणसी में ही प्रसिद्ध नहीं हैं।

२—जङ्गिड कृष्य भी कहा गया है किन्तु अर्जुन की खेती नहीं होती, यह प्रायः आरण्य ही होता है।

दूसरी ओर, सायण ने अर्जुन शब्द से अर्जुन वृक्ष का ग्रहण किया है (शौ० ४।३७।५) ग्रिफिथ लिखते हैं कि चूंकि इसका कोई स्वरूप-वर्णन नहीं है। अतः अब इसकी पहचान करना संभव नहीं है।

इसका एक पर्याय विबाध दिया है[1] जो खदिर का भी है। इसके आधार पर यह खदिर की जाति की कोई वनस्पति हो सकती है। दूसरा द्रव्य उदुम्बर है जिसकी ओर ध्यान जाता है। ऋग्वेद में उदुम्बर का उल्लेख नहीं है। अथर्ववेद में १९–२० काण्ड में उल्लेख है जो प्रक्षिप्त माने जाते हैं। ऐसी स्थिति में प्रश्न उठता है कि उदुम्बर का उल्लेख किस नाम से था जबकि इस द्रव्य के अस्तित्व में कोई सन्देह नहीं। ऐसी संभावना प्रतीत होती है कि अथर्ववेद में जङ्गिड नाम से उदुम्बर का ही वर्णन है। आगे चलकर १९ वें काण्ड में जङ्गिड और उदुम्बर दोनों के वर्णन साथ-साथ हैं जो बहुत मिलते-जुलते हैं। आगे चलकर जङ्गिड के स्थान पर उदुम्बर ही प्रचलित हो

---

१. न त्वा पूर्वा ओषधयो न त्वा तरन्ति या नवाः।
विबाध उग्रो जङ्गिडः परिपाणः सुमंगलः॥—शौ० १९।३४।६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गया । किन्तु पैप्पलाद संहिता में दोनों साथ-साथ मिलने से यह संभावना भी निरस्त हो जाती है ।

अथर्ववेद में एक स्थल पर शण के साथ जङ्गिड का उल्लेख हुआ है । दोनों का प्रयोग विष्कन्ध में हुआ है किन्तु शण वन्य और जङ्गिड कृष्य कहा गया है ।[1] इससे प्रतीत होता है कि शण के समान ही कोई क्षुप है जिसकी खेती होती थी । कौशिकसूत्र में इङ्गिड शब्द संभवतः जङ्गिड का ही रूपान्तर है । भंगा और मुंज के पाशों के साथ इसका उल्लेख है और इसके हवन का भी विधान है । इससे भी प्रतीत होता है कि यह कोई शणजातीय क्षुप है ।

तलाश—यह वृक्षों में उत्तम माना गया है । दारिल ने "तलाशा मालिका अवली प्रसिद्धः" लिखा है । कुछ लोग इससे पलाश लेते हैं । मजुमदार ने इससे Flacourtia Cataphracta (प्राचीनामलक) लिया है । ग्रिफिथ इससे अज्ञात गुल्म या वृक्ष तथा केशव वेतसी (रतन) का ग्रहण करते हैं । वस्तुतः इससे तालीश (Abies webbiana Lindl) का ग्रहण होना चाहिए ।

तिल्वक—मैत्रायणी संहिता में इसे वनस्पतियों में वज्र कहा गया है । इससे सूचित होता है कि इसका काष्ठ दृढ़ होता है । यज्ञ में इसका यूप बनता था । टीकाकारों में किसीने तिणिस और किसीने तिलक लिखा है । अनेक व्याख्याकारों ने इसका अर्थ लोध्र किया है । परवर्ती कोशों और निघण्टुओं में भी यह लोध्र के पर्यायों में है । बौद्ध वाङ्मय में इसका पुष्प बन्धुजीवक के सदृश कहा है[2] । इससे संकेत मिलता है कि इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं । आग्निवेश्य गृह्यसूत्र में अन्य ओषधियों के साथ तिल्वका का उल्लेख है । संप्रति विद्वानों का विचार viburnum nervosum D. Don. को तिल्वक मानने के पक्ष में है ।

न्यस्तिका—इससे मजुमदार Andropogm aciculatus का ग्रहण करते हैं । इसका पर्याय वह चण्डा देते हैं । सायण इसका अर्थ शंखपुष्पी करते हैं । इसके सुगन्धित होने का कोई उल्लेख नहीं है जबकि चण्डा (चोरकभेद) सुगन्धित द्रव्य है । अतः न्यस्तिका से शंखपुष्पी का ग्रहण अधिक युक्तियुक्त है ।

---

१. शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम् ।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः ॥—शौ० २।४।५

२. B. C. Law : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. XV, No. 1–4.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पाकदूर्वा :—सायण ने इचका अर्थ परिपक्व दूर्वा किया है। मजुमदार इससे edible Millet लेते हैं। ग्रिफिथ ने इससे दूर्वा का एक भेद (Panicum dactylon) लिया है। अथर्ववेद में 'शाण्डदूर्वा' शब्द आया है। इससे यदि अण्डाकार कन्द का ग्रहण करें तो इससे मुस्ता (cyperus rotundus Linn.) ले सकते हैं।

पीतुदारु—मजुमदार ने इससे Pinus longifolia लिया है। ग्रिफिथ ने इससे खदिर या देवदारु का ग्रहण किया है। म्यूर और जिमर इसे 'पूतुदारु' मानकर इससे पलाश लेते हैं।

वस्तुतः पीतुदारु से दारुहरिद्रा (Berberis sp.) और पूतुदारु या पूतद्रु से देवदारु (Cedrus deodara (Roxb.) Loud.) लेना चाहिए।

पीला—गुग्गुलु, नलदी आदि के साथ निर्दिष्ट एक सुगन्धित द्रव्य है। संभवतः यह राल का वाचक है।

पृश्निपर्णी—सायण ने इससे चित्रपर्णी ओषधि का ग्रहण किया है। मजुमदार इससे निम्नांकित तीन वनस्पतियाँ लेते हैं :—

१—Uraria lagopoides

२—Lemna sp.

३—Hemionitis cordifolia

ग्रिफिथ इनमें अन्तिम वनस्पति स्वीकार करते हैं।

का० श्रो० (२५।७।१७) की व्याख्या में इसे माषपर्णी कहा गया है।

रॉथ इससे रक्तबिन्दुच्छदा लक्ष्मणा का ग्रहण करते हैं।

वस्तुतः इससे uraia picta Desv. का ग्रहण करना चाहिए।

प्रियंगु—वैदिक वाङ्मय में बहुधा यह धान्यपरक है। सामविधान ब्राह्मण में प्रियंगुका शब्द सहा आदि ओषधियों के साथ पठित है जिसकी व्याख्या फलवती की गई है। मजुमदार ने इससे प्रियंगुधान्य तथा Aglaia odorata दोनों द्रव्य लिये हैं। प्राचीन प्रयोग इसका कङ्गुधान्य के लिए ही है जो कालान्तर में तत्सदृश फलवाली वनस्पति के लिए प्रयुक्त होने लगा। आजकल अधिकांश विद्वान् Callicarpa macrophylla Vahl. को प्रियंगु मानने के पक्ष में हैं किन्तु यह भी लता नहीं है जब कि श्यामा, लता, आदि इसके विशेषणों के आधार पर यह कोई लता होनी चाहिए।

बल्वज—यह तृणजाति की वनस्पति है। मजुमदार इससे निम्नांकित वनस्पतियों का ग्रहण करते हैं :—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१—Eleusine indica
२— ,, coracana

ग्रिफिथ भी यही लेते हैं। राजनिघंटु में बल्वज का वर्णन है जिसके तृणक्षु, मौञ्जीपत्रा आदि पर्याय दिये गये हैं। वस्तुतः यह Pollinidium angustifolium Comb. Nov. प्रतीत होता है जिसे लोकभाषा में सबई, भवर आदि कहते हैं और जो रस्सी आदि बनाने के काम आता है।

मदुघ—कौशिकसूत्र के टीकाकार ने इसे ज्येष्ठीमधुक लिखा है। अथर्ववेद (शौ० ६।१०१।३) के भाष्य में सायण ने इससे मधूकवृक्ष या यष्टिमधुक लिया है किन्तु दूसरे स्थल (१।४४।४) पर मधुस्रावी पदार्थ का ग्रहण किया है। मजुमदार ने Honey Plant, sweet herb, a fruit (?) लिखा है। ग्रिफिथ सामान्यतः इससे कोई मधुर रस का पौधा लेते हैं, विशेषतः उनका इक्षु की ओर संकेत है। इससे मधुक (Glycyrrhiza glabra Linn.) का ग्रहण करना चाहिए।

रज्जुदाल—यह श्लेष्मल तथा पिच्छिल वनस्पति है। यज्ञ में इसके यूप बनते थे। टीकाकारों ने इसका अर्थ श्लेष्मातक किया है। कहीं-कहीं निचुदार भी पाठ है। इस आधार पर नवीन समीक्षकों ने इसका नाम Cordia Obliqua दिया है। ताण्ड्य-ब्राह्मण के अनुसार इसके फल शिश्नवत् होते हैं तथा श्लेष्मा शुक्रवत्। इस वर्णन के अनुसार यह Olax scandens Roxb. हो सकता है[1]। श्लेष्मातक के फल आकृति में शिश्नवत् नहीं होते तथा धार्मिक कृत्यों के लिए वह बहुत प्रशस्त भी नहीं माना जाता।

शंखपुष्पिका—सायण ने न्यस्तिका से शंखपुष्पी का ग्रहण किया है। केशव ने शुक्लपुष्पा से शंखपुष्पी ली है। इसका प्रयोग मेधाजनन प्रकरण में स्वर्ण से नवजात शिशु को चटाने का है (कौ० सू० १०।१६)। बौधायन धर्मसूत्र के विवरणकार ने लिखा है—शंखपुष्पी नाम समुद्रतीरे लताविशेषः। मजुमदार इससे Hemp लेते हैं।

इससे Convulvulus Pluricaulis Chois लेना चाहिए। (देखें न्यस्तिका)

शफक—कुमुद आदि जलज औषधियों के साथ इसका उल्लेख है मजुमदार इससे श्रृंगाटक (Trapa bispinosa Roxb.) का ग्रहण करते हैं।

---

१. डा० बलवन्त सिंह से यह सुझाव मिला है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शालूक—ग्रिफिथ इससे अज्ञात जलज वनस्पति लेते हैं। मजुमदार ने कमल लिया है। सायण ने इसका अर्थ उत्पलकन्द किया है किन्तु आण्डीक तथा कुमुद के साथ इसका पृथक् पाठ होने से यह कोई भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है। अथर्व परिशिष्ट में शालूकवृक्ष का भी उल्लेख है। संभव है यह जल में होने वाली कमल की कोई जाति हो।

सदंपुष्पा—टीकाकारों ने इसका अर्थ सन्ध्या या त्रिसन्ध्या किया है। भावप्रकाश-निघण्टु में त्रिसन्ध्या जपा का पर्याय है। जपा का प्रयोग धार्मिक कृत्यों में होता भी है अतः इससे जपा (Hibiscus rosa-sinesis Linn) का ग्रहण करना चाहिए। यदि इसे 'सदाबहार' माने तब इससे Vinca rosea Linn का ग्रहण होगा किन्तु यह कोई बाहरी द्रव्य है।

सुगन्धितेजन—यह सुगन्धित वनस्पति है तथा पूतद्रु और गुग्गुलु के साथ इसका उल्लेख है। ये सभी सुगन्धित द्रव्य हैं। ऐसा कहा है कि पूतद्रु अस्थि, गुग्गुलु मांस तथा सुगन्धितेजन लोम हैं। कहीं इसे स्नाव भी कहा है। मजुमदार ने इससे Andropogon squarrosus लिया है

मेरे विचार से लोमश रचना के कारण इससे जटामांसी (Nardostachys Jatamansi DC) लेना चाहिए। जहाँ वृक्ष अभिप्रेत हो वहाँ इससे तेजबल (Zanthoxylum alatum Roxb.) का ग्रहण करना चाहिए।

सोम—संप्रति अज्ञात द्रव्य है। ब्राह्मणकाल में ही संभवतः अप्राप्य हो गया था अतः उसके स्थान पर आदार आदि प्रतिनिधि द्रव्यों की व्यवस्था की गई है। निम्नांकित द्रव्य इसके स्थान पर लिये जाते हैं :—

१—Sarcostemma brevistigma

२—Ephedra gerardiana

३—Cannabis sativa

४—Periploca aphylla[1]

कुछ पाश्चात्य मनीषी इससे Afghan grape, Sugar Cane, a pecies of Hop लेते हैं।[2] राथ Rhubarb (रेवन्दचीनी) को सोम मानते हैं जिसका समर्थन आरेल स्टीन करते हैं। इसका समर्थन करते हुये जार्ज मार्गेन्स्टीयर्न ने लिखा है कि रेवन्दचीनी में सोम के सभी लक्षण मिलते हैं और दूध में इसका रस मिलाने पर एक अच्छा अभिषुत पेय बन जाता है। नार्वे तथा अन्य देशों में

---

१. Ved. Pl.—647.

२. Ved. ind. II—475.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इससे मद्य बनाया भी जाता है।[१] इस दशक के प्रारंभ में आर० गॉर्डन वासन ने प्रयत्नपूर्वक Amanita muscaria Linn नामक छत्रकवनस्पति को सोम सिद्ध किया है।[२] जॉन ब्रफ ने इसकी सयुक्तिक विस्तृत आलोचना की है।[३]

धन्वन्तरिनिघण्टु और राजनिघण्टु में सोमवल्ली तथा राजनिघण्टु में इसके अतिरिक्त, सौम्या का वर्णन है। सोमवल्ली को सोमक्षीरा कहा है इससे स्पष्ट है कि यह दूधवाली लता है। सौम्या को प्रतिसोमा, अपत्रवल्लिका तथा काण्डशाखा कहा है। इससे पता चलता है कि यह सोम के प्रतिनिधि रूप में प्रचलित थी और इसमें पत्र नहीं होते केवल काण्ड और शाखायें होती हैं। यह Sarcostema brevistigma W. A. है जिसका यज्ञ आदि में प्रयोग होता रहा है। आजकल चिकित्सा में सोम के नाम पर Ephedra gerardiana (Wall) Stapf. चल रहा है।

स्वक्त्य—सायण ने इससे तिलक वृक्ष लिया है। मजुमदार ने इसका नाम Clerodendhon phlomidis दिया है जो वस्तुतः लघु अग्निमन्थ है। इससे तिलक वृक्ष (Wendlandia exerta DC.) लेना चाहिए।

प्रस्तुत ग्रन्थ

भारतीय वनौषधि-शास्त्र में अनेक द्रव्य सन्दिग्ध हैं जिनका निर्णय अभी तक नहीं हो सका है और विभिन्न प्रान्तों में उस नाम से भिन्न-भिन्न द्रव्य व्यवहृत हो रहे हैं। चूंकि वेद आयुर्वेद का मूल है अतः मेरा निश्चित मत है कि वैदिककालीन ओषधियों का स्वरूप समझे बिना सन्दिग्ध ओषधियों के निर्णय का प्रयास पल्लवग्राही ही होगा। अतएव यह अभिनव प्रयास किया गया है जिससे—

१—वनौषधियों के मूल स्वरूप को समझने में सहायता मिलेगी।

२—ओषधियों के नये गुणकर्मों पर प्रकाश पड़ेगा जिन पर अनुसन्धान के बाद उनकी उपयोगिता का क्षेत्र विस्तृत होगा।

३—द्रव्यगुणशास्त्र में एक नवीन शाखा 'ऐतिहासिक द्रव्यगुण' (Historical Pharmacology) का विकास होगा जिसमें ओषधियों के स्वरूप तथा गुणकर्म के ऐतिहासिक विकास का अध्ययन होगा।

---

१. George Morgenstierne : A Vedic word in Some modern Hindukush languages, Sarup–Bharati, PP. 32–33.

२. Journal of Amrican oriental Society, Vol. 91, No. 2, 1971.

३. John Brough : Soma aud Amanita muscaria, BSOAS, vol. XXXIv, Pt. II, 1971, PP. 331–362.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४—वनस्पतिविज्ञान तथा कृषिशास्त्र को भी वनस्पतियों का इतिहास बनाने के लिए आधार मिलेगा।

५—वनस्पतियों के आधार पर ग्रन्थकारों तथा टीकाकारों का मूल्यांकन किया जा सकेगा।

स्रोत

प्रस्तुत ग्रन्थ में वनौषधियों के संबन्ध में वैदिक वाङ्मय में उपलब्ध यथाशक्य सारी सामग्री संकलित कर उनका तत्कालीन चित्र उपस्थित करने की चेष्टा की गई है। इसके लिए संहिता, ब्राह्मणग्रन्थ, उपनिषद् तथा वेदांग सभी का सर्वेक्षण किया गया है। इस क्षेत्र में अन्य विद्वानों की कृतियों तथा कोशों से भी सहायता ली गई है। इस प्रकार यह प्रयत्न किया गया है कि इसे अधिकाधिक पूर्ण रूप दिया जाय यद्यपि वाङ्मय की विशालता को देखते हुए यह एक अत्यन्त दुरूह कार्य है।

द्रव्यगुण का इतिहास

ग्रन्थ के द्वितीय खण्ड में द्रव्यगुण का इतिहास रखा गया है। यह अंश मेरे 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' में प्रकाशित हो चुका है। इसमें पुनः देने के दो प्रयोजन हैं—एक तो यह कि वैदिक काल से लेकर आज तक द्रव्यों तथा द्रव्यगुण वाङ्मय के विकास की श्रृंखला स्पष्ट हो जाय और दूसरा यह कि 'इतिहास' प्रकाशित होने के बाद जो नये विचार प्रादुर्भूत हुए उनसे सारी सामग्री को परिष्कृत कर द्रव्यगुण के अध्येताओं के समक्ष प्रस्तुत किया जाय। तीसरी विशेषता इसकी यह है कि द्रव्यगुण के क्षेत्र में कार्य करने वाले विशिष्ट विद्वानों के चित्र दिये गये हैं जिससे नई पीढ़ी को उनके दर्शन से सतत प्रेरणा मिलती रहे और उनकी स्मृति भी सुरक्षित रहे। आयुर्वेद जगत् की यह महती त्रुटि रही है कि अपने आचार्यों के स्वरूप को वह सुरक्षित नहीं रख पाता जिसका परिणाम यह है कि आधुनिक पीढ़ी के छात्रों को ३०–४० वर्ष पूर्व के लब्धकीर्त्ति आचार्यों की भी जानकारी नहीं है। इस दोष का निराकरण होना चाहिए तथा आधुनिक विज्ञान ने इतिहास को सुरक्षित रखने के लिए जितने साधन जुटाये हैं उन सबका पूरा उपयोग कर इतिहास को जीवन्त रूप देना चाहिए। यह इस दिशा में एक प्रारंभिक प्रयास मात्र है।

आभार-प्रदर्शन

मालवीय जयन्ती, १९६५ को इस कार्य का संकल्प लिया था। कार्य इतना कठिन था कि जैसे-जैसे विषय में प्रविष्ट हुआ, निराशा बढ़ती गई। बारह वर्षों के अज्ञातवास के बाद विश्वविद्यालय के हीरकजयन्ती-वर्ष में यह चिरप्रतीक्षित ग्रन्थ प्रकाश में आ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रहा है, यह सन्तोष का विषय है। पुस्तकों को समय-समय पर जुटाने में संस्थान के पुस्तकालय के कर्मचारियों ने जो सहयोग किया है उसके लिए मैं उन्हें हार्दिक धन्यवाद देता हूं क्योंकि उसके बिना यह कार्य संभव नहीं था। अनेक संबद्ध ग्रन्थों से इसमें सहायता ली गई है जिसके लिए लेखक उनका आभारी है। विशेषतः पं० विश्वबन्धु शास्त्री द्वारा संपादित एवं प्रकाशित 'वैदिक पदानुक्रम कोष' से संदर्भ ढूढ़ने में बड़ी सहायता मिली है। इस अनुपम प्रकाशन द्वारा वैदिक शोधकर्त्ताओं का जो उपकार आपने किया है उसके लिए मैं ही नहीं, समस्त सुधीमण्डल आप्यायित है। प्रकाशक महोदय भी धन्यवाद के पात्र हैं जिन्होंने अनेक कठिनाइयों के बावजूद इसे प्रकाशित किया।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
२४ जनवरी, १९७७
वसन्त–पञ्चमी
(विश्वविद्यालय–हीरकजयन्ती-समारोहदिवस)

प्रियव्रत शर्मा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषय-सूची

प्रथम खण्ड—वैदिक औद्भिद द्रव्य

पृष्ठ

औद्भिद द्रव्य-विवरण ... १–१७४
ग्रन्थ–सन्दर्भ ... १७५–१८१
परिशिष्ट १—वनौषधियों के पर्याय तथा वैज्ञानिक नाम ... १८३–१९९
परिशिष्ट २—ऋग्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २००
परिशिष्ट ३—यजुर्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २०१
परिशिष्ट ४—अथर्ववेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २०२–२०५
परिशिष्ट ५—ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २०५–२०६
परिशिष्ट ६—उपनिषदों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २०७
परिशिष्ट ७—कल्पसूत्रों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २०७–२१२
परिशिष्ट ८—पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा वार्त्तिक में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ
परिशिष्ट ९—पातञ्जल महाभाष्य में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २१५–२१६
परिशिष्ट १०—यास्क-निरुक्त में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ २१६

द्वितीय खण्ड—द्रव्यगुण का इतिहास

मौलिक सिद्धान्त ... २१९–२२३
द्रव्यों का यातायात ... २२३–२३०
द्रव्यों का कालनिर्णय ... २३०–२३१

कतिपय विशिष्ट द्रव्यः

औषधवर्ग ... २३२–२५१
पुष्पवर्ग ... २५१–२५२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फल वर्ग ... २५२–२५८
शाक वर्ग ... २५८–२६१
अन्न-पान ... २६१–२६४
जान्तव द्रव्य ... २६४–२६८
द्रव्यगुण का वाङ्मय
प्राचीन काल ... २६८–२६९
मध्य काल ... २६९–२९१
आधुनिक काल ... २९१–३१६
ग्राम्यौषधि ... ३१६
कल्पग्रन्थ ... ३१७
पत्रिका–विशेषांक ... ३१८
द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थ ... ३१८–३२३
आयुर्वेदेतर वाङ्मय में द्रव्यगुण ... ३२३–३२४
वैद्येतर विद्वानों द्वारा रचित ग्रन्थ ... ३२४–३२५
वनौषधि-सर्वेक्षण ... ३२६
भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय ... ३२६
शोधकार्य ... ३२७–३२८
भेषजकल्पना ... ३२८–३३६
भेषजसंहिता (फार्माकोपिया) ... ३३६
राजनियन्त्रण ... ३३७
शिक्षण एवं अनुसन्धान ... ३३८
भैषज्यकल्पना का वाङ्मय ... ३३९–३४१
सन्दर्भ–सूची ... ३४३–३४८
शुद्धिपत्र ... ३४९
अनुक्रमणिका १—द्रव्य ... ३५१
अनुक्रमणिका २—Latin and English Names ३७२
अनुक्रमणिका ३—ग्रन्थ ३८०
अनुक्रमणिका ४—ग्रन्थकार एवं व्यक्ति ३८६
अनुक्रमणिका ५—विविध ३९०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संकेत-निर्देश

अ० अ०	अथर्ववेदानुक्रमणिका
अ० प०	अथर्वपरिशिष्ट
अ० प्र०	अथर्वप्रातिशाख्यम्
अ० शां०	अथर्वशान्तिकल्प
अ० सं०	अष्टांगसंग्रह
अ० हृ०	अष्टांगहृदय
आ० गृ०	आश्वलायनगृह्यसूत्र (नारायणकृतवृत्तिसमेत)
आग्नि० गृ०	आग्निवेश्य गृह्यसूत्र
आप० ध०	आपस्तम्बधर्मसूत्र
आप० मं०	आपस्तम्बमन्त्रपाठ
आप० श्रौ०	आपस्तम्बश्रौतसूत्र
ऑफ्रेक्ट	Aufrecht' Catalogus Catalogorum
उ०	उत्तरतन्त्र
ऋ० अ०	ऋग्वेदानुक्रमणिका
ऋ० तं०	ऋक्तन्त्रम् (सामप्रातिशाख्यम्)
ऋ० प्रा०	ऋक्प्रातिशाख्यम्
ए० सो० क०	एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता
एन० सी० सी०	Raghavan's New Catalogus Catalogorum
ऐ० आ०	ऐतरेयारण्यक
ऐ० ब्रा०	ऐतरेयब्राह्मण
क०	कल्पस्थान
क० कठ०	कपिष्ठलकठसंहिता
क० प्र०	कर्मप्रदीप
कण्डोल	A. D. Candolle's origin of Cultivated Plants
का०	काण्वसंहिता
का०गृ०, काठ०गृ०	काठकगृह्यसूत्र
काठ०	काठकसंहिता
का० ब्रा०	काण्व शतपथब्राह्मण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का० श्रौ०	कात्यायनश्रौतसूत्र
के० आ० प०	A Check list of Sanskrit Medical Manuscripts in India (C. C. R. I. M. & H., New Delhi)
के० प०	केशवपद्धति
खा० गृ०	खादिरगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दव्याख्यासहितम्)
कौ० गृ०	कौथुमगृह्यसूत्र
कौ० सू०	कौशिकसूत्र
खि०	खिलस्थान
गो०	गोपथब्राह्मण
गो० गृ०	गोभिलगृह्यसूत्रम्
गौ० ध०	गौतमधर्मसूत्र
च०	चरकसंहिता
चक्र०	चक्रपाणि
चि०	चिकित्सास्थान
छां०, छा० उ०	छान्दोग्योपनिषद्
छा० ब्रा०	छान्दोग्यब्राह्मण
जै०	जैमिनीय संहिता
जै० उ०	जैमिनीय उपनिषद्
जै० उ० ब्रा०	जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण
जै० गृ०	जैमिनीय गृह्यसूत्र
जै० ब्रा०	जैमिनीय ब्राह्मण
तां०	ताण्ड्यमहाब्राह्मण
तै०	तैत्तिरीय संहिता
तै० आ०	तैत्तिरीय आरण्यक
तै० प्रा०	तैत्तिरीय प्रातिशाख्य
तै० ब्रा०	तैत्तिरीय ब्राह्मण
दं० वि०	दन्त्योष्ठविधि
दा०	दारिलभाष्य
द्रा० गृ०	द्राह्यायण गृह्यसूत्रम्
द्रा० श्रौ०	द्राह्यायण श्रौतसूत्र
ना० भा०	नारायणभाष्य
निघ०	निघण्टु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नि० सू०	निदानसूत्रम्
प० विं०	पञ्चविंश ब्राह्मण
पा०	पाणिनीय अष्टाध्यायी
पा० उ०	पाणिनीय उणादि
पा० उ० वृ०	पाणिनीय उणादिसूत्र (वृत्तिसहिता)
पा० उ० भो०	पाणिनीय उणादि भोजवृत्ति
पा० ग०	पाणिनीय गणपाठ
पागम०	गणरत्नमहोदधि
पा० गृ०	पारस्करगृह्यसूत्र
पा० म०	पातञ्जल महाभाष्य
पा० वा०	पाणिनीय वार्त्तिक
पा० वा० ग०	पाणिनीय वार्त्तिक गणपाठ
पा० सं०	पाण्डुलिपिसंख्या
पै०	पैप्पालादसंहिता (अथर्ववेदीय)
बृ, बृ० उ०	बृहदारण्यकोपनिषद्
बृ० जा०	बृहज्जातक
बृ० दे०	बृहद्देवतानुक्रमणी
बो० गृ०	बोधायन गृह्यसूत्र
बौ० ध०	बौधायन धर्मसूत्र
बौ० पि०	बौधायन पितृमेधसूत्र
बौ० श्रौ०	बौधायन श्रौतसूत्र
भा० गृ०	भारद्वाज गृह्यसूत्रम्
मं०, मं० ब्रा०	मन्त्रब्राह्मण
मा०	माध्यान्दिनसंहिता
मा० गृ०	मानवगृह्यसूत्रम्
मा० शि०	माण्डूकी शिक्षा
मै०	मैत्रायणीसंहिता
या०	निरुक्तम्
या० शि०	याज्ञवल्कीय शिक्षा
रघु०	रघुवंश
राघवन	New Catalogus Catalogorum
वाट	George Watt : A Dictionary of The Economic Products of India.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वा० ध०	वाराह धर्मसूत्र
वा० श्रौ०	वाराह श्रौतसूत्र
वा० सं०	वाजसनेयिसंहिता
वि०	विमानस्थान
वि० ध०	विष्णुधर्मसूत्र
वृ०	नारायण कृतवृत्ति
वै० ध०	वैखानस धर्मसूत्र
वैता० श्रौ०	वैतान श्रौतसूत्र
श०	शतपथब्राह्मण
शं० लि० ध०	शंखलिखितधर्मसूत्र
शा०	शारीरस्थान
शां० आ०	शांखायन आरण्यक
शां० गृ०	शांखायन गृह्यसूत्र
शां० ब्रा०	शांखायन ब्राह्मण
शां० श्रौ०	शांखायन श्रौतसूत्र
शु० प्रा०	शुल्वप्रातिशाख्य
शौ०	शौनकीय अथर्ववेदसंहिता
ष० ब्रा०	षड्विंशब्राह्मणम्
सा०	सामविधान ब्राह्मणम्
(सा०)	सायणभाष्य
सु०	सुश्रुतसंहिता, सुमन्तु धर्मशास्त्र
सू०	सूत्रस्थान
हि० गृ०	हिरण्यकेशिगृह्यसूत्र
हि० श्रौ०	हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र
A. B. O. R. I.	Annals of Bhandarkar Oriental Research Institute. Poona.
B. O. R. I.	Bhandarkar Oriental Research Institute, Poona.
I. J. H. S.	Indian Journal of History of Science.
J. B. R. S.	Journal of Bihar Research Society.
Ved. Ind.	Vedic Index by Macdonell and Keith.
Ved. Pl.	Vedic Plants By G. P. Majumdar, B.C. Law. Vol. I. pp. 645–666.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वैदिक औद्भिद द्रव्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अकर्ण—शान्त ओषधियों में इसका उल्लेख है। अन्नप्राशन के शीघ्र बाद होने वाले गोदान के संभारों में शान्त ओषधियों की गणना की गई हैं।[1]

अक्ष—रथ के धुरे या जुए के पाशे के लिए मुख्यतः इस शब्द का प्रयोग हुआ है। प्रारम्भ में सम्भवतः यह प्रथम अर्थ में प्रयुक्त हुआ, बाद में द्वितीय अर्थ में। ऋग्वेद में इसका प्रयोग अधिकांश रथ के प्रसंग में ही आया है। परवर्ती वाङ्मय में द्यूतपाश के लिए इसका प्रयोग होने लगा। बिभीतक की अस्थि का प्रयोग द्यूतपाश में होने के कारण अक्ष इसका पर्याय बना। द्यूत के सम्बन्ध में एक शब्द कलि आया है सम्भवतः इसी कारण आगे चलकर कलि भी बिभीतक का पर्याय बना। निरुक्त ने इसकी व्याख्या की है कि जिसका अंजन, अभ्यंजन, स्नेहन किया जाय वह अक्ष है। इससे रथ के धुरे का अर्थ निकलता है। बिभीतक-मज्जा में भी स्नेह होने के कारण इस दृष्टि से भी इसका अर्थ बिभीतक हो सकता है। यह भी कहा जाता है कि बिभीतक की लकड़ी रथ का अक्ष बनाने के काम में आती थी। ऋग्वेद में 'बभ्रु' शब्द आया है जिसकी व्याख्या सायण ने पिंगलवर्ण अक्ष की है। इससे बिभीतक के वर्ण की प्रतीति होती है। अथर्ववेद में भी वह शब्द द्यूत के प्रसंग में प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र में इसके फाण्ट या क्वाथ से ज्वर में अवसिंचन का विधान है। छान्दोग्य उपनिषद् (७।३।१) में 'अक्ष' शब्द बिभीतक के लिए आया है। आगे चलकर अक्ष शब्द बिभीतक के सदृश अस्थि-बीजों के लिए प्रयुक्त होने लगा यथा पद्माक्ष, रुद्राक्ष, पुत्रजीवकाक्ष आदि। परवर्ती उपनिषदों में यह अधिकांश इसी अर्थ में आया है।

पारस्कर गृह्यसूत्र (१।२१) में श्लेष्मातक आदि वृक्षों के साथ इसका मूल निषिद्ध माना गया है। अथर्वपरिशिष्ट में भी ऐसा ही उल्लेख है।[2]

---

१. कौ० सू० ५३।१,२

२. ऋ० ७।८६।६ (त्रिभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः–सा०), १०।३४।१ (विभीदकः बिभीतकविकारोऽक्षः–सा०), १०।३४।५ (बभ्रवः बभ्रुवर्णा अक्षाः–सा०)
शौ० ७।५०।१,९; ७।१०९।१ (इदमुग्राय बभ्रवे नमो यो अक्षेषु तनूवशी), ७ (अक्षान् यद् बभ्रूनालये ते नो मृडन्त्वीदृशे)
श०–५।३।१।१०, अक्षा नाम कपर्दकाः सुवर्णनिर्मिताः बिभीतकफलानि सौवर्णानि वेत्येके, ते चाक्षा द्यूतस्थाने निवपनीयाः। तेषां चतुर्णां अक्षाणां 'कृत' संज्ञा, पञ्चानां कलि संज्ञा ५।४।४।६ (सा०), ५।४।४।२३
तै० ब्रा०–१।७।१०।५
छा० उ०–७।३।१ (द्वे वाऽऽमलके द्वे वा कोले द्वौ वाक्षौ)
निघ०–५,२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अगरु—वैदिक संहिताओं में अगरु का उल्लेख नहीं मिलता। बृहज्जाबाल उपनिषद् में अगरुत्रितय का उल्लेख है।[1] अथर्वपरिशिष्ट में चन्दन के साथ अगरु जलाने का विधान है। इससे इसके सुगन्धित द्रव्य होने का पता चलता है तथा सम्भवतः यह धूप के साथ जलाया भी जाता था। अथर्वपद्धति में कौशिकसूत्र की मन्त्रोक्त ओषधियों में शमी, पलाश आदि के साथ इसका उल्लेख हुआ है। चन्दन, कुंकुम, कर्पूर, पद्मक के साथ अगुरु के अनुलेपन का भी विधान है।

अघद्विष्टा[2]—वरण और पिप्पली के साथ भैषज्यगण में इसका उल्लेख है। (देखें दूर्वा)

अच्छिद्रपत्र[3]—अथर्वपरिशिष्ट के आसुरीकल्प में इसका उल्लेख है।

"अक्षा अश्नुवत एनानिति वा अभ्यश्नुवत एभिरिति वा"—या० ९।७
वाचोऽक्ष इति वा। अक्षो यानस्यांजनात्—या० १२।१२
मंगलफलाक्षवल्यां—यजति—मा० गृ० २।६।४; पा० गृ० १।२१
अक्षान् निवपेत् युग्मान् वैभीतकान् यथार्थान्—आप० ध० २।१०।२५।१२
अक्षमालां आदाय——जपं कुर्यात्।——
पद्माक्षेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्—शं० लि० ध०-१०७
अक्षान् निवपति (अक्षान् विभीतकान्)—कौ० सू० ४१।१३
शीर्षकाण्टाक्षैः अवसिंचति (ज्वरभैषज्ये) (अक्षाः विभीतकफलानि)—कौ० सू० ३०।८
विभीतकां क्राथयित्वा अवसिंचति—के० प०; कौ० सू० ३७।३
श्लेष्मातकाक्षगृध्रादिपरित्यक्ते समे शुभे—अ० प० १२।१।४
पा० २।१।१०,६।३।१०४
पा० म०—१।२।६४,१।३।१,२।१।१

1. अगरुत्रितयं चैव चूर्णयित्वा तु सूक्ष्मतः।—बृ० जा० ३।२८
अ० प० ३६।१५।१; ६६।२।२; ३; कौ० सू० ८२।२६; वि० ध० ७९।११

2. अ० प० ३२।१।२४;
अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् मच्छपथां अधि॥
यश्च सापत्नः शपथो जाम्याः शपथश्च यः।
ब्रह्मा यन्मन्युतः शपात् सर्वं तन्नो अधस्पदम्॥
दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥
परि मां परि मे प्रजां नः पाहि यद्धनम्।
अरातिर्नो मा तारीन्मा नस्तारिषुरभिमातयः॥
शप्तारमेतु शपथो यः सुहार्त् तेन नः सह।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणीमसि॥—शौ० २।७।१-५

3. अच्छिद्रपत्राणि उशीरः सर्षपस्तथा।
एतच्चूर्णात् पूर्वफलं घृते चैवापराजयः॥—अ० प० ३५।१।१६-१७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अजशृंगी[1]—यह वीरुध् जाति की उग्रगन्धयुक्त वनस्पति है। यह ओषधियों तथा वीरुधों में वीर्यवती तथा अपनी गन्ध से अप्सराओं, गन्धर्वों और राक्षसों का नाश करने वाली कही गई है। रक्षोघ्न होने के कारण इसे 'अराटकी' (अराः हिंसकाः तान् आट्यति उच्चाटयति इति–सा०) तथा शृङ्गाकार तीक्ष्णगन्ध होने से तीक्ष्ण-शृङ्गी (तीक्ष्णे उग्रगन्धे शृङ्गाकृती फले यस्याः) भी कहते हैं।

अजिनफला[2]—

अजिर[3]—

अजीता[4]—पुंसवनकर्म में इसका स्वरस दक्षिण नासापुट में देने का विधान है।

अणु[5]—यह एक प्रकार का ग्राम्य धान्य है जिसके दाने छोटे और श्वेतवर्ण होते हैं। कौशिकसूत्र में मोहन-प्रकरण में इसके हवन का विधान है।

अतसी[6]—ऋग्वेद में 'अतस' शब्द अनेक स्थलों पर आया है। एक स्थल पर इसी का स्त्रीलिंग शब्द 'अतसी' भी प्रयुक्त हुआ है। सायण ने इसका अर्थ काष्ठ, उन्नतवृक्ष, वृक्षसंघ तथा सततगामी किया है। इसी आधार पर अतसी का अर्थ सततगामिनी

---

१. त्वया वयमप्सरसो गन्धर्वांश्चातयामहे।
अजशृङ्ग्यज रक्षः सर्वान् गन्धेन नाशय ॥—शौ० ४।३७।२ ; पै० १२।४।२
अजशृङ्गी विषाणी स्यात् (अ० को० २।४।१५९) इत्यभिधानकोशप्रसिद्धा अजशृङ्गी। सात्र संबोध्या।
अजशृङ्गाकृतिफलयुक्तत्वात् अजशृङ्गीत्युच्यते—सा०
अ० अ० ४।२७, अ० शां०—१२।८
'एग्रमगन्धोषधीनां वीरुधां वीर्यावती।
'अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥'—शौ० ४।३७।६

२. पा० [illegible]० ४।१।४

३. अमूनश्वत्थ निःशृणीहि खादामून् खदिराजिरम्—शौ० ८।८।३

४. अथास्यै मण्डलागारच्छायायां दक्षिणस्यां नासिकायामजीतामोषधीं नस्तः करोति।
—आ० गृ० १।१३।५
अजीतेति गुणनाम अजीर्णेत्यर्थः, सा चौषधी दूर्वेत्युपदिशन्ति—वृ०

५. वा० सं० १८।१२, "दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च"—बृ० उ० ६।३।१३;
तै० प्रा० २।१३।११, पा० ५।२।४
कौ० सू० १४।१८,१९–दारिल ने व्याख्या में लिखा है 'अणवः कणिकनिकाः।

६. ऋ० (अतस) ४।४।४,८।६०।७।३।७।३; १०।८९।५,११६९।३,१५८।२,४,५।७।१० ८।३।१३ (अतसी)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया है। अन्य वैदिक संहिताओं में भी इसीका अनुकरण है। अथर्वपरिशिष्ट में अतसी की समिधा का हवन मेधावृद्धि के लिए निर्दिष्ट है।

ऐसा प्रतीत होता है कि वेदांगकाल में 'अतसी' शब्द द्रव्यविशेष के लिए प्रयुक्त होने लगा।

अतिबला—पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली औषधियों में इसकी गणना बला के साथ की गई है[1]।

अतिविद्धभेषजी[2]—यह पिप्पली का पर्याय है। (देखें, पिप्पली)

अदृष्टदहनी—यह रक्षोघ्न, क्रिमिघ्न बतलाई गई है तथा व्रणों, अस्थिजन्य विकारों में एवं बलवृद्धि के लिए इसका प्रयोग बतलाया गया है। इसका नाम भी इसके रक्षोघ्न गुणधर्म का संकेत करता है[3]।

अधः पुष्पी—मूलविधि-प्रकरण में अन्य औषधियों के साथ इसका उल्लेख है[4]।

अध्य(ध्या)ण्डा[5]—संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं है। शतपथब्राह्मण में यह सर्वप्रथम उपलब्ध होता है। श्मशानायतन में इसे रखने का निषेध है। सायण ने

शौ०—२०।५०।६

तै० आ०—१०।१।९, ऐ० ब्रा० ६।२१, शा० ब्रा० २४।५

अ० प०—२६।२४।२, पा० गृ० ४।१।४१, आ० श्रौ० ७।४।६, वैता० श्रौ० २७।१३, ३५।१२

अ० शा० २१।२

१. अ० प० ५।१।४-५;५।२।१-३, आप० मं०-२।१७।११,१२, सु० २९।६

२. शौ० ६।१०९।१

३. इमां खनाम्योषधिं अदृष्टदहनीम् अहम्
आत्मजा ये वास्थिजा अरुषा च उतोदिम।
तेभ्यः खनाम्योषधिं तेभ्यो विघ्नी वधः कृता ॥—पै० ९।६।१-१२

४. पा० गृ० १।२१

५. न भूमिपाशमभिनिदध्यात्। न शरत्। नाश्मगन्धान्। नाध्याण्डान्। न पृश्निपर्णीन्।—श० १३।८।१।१६
का० श्रौ०-२५।१६५-१६७, हि० श्रौ० २९।१।४
फालचमसे सरूपवत्साया दुग्धे व्रीहियवावधाय मूर्छयित्वाध्यण्डं बृहतीपलाशविदार्यौ वा प्रतिनीय पैद्वमिव।—कौ० सू० ३५।४
अध्यण्डे पर्णफलेत्यप्रसिद्धा—दा०
अध्याण्डामूलं पेषयित्वा ऋतुवेलायां—नस्तो दक्षिणतो निषिंचेत्—शां० गृ० १।१९।१ (गर्भाधानप्रकरण)
पर्णफलिनी—रामचन्द्रपद्धति तथा ना० भा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसके फलों को गुच्छे में बतलाया है। कौशिकसूत्र में अध्यण्डा के दो बीजों को सरूपवत्सा गौ के दुग्ध में मिलाकर स्त्री के दक्षिण नासापुट में नस्य देने का पुंसवन कर्म के लिए विधान है। दारिल ने अपनी व्याख्या में इसे पर्णफला कहा है। शांखायनगृह्यसूत्र में अध्यण्डामूल को पीसकर ऋतुकाल में नस्य गर्भाधान के लिए विहित है। यहाँ भी व्याख्याकारों ने इसे पर्णफलिनी कहा है।

अनन्ता[1]—नक्षत्रस्नान-विधि में पुष्य नक्षत्र के लिए अन्य ओषधियों के साथ अनन्ता का उल्लेख है।

अन्धपुष्पिका[2]—इसका पुष्प हरितवर्ण कहा गया है। शौ० ४।३० (सा०) में 'गन्धपुष्पिका' पाठ है।

अन्धंकरणी—(पा. ३।२।५६)

अपरका[3]—

अपराजिता[4]—अथर्ववेद की पैप्पलाद शाखा में इसका उल्लेख मिलता है। अथर्वपरिशिष्ट में रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, यशस्य और वर्चस्य ओषधियों में इसका परिगणन किया गया है। पारस्करगृह्यसूत्र के मूलविधि-प्रकरण में यह निर्दिष्ट है। 'अपराजिता' शब्द ऐशानी दिशा के लिए भी प्रयुक्त हुआ है। इसके अतिरिक्त, अपराजितदशमी तथा गणमाला में अपराजितगण का उल्लेख है[5]।

आयमगन् युवा भिषक् पृश्निहापराजितः।
स वै स्वजस्य जम्मनः उभयोर्वृश्चिकस्य च ॥—शौ. १७।४।१५

इस मन्त्र में विषवैद्य का विशेषण 'अपराजित' दिया है। इससे अपराजिता के विषनाशक गुणधर्म का प्रतीक संकेत मिलता है।

अपस्कम्भ—सायण ने इसका अर्थ क्रमुकवृक्ष किया है।[6] (देखें, क्रमुक)

---

१. अ० प०–१।४३।६
२. के० प०–१०।१६ (शुक्लपुष्पहरितपुष्पे इति शंखपुष्पिका-अन्धपुष्पिका प्रसिद्धे)
३. बो० पि० १।६।२ (वीरुद्-उद्धरण)-(देखें, काला)
४. शतदंष्ट्रां सहस्रां जयन्तीमपराजिताम्–पै० २०।२०।६
अ० प० १८।१।१५-१७;१८।२।६;३२।१।१३, कौ० सू० १३९।७
पा० गृ० १।२१
कर्म. १।१।७, कौ० सू० १७।९, आ० गृ० ३।८।३, शां० गृ० ४।६।२, ऋ० प्रा० १५।१
५. अ० प० १८।२।६, ३२।१।१३, (कौ० सू० १३९।७)
६. अपस्कम्भस्य शल्यान्निरवोचमहं रसम्–शौ० ४।६।४
'अपस्कम्यते विधार्यते अन्तरिक्षे इति अपस्कम्भः क्रमुकवृक्षः'–सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपाघा[1]—'अपाघ' शब्द अपामार्ग के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। माध्यन्दिनी संहिता के एक मन्त्र में इसका निर्देश उपलब्ध होता है (देखें, अपामार्ग)। किन्तु आग्नि. गृ. में अपामार्ग के साथ 'अपाघा' का उल्लेख होने से यह भिन्न वनस्पति प्रतीत होती है। संभवतः यह दूर्वा का पर्याय है (देखें अघद्विष्टा)

अपामार्ग—ऋग्वेद में अपामार्ग का उल्लेख नहीं है। यजुर्वेद की विभिन्न संहिताओं में अपामार्ग का सक्तु (चूर्ण) बनाकर हवन करने का विधान है। इससे राक्षसों का नाश होता है। जल को हटा कर इसका ग्रहण करने का निर्देश है। इससे एक अर्थ यह निकलता है कि इसे सुखा कर लेना चाहिए और दूसरा यह कि इसमें शरीर से जलांश निकालने की शक्ति है। इसे पापनाशन, मृत्युनाशन तथा दुःस्वप्ननाशन कहा गया है। कुष्ठ पापरोग माना गया है अतः इससे इसके कुष्ठघ्न कर्म का संकेत मिलता है। कृत्यानाशन से रक्षोघ्न तथा दुःस्वप्ननाशन से मेध्य कर्मों का संकेत होता है।

अथर्ववेद के अनेक सूक्तों में इसका विस्तार से वर्णन किया गया है। 'अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे' (शौ० ४।१७।७) इस मंत्र में 'अपामार्ग' शब्द की निरुक्ति है। 'अप (हृत्य दोषान् शरीरं) मृज्यते अनेन इति अपामार्गः'—अर्थात् दोषों का निर्हरण कर जिसके द्वारा शरीर का संशोधन हो वह अपामार्ग है। १७वें सूक्त के मन्त्रों (१-८) से अपामार्ग के सहस्रवीर्य, क्रिमिघ्न, रक्षोघ्न, रसायन, अर्शोघ्न, क्षुधातृष्णामारण, विषघ्न, अश्मरीनाशन तथा ओजोवर्धन कर्म का संकेत होता है। १८वें सूक्त में इसके क्षेत्रियनाशन कर्म का विस्तृत वर्णन है। १९वें सूक्त में इसके दीपन तथा भेदन कर्म का संकेत है। पैप्पलाद शाखा में इनके अतिरिक्त अपामार्ग में दौर्भाग्यनाशन तथा अनपत्यतानाशक कर्म भी हैं। एक स्थान (शौ. ७।६५।३) पर यह कहा गया है कि "श्यावदन्त, कुनखी तथा बण्ड साथ बैठने या भोजन करने से मुझ में जो दोष आ गये हों, हे अपामार्ग! उन्हें तुम नष्ट करो।" यह स्पष्टतः कुष्ठ के औपसर्गिक दोष के निवारण की ओर संकेत करता है। इसे 'प्रतीचीनफल' कहा गया है (७।६५।१) जिसकी व्याख्या करते हुये सायण ने लिखा है :—

"प्रत्यङ्मुखानि फलानि यस्य। अग्रादारभ्य फलस्य मूलपर्यन्तं आत्माभिमुखं स्पर्शने कण्टकराहित्यदर्शनात् प्रतीचीनफलत्वम्।"

---

१. 'अपाघमप किल्बिषमपकृत्यामपो रपः। अपामार्ग त्वमस्मदपदुःस्वप्न्यं सुव' —मा० ३५।११

आग्नि. गृ. ३।५।५;
देखें—का. श्रौ. २१।४।२२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्थात् ऊपर से नीचे की ओर स्पर्श करने पर जिसमें कण्टक की प्रतीति न हो किन्तु विपरीत दिशा में हो। शतपथब्राह्मण (५।२।४।२०) में भी यह शब्द आया है। उसकी व्याख्या करते हुए सायण ने लिखा है :—

'अपामार्गमञ्जर्यो यतः प्रतीचीनफलाः स्वात्मानं प्रतिगतैरवाङ्मुखैःफलैर्युक्ताः'

अर्थात् अपामार्ग की मञ्जरियों में फल अधोमुख होते हैं।[1]

शतपथब्राह्मण में 'अपामार्गतण्डुल' शब्द सर्वप्रथम आता है[2]।

सामविधान, विष्णुधर्मसूत्र, याज्ञवल्क्य-शिक्षा तथा माण्डूकी शिक्षा में अपामार्ग के दन्तधावन का विधान है।

अथर्वानुक्रमणिका में 'अपामार्ग-वीरुध्' शब्द आया है[3]; इससे इसके क्षुप होने का संकेत मिलता है।

---

१. रॉथ, जिमर तथा ह्विटनी का कथन है कि इसकी पत्तियाँ उलटी होती हैं। विशेष विवरण के लिए देखें--Ved. ind., 1–26.

२. तुलना करें—चरकसंहिता का 'अपामार्गतण्डुलीय अध्याय' (सू. २)

३. मा०—३५।११; सं०—२।६।३; ४।३।४; काठ.—१५।२
पै०—२।२६।४-५; ५।२३।१-८; ५।२४।१-८: २।२३।४; २।२४।७; २।२५।४; १६।१४७।१-८; १६।१४८।१-१०; १६।१४९।१-१०
श०—५।२।४।१४; १५, २०, १३।८।४।४
ष०—५।२; सा० २।६।३; तं०—१।७।१।८
का० श्रौ० १५।२।१,२; २१।४।२४; हि० श्रौ०—१३।३।२२-२३
बौ० श्रौ० १२।४; १०, १३; २२।१७, ६, ५; आप० श्रौ०—१८।९।१५, १६
वा० श्रौ० ३।३।१।१७
आ० गृ० २।७।५-६; का० गृ०—७२।१; गो० गृ०—३।९।४
जै० गृ०—२।५,६,९; कौ० गृ०—५।१।२; पा० गृ०—१।२१
शां० गृ०—३।१।३; ४।१७।२; ४।१७।३; आग्नि० ग०—२।५।१।१६; ३।५।५।७; ३।६।३।५,१४; ३।६।९।२
वि० ध०—६१।१४; बौ० पि०—१।६।२; १।१४।२
कौ० सू०—८।१६; ३९।१९; ५०।२२; के० प०—३९।५-१२; ४६।४९
अ० प०—१८।५।१; २६।५।१-५; अ० शां०—२१।३,४
या० शि०—३३; मा० शि० ४।१; अ० अ०—४।१७; ७।६५
शु० प्रा०—३।११२; ५।२१; अ० प्रा०—३।४।१
या०—४।१७।२

क्षुधामारं तृष्णामारमगोतामनपत्यताम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥
तृष्णामारं क्षुधामारमथो अक्षपराजयम्। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥
अपामार्ग ओषधीनां सर्वासामेक इद् वशी। तेन ते मृज्म आस्थितमथ त्वमगदश्चर॥
—शौ. ४।१७।६-८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

श्रौतसूत्रों में भी अपामार्गहोम का विधान है। गृह्यसूत्रों में इसका उपयोग गृहशान्ति, समावर्तन, अग्रहायणीकर्म आदि में विहित है। श्मशानायतन से अपामार्ग के उद्धरण का विधान है। पारस्करगृह्यसूत्र के मूलविधि-प्रकरण में अन्य ओषधियों के साथ इसका उल्लेख है। इससे प्रतीत होता है कि व्यवहार में

समं ज्योतिः सूर्येणाह्ना रात्री समावती।
कृणोमि सत्यमूतयेऽरसाः सन्तु कृत्वरीः॥
यो देवाः कृत्यां कृत्वा हरादविदुषो गृहम्।
वत्सो धारुरिव मातरं तं प्रत्यगुप पद्यताम्॥
अमा कृत्वा पाप्मानं यस्तेनान्यं जिघांसति।
अश्मानस्तस्यां दग्धायां बहुलाः फट् करिक्रति॥
सहस्रधामन् विशिखान् विग्रीवां छायया त्वम्।
प्रति स्म चक्रुषे कृत्यां प्रियां प्रियावते हर॥
अनयाहमोषध्या सर्वाः कृत्या अदूदुषम्।
यां क्षेत्रे चक्रुर्यां गोषु यां वा ते पुरुषेषु॥

यश्चकार न शशाक कर्तुं शश्रे पादमंगुरिम्। चकार भद्रमस्मभ्यमात्मने तपनं तु सः॥
अपामार्गोऽपमार्ष्टु क्षेत्रियं शपथश्च यः। अपाह यातुधानीरप सर्वा अराय्यः॥
अपमृज्य यातुधानानप सर्वा अराय्यः। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥

—शौ० ४।१८।१-८

उतो अस्यबन्धुकृदुतो असि नु जामिकृत्।
उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा छिन्धि वार्षिकम्।
ब्राह्मणेन पर्युक्तासि कण्वेन नार्षदेन।
सेनेवैषि त्विषीमती न तत्र भयमस्ति यत्र प्राप्नोष्योषधे॥

अग्रमेष्योषधीनां ज्योतिषेवाभिदीपयन्। उत त्रातासि पाकस्याथो हन्तासि रक्षसः॥
यददो देवा असुरांस्त्वयाग्रे निरकुर्वत। ततस्त्वमध्योषधेऽपामार्गो अजायथाः॥

विभिन्दती शतशाखा विभिन्दन् नाम ते पिता।
प्रत्यग् वि भिन्धि त्वं तं यो अस्माँ अभिदासति॥
असद् भूम्याः समभवत् तद् यामेति महद् व्यचः।
तद् वै ततो विधूपायत् प्रत्यक् कर्तारमृच्छतु॥

प्रत्यङ् हि संबभूविथ प्रतीचीनफलस्त्वम्। सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया वधम्॥
शतेन मा परि पाहि सहस्रेणाभि रक्ष मा। इन्द्रस्ते वीरुधां पत उग्र ओज्मानमा दधत्॥

—शौ० ४।१९।१-८

प्रतीचीनफलो हि त्वमपामार्ग रुरोहिथ। सर्वान् मच्छपथाँ अधि वरीयो यावया इतः।
यद् दुष्कृतं यच्छमलं यद् वा चेरिम पापया। त्वया तद् विश्वतोमुखापामार्गाप मृज्महे॥
श्यावदता कुनखिना बण्डेन सहासिम। अपामार्ग त्वया वयं सर्वं तदप मृज्महे॥

—शौ० ७।६५।१-३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपामार्गमूल का ही अधिक प्रयोग प्रचलित था। यह बुध ग्रह के लिए समिधा कहा गया है। वास्तुपरीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि मकान बनाने की भूमि से अपामार्ग को हटा देना चाहिए। कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में इसकी गणना है॰। अपामार्गप्रसून (कौ. सू॰ ५०।२२) का भी उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में 'अपामार्ग-त्रयोदशी' का वर्णन है जिसमें अपामार्ग को राजा के ऊपर मंत्रपूर्वक तीन बार घुमाते हैं। अपामार्ग की समिधा सौभाग्यदायक मानी गई है। अपामार्ग गणमाला में कृत्यागण के अन्तर्गत 'प्रतिचीनफल' तथा 'प्रतिसर' नामों से पठित है (अ. प. ३२।१–८)।

सर्प-वृश्चिक आदि के भय की निवृत्ति के लिए अपामार्गमञ्जरी घर में रखने का विधान है (शौ. ६।५२–सा.)।

अपाष्ठ[1]—

अभया—अथर्वपरिशिष्ट में यह शब्द शान्ति के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है[2]। परवर्त्ती गृह्यसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में यह हरीतकी के लिए प्रयुक्त हुआ है[3]।

अभिरोरुद—अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखाओं में इसका उल्लेख मिलता है। सायण ने इसका अर्थ 'सौवर्चल' किया है। वशीकरण में इसका प्रयोग है। पैप्पलाद में भी इसे वर्चस्य और प्रियंकरण कहा गया है[4]।

अभीवर्त्त—इसकी फली का धारण सपत्नक्षपण, वृष्य तथा विषघ्न कहा गया है।[5] सायण ने कौ॰ सू॰ के आधार पर इससे रथचक्रनेमि का ग्रहण किया है किन्तु यह कोई वनस्पति प्रतीत होता है जिससे रथचक्रनेमि बनता हो।

---

१. 'अपाष्ठाच्छृङ्गात् कुल्मलान्निरवोचमहं विषम्'—शौ. ४।६।५
(अपकृष्टावस्थात् एतत्संज्ञात् विषोपादानात्' –सा॰)

२. अ॰ प॰—६०।१।६; ६३।५।५; ६९।६।२

३. गौ॰ ध॰—१७।३; पा॰ गृ॰—३।२।२; आ॰ गृ॰—२।४।१४

४. इदं खनामि भेषजं मां पश्यमभिरोरुदम्। पश्यतो निवर्त्तनं आयतः प्रतिनन्दनम् ॥
—शौ॰ ७।३८।१
पैप्पलादसंहिता में इसके स्थानपर 'अभिनात्मज' है—पै॰ २०।३०।७;
'इदं वशीकरणकारि भेषजं सौवर्चलाख्यम्'—सा॰
पै॰—३।२८।५

५. सपत्नक्षपणो वृषाभिराष्ट्रो विषासहिः। यथाहं एषां वीराणां विराजानि जनस्य ॥
—पै॰१।११।१-५
शौ॰—१।२९।१-६; ऋ॰ प्रा॰—९।६; ऋ॰ तं॰—५।२।७; नि॰ सू॰—५।३; ९।११;
अ॰ अ॰—२९
'अभितो वर्त्तते चक्रमनेनेति अभीवर्त्तो नेमिः। यद्वा अभितः सर्वतः परराष्ट्राद्वौ अप्रतिहतगतिर्वर्त्तते अनेन पुरुष इति अभीवर्त्तो मणिः—सा॰

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अग्निखाता[1]—यह विषघ्न कही गई है। (देखें मदावती)

अमग्नि[2]—गोदान तथा चूडाकरण के संभारों में इसकी गणना है। केशव ने इसे 'पोथिका' माना है।

अमला—संभवतः यह आमलकी का प्राचीन नाम या पर्याय है।[3]

अमूला[4]—कुछ लोग इससे अमरवेल या कलिहारी का ग्रहण करते हैं जिनका उपयोग बाण को विषाक्त बनाने में किया जाता था। ब्लूमफील्ड इससे 'चल संपत्ति' अर्थ लेते हैं।[5]

अमृततृण[6]—गृहशान्ति में अपामार्ग आदि ओषधियों के साथ इसका प्रयोग है।

अमृत[7]—अथर्वपरिशिष्ट में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख हुआ है। इससे गुडूची का ग्रहण होता है। पाणिनीय अष्टाध्यायी में भी इसका उल्लेख है।

अम्लिका[8]—इसका दन्तधावन निषिद्ध है।

अंशुमती[9]—यह पृश्निपर्णी का वाचक है।

अरडु[10]—ऋग्वेद में यह शब्द किसी राजा के लिए आया है। उसके खिलस्थान में 'अरडुः' या 'अरदुः' शब्द आया है जहाँ अश्वत्थ, खदिर, धव आदि अन्य वृक्ष होने से इससे वृक्षविशेष का ग्रहण किया गया है। यही मन्त्र अथर्ववेद में आया है वहाँ 'अरडुपरमः' या 'अरडुपर्णः' पाठ है। पाणिनीय गणपाठ (४।२।८०) के ऋष्यादिगण में 'अरडु' शब्द आया है।

---

१. पैं०—२।३।१-५; ४।२६।१-७
२. कौ० सू०—५३।१,२,१५; ५४।१९
'पोथिका' (के०)
३. जै० उ०—१।१२।४।६; जैं० उ० ब्रा०—१।३८।६
४. शौं०—५।३१।४
५. Ved. Pl., P. 646
Ved. Ind. i-31
६. जैं० गृ०—२।६
७. अ० प०—५।१।५; १८।१।१५-१७; २१।२।३; पा०—६।२।११६
८. वि० ध०—६१।५
९. शंनो देवी पृश्निपर्णीति एतेनांशुमत्या संपातवत् कल्यं ततोऽनुलेपनं पिशाचनाशनम्।
—कौ० सू० २६।३६
१०. ऋ०—८।४६।२७; खि०—५।१५।१४
शौ०—२०।१३१।१५; पा० ग०—४।२।८०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मैकडोनल एवं कीथ तथा ग्रिफिथ Colosanthes indica नामक वनस्पति का ग्रहण करते हैं जिसके काष्ठ से रथ का अक्ष बनाया जाता था। मजुमदार ने इसे अराटकी का पर्याय मान कर इससे शमी तथा खदिर की एकजाति (Prosopis specigera & Acacia Suma) का ग्रहण किया है[1]।

अरणी[2]—जिन लकड़ियों को आपस में रगड़ कर अग्नि उत्पन्न की जाती थी उसे अरणी कहते थे। कौ० सू० में अरणिका की गणना शान्तवृक्षों में की गई है। कुछ लोग इसका अर्थ पलाश करते हैं।

अरलु—संहिताओं तथा ब्राह्मण ग्रन्थों में 'अररु' शब्द एक राक्षसविशेष के लिए आया है। अथर्ववेद में सायण ने अरलुवृक्ष की फली का निर्देश किया है (शौ० ३।६ सा.)। कौशिकसूत्र में अरलुदण्ड को पिशंगसूत्र कहा है। गृह्यसूत्रों में इसके इन्धन या समिधा को निषिद्ध कहा है।[3]

मजुमदार ने इसे श्योनाक मानकर Oroxylum indicum नाम दिया है।[4]

अराटकी[5]—(देखें अजश्रृंगी)

अरिमेद—इसके दन्तधावन का विधान है।[6]

अरिष्ट—इसे पूयवृक्षफल कहा है तथा शौचद्रव्यों में इसकी गणना है। शान्तिकर्म के योग्य स्थान अरिष्ट, श्लेष्मातक आदि से वर्जित होना चाहिए। इसका दन्धधावन निषिद्ध है।[7]

अरुन्धती—यह लाक्षा तथा एक अन्य द्रव्य जिसे सहदेवी, जीवला आदि पर्यायों से कहा गया है, के लिए प्रयुक्त हुआ है। प्रथम सन्दर्भ में यह सन्धानीय तथा

---

१. Ved. ind., 1–33; Ved. Pl., P. 647

२. आ० श्रौ०—२।१।१६; ३।१०।५; का० श्रौ०—१२।३।१०; बौ० श्रौ०—२।१२
हि० गृ०—१९।७।२५; मा० गृ०—१।१७।१-४;
कौ० सू०—८।१५; या० ५।१०

३. ऋ०—१।१२९।३; १०।९९।१०
शौ०—६।४६।१; श०—१।२।४।१७,१८
कौ० सू०—पिशंगसूत्रमरलुदण्डजं यदायुधम्—४३।१ 'पिशंगकपिलवर्णवद्वर्णो दारुकः स्यात्; अरलुक इति प्रसिद्धाभिधानः'—टी०
गो० गृ०-१।५।१५; पा० गृ०—१।२१; कौ० गृ०—२।६।२; जै० गृ०—१।१

४. Ved. Pl., P. 647

५. शौ०—४।३७।६

६. वि० ध०—६१।१४

७. बौ० ध०—१।८।३०-३४; शां० लि० ध०—१६८; अ० प०—२१।३।५; वि० ध०—६१।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्रणरोपण कहा गया है। कौ० सू० (४।४) में अभिघात में लाक्षाश्रृत क्षीर पिलाने का विधान है। यह अश्वरक्त के समान वर्णवाली (अश्वस्यास्नः संपतिता–शौ० ५।६।९) शीतल तथा वातवर्धक ('अपामसि स्वसा लाक्षे वातो ह्यात्मा बभूव ते'—शौ० ५।६।७) होती है। यह पलाश, प्लक्ष, न्यग्रोध, अश्वत्थ आदि वृक्षों से प्राप्त होती है[1]।

दूसरे सन्दर्भ में यह स्निग्ध, स्तन्यजनन, विषघ्न, वातशामक तथा रसायन है। त्रायमाणा, जीवला, वीर्यावती, विषदूषणी, नघारिष, जीवन्ती, सहमाना, सहस्वती इन पर्यायों से इसका अभिधान किया गया है।[2] सायण ने इसे सहदेवी माना है।

अन्य स्थलों में वनस्पति से इतर अर्थ में 'अरुन्धती' शब्द प्रयुक्त हुआ है।[3]

'अरुन्धती' शब्द का अर्थ अरु (व्रण) का संधानजनन या रोपण तथा जिसकी वृद्धि में कोई अवरोध न हो या जिसके सेवन से शरीर में कोई अवरोध या बाधा उत्पन्न न हो। वैदिक संहिताओं में इन दोनों अर्थों में इसका प्रयोग हुआ है।

मजुमदार स्तन्यजनन तथा बल्य कर्मों के प्रसंग में अरुन्धती को सहदेवी का पर्याय मानकर उससे बला की जाति (Sida Cordifolia, S. rhombifolia) लेते हैं। पुनः इससे वह सिलाची नामक स्वर्णवर्ण लता लेते हैं जिससे लाक्षा निकलती है। मैकडोनल एवं कीथ द्वितीय अर्थ का ही ग्रहण करते हैं। उनका कथन है कि यह स्वर्णवर्ण होने के साथ-साथ लोमशवक्षण (रोमशकाण्ड) भी थी।[4]

अरुष्कर[5]—यह संभवतः अलपातक के लिए आया है।

अरुस्राण[6]—इसे 'आस्रावभेषज' कहा गया है। 'आस्राव' शब्द से रक्तस्राव, अति-

---

१. शौ०—४।१२।१-५; ५।५।१-९; (देखें लाक्षा)
२. शौ०—६।५९।१-३; ८।७।६; (देखें सहदेवी)
पै०—१।८५।१-३; २।२०।५; ९।११।१०; १५।१५।१-९; १५।१६।१-९; १५।१७।१-८; १९।१४।११
३. काठ०—३७।१०; तै० ब्रा०—३।१।४।८; तै० आ०—३।९।२
४. Ved. Pl., P. 647.
Ved. ind., 1–35.
५. पा०—३।२।२१
६. नीचैः खनन्त्यसुराः अरुस्राणमिदं महत्।
तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत्॥—शौ. २।३।३; ५; पै०—१।८।३;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सार, अतिमूत्र आदि तथा नाडीव्रण ये भिन्न-भिन्न अर्थ लिये गये हैं।[1] इस शब्द की निरुक्ति से यह द्रव्य व्रणपाचन प्रतीत होता है। सायण ने इसकी निरुक्ति इस प्रकार दी है :—

'अरुः स्रायति पक्वं भवति उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुःस्राणम्'।
'अरुःस्राणां अरुषो व्रणस्य पाचनम्'।

यह मुञ्ज का पर्याय प्रतीत है। (देखें मुञ्ज)

अर्क—अर्च धातु से निष्पन्न 'अर्क' शब्द का अर्थ अर्चनीय होता है। इससे अग्नि, सूर्य, अन्न तथा अर्क वनस्पति का बोध होता है। संहिताओं और ब्राह्मणों में अधिकांश इससे अग्नि तथा अन्न का ग्रहण किया गया है। कृष्णयजुर्वेद की कपिष्ठलकठ-संहिता में एक कथानक आया है कि अंगिरस् महर्षि जब स्वर्गलोक जा रहे थे तब अजा पर उनका स्वेद गिर पड़ा। वह शोकमग्न होकर पर्ण को स्पर्श करने लगी, वह अर्क हो गया। इसीलिए अग्नि के समान योनि होने के कारण अर्कपर्ण से हवन करते हैं। तैत्तिरीयसंहिता में भी यही मन्त्र है। इससे अर्क के आग्नेय स्वरूप (उष्णवीर्य, तीक्ष्णगुण आदि) का संकेत होता है। अथर्ववेद की शौनकीय संहिता में अर्कमणि को वाजीकरण बतलाया है। स्नातककर्म में भी इसका विधान है।

ब्राह्मणग्रन्थों में इसे अग्नि तथा अन्न कहा गया है। इससे इसके दीपन-पाचन के साथ साथ बल्य-वृष्य कर्म का भी संकेत होता है। एक स्थल पर इसे अग्नि, आदित्य और प्राण कहा गया है; यह इसके औषधीय महत्त्व तथा लोक में प्रचार का द्योतक है।

शतपथब्राह्मण (१०।३।४।२-५) में अर्क वनस्पति को पुरुषरूप देकर उसके विभिन्न अंगों का विस्तार से परिगणन किया गया है यथा—

अर्कपर्ण—कर्ण

अर्कपुष्प—अक्षि

अर्ककोशी (द्वय)—नासिका (द्वय)

अर्कसमुद्गौ (द्वय)—ओष्ठ (द्वय)

अर्कधाना—दन्त

---

१. आस्रवन्तीति आस्रावाः अतीसारातिमूत्रनाडीव्रणादयः।—सायण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्काष्ठीला—जिह्वा

अर्कमूल—अन्त्र

इससे इसके विभिन्न अंगों की आकृति का परिज्ञान होता है। जिस प्रकार अर्क को अन्न उसी प्रकार उसके पुष्प को रस माना गया है। इस प्रकार अर्कपुष्प अन्नरस का बोधक है। इससे प्रतीत होता है कि अर्कपुष्प का खाद्यरूप में प्रयोग होता था। शांखायन आरण्यक में अर्क को अग्नि तथा अर्कपुष्प को आदित्य कहा है।

निघण्टु में 'अर्क' शब्द अन्न तथा वज्र का वाचक हैं जिससे इसकी पोषकता तीक्ष्णता एवं भेदकता की प्रतीति होती है। यास्क ने निरुक्त में—इससे देव, मन्त्र, अन्न तथा वनस्पति का ग्रहण किया है। वनस्पति के सन्दर्भ में लिखा है :—अर्को वृक्षो भवति, संवृत्तः कटुकिम्ना'—अर्थात् इसे अर्क कहते हैं क्योंकि यह कटुत्व (उष्णता–तीक्ष्णता) से युक्त होता है।

श्रौतसूत्रों तथा गृह्यसूत्रों में अर्कपर्ण से होम करने का विधान है। अर्क की स्रुवा का भी निर्देश है। अर्क की समिधा आदित्य के लिए निर्धारित हैं। अर्क की मेखला भी बनाई जाती है तथा स्नातककर्म में इसकी मणि का धारण कण्ठ में करते हैं। पारस्करगृह्यसूत्र में मूलविधि में अन्य ओषधियों के साथ इसका निर्देश है।

हिरण्यकेशिश्रौतसूत्र में उल्लेख है कि यदि शरीर में कहीं क्षत हो या कोई जानवर काट ले तो अर्कक्षीर अजाक्षीर में मिलाकर लगावे। अर्क के स्थूल काण्ड का अभ्रि (स्तम्भ) बनाने का भी विधान है। गृहशान्तिकर्म में इसे दरवाजे पर लगाने का निर्देश है। श्मशानायतन से उखाड़ी जाने वाली ओषधियों में भी यह है। अपत्नीक वानप्रस्थों में एक सम्प्रदाय था जो अर्कदुग्ध खाकर रहता था। अर्क के दन्तधावन का भी विधान है।

कौशिकसूत्र में विज्ञान-कर्म प्रकरण में अर्क का प्रयोग है। इसके अतिरिक्त, अर्क का मणि उसी की त्वचा के सूत्र में बाँधकर धारण करने से वाजीकरण होता है। अथर्वपरिशिष्ट में यह आदित्य ग्रह की समिधा बतलाई गई है। शान्तिकर्म के योग्य स्थान अर्क आदि वनस्पतियों से रहित होना चाहिए। आसुरीकल्प-प्रकरण में कहा है कि आसुरी (राजिका) का अर्कसमिधा के साथ अग्नि में हवन करने से विस्फोट उत्पन्न होते हैं तथा अर्कक्षीर से भावित राजिका का अर्काग्नि में होम करने से आंखें फूट जाती हैं। इन सबसे अर्क की तीक्ष्णता

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का संकेत मिलता है। अर्क, काश्मरी तथा निम्ब की समिधायें शत्रुशातन कही गई हैं।[1]

अर्जुन— ऋग्वेद में 'अर्जुन' शब्द 'श्वेतवर्ण' का वाचक है और इसी कारण कहीं-कहीं

---

१. अर्कपर्णेन जुहोति। अर्को वाऽग्निः। अर्केणैवैनमर्कादधि निरवजयते। अंगिरसो वै स्वर्गलोकं यन्तस्तेऽजाया घर्मं प्रासञ्जन्। सा शोचन्ती पर्णं परामृशत्। सोऽर्कोऽभवत्। तदर्कस्यार्कत्वम्। यदर्कपर्णेन जुहोति सयोनित्वाय।—क० ३१।२१, तै०—५।४।३।३

'यथासितः प्रथयते वशाँ अनु वपूँषि कृण्वन्नसुरस्य मायया।
एवा ते शेपः सहसायमर्कोऽङ्गेनाङ्गं संसमकं कृणोतु॥
—शौ० ६।७२।१

अर्को वाऽग्निः—श० २।५।१।४' अर्कं अर्चनीयम् (सा०)

अन्नमर्कः— श० ९।१।१।४; 'अग्निर्वाऽर्कः, आदित्यो वाऽर्कः, प्राणो वाऽर्कः—
—श० १०।६।२।५-७

'वेत्थार्कपर्णे इति कर्णौ——एषोऽग्निरर्को यत् पुरुषः—श० १०।३।४।२-५

'अथार्कपुष्पं अन्नं वाऽर्कः। तस्यैतत् पुष्पं यत् आरण्यम्'—जै० ब्रा० २।१४; ३।२५६

'अग्निरर्कोऽसावादित्योऽर्कपुष्पम्'—शां० आ० १।४

ऐ० आ०—१।५।२; २।१।१

'अन्नं वा अर्कः'—तां० १४।११।९'; 'अन्नं खल्वशनसाधकत्वादर्कं इत्युच्यते—सा०

'अर्कपुष्पं भवति'—तां० १५।३।२२' अर्कपुष्पाख्यं साम—सा०

'अन्नं वै देवा अर्क इति वदन्ति रसमस्य पुष्पमिति सरसमेवान्नाद्यमवरुन्धेऽर्कपुष्पेण तुष्टुवानः। तस्मादन्नरसयोर्वाचकोऽर्कपुष्पशब्दः'—सा० (१५।३।२३)

निघ०—२।७, २।२०

अर्को देवो भवति। यदेनमर्चन्ति। अर्को मन्त्रो भवति। यदनेनार्चन्ति। अर्कमन्नं भवति। अर्चन्ति भूतानि। अर्को वृक्षो भवति। संवृत्तः कटुकिम्ना।—या० ५।४

वा० श्रौ०—२।२।३।२; बौ० श्रौ०—१९।४।२७; १०।४७।१४; हि० श्रौ०—२९।२।८; २९।१।४;

'यद्युद् वा पतेत् सं वा विजेत शार्दूलो वा हन्यादर्कक्षीरस्याजाक्षीर आश्चोत्य प्रचरेत्।'
—२४।७।१९; २४।२।५; २३।२।२५; १३।३।२४; १२।३।४; ११।१।३४; ११।१।११;

का० श्रौ०—४।११।८; १८।१।१;

बौ० गृ०—२।७।२३; जै० गृ० १।१९; २।६; ९; कौ० गृ० २।६।९; आ० गृ० २।२

पा० गृ०—१।२१; वि० ध०—६१।१४; वै० धृ०—१।८।३

कौ० सू०—४०।१६; ३८।७; ६;

के० प०—४०।१६ (शिश्नस्य स्थूलकरणम्—एकशाखार्कमणिं अर्कसूत्रेण बध्नाति)

अ० प०—२६।५।६-७; २१।३।५; ३०।४।२-३; ३५।१।६-१२; ३६।२२।१; ६५।३।२;
७०।१।६-९;

नि० सू०—४।७; ७।७; ऋ० तं—२।३।४; मा० शि०—४।२

पा० ग०—४।२।९०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इससे श्वित्ररोग का भी ग्रहण हुआ है (ऋ० १।१२२।५)। यास्क ने भी इसका अर्थ 'श्वेत' किया है। शौनकसंहिता में भी यही अर्थ है यद्यपि सायण ने इसका वैकल्पिक अर्थ अर्जुनवृक्ष किया है। काठकसंहिता में ऐसा वर्णन है कि अर्जुन दो प्रकार का होता है लोहिततूल और बभ्रुतूल। इन्द्र ने जब वृत्र का वध किया तो उस समय उसका जो रक्त निकला वह लोहिततूल अर्जुन तथा ग्रीवा से जो लसीका निकली वह बभ्रुतूल अर्जुन हुआ। 'तूल' शब्द से सायण 'मञ्जरी' का ग्रहण करते हैं। बभ्रुतूल अर्जुन की व्याख्या करते हुए उन्होंने कहा है—'तूलसमबभ्रुवर्णमञ्जरी-मूलानि अर्जुनानि श्यामलानि तृणानि'—सा. (तां. ९।५।७)। इसका एक पर्याय 'फाल्गुन' है। बभ्रुतूल फालगुन का प्रयोग मेध्यतर कहा गया है (जै. ब्रा. १।३५४)। ब्राह्मणग्रन्थों तथा श्रौतसूत्रों में इसे सोम का प्रतिनिधिद्रव्य माना है। ऐसा विधान है कि यदि सोम न मिले तो पूतीक ओर यदि पूतीक भी न मिले तो अर्जुन का प्रयोग करे। सोम के पुष्पों से अर्जुन की उत्पत्ति बतलाई गई है। इससे पता चलता है कि इसमें पुष्प होते हैं। सायण ने कहीं इसे हरितवर्ण (तां० ८।४।१), और कहीं श्यामल तृण (तां० ९।५।३) कहा है। कौशिकसूत्र में बभ्रुवर्ण अर्जुन के काण्डभाग को सीकर धारण करने से क्षेत्रिय रोग में लाभकर बतलाया है। जो कुछ भी हो इतना तो स्पष्ट है कि उपर्युक्त वर्णन किसी तृणजाति की वनस्पति की ओर संकेत करता है न कि अर्जुनवृक्ष की ओर[1]। दूसरी ओर, अनेक स्थलों पर सायण ने 'अर्जुन' शब्द से अर्जुनवृक्ष लिया है। (देखें जङ्गिड)

---

१. ऋ०—१।१२२।५; ३।३९।२; ३।४४।५; ६।९।१; ७।५५।२; काठ०—३४।३

शौ०—२।८।३; २।३२।२; ४।३७।५; ५।२३।९; ५।२८।५,९; १३।३।२६

(अनेक स्थलों पर हरित और अर्जुन साथ-साथ आये हैं। ऐसा प्रतीत होता है कि ये दो वनस्पतिविशेष हैं या एक ही वनस्पति के दो भेद हैं)

श०—२।१।२।११; ५।४।३।७; ऐ० ब्रा०—५।१५; का० ब्रा०—११।२।७;

शां० ब्रा०—२३।८; मं०—२।७।२; तां०—८।४।१; ९।५।३;७;

तै० ब्रा०—३।१०।७।१; तै० आ०—६।९।१

निघ०—३।७; १।८; भा०—२।२१

का० श्रौ०—२५।१२।१८ (अर्जुनशब्दश्चात्र तृणविषयः—भा०)

हि० श्रौ०—१५।६।१५; बौ० पि०—१।१७।२; कौ० सू०—२६।४३; पा० ग०—२।४।११; ४।२।८०

यत्र वः प्रेङ्खा हरिता अर्जुना उत यत्राघाटाः कर्कर्यः संवदन्ति।
तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन—शौ० ४।३७।४

'यद्वा हरिद्वर्णाः श्यामला तृणा अर्जुनाख्याः'—सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्जुनपाकी[1]—

अलसाला[2]—यह एक प्रकार की सस्यमञ्जरी है। कौशिकसूत्र में इसे आल (एक प्रकार की गोधूमव्याधि) का भेषज कहा गया है।

अलाका—कौशिकसूत्र (३१।२८) में इसका प्रयोग हुआ है। इसका अर्थ भृङ्गराज किया गया है। केशदोष में इसका उपयोग है।

अलाबू—ऋग्वेद में यह उपलब्ध नहीं है। अथर्ववेद की शौनकीय तथा पैप्पलाद शाखाओं में इसका उल्लेख मिलता है। कहीं 'अलाबुक' शब्द भी मिलता है। इसका विषघ्न प्रयोग है विशेषतः सर्पविष में। अलाबू के सूखे फलावरण का पात्र भी बनता था।

विष्णुधर्मसूत्र में अलाबू निषिद्ध आहार में है। बोधायन धर्मसूत्र में अलाबूपात्रों की शुद्धि गोवालों से करने का विधान है। कौशिकसूत्र में भी सर्पविषघ्न प्रयोग है। अथर्व-परिशिष्ट के यज्ञपात्र-प्रकरण में इसका उल्लेख है।[3]

अवका—यह शैवाल का प्राचीन नाम है। सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है :—'अवका नाम ह्रदादिजलेषु स्तबकाकारेण प्ररोहन्तो हरितवर्णाः पदार्थाः शैवलानीत्यर्थः' (श० ८।३।२।५।६); अर्थात् यह तालाब आदि के जल में समूहबद्ध होकर होने वाला हरितवर्ण द्रव्य है। जल में उत्पन्न होने के कारण यह शीतल तथा अग्निशामक माना गया है। तैत्तिरीयसंहिता में कहा है कि वेतस जल का पुष्प है तथा अवका उसका शर है। (अवका का भक्षण करने वाले) गन्धर्व-पिशाचों को 'अवकाद' कहा गया है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में

---

१. पा० ग०—४।३।१६७

२. शौ०—६।१६।४; अलसाला नाम काचित् सस्यविशेषस्य मञ्जरी'—सा०
अ० अ०—६।१६; अ० प्रा०—३।४।१; कौ० सू०—५१।१५ 'अलसालेस्यालभेषजम्'
(आलं गोधूमव्याधिः)

३. शौ०—८।१४।१४; ८।१५।१; २०।१३२।१,२; २०।१३५।३
पै०—१६।१३५।८-९; मै०—४।२।१३
आ० श्रौ० (उ०)—२।३; वैता० श्रौ०—३२।२५; वि० ध०—७९।१७;
बौ० ध०—१।१४।१०; कौ० सू०—२९।१३; ३९।२०; अ० प०—२३।५।१; पा० बा०—५।२।२९;
पा० म०—६।३।६१; ४।१।६६
और देखें:—
Ved. Pl., P. 646
Ved. ind., 1–39

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिखा है कि घर की नींव में शैवाल दे देने से उसमें आग लगने का भय नहीं रहता[1]।

अवघ्नती[2]—सायण ने लिखा है कि यह अपनी गन्ध से अनेक विषों को नष्ट करती तथा कीटों को मारती है।

अवालिप्स[3]—

अशोक—अथर्वपरिशिष्ट में यह अग्नि के उपमान के रूप में आया है। एक स्थल पर ऐसा भी निर्देश है कि अशोक-पुष्पों को मधु और दुग्ध के साथ पिला कर होम करने से गन्धर्वपद प्राप्त होता है। उपर्युक्त वर्णन से अशोक के रक्तवर्ण पुष्पों का संकेत मिलता है।[4]

अश्मगन्धा[5]—श्मशानभूमि में इसे नहीं रखने का विधान है। संभवतः यह अश्वगन्धा है।

अश्मन्तक[6]—उपनयन में मुञ्ज के अभाव में इसकी रशना का विधान किया गया है। इससे प्रतीत होता है कि इसके वल्कल में दृढ सूत्र होते हैं। केशव ने कौ० सू० (८।१५) की व्याख्या में लिखा है—'अश्मन्तकः भृगुकच्छे प्रसिद्धः'—

---

१. शौ०—४।३७।८-१०; पै०-१३।१-१५; १६।१२।९
मा०—१७।४; २५।१; मै०—३।३।६; २।१०।१; काठ०—२१।७
तै०—५।४।४।२; ५।४।२।१; ४।६।१।१
श०—९।१।२।२०-२४; ७।५।१।११; ८।३।२।५, ६; १३।३।४।१
का० श्रौ०—२५।८।२; १७।९।५; २१।४।१९; हि० श्रौ०—२८।४।१०; २४।६।१२; १२।४।१; ११।७।४२; बौ० श्रौ०—१०।५०; ४७; ३९; २७; ९।१३; पा० ग०—७।३:४५
आ० गृ०—२।८।१४; कौ० सू०—५२।७; ४०।५; ८२।२६ (के० प०)
'अवकोल्वा उदकात्मानः ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णश्रृंग्यः॥' शौ० ८।७।९
'गन्धर्वानवकादान्' 'अवकादान् पिशाचान्'—४।३७।८-१०
AVAKĀ is a grassy plant growing in marshy land (BLYXA OCTANDRA)—Griffith.

२. अदृष्टान् हन्त्यायत्यथो हन्ति परायती। अथो अवघ्नती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती॥ —ऋ० १।१९१।२
'अवहन्यमानौषधिः स्वगन्धेन हन्ति बहुविषान्; यद्वा काचिदोषधिर्दंशकान् मारयत्येव'—सा०

३. 'अवालिप्सः स यो मणिः सहस्वान् अभिमातिहा'—पै० ११६९।१-३

४. 'किंशुकाशोकपद्माभो नीलोत्पलनिभस्तथा। वह्निः सिद्धिकरो ज्ञेयः'—अ०प० २१।७।३; २९।।१।६; ७०।१२।५; पा० ग०—७।३।४६

५. श०—१३।८।१।१६; का० श्रौ०—२२।१६५-१६७

६. पा० गृ०—२।५।२७ (मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकवल्वजानाम्)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्मयोक्तः[1]—कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है। दारिल ने अपनी व्याख्या में 'अश्मयोक्ता मंतकः' लिखा है; संभवतः यह अश्मन्तक होगा और लिपि-दोष से 'मंतकः' हो गया है।

अश्मला[2]—

अश्वगन्धा[3]—इसके मूलस्वरस का दक्षिण नासापुट में नस्य गर्भलंभन कहा गया है।

अश्वत्थ[4]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इसकी उत्पत्ति के विषय में अनेक आख्यान हैं। मैत्रायणी संहिता (१।६।१२) में है कि प्रजापति प्रजा की सृष्टि कर अश्व के रूप में भूमि में अपना शिर नीचे छिपा कर स्थित हो गये। उन्हीं के शिर से इस वृक्ष की उत्पत्ति हुई अतः अश्व से उत्पन्न होने के कारण इसे अश्वत्थ कहा गया। दूसरी कथा यह है कि अग्नि देवों से भाग कर अश्वरूप होकर इस वृक्ष में छिप गये, अश्वरूप अग्नि का अधिष्ठान होने से यह अश्वत्थ कहलाया (तै० ब्रा० १।१।३।९), शतपथ ब्राह्मण (१२।७।१।१) के अनुसार इन्द्र की त्वचा से परिस्रुत रस से अश्वत्थ की उत्पत्ति हुई। इन प्रतीकों से क्रमशः इसके मेध्य, आग्नेय तथा बल्य गुणधर्म का संकेत होता है। अग्नीषोमीय सिद्धान्त से अश्वत्थ अग्नितत्त्व का प्रतीक है तथा शमी सोमतत्त्व का प्रतीक है दोनों के काष्ठों के परस्पर मन्थन से यज्ञाग्नि रूप सन्तति उत्पन्न होती है। इसके पात्र का भी यज्ञ में उपयोग है। अश्वत्थ के काष्ठ से अश्वमेध यज्ञ में अश्वशाला के निर्माण का विधान है। इसके अतिरिक्त, शंकु, शय्या, पात्र आदि इसके बनते हैं। अथर्ववेद में शत्रुनाशन के लिए इसका प्रयोग हुआ है। ऐतरेय-ब्राह्मण में इसे वनस्पतियों का सम्राट् कहा गया है (७।३२; ८।१६)। उन्माद रोग में इसके इन्धन का होम करते हैं। इसकी समिधा बृहस्पति और शनि के लिए निर्दिष्ट है। उपनयन में इसका दण्ड क्षत्रिय तथा वैश्य के लिए विहित है। राजसूय यज्ञ में अभिषेक-पात्र अश्वत्थ का ही बनता है। आरोपणीय वृक्षों में

---

१. कौ० सू०—८।१५

२. पै०—१।८९।३

३. पेषयित्वाऽश्वगन्धायाः मूलं शुद्धाम्बरे क्षिपेत्।
ऋचोदीश्वति इत्यस्याः दक्षिणे नासिकापुटे॥
निष्पीड्य पिष्टं तन्मूलं वस्त्रसंशोधितं ततः।
एवं कृर्वोपगमने कृतं स्याद् गर्भलम्भनम्॥—आ० गृ० का० १।४।३-५

४. अश्वत्थ का फल पिप्पल कहलाता है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।३६) में भी आया है—'आम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते'। आगे चल कर संभवतः इसी आधार पर वृक्ष की संज्ञा पिप्पल (पीपल) हो गई।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसकी गणना की गई है तथा अश्वत्थसेवा दुःस्वप्न नाशन कही गई है। यमलकल्प (युग्म सन्तान होने) में इससे तथा अन्य क्षीरी वृक्षों से स्नपन का विधान है। कौशिकसूत्र में जपकर्म तथा सेनाकर्म में इसका उपयोग है। अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान-विधि (कृत्तिका नक्षत्र) तथा पुष्पाभिषेक में इसका उल्लेख है। शमी, पलाश, खदिर, विकंकत, अश्वत्थ, काश्मर्य, उदुम्बर तथा बिल्व ये यज्ञवृक्ष कहे गये हैं (अ० प० २३।६।५)। अश्वत्थ में कुसुमोद्भव उत्पातलक्षण माना गया है, क्योंकि सामान्यतः इसमें फूल प्रत्यक्ष दिखलाई नहीं पड़ते[1]।

---

1. ऋ० १।१२५।८; १०।९७।५; ६।४७।२४ (राजा का नाम)
मै०—१।६।५, १२; २।२।१; ४।४।२; तै०–३।४।८।४; क०—६।७
शौ०–३।६।१–८;
पै०—१।६६।१-४; २।५५।१-५; ३।३।१-८; ७।५।४; ११।६।६; १३।४।७; १९।१९।१२-१४
श०—११।५।१।१३-१७; १२।७।१।९; १२।९।१।२
ऐ० ब्रा०—७।३०, ३२; ८।१६; गो० १।२।१५; तै० ब्रा०—१।१।३।९
क—२।६।१; छां०—८।५।३;
का० श्रौ०—१।३।३६; ४।८।२०; १४।४।२८; १५।५।३८; १९।२।१५; २१।३।२०
हि० श्रौ०—३।३।६; ८।१।१; ११।३।२०; १३।२।१०; १३।५।२१; १४।२।२०; १७।८।४; २२।३।२९
बौ० श्रौ०—१।६; ७; १२; १२।३; ६; १३।२२; १४।१८; १८।८; ४५
आप० श्रौ०—१।५।१०; ५।५।२; ९।६।६५
वा० श्रौ०—३।३।२।२८; ४८; २।१।२।२७; १।४।१।१०; १।२।४।२
आ० श्रौ०—२।१; वैता० श्रौ०—३२।२५
जै० गृ०—१।१९; २।९; बो० गृ० २।१।१६; वा० गृ०—५।४४; मा० गृ०—२।६।४
गो० गृ०—२।१०।८-१२; काठ. गृ०—४।१।२८; पा० गृ०—१।२१; १९; २।१५।३-४;
कौ० गृ०—२।६।९; हि० गृ०—१९।७।३५; २०।३।१९;
गौ० ध०—१।२३; शं० लि० ध०—२६ (१); कर्म०-१।७।१-२; नि० सू०—९।९
कौ० सू०-१६।२०; १६; ११; १४; १५।१; ४८।१; ३१; ५७।५
अ० प०—१।४३।१; २।१।३; २१।३।२; २२।१।४;५; २२।२।१; २३।६।५
२६।५।१-७; ३०।४।२-३; ४०।३।२; ६४।८।३; ६८ ७।१।६।१
अ० अ०—३।६; पा०—४।२।२२; ४।२।२२; ४।३।४८; पा० म०—१।१।२; ४।३।२५
पा० ग०—४।१।४१; ४।२।८०; ९०; ४।३।१६४; ४।४।१०; ५।२।२४; ६।२।८५
Vcd. ind.—1-43-44
'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥'
'अश्वत्थः खदिरो धवः'—शौ० २०।१३१।१४ —शौ० ४।३७।४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उपर्युक्त वर्णन से अश्वत्थ का लोक में प्रचार तथा इसके महत्व और वीर्य का परिज्ञान होता है।

मैकडोनल एवं कीथ ने ऋग्वेद (१।१३५।८; १०।९७।५) में अश्वत्थ के बने पात्रों का उल्लेख किया है जो ठीक नहीं है। इसी प्रकार ऋ० (१।१६४।२०-२२) में 'पिप्पल' शब्द से अश्वत्थ का ग्रहण किया है किन्तु वस्तुतः वह 'पक्व फल' का बोधक है।

अश्ववार (ल)[1]—टीकाकारों ने इनका अर्थ 'काश' किया है।

'अलाबूनि पृषातकान्यश्वत्थपलाशम्' —शौ० २०।१३५।३

'शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥'
—शौ० ६।११।१

'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः। व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥'
—शौ० ८।७।२०

'अमूनश्वत्थ निःशृणीहि खादामून् खदिराजिरम्' —शौ० ८।८।३

पुमान्पुंसः परिजातोऽश्वत्थः खदिरादधि।
स हन्तु शत्रुन्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ १ ॥
तानश्वत्थ निः शृणीहि शत्रून्वैबाधदोधतः।
इन्द्रेण वृत्रघ्ना मेदी मित्रेण वरुणेन च ॥ २ ॥
यथाश्वत्थ[2] निरभनोऽन्तर्महत्यर्णवे।
एवा तान्त्सर्वान्निर्भङ्ग्धि यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ३ ॥
यः सहमानश्चरसि सासहान इव ऋषभः।
तेनाश्वत्थ त्वया वयं सपत्नान्त्सहिषीमहि ॥ ४ ॥
सिनात्वेनान्निर्ऋतिर्मृत्योः पाशैरमोक्यैः।
अश्वत्थ शत्रून्मामकान्यानहं द्वेष्मि ये च माम् ॥ ५ ॥
यथाश्वत्थ वानस्पत्यानारोहन्कृणुषेऽधरान्।
एवा मे शत्रोर्मूर्धानं विष्वग्भिन्द्धि सहस्व च ॥ ६ ॥
तेऽधराञ्चः प्र प्लवन्तां छिन्ना नौरिव बन्धनात्।
न वैबाधप्रणुत्तानां पुनरस्ति निवर्तनम् ॥ ७ ॥
प्रैणान्नुदे मनसा प्र चित्तेनोत ब्रह्मणा।
प्रैणान्वृक्षस्य शाखयाश्वत्थस्य नुदामहे ॥ ८ ॥
—शौ० ३।६।१-८.

१. मै०—३।७।९; क०—३८।१; शौ०—१०।४।२
श०—३।४।१।१७; (अश्ववालाः दर्भविशेषाः काशाः—टि०)
हि० श्रौ०—४।५।१७; बौ० श्रौ०—६।१०; आप० श्रौ०—१०।१०।२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्वावती[1]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख हुआ है।

असन[2]—इसका दन्तधावन विहित है।

असिक्नी—सायण ने इसका अर्थ नीली नामक ओषधि किया है। अथर्ववेद में श्वित्र तथा पलित में रञ्जन के लिए प्रयोग किया गया है। ऋग्वेद में यह नदीविशेष के लिए आया है जिससे चन्द्रभागा (चेनाव) का ग्रहण करते हैं।[3] कौशिकसूत्र में तिमिरक (?) लिया है।

असिपत्र—अथर्वपरिशिष्ट में इसके वन का उल्लेख है। (अ० प० ९।४।२)

अस्तृत[4]—अथर्ववेद में इसकी मणि का धारण आयुवर्धक, रक्षाघ्न तथा शत्रुनाशन बतलाया गया है। सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—"अथवा अतिशयित प्रभाव के कारण त्रिवृन्मणि को ही 'अस्तृत' कहते हैं।"

अहिच्छत्रक[5]—

आकाशफेन[6]—

आक्रुतिलोष्ठ—(कौ० सू० ८।१६)

यह शान्त औषधियों में परिगणित है।

आखु—मूत्रसंग में अन्य ओषधियों के साथ इसका पान कराते हैं[7]।

---

१. अश्वावतीं सोमावतीमूर्जयन्तीमुदोजसम्।
आवित्सि सर्वा ओषधीरस्मा अरिष्टतातये ॥—ऋ० १०।९७।७
तै०—४।२।६।२; क०—२५।४; पै०—११।६।१०

२. वि० ध०—६१।१४

३. ऋ०—७५।३; कौ०—२।८९६; जै०—४।१३।९; शौ०—८।७।१; ५।१३।८; १२।२।२०; पै०—१।१६।१
'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत् ॥'
—शौ० १।२३।१
'असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव। असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत् ॥'
—शौ० १।२३।३
तै० ब्रा०—२।४।४।१, २; तै० आ०—१०।१।१३; अ० अ०—१।२३;
कौ० सू०—२६।२२; निघ०—१।७; या०—९।२६ (असिक्न्यशुक्लासिता) पा० म०—४।१।३९

४. शौ०—१९।४६।१–७; पै०—४।२३।१–७; ८।७।१–११
'त्रिवृन्मणिरेव वा अतिशयितप्रभावत्वात् अस्तृतसंज्ञया उच्यते'—सा०

५. क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति—या० -५।१६

६. कौ० सू० ८।२।२६ (प०)

७. कौ० सू० २५।११ (आखुकिरिपूतीकमथितजरत्प्रमन्दसात्रस्कान् पाययति)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आघाट[1]—यह संभवतः अपामार्ग का वाचक है। (देखें अर्जुन)

आञ्जन —इस नाम का एक वृक्ष है। शतपथब्राह्मण (३।१।३।११) में 'अश्मा ह्याञ्जनम्' लिखा है जिससे प्रतीत होता है कि यह खनिज पदार्थ था तथा नेत्र

---

१. शौ०—४।३७।५

२. शौ० ४।९।१–८; ९।६।११;

'आञ्जनस्य मदुघस्य कुण्ठस्य नलदस्य च।
तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥—शां० ६।१०२।३
एहि जीवं त्रायमाणं पर्वतस्यास्यचक्षम्। विश्वेभिर्देवैर्दत्तं परिधिर्जीवनाय कम्॥
परिपाणं पुरुषाणां परिपाणं गवामसि। अश्वानामर्वतां परिपाणाय तस्थिषे॥
उतासि परिपाणं यातुजम्भनमाञ्जन।
उतामृतस्य त्वं वेत्थाथा असि जीवभोजनमथो हरितभेषजम्॥
यस्याञ्जन प्रसर्पस्यङ्गमङ्गं परुष्परुः। ततो यक्ष्मं वि बाधस उग्रो मध्यमशीरिव॥
नैनं प्राप्नोति शपथो न कृत्या नाभिशोचनम्।
नैनं विष्कन्धमश्नुते यस्त्वा बिभर्त्याञ्जन॥
असन्मन्त्राद् दुष्वप्न्याद् दुष्कृताच्छमलादुत।
दुर्हार्दश्चक्षुषो घोरात् तस्मान्नः पाह्याञ्जन॥
इदं विद्वानाञ्जन सत्यं वक्ष्यामि नानृतम्।
सनेयमश्वं गामहमात्मानं तव पूरुष॥
त्रयो दासा आञ्जनस्य तक्मा बलास आदहिः।
वर्षिष्ठः पर्वतानां त्रिककुन्नाम ते पिता॥
यदाञ्जनं त्रैककुदं जातं हिमवतस्परि।
यातूंश्च सर्वाञ्जम्भयत् सर्वाश्च यातुधान्यः॥
यदि वासि त्रैककुदं यदि यामुनमुच्यसे।
उभे ते भद्रे नाम्नी ताभ्यां नः पाह्याञ्जन॥—शौ० ४।९।१–१०
ऋणादृणमिव संनयन् कृत्यां कृत्याकृतो गृहम्।
चक्षुर्मन्त्रस्य दुर्हार्दः पृष्टीरपि शृणाञ्जन॥
यदस्मासु दुष्वप्न्यं यद् गोषु यच्च नो गृहे।
अनामगस्तं च दुर्हार्दः प्रियः प्रति मुञ्चताम्॥
अपामूर्ज ओजसो वावृधानमग्नेर्जातमधि जातवेदसः।
चतुर्वीरं पर्वतीयं यदाञ्जनं दिशः प्रदिशः करदिच्छिवास्ते॥
चतुर्वीरं बध्यत आञ्जनं ते सर्वा दिशो अभयास्ते भवन्तु।
ध्रुवस्तिष्ठासि सवितेव चार्य इमा विशो अभि हरन्तु ते बलिम्॥
आक्ष्वैकं मणिमेकं कृणुष्व स्नाह्येकेना पिबैकमेषाम्।
चतुर्वीरं नैर्ऋतेभ्यश्चतुर्भ्यो ग्राह्या बन्धेभ्यः परि पात्वस्मान्॥—शौ० १९।४५।१–५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में अञ्जन के लिए उपयुक्त होता था किन्तु अथर्ववेद में इसका ऐसा सीमित अर्थ नहीं है। वहाँ अञ्जन त्रिककुद् पर्वत पर तथा यमुनाप्रदेश में होने वाला (त्रैक-मुद तथा यामुन) कहा गया है तथा हरिमा, जायान्य, अंगभेद, विसल्पक, हृद्रोग आदि में लाभंकर बतलाया गया है। विशेषतः तक्मा, बलास तथा आदहि में उपयुक्त है। अञ्जन का मधुक, कुष्ठ तथा नलद के साथ लेप सौभाग्य-करण होता है। त्रैककुद अञ्जन बाह्य (स्थलीय) तथा पर्वतीय औषधियों में सर्वोत्तम माना गया है। इसका प्रयोग चार प्रकार से होता है—अञ्जन, मणिधारण, स्नान तथा पान। पैप्पलाद संहिता में यह नेत्र्य, रसायन, रक्षोघ्न, दुःस्वप्ननाशन तथा क्षेत्रियनाशन कहा गया है। कौशिकसूत्र मेंय ह गर्भवृंहण में निर्दिष्ट है।

'आञ्जनगन्धि सुरभिं' ऋग्वेद (१०।१४६।६) के इस वचन से प्रतीत होता है कि यह कोई अत्यन्त सुगन्धि औषधि है जिससे सारा वन्य प्रदेश सुरभित रहता है। पुनः दूसरे प्रमाण में इसके घी के अञ्जन का विधान है। सायण इसका अर्थ कस्तूरी आदि करते हैं जो ठीक नहीं है। कुष्ठ, नलद आदि के साथ

आयुषोऽसि प्रतरणं विप्रं भेषजमुच्यसे। तदाञ्जन त्वं शंताते शमापो अभयं कृतम् ॥
यो हरिमा जायान्योऽङ्गभेदो विसल्पकः। सर्वं ये यक्ष्ममङ्गेभ्यो बहिर्निर्हन्त्वाञ्जनम् ॥
आञ्जनं पृथिव्यां जातं भद्रं पुरुषजीवनम्। कृणोत्वप्रमायुकं रथजूतिमनागसम् ॥
प्राण प्राणं त्रायस्वासो असवे मृड। निर्ऋते निर्ऋत्या नः पाशेभ्यो मुञ्च ॥
सिन्धोर्गर्भोऽसि विद्युतां पुष्पम्। वातः प्राणः सूर्यश्चक्षुर्दिवस्पयः ॥
देवाञ्जन त्रैककुदं परि मा पाहि विश्वतः। न त्वा तरन्त्योषध्यो बाह्याः पर्वतीया उत ॥
वीदं मध्यमवासृपद् रक्षोहामीवचातनः। अमीवाः सर्वाश्चातयन् नाशयदभिभा इतः ॥
बह्वीदं राजन् वरुणानृतमाह पूरुषः। तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥
यदापो अघ्न्या इति वरुणेति यदूचिम। तस्मात् सहस्रवीर्य मुञ्च नः पर्यंहसः ॥
मित्रश्च त्वा वरुणश्चानुप्रेयतुराञ्जन। तौ त्वानुगत्य दूरं भोगाय पुनरोहतुः ॥

—शौ० १९।४४।१-१०

पै०—१५५।१-४; ८।३।१-१३

तै०—३।६।८।९;६।१।१।५; मै०—३।६।३; ऋ०—१०।१४६।६;१०।१८।७; श०—३।१।३।१०-१५; ऐ० ब्रा०—१।३; तै० ब्रा०—३।१२।६।४; शां ब्रा०—३।४

पा० गृ०—५।२।६२; ६।३।११७; शां० श्रौ०—१।१०।२; का० श्रौ०—२०।१।८; कौ० सू०—५८।८; के० प०—३५।२१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लेप से भी पता चलता है कि यह कोई सुगंधित द्रव्य है।[1] नेत्ररोगों में इसका विशेष प्रयोग होने से परवर्ती काल में इसका उपयोग वहीं तक सीमित हो गया तथा तत्कार्योपयुक्त अन्य खनिज द्रव्य के साथ वह एकाकार हो गया।

आटरूष[2]—

आण्डीक[3]—यह अण्डाकृति कन्द से उत्पन्न होनेवाली जलज वनस्पति है। मजुमदार ने इससे कुमुद (Nymphoea alba) तथा मेकडोनल एवं कीथ ने कमलसदृश किसी वनस्पति का ग्रहण किया है जिसके पत्र या फल अण्डाकार होते हैं।

आदार[4]—ऋग्वेद में यह शब्द आता है। सायण ने इसका अर्थ किया है प्रेरक—"आदारयतीति आदारः प्रेरकः"। यह सोम के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। ब्राह्मणग्रन्थों तथा परवर्त्ती वाङ्मय में यह सोम के प्रतिनिधि के रूप में निर्दिष्ट हुआ है। शतपथब्राह्मण में इसीका पर्याय 'पूतीक' कहा है। सायण ने अनेक स्थलों पर इसका परिचय भिन्न-भिन्न रूप में दिया है:—

१. आदाराः प्रसिद्धानि मध्यदेशतृणानि—(श. ४।५।१०।५)

२. आदारान् आदीर्यावस्थितान् पूतीकशब्दाभिधेयान् सोमप्रतिनिधित्वेन चोदितान् लताविशेषान्—(श. १४।१।२।१२)

३. आद्रियन्ते सोमरहितैस्तात्पर्येण स्वीक्रियन्ते इत्यादाराः क्षीरयुक्तवल्लीविशेषाः—(तै० का० १।४।७।५; ६)

कहीं तृण, कहीं लता और कहीं क्षीरयुक्त वल्ली करने से पता चलता है कि सायण को भी इसका वास्तविक परिज्ञान नहीं था। शतपथब्राह्मण में यह भी लिखा है कि यह अग्नि में डालने पर जलने लगता है तथा सुगंधित है[1]।

---

१. 'In the sixth century B.C. India had several groves of Anjana (Name of a tree, Black tree)—Jat. 1.331'—Quoted from B. C. Law : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. IV, Nos. 1–4.

२. पा० उ० भो०—२।३।१६७; के० प०—३९५-१२

३. 'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली'—शौ०—४।३४।५; ५।१७।१६ पै०—१०।२।१०; कौ० सू०—६६।१०; 'अण्डाकृतेः कन्दादुत्पन्नम्'—सायण
Ved. Pl.—p. 646.
Ved. ind.—1–56.

४. बौ० श्रौ० ९।१; १४।३०; का० श्रौ०—२५।१२।१९; हि० श्रौ०—१५।६।१५.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मजुमदार ने इससे आर्द्रक (zingiber officinale) का ग्रहण किया है[२]।

आमल(क)[३]—उत्तम फलों में इसकी गणना है।[४] विवाह के पूर्व इद्राणीकर्म में आमलक आदि उत्तम फलों तथा सर्वौषधि से युक्त जल से कन्या-स्नान का विधान है। एक मास तक बिल्व, आमलक या कमलबीज खाकर रहना श्रीकृच्छ्र कहलाता है।[५]

आम्ब—सायण ने आम्ब को धान्यविशेष लिखा है :—'आम्बाः धान्यविशेषाः' (तै० १।८।१०।१)। यज्ञ में इसका चरु बनता था। काठकसंहिता (१५।५) में भी इसका उल्लेख है। मैत्रायणी संहिता (२।६।६७।९) तथा शतपथब्राह्मण (५।३।३।८) में 'नाम्ब' शब्द आया है। संभवतः वह 'आम्ब' के लिए ही आया है। हरिस्वामिन् ने अपनी टीका में लिखा है :—'नाम्बा नाम अकृष्टपच्या स्वयंजाता व्रीहयः'[६]—

आम्र—जैमिनीयब्राह्मण (२।१५६) में बदर के साथ आम्र का उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् (४।३।३६) तथा अन्य उपनिषदों में भी इसका उल्लेख है। शांखायन गृह्यसूत्र (१।११।२) में भाष्यकार ने इसे 'फलोत्तम' कहा है। अन्य गृहसूत्रों में इसके पल्लव तथा समिधा का विधान है। शंखलिखित धर्मसूत्र

---

१. यत्र वा एनमिन्द्र ओजसा पर्यगृह्णत्। तदस्य परिगृहीतस्य रसो व्यक्षरत्। स पूयन्निवाशेत। सोऽब्रवीत्। आदीर्यव बत म एष रसोऽस्नौषीदिति। तस्मादादाराः। अथ यत् पूयन्निवाशेत। तस्मात् पूतीकाः। तस्मादग्नावाहुतिरिवाभ्याहिता ज्वलन्ति। तस्मादु सुरभयः। यज्ञस्य हि रसात् संभूताः।—श०—१४।४।२।१२

२. Ved. Pl.–P. 646
Ved. ind. 1-58

३. छां०—७।३।१; पा० म०—१।१।५८; ५।१।१९; ४।३।१६३; २।४।१२; ५।३।११९; ६।२।८२; पा० ग०—४।१।४१; शां० गृ०—१।११।२; काठ० गृ०—२।८।२; २।९।१; शं० लि० ध०—४४८, २५२; वि० ध०—९९।१२

४. पूगखर्जूरजम्बाम्रबदरोदुम्बरामलम्। उत्तमानि फलान्याहुः—(शां० गृ० के भाष्य में उद्धृत कारिका)
'सर्वौषधीभिः संयुक्ताः शुष्का आमलकत्वचः। स्नानं मांगलिकं कुर्यादुलचत्रोनोद्वं हितम् ॥' (काठकगृह्यसूत्र पर आदित्यदर्शनभाष्य)

५. बिल्वैरामलकैर्वापि पद्माक्षैरथवा शुभः। मासेन लोके श्रीकृच्छ्रः कथ्यते पुरुषोत्तमैः ॥
—शं० लि० ध० ४४८

६. इसके अतिरिक्त देखें :—पा० म०—६।१।९; ८।२।२५; रा० उ० भो०—२।२।२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(२२०) में द्राक्षा आदि के साथ श्राद्ध में देय फलों में इसकी गणना की गई है। याज्ञवल्क्यशिक्षा (३३) में इसका दन्तधावन विहित है।[1]

आयती – ऋग्वेद (१।१९१।१-२) में इसका उल्लेख है। सायण ने इससे किसी विषघ्न ओषधि का ग्रहण किया है। (देखें अवन्ती)

आरग्वध—इसकी समिधा का ग्रहण किया गया है।[2]

आर्द्रक[3]—

आल(क)—ऋग्वेद में यह विष के अर्थ में आया है। कौशिकसूत्र में इसका अर्थ दारिल ने गोधूमव्याधि और केशव ने यवगोधूमवल्ली किया है[4]। मजुमदार ने इससे 'weed of cornfield' का ग्रहण किया है।[5]

आवय (यु)– यह सर्षप का नाम है। इसके बीजों का तैल तथा पत्र का शाक औषधार्थ प्रयुक्त होता था। सर्षपतैल से भृष्ट सर्षपपत्रशाक चक्षुरोगग्रस्त पुरुष को खिलाने का विधान है। इन्हीं रोगों में सर्षपतैल से संपृक्त सर्षपकाण्डमणि बाँधते थे।[6]

आसुरी[7]—ओषधि के लिए यह शब्द अथर्ववेदीय परम्परा में प्रयुक्त हुआ है।

---

१. इसके अतिरिक्त देखें:—कौ० गृ०—२।६।९, पा० गृ०—१।१९; शां० गृ०—१।११।२; अ० प०—२।१।३; २३।१।५; ऋ० तं०—५।२।५ पा०—८।४।५; पा० म०—१।१।१; ११।१५; १२।४५; ६।१।९१; ८।२।३; ४।३।१५५

२. आप० गृ०—७।१८।७

३. पा०—४।३।२८

४. ऋ०—६।७५।१५; शौ०—६।१६।३; पै०—९।१०।१०; ८।२।६ कौ० सू०—२५।१८; ५१।१५; ऋ० अ०–२।६।१५

५. Ved. Pl. P. 646
Ved. ind.-66

६. शौ०—६।१६।१-२; पै०—१९।५।७-८

७. पै०—१।२६।१-४; २०।३०।७;

सुपर्णो जातः प्रथमस्तस्य त्वं पित्तमासिथ।
तदासुरी युधा जिता रूपं चक्रे वनस्पतीन्॥
आसुरी चक्रे प्रथमेदं किलासभेषजमिदं किलासनाशनम्।
अनीनशत् किलासं सरूपामकरत् त्वचम्॥
सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता।
सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शौनकीय संहिता (१।२४।१-४) में असुरमायारूपा स्त्री के लिए यह शब्द व्यवहृत हुआ है किन्तु अथर्ववेदीय अनुक्रमणिका में इस सूक्त को 'आसुरीवनस्पतिदेवत्य' बतलाया है। इसके अतिरिक्त, 'इदं खनामि' (७।३८।१-५) सूक्त को भी आसुरी-वनस्पति के निमित्त बतलाया गया है। अथर्वपरिशिष्ट के आसुरीकल्प (३५) में यह स्पष्टतः राजिका के लिए प्रयुक्त हुआ है। राजिका, लोकेशी, सुरेश्वरी, वृद्धपुत्री, कटुका, कटुकपत्रा इसके पर्याय कहे गये हैं। यह कटुका, कटुकपत्रा तथा रक्तवर्णा बतलाई गई है। इसका विशिष्ट प्रयोग कुष्ठ, श्वित्र तथा अन्य चर्मरोगों में विहित है।

आस्रावभेषज[1]—यह दर्भ का पर्याय है। यह जलप्राय प्रदेश में होता है। इसे रोग-स्थान और असृक्स्थान भी कहा है। इससे इसके रक्तरोधक कर्म का संकेत मिलता है। 'असृक्स्थान' शब्द चरक के शोणितस्थापन का अग्रज प्रतीत होता है।

आह्व[2]—

इक्षु[3]—इक्षुकाण्ड, इक्षुपर्ण तथा इक्षु (पुष्प) शलाका का उल्लेख मिलता है। सर्पबलि में इक्षुरस से पक्व पायस का विधान है।

इङ्गिड[4]—यह शक्तिवर्धक तथा शत्रुनाशन है।

श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इदमू षु प्रसाधय पुना रूपाणि कल्पय॥
—शौ० १।२४।१-४

१. पै०—२०।५४।२-३; २०।४३।४; २०।३३।७-८; १९।३०।९ (नदीषु नड्वलासु कुम्भेषु कलशेषु च); 'रोगस्थानं असृक्स्थानं अथो वास्रावभेषजम्'—(पै० २०।५४।३); श्रष्ठमास्राव-भेषजं वसिष्ठं रोगनाशनम्।'—शौ० ६।४४।२

२. कौ० सू०—१६।१४ (पलाश—दा०)
'आह्वः पलाश इति दारिलः। तिर्णिरिति केशवः। वृत्तविशेषपर्यायार्थे आह्वपदं सूत्रेऽपपाठो न चेत्, प्राक्तनेन प्रमादेन भवितव्यम्। परुष इत्येव नाम्ना भवितव्यं सूक्ते परुषाह्वपददर्शनात्। परुषाह्वः परुष इति आह्वा यस्य स इति विग्रहः।'—शौ० ८।८ (सा०)

३. मै०—३।७।९; ३।१५।१; मा०—२५।१;
हि० श्रौ०—७।३।१०; ४।५।१७; बौ० श्रौ०—५।११; ६।१०; आप० श्रौ०—७।२।७७; ८।१।३।१; ८।४ १४।१४, बौ० गृ०—३।११।४; मा० गृ०—२।१।५; शं० लि० ध०—२२०; तं० प्रा०—१४।१२; ऋ० तं०—५।२।५; अ०प०—९।२।१; ४४।३।१०; कौ०सू०—२३।१५; पा०—८।४।५; पा० ग०—४।२।८६;९१; ४।३।१३६; पा० म०—४।२।७१; ५।२।२९; ८।२।११; ८।४।८

४. कौ० सू०—१४।२८; ३०; १६।१९; २५।३०; ४७।३; ४८।४; ११६।६
अ० शा०—१५।५; २१।२; शौ०—६।७५ (सा०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इङ्गुद (दी)[1]—यह शोचद्रव्यों में परिगणित है तथा इसका दन्तधावन निषिद्ध है। इसके तैल का भी उल्लेख है।

इज्जल[2]—

इट—यह वर्षायु पौधा है। इससे मकान छाये जाते थे[3]। अस्थिभग्न आदि में इसके क्वाथ से अवसिञ्चन का विधान है। ब्राह्मणग्रन्थों में 'इड' शब्द वर्षा ऋतु (इष्यत इति इट्—सा०) के लिए आया है[4]। वर्षा ऋतु में होने के कारण इसका नाम इट पड़ा हो। ऋग्वेद (१०।१७१।१) में यह एक ऋषि का नाम भी है।

इत्कट[5]—

इन्द्रवल्ली[6]—गृहशान्तिप्रकरण में घर में इसे बाँधने का विधान है।

इन्द्रवारुणी—यह श्वेतकुष्ठ तथा पलित को नष्ट करता है। श्वेतकुष्ठ को गोबर से रगड़ कर जब रक्त निकलने लगे भृङ्गराज, हरिन्द्रा, इन्द्रवारुणी, नोलिका और पुष्पा इन पांच ओषधियों को पीस कर लेप करे। इसी प्रकार पलित केशों को काट कर उस स्थान को घिस कर इनका लेप करे[7]।

इन्द्रवृक्ष[8]—

इन्द्राक्ष[9]—

इन्द्राणी[10]—यह विषघ्न ओषधि है।

---

१. वि० ध०—६१।४; शं० लि० ध०—१६८ (सर्वेषामापो मृदरिष्टकेङ्गुदबिल्वतण्डुलसर्षपकल्क···गोमयादीनि शौचद्रव्याणि); पा० ग०—४।३।१६४; पा० म०—५।२।२९
२. पा० उ० भो०—२।३।९९
३. अथो इट इव हायनोप द्राह्यवीरहा—शौ० ६।१४।३;
इटस्य ते वि चृताम्यपिनद्धमपोर्णवम्'—शौ० ९।३।१८
कौ० सू०—२९।३०; ६६।२४
४. वर्षा इडः—श०–१।५।३।१८; ११
देखें :—Ved. Ind. 1–75
५. पा० ग०—४।२।८०
६. जै० गृ०—२।६; आग्नि० गृ०—२।५।९; ३
७. के० प०—२६।२२–२४
८. पा० ग०—४।२।९०
९. शं० लि० ध०—१०७
१०. पै०—९।१०।९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

इरिका[1]—

इल्य[2] —

इषीका[3]— शर आदि से जो सींक निकाली जाती है उसे 'इषीका' कहते हैं। इससे सूप आदि बनाये जाते थे। यह लचीली तथा ज्वलनशील होती है। भंगुरता का प्रतीक भी है।

मजुमदार इससे एक पृथक् वनस्पति Polytoca barbata का ग्रहण करते हैं[4]।

ईर्ष्याभेषज[5] —

उग्रौषधि—इसका मणिधारण आयुष्य बतलाया गया है[6]। यह दर्भ का पर्याय है। (देखें दर्भ)

उच्छुष्मा[7]—टीकाकारों ने इसका अर्थ 'कपिकच्छू' किया है। अथर्वपरिशिष्ट में 'उच्छुष्माकल्प' नामक अध्याय है (३६)। ऋग्वेद (१०।९७।८) में 'उच्छुष्मा ओषधीनां' आया है; वहाँ सायण ने इसका अर्थ शुष्म (बल) + उत् (प्रेरक) किया है।

उत्तानपर्णा—उत्तानपर्णा, सुभगा, देवजूता, सहस्वती ये पाठा के पर्याय हैं[8]। ऋग्वेद में इसका उल्लेख हुआ है। (देखें पाठा)

---

१. पा० म०—८।४।६ (इरिकावनम्)

२. 'इल्यं वृक्षं तं ब्रह्मगन्धः प्रविशति—शां० आ०—३।५

३. शौ०—७।५६।४; १२।२।५४; श०—१।१।४।१९; ४।३।३।१६; ५।१।२।१८; १०।१।५।४; १२।९।२।७; गो०—२।४।६; तां—१५।५।२०; हि० श्रौ०—५।२।६; ११।५।२१; १४।१।३७; शां० गृ०—४।१७।३; बो० पि०—१।१७।२; कौ० सू०—११।४; २१।१४; ४०।४

४. Ved. Pl. P. 651.
Ved. Ind. 1-81.

५. शौ०—६।१८।१; ३; ७।४६।१; ७।४७।१; ७।७८।३
पै०—१९।७।१५; १४; १९।३६।६; २०।१३।३

६. पै०—१।९।८१-४; शौ०—१९।३२।१

७. पै०—'उच्छुष्मा ओषधीनाम्'—११।६।८; २०।३९।१
कौ० सू०—४०।१४ (कपिकच्छूः—दा० के०); अ० अ०—४।४

८. ऋ०—१०।१४५।२; शौ०—३।१८।२; पै०—७।१२।७

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्पल[1]—

उत्सक्तभेषज[2]—

उदुम्बर—ऋग्वेद में इसका वर्णन नहीं है। केवल 'उदुम्बल' शब्द आया है (ऋ० १०। १४।१२) जिसकी व्याख्या सायण ने की है बलिष्ठ—'उदुम्बलौ उरुबलौ विस्तीर्णबलौ'। परवर्ती वाङ्मय में 'उदुम्बर' का यह अर्थ गृहीत हुआ है और उसे बल्य एवं ऊर्जादायक कहा गया है। उदुम्बर का फल पकने पर लाल हो जाता है और लोग उसे खाते हैं। उस काल में यह सामान्य खाद्य रहा होगा। यह कहा गया है कि यह साल में तीन बार फलता है, इसका अर्थ सायण ने किया है कि 'तीन' उपलक्षणमात्र है। इससे यह समझना चाहिए कि इसमे फल बहुत लगते हैं। फलों का सन्धान कर आसव भी बनाते थे। यह सदा आर्द्र और क्षीरी रहता है।

यज्ञ के लिए यह प्रधान द्रव्य था। समिधा के अतिरिक्त, इसका यूप, स्थूणा, अभ्रि, खननकाष्ठ, परिधि, चमस, स्रुव, उलूखल-मुशल, आसन्दी, तल्प, प्रेंख, अभिषेकपात्र, द्रोण, चतुःस्रक्ति, दधिग्रहपात्र, मैत्रावरुण दण्ड, व्यजनदण्ड, प्रसेक, वितष्टि, शूल, दर्वी, वपाश्रपणी, गोदोहनी, शंकु, शम्योपयमन, रौहिणहवनी, धृष्टि, रथचक्र, श्रिति, तूपर, नौका, सीर आदि बनते थे। इससे प्रतीत होता है कि यज्ञिय वृक्षों में इसका प्रमुख स्थान था। बौधायन श्रौतसूत्र (२।७) में नानावृक्षीय समिधों में इसकी गणना है। उन्माद रोग में इसका होम करने का विधान है (१४।१८)। दीक्षाकर्म में यजमान को उदुम्बर के दन्तधावन का प्रयोग करने का निर्देश है। कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा है कि औदुम्बर (उदुम्बर-बहुल) देश में मूलफलभक्षण के निमित्त वास करना चाहिए।

अथर्ववेद में उदुम्बरमणि का धारण पौष्टिक कहा गया है। श्रौतसूत्रों में भी इसका विधान है। 'औदुम्बर' शब्द से 'ताम्र' का भी ग्रहण किया जाने लगा क्योंकि पक्क उदुम्बरफलवत् यह लोहितवर्ण होता है। बौधायन श्रौतसूत्र (१२।१३) में राजत, सौवर्ण तथा औदुम्बर मणियों का एकत्र उल्लेख है। प्रकरणवश यहाँ औदुम्बर से ताम्र का ग्रहण किया जाता है।

गृह्यसूत्रों में सीमन्तोन्नयन प्रकरण में उदुम्बरशलाटु या 'उदुम्बरप्रसून' शब्द का प्रयोग हुआ है। उपनयन में इसके दण्ड का विधान है। स्नातककर्म में उदुम्बर का दन्तधावन करते हैं। ऋतुशान्ति में इसके पल्लव तथा त्वचा का ग्रहण

१. कौ० सू०—३५।२६; ३६।७; अ०प०—१४३।८; १४४।३,१०; १८।११५-१७; १८।३।१-३; २४।३।२; ६८।२।२९; ७०।११६-९; पा० ग०—५।२।१३५; पा० स०—११।२१; ७१

२. पै०—२०।३३।५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होता है। यमलकल्प में उदुम्बर आदि क्षीरी वृक्ष के कषाय से स्नान कराते हैं। मूलविधि में इसके मूल का प्रयोग है। कौ० सू० में शान्त वृक्षों में इसकी गणना है तथा मेधाजनन बतलाया गया है। शान्त वृक्षों का मणिधारण यक्ष्मादि रोगो में विहित है। ब्रह्मग्रह में भी शाकल मणि का विधान है। इसकी समिधा शान्तिगण तथा सर्वरोगभैषज्य-प्रकरण में है तथा विशेषतः कृमिघ्न है। केवल उदुम्बर के पत्तों के क्वाथ पर रहना पर्णकृच्छ्र कहलाता है। मद्यसंपर्कज दोष का यह संशोधन कहा गया है। इसमें फूल दिखलाई पड़ना उत्पातलक्षण बतलाया गया है। उदुम्बर की समिधा हि० गृ० आदि में शुक्र के लिए तथा अ. प. में बृपस्पति ग्रह के लिए कही गई है। गृह्यसूत्र में भी 'औदुम्बर' शब्द ताम्र के लिए प्रयुक्त है। (गो. गृ. २।९।१४)।

उपनिषदों में उदुम्बर के फल तथा पात्रों का उल्लेख है[1]।

---

१. मै०—'देवा यत्रोर्जं व्यभजन्त तत उदुम्बरा उदतिष्ठत्'—१।७।५;
'तस्मादुदुम्बरः प्राजापत्यः तस्माल्लोहितं फलं पच्यते—१।८।१
'ऊर्ग् वा उदुम्बरः'—१।११।८

क०—३।१२; ६।७; ३०।८; ३१।७; ९; ४०।३; ४५।४

काठ०—१९।१०; २०।७; २६।५; ४४।१;

तै०—५।१।१०।१; ५।२।७।३; ४; ५।२।८।७; ५।४।९।२; ६।१।४।१; ३।४।८।४;

'महान् वै भद्रो किलो महान भद्र उदुम्बरः।
महाँ अभिक्त बाधते महतः साधु खोदनम् ॥—शौ० २०।१३६।१५

पै०—१०।५।१-१४; १५।२२।३-४; १६।८०।८; १९।५२।९

श०—३।२।१।३३; ३।३।४।२७; ३।६।१।२; ६; ४।६।१।३; ५।२।२।२;

"तस्मात् स सर्वदा आर्द्रः, सर्वदा क्षीरी। तदेवत् सर्वमन्नं यदुदुम्बरः। सर्वे-वनस्पतयः।"—६।६।३।२-३; ७।२।४।२; १४; ७।२।२।३; ७।४।१।३८

'अथास्येन्द्र ओज आदायादङ् उदक्रामत्। स उदुम्बरोऽभवत्।'—७।४।१।३९

'अयं वाव मा सर्वस्मात् पाप्मनः उदमार्षीत् इति। यदस्मादुद्भार्षीन्मेति तस्मादुदुम्भरः। उदुम्भरो ह वै तमुदुम्बर इत्याचक्षते।'—७।५।१।२२; ७।५।१।१५; ९।२।२।३; ९।२।३।४०; १२।७।१।९; १२।९।१।३; १४।१।२।४

तां०—५।५।२; तै० ब्रा०—१।२।६।५; १।७।६।५

'देवाः सर्वे कदाचिदेकत्रोपविश्याद्यरसं विभक्तवन्तः तदा तस्मिन् स्थाने पतितादन्नरसादुदुम्बरवृक्ष उदतिष्ठत्'—(तै० ब्रा० १।१।३।१०—सायण)

ऐ० ब्रा०—'तस्मात् स त्रिःसंवत्सरस्य पच्यते'—५।२-४ ('योऽयमुदुम्बरवृक्षः सोऽयं

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसरूपोऽन्नरूपश्च।'''तस्मात् संवत्सरस्य मध्ये भोक्तृणामन्नसिद्धयर्थं स वृक्षस्त्रिः पच्यते। त्रिरित्युपलक्षणम्। बहुकृत्वः फलं गृह्णाति'--सा०)
७।१५; ३०; ३२; ८।५; ८।९ (योऽयमुदुम्बरः स ऊर्ग् वै रसरूप एव तत्फले माधुर्य-सद्भावात् तथा ऽन्नाद्यस्वरूपश्च तद्भक्षणेनोदरपूरणात्--सा०); ८।१६
तै० आ०--५।२।४; ५।९।३; ५।१०।५; १।३२।१
ऐ० आ०--१।२।३ (ऊर्क् शब्दो रसवाची। उदुम्बरस्योर्ग्रस इव तत्फलेषु माधुर्य-रसत्वस्य विद्यमानत्वात्। तेषां च पक्वफलानां उपदंशत्वेनात्तं योऽयमन्नमुदुम्बरः--सा०); ५।१।२
शां०--२५।१५; २७।६; शां० आ०--१।७
जै० ब्रा०--१।७०
छा० ब्रा०--१।८।५
बृ०--४।३।२६; ६।३।१; १३;
का० श्रौ०--१७।१।८; २२।१।२५
हि० श्रौ०--८।१।१; १०।१।३; १३।६।११; २४।२।६
आप० श्रौ०--१।२।३०; ३।५।२७; ७।२।८३; १०।२।१४; १०।१०।१३
बौ० श्रौ०--२।७-८; ४।१; ६।२४; ९।५; १०।५०; ११।११; १२।१३; १४।१८; १७।१; १८।८, ४०
शां० गृ०--१।२२।८
बौ० गृ०--१।१०।७; २।५।१७; १।१६।४९
पा० गृ०--१।१५।४; २।५।२७; २।६।१७
कौ० गृ०--२।११९
आप० गृ०--४।११।१६
जै० गृ०--१।१२; २१९
खा० गृ०--१।२।२१
गो० गृ०--२।९।४
काठ० गृ०--१।४।१८; ४।५।५
हि० गृ०--१९।१।१४; १९।३।२०; २०।१।९ (उरुमूल)
बौ० पि०--६।१,२,१०; २।१
कौ० सू०--८।१५; १०।४-६; १३।५; २३।७, १५-१७; २६।४०; २५।२०; २७।५; १९; ७६।२; ८३।४, १८।३२; ८५।१९; १५
अ० प०--२३।६।३, ५; २६।५।६-७; ३०।२।८; ३३।१७; ६४।८।३; ६९।१५; ७१।१६।१; के० प० २७।१९-२० (क्रिमिरोग)
आप० ध०--१।१।२।३८
वि० ध०--४६।२३
वा० ध०--२०।२१
नि० सू०--१।११; ४।९; दे० वि०--२।३ (उदुम्बल)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अ० अ०—१०।२१; या०—३ ८
पा० ग०—४।१।९९; ४।२।५३; ४।३।१५४; २।१।४८
पा० उ० भो०—२।३।७४
पा० म०—३।१।८७; ४।२।७१; ६।२।१११

उदुम्बर-मणि

औदुम्बरेण मणिना पुष्टिकामाय वेधसा ।
पशूनां सर्वेषां स्फातिं गोष्ठे मे सविता करत् ॥ १ ॥
यो नो अग्निर्गार्हपत्यः पशूनामधिपा असत् ।
औदुम्बरो वृषा मणिः सं मा सृजतु पुष्ट्या ॥ २ ॥
करीषिणीं फलवतीं स्वधामिरां च नो गृहे ।
औदुम्बरस्य तेजसा धाता पुष्टिं दधातु मे ॥ ३ ॥
यद् द्विपाच्च चतुष्पाच्च यान्यन्नानि ये रसाः ।
गृह्णेऽहं त्वेषां भूमानं बिभ्रदौदुम्बरं मणिम् ॥ ४ ॥
पुष्टिं पशूनां परि जग्रभाहं चतुष्पदां द्विपदां यच्च धान्यम् ।
पयः पशूनां रसमोषधीनां बृहस्पतिः सविता मे नि यच्छात् ॥ ५ ॥
अहं पशूनामधिपा असानि मयि पुष्टं पुष्टपतिर्दधातु ।
मह्यमौदुम्बरो मणिर्द्रविणानि नि यच्छतु ॥ ५ ॥
उप मौदुम्बरो मणिः प्रजया च धनेन च ।
इन्द्रेण जिन्वितो मणिरा मागन्त्सह वर्चसा ॥ ६ ॥
देवो मणिः सपत्नहा धनसा धनसातये ।
पशोरन्नस्य भूमानं गवां स्फातिं नि यच्छतु ॥ ८ ॥
यथाग्रे त्वं वनस्पते पुष्ट्या सह जज्ञिषे ।
एवा धनस्य मे स्फातिमा दधातु सरस्वती ॥ ९ ॥
आ मे धनं सरस्वती पयस्फातिं च धान्यम् ।
सिनीवाल्युपा वहादयं चौदुम्बरो मणिः ॥ १० ॥
त्वं मणीनामधिपा वृषासि त्वयि पुष्टं पुष्टपतिर्जजान ।
त्वयीमे वाजा द्रविणानि सर्वौदुम्बरः स त्वमस्मत्सहस्वारादरातिममतिं क्षुधं च ॥११॥
ग्रामणीरसि ग्रामणीरुत्थायाभिषिक्तोऽभि मा सिञ्च वर्चसा ।
तेजोऽसि तेजो मयि धारयाधि रयिरसि रयिं मे धेहि ॥ १२ ॥
पुष्टिरसि पुष्ट्या मा समङ्ग्धि गृहमेधी गृहपतिं मा कृणु ।
औदुम्बरः स त्वमस्मासु धेहि रयिं च नः सर्ववीरं नि
यच्छ रायस्पोषाय प्रति मुञ्चे अहं त्वाम् ॥ १३ ॥
अयमौदुम्बरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते ।
स नः सनिं मधुमतीं कृणोतु रयिं च नः सर्ववीरं नि यच्छात् ॥ १४ ॥
—शौ० १९।३१।१-१४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उदोजस[1]—यह कोई औजोवर्धक रसायन ओषधि प्रतीत होती है। (देखें अश्वावती)

उद्दालक[2]—यह धान्यविशेष के लिए आया है।

उन्नयन्ती[3]—

उपवाक(का)—इसका उपयोग सक्तु या करम्भ के लिए होता था। विशेषतः इन्द्र की पूजा के निमित्त यह दिया जाता था। टीकाकारों ने इसका अर्थ इन्द्रयव किया है।[4] शतपथ ब्राह्मण में व्रीहि, श्यामाक, गोधूम, कुवल, बदर, यव, कर्कन्धु, शष्प तथा तोक्म के साथ यज्ञ के संभारों में यह परिगणित है। 'यच्छ्लेष्मणस्ता उपवाकाः' इस वचन से ज्ञात होता है कि यह कोई पिच्छिल द्रव्य होना चाहिए। यह ग्राम्य एवं आरण्य दोनों प्रकार का होता था तथा बल्य माना जाता था।[5]

मैकडोनल एवं कीथ तथा मजुमदार ने इससे इन्द्रयव का ग्रहण किया है किन्तु यवाकार होने पर भी उसका प्रयोग अन्नरूप में नहीं होता।

उपोदकी[6]—

उपोलव[7]—

उमा[8]—कौशिकसूत्र (३३।१७) में इसके फल तथा शं० लि० ध० (२३२) में इसके

---

१. ऋ० —१०।९७।७; तै०—९।२।६।३; क०—२५।४; पै०—११।६।१०
२. शं० लि० ध०—१३२
३. 'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये॥'
—शौ० ८।७।६; पै०—१६।१२।६
शौ०—८।२।६ में यही मन्त्र कुछ अन्तर से पठित है। वहाँ सायण ने लिखा है:—
'एवं महिमोपेतां ओषधीं पाठाख्याम्, अथवा जीवलादयः प्रत्येकं ओषधिविशेषाः'—
४. मै०—३।११।२, ९; मा० १९।२२; का०—२१।२।१०–१२; २३।४।२
श०—१२।७।१।३; १२।७।२।९; १२।९।१।५; तै० ब्रा०—२।६।११।२; २।६।४।५
का० श्रौ०—१९।२।१८; हि० श्रौ०—२३।१।१६ (उपवाका अशूका अचूलिकाः—व्या०);
२३।१।२५ (ऐन्द्र—उपवाकासक्तु); वा० श्रौ०—३।२।७।६३; कौ० सू०—८।२० (उपवाक इति अभियवाः सुराष्ट्राणां प्रसिद्धाः—दा०)
५. 'उभयमेव ग्राम्यं चान्नमारण्यं चावरुन्द्धेऽथो उभयेनैवान्नेन यथारूपमिन्द्रियं वीर्यमात्मन् धत्ते'—श०—१२।७।२।९
६. वि० ध०—७९।१७–१८ (वज्य शाक)
७. कौ० सू०—१८।३२ (उपालवतृणानि मालवेषु प्रसिद्धानि—दा०)
८. 'अलाबूतिलोमाभंगाभ्यो रजस्युपसंख्यानम्'—पा० वा० ५।२।२९
"उमाभंगयोरधान्यत्वात्। 'धान्यानां भवने क्षेत्रे खञ्' इत्युच्यते, न चोमाभंगे

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सूत्र का उल्लेख है। यह अतसी का पर्याय है। महाभाष्य में इसके धान्यत्व के संबन्ध में रोचक चर्चा है।

उर्वारु(क)—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इसका फल पकने पर वृन्त से स्वतः पृथक् हो जाता है। यही मन्त्र अन्य संहिताओं में भी आया है[1]। सामान्यतः 'उर्वारु' पौधे के लिए तथा 'उर्वारुक' उसके फल के लिए प्रयुक्त होता है।

उल—दारिल ने इसका अर्थ कस्तुरिका शाक किया है। केशव इससे पाविका लेते हैं।[2]

उलप[3]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। सायण ने इसका अर्थ 'तृणजात' किया है। अथर्ववेद (शौ० ७।६६।१) में 'उलपशब्दः सस्यमात्रोपलक्षणम्' लिखा है। काठकगृह्यसूत्र के टीकाकार ने 'उलप' शब्द से वीरण का ग्रहण किया है :— ''उलपो वीरणः, प्रसूना दीर्घदर्भा इति तु प्रसिद्धिहीनं वचः; मध्यदेशादौ वीरणानामेव सिद्धम्—३।४।१. उसी के व्याख्याकार ब्राह्मणबल ने 'उलपास्तृणविशेषः' लिखा है। मानवगृह्यसूत्र (१।१४।४) के भाष्यकार ने इसे 'प्रागग्र दर्भ' माना है।

मजुमदार ने इससे Imperata arundinacea का ग्रहण किया है।

उशाना[4]—मजुमदार ने इससे पिप्पली का ग्रहण किया है जो ठीक नहीं है। वस्तुतः

धान्ये। चमेषु यत् पठ्यते तद्धान्यम्, न चैते तत्र पठ्येते।" ('यवाश्च मे माषाश्च मे' इति चमेशब्दस्य पुनः पुनरुच्चारणाच्चमेशब्देन तद्वन्तोऽनुवाका उच्यन्ते'—प्रदीप; उमा अतसी भंगा प्रसिद्धा—उद्योत)
"नैष दोषः धिनोतेर्धान्यम्, एते चापि धिनुतः। अथवा शणसप्तदशानि धान्यानि॥" (योगरूढिरियम्—उमाभंगयोरपीति भावः। चमेषु तु अधान्यान्यपि कानिचित् (अश्मादीनि) पठ्यन्ते, धान्यान्यपि कानिचिन्न (कोद्रवादीनि) पठ्यन्ते। नहि तद्धान्यपरिगणनार्थमिति तत्रापाठादुमाभंगयोरधान्यत्वं न भवति—प्रदीप; उमाभंगयोरपि शणविशेषत्वाद् धान्यत्वम्—उद्योत)

1. 'उर्वारुकमिव बन्धनान् मृत्योर्मुक्षीय मामृतात्'—ऋ० ७.५९।१२
'छिनद्म्यस्य बन्धनं मूलमुर्वार्वा इव'—शौ० ६।१४।२
'उर्वार्वाः कर्कव्याः'—सायण
'उर्वारुकमिव बन्धनात् प्रेतो मुञ्चामि नामुतः'—शौ० १४।१।१७
श०—२।५।३।१२, १४; का० ब्रा०—१।६।२।७;
वैता० श्रौ०—९।१९; अ० प्रा० १।३।१४; पं० वि०—९।२।१९
2. कौ० सू०—२५।१८; (कस्तुरिका शाकः—दा०), पाविका (के०)
3. पा० ग० २।४।११
4. श०—३।४।३।१३; ४।२।५।१५ (वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मान

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह सोमसदृश कोई पर्वतीय वनौषधि है जिसका अभिषव-कल्प बनता था। पिप्पली का पर्याय 'ऊषणा' है, 'उशाना' नहीं।

उशीर— यह एक गन्धद्रव्य है नक्षत्रस्नान, पुष्याभिषेक आदि में इसका प्रयोग हुआ है। वृ मरोग में भी इसका प्रयोग है (शौ० ५।२३ सा०)।

ऊतीक— संभवतः यह 'पूतीक' का संक्षिप्त रूप है।[2]

ऊर्जयन्ती— ऋग्वेद में पठित है।[3] यह कोई ओजस्य रसायन ओषधि प्रतीत होती है। (देखें अश्वावती)

ऊर्जावान्— यह उदुम्बर का पर्याय है।[4]

ऊर्ध्वफल[5]—

ऋतजात— यह 'मधुला' का विशेषण कहा गया है।[6]

ऋतपर्ण— यह हिरण्यपर्ण वनस्पति के पर्याय रूप में आया है।[7]

ऋतावरी—एक स्थल (शौ० ६।३०।३) में सायण ने इसे शमी का पर्याय बतलाया है और अन्यत्र (शौ० ५।१५।१-११) इससे मधुला का ग्रहण करते हैं।

ऋद्धि[8]—

ऋषभ[9]—

एककलीतक— जिस करञ्ज में एक ही बीज हो वह एककलीतक कहलाता है।[10]

स्तदेषोशाना नामौषधि जयित ··· ··· तामेदाहृत्याभिषुण्वन्तीति)
और देखें :—Ved. Pl.—p. 664.
Ved. ind.—i-103.

१. या०—२।५; आप० गृ०—७।१८।१६; कौ० सू०—८।१७; २९।२४; अ० प०—१४३।४; १४४।९; ५।१।५; ३५।१।१६-१७; ३५।२।९-११; ५।२।१; ९।१।५; पा० ग०—४।४।५२; २।२।३१

२. जै० ब्रा०—१।३५४

३. ऋ०—१०।९७।७; पै०—११।६।१०

४. सं० ब्रा०—१।५।१

५. कौ० सू०—२८।३

६. शौ०—५।१५।१-११

७. या०—८।१९

८. पा० वा०—२।४।८४

९. पा० ग० – २।१।५६

१०. आ० गृ०—३।८।८ (करञ्जबीजस्य यत्रैकं बीजं तदेककलीतकम्'—वृ०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

एकपुष्पा[1]—

एरका(क)[2]—इसका प्रयोग विभिन्न संस्कारों में आसन के लिए हुआ है ।

एरण्ड[3]—इसके मणिधारण का उल्लेख है ।

एर्वारु[4]—(देखें उर्वारुक)

एला—नक्षत्रस्थान में इसका उपयोग होता है[5] ।

ओजोमानी[6]—केशव ने इससे गुडूची का ग्रहण किया है ।

औक्ष—अनेक गन्धद्रव्यों को पीस कर बनाया हुआ प्रलेप है[7] ।

औक्षगन्धि[8]—सायण ने इसे एक होमद्रव्य बताया है । औक्ष के समान गन्ध होने के कारण इसे औक्षगन्धि कहते हैं । वनस्पतियों के साहचर्य के कारण इसे वनस्पति-विशेष मानते हैं ।

ककुच[9]—

ककुभ[10]—यह अर्जुन का पर्याय है । इसका दन्तधावन विहित है । अथर्वपरिशिष्ट में इसकी समिधा का उल्लेख है ।

कक्षतु[11]—

कङ्कु[12]—

---

१. पा० वा०—४।१।४

२. बौ० श्रौ०—२।९; १७।३९; जै० गृ०—१।७, १९-२०; बो० गृ० —१।२।२; आप० गृ०—५।१९।३; पा०—४।१।४; पा० वा० ग०—७।३।४५; पा० उ० भो०—२।२।११; पा० ग०—४।१।१५।

३. शां० आ०—१२।८; पा० उ० भो०—२।२।११७; के० प०—४८।१

४. पा० उ० भो०—१।१।१०१

५. अ० प०—१।४५।८

६. कौ० सू०—५३।१-२, १५; ५४।१९

७. पै०—२।२१।६; शौ०—२।३६।७ (औक्षः प्रलेपनद्रव्यम्—सायण)

८. 'गुल्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी ।
तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन ॥'—शौ० ४।३७।३
'गुल्गुल्वादीनि पञ्च होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रप्रसिद्धानि—सा०)

९. कौ० सू०—४८.३२ (ककुचैः तिमिरफलैः—दा०)

१०. अ० प०—२६।५।१-५; वि० ध०—६१।१४

११. पा० ग०—४।२।१६४; पा० म०—४।२।७१

१२. 'वृक्षात् पर्णं पततीति; संबन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति, न ज्ञायते कङ्कस्य वा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कङ्कतदन्ती[1]—यह संभवतः अतिबला (कङ्कतिका) है । यह विषघ्न बतलाई गई है ।

कच्छुरा[2]—

कटभ[3]—समिधा के प्रकरण में इसका उल्लेख है ।

कड्विन्दु[4]—

कण्ट[5]—संभवतः यह कण्टकारी के लिए प्रयुक्त है ।

कण्टकारिका[6]—

कण्टकी (वृक्ष)[7]—इसकी समिधा का उल्लेख है ।

कण्टाकी[8]—यह भी संभवतः कण्टकारी ही है ।

कण्टूक[9]—श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में इसकी गणना है ।

कदम्ब[10]—इसके मूल और समिधा का उल्लेख है । इसका दन्तधावन विहित है ।

कदर[11]—

कदल (ली)[12]

कनक्नक[13]—यह विषयुक्त ओषधि है । संभवतः धत्तूर का वाचक है ।

कुररस्य च वा'—पा० म०—१।४।२३ (कङ्ककुररौ वृक्षविशेषौ पक्षिविशेषौ च—उद्योत) कुछ लोग इसे आम्रविशेष मानते हैं ।

१. पै०—५।९।१
२. पा० वा०—५.२।१०७
३. अ० प०—२६।५।१–५
४. कौ० सू०—४८।३० (Bloomfield : name of a red plant)
५. अ० प०—७०।११६–९
६. पा० ग०—४।३।१५४, १६७
७. हि० श्रौ०—१४।२।५, ११; २४।५।२; २८।१।७; कौ० गृ०—२।६।९
८. अ० प०—२१।३।५
९. हि० श्रौ०—२५।१।४
१०. पा० गृ०—१।२१; अ० प०—२६।५।१–५; या० शि० ३४; मा० शि०—४।१
११. पा० ग०—४।१।४१; पा० उ० को०—२।३।२८
१२. पा० ग०—४।२।८०; क० प्र०—३।३।५; पा० म०—१।१।२
१३. 'यदग्नौ सूर्ये विषं पृथिव्यामोषधीषु यत् । कान्दाविषं कनक्नकं निरैत्वैतु ते विषम् ॥' शौ०—१०।४।२२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कन्दली[1]—

कपित्थक—अथर्ववेद में इसके मूल का क्षीरपाक वाजीकरण के लिए प्रयुक्त है। उच्छुष्मा, शेफहर्षणी इसके पर्याय हैं। यह भी लिखा है कि यह सोम के साथ समुद्र मन्थन के समय निकला है और अतिशय वीर्यवान् है[2]। पुष्पाभिषेक में इसके पल्लव का प्रयोग है[3]।

कब्रु—इसके फल कृष्णवर्ण होते हैं। यह बलास तथा विसल्पक रोगों की औषध है[4]।

कमल—अथर्ववेद में 'कमल' शब्द गर्भाशय के लिए आया है[5]। अथर्वपरिशिष्ट (१।४३।८) में नक्षत्रस्नान के प्रकरण में निर्दिष्ट है।

कम्पिल्लक—इसका प्राचीन नाम 'काम्पील' है। अथर्ववेद में कुछ मंत्रों के विनियोग से इसका संबन्ध है। कौशिकसूत्र में इसका बहुशः प्रयोग हुआ है[6]। तक्मनाशन में इसका विशेष प्रयोग है। इसके पल्लव यज्ञादि में प्रयुक्त होते थे और इसके काष्ठ की मन्थनी बनाई जाती थी।

कम्बला —

---

१. पा० ग०—४।१४१; ५।२।३६; पा० उ० भो०—२।३।९३; पा० वा० ग०—८।२।१८

२. "यां त्वा गन्धर्वो अखनद् वरुणाय मृतभ्रजे। तां त्वा वयं खनामस्योषधिं शेपहर्षणीम् ॥
उदुषा उदु सूर्य उदिदं मामकं वचः। उदेजतु प्रजापतिर्वृषा शुष्मेण वाजिना ॥
यथा स्म ते विरोहतोऽभितप्तमिवानति। ततस्ते शुष्मवत्तरमियं कृणोत्वोषधिः ॥
उच्छुष्मौषधीनां सारं ऋषभाणाम्। सं पुंसामिन्द्र वृष्ण्यमस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥
अपां रसः प्रथमजोऽथो वनस्पतीनाम्। उत सोमस्य भ्रातास्युतार्शमसि वृष्ण्यम् ॥
अद्याग्ने अद्य सवितरद्य देवि सरस्वति। अद्यास्य ब्रह्मणस्पते धनुरिवा तानया पसः ॥
आहं तनोमि ते पसो अधि ज्यामिव धन्वनि। क्रमस्वर्श इव रोहितमनवग्लायता सदा ॥
अश्वस्याश्वतरस्याजस्य पेत्वस्य च। अथ ऋषभस्य ये वाजास्तानस्मिन् धेहि तनूवशिन् ॥"
—शौ० ४।४।१–८

३. अ० प०—५।२।१–३; इसके अतिरिक्त देखें—पा० गृ०—१।२१
पा० ग०—२४।३१; ४।२।८०; ५।२।१३५; पा० म०—४।३।१५४

४. शुक्लवाता कृष्णफला कब्रु बलासभेषजी।
विसल्पकस्य भेषजीः देवीः आप इमा मम ॥ —पै०—२०।५६।९

५. शौ०—८।६।९; पै० –१६।७९।९; १९।२५।४
इसके अतिरिक्त, पा० उ० भो०—२।३।९३; पा० ग०—४।१।४५; ५।२।१३५
'कमलं गर्भद्वारम्'—सा० (शौ०)

६. कौ० सू०—१६।२८; २७।७; २८।८; ४३।२०; ४८।४१; ७६।३१; ८३।१७; ८७।४२

७. पै०—१८।१३।५–७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कम्बू—इसकी समिधा शत्रुशातन कही गई है[1]। (देखें क्याम्बू)

करञ्ज—ऋग्वेद में एक असुर का नाम है। यही मन्त्र अथर्ववेद में भी आया है। कल्पसूत्रों में यह करञ्ज वृक्ष के लिए प्रयुक्त हुआ है। कौ० गृ० में इसकी समिधा वर्ज्य बतलाई गई है। इसका दन्तधावन उत्तम बतलाया गया है। आप० ध० में पलाण्डु के साथ यह अभक्ष्य कहा गया है। टीकाकार ने इसका अर्थ 'रक्तलशुनक' किया है[2]।

करवीर—सामविधान ब्राह्मण में इसका उल्लेख मिलता है। इसका दन्तधावन विहित है।[3] महाभाष्य में इसके पुष्पों का उल्लेख है।

करीर—यह सौम्य होता है तथा वर्षा ऋतु में विशेष उपलब्ध होता है। यह पर्वतीय प्रदेश में होता है। अवर्षण के निवारण के लिए कारीरी नामक इष्टि करते हैं। सायण ने इनका परिचय देते हुये कहा है कि ये उत्तरापथ में प्रसद्धि मधुर फल-विशेष हैं। यज्ञों में इसके सक्तु का भी प्रयोग है[4]। कौशिकसूत्र में करीर के मूल तथा काण्ड का क्रिमिरोग में प्रयोग है।

---

१. अ० प०—७०।१।६-९

२. ऋ०—१।५३।८; १०।४८।८; शौ०—२०।२१।८; कौ० गृ०—२।६।९; वि० ध०—६१।१४; आप० ध०—१।५।१७।२६; या० शि०—३४; मा० शि०—४।१; पा० उ० भो०—२।२।९०

३. सा०—२।४।१; मा०शि०—४।२; या०शि०—३४; पा० ग०—४।२।८०; पा० उ० भो०—२।३।५०; पा० म०—४।३।१६६.

४. तै०—२।४।९।४; मै०—२।४।८; का०—११।१०; ३६।७
का० ब्रा०—१५।११९; तं० ब्रा०—१।६।४।५
का० श्रौ०—५।५।१; हि० श्रौ०—२२।६।६, १; ५।२।६; बौ० श्रौ०—१३।३७; ५।६
आ० श्रौ०—२।१३; आप० श्रौ०—८।२।६।१३; बो० गृ०—३।११२६; कौ० सू०—२९।२०
अ० प०—३०।११७; पा०ग०—४।२।८६; ४।३।१४१; ५।२।२४; ६।२।८७; के०प०—२९।२०
'सौम्यानि वै करीराणि सौमी ह त्वेवाहुतिरमुतो वृष्टिं च्यावयति'—मै० १।१०।१८
'ततो यः प्रथमो रसः प्राद्भरत्तानि करीराण्यभवँस्तदेतत् प्रावृषि जीमूताः प्लवन्ते यजन्ते वरुणप्रघासैः करीराणि भवन्ति वृष्टि तैः संतनोति तस्मात्तर्हि भूयिष्ठं वर्षति'।
—मै० १।१०।१२

'यतीनामद्यमानानां शीर्षाणि परापतन् ते खर्जूराः अभवन् तेषां रसः ऊर्ध्वोऽपतत् तानि करीराण्यभवन्।—तै० २।४।९।२
'कं (सुखं) वै प्रजापतिः प्रजाभ्यः करीरैकुरुत। कम्वेवैष एतत् प्रजाभ्यः कुरुते।'
—श० २।५।२।११

'मधुराः फलविशेषाः करीराणि तानि चोत्तरापथे प्रसिद्धानि—सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्कटश[1]—

कर्कटिका[2](क)—भूततंत्र में इसकी समिधा का उपयोग है।

कर्कन्धु—ऋग्वेद (१।११२।६) में यह एक ऋषि का नाम है जिसकी रक्षा अश्विनों ने की थी। यजुर्वेद में यह एक वृक्ष का फल है। यह रक्तवर्ण होता है (मै० ३।१३।२) तथा इसकी तीन जातियाँ होती हैं :—कुवल, बदर तथा कर्कन्धु जो परिमाण की दृष्टि से क्रमशः बृहत्, मध्यम और लघु हैं।[3] इनका चूर्णवत् सक्तु बना कर यज्ञ में प्रयोग होता था।[4] इसकी समानता दधि से बतलाई गई है, संभवतः यह इसकी पिच्छिलता, अभिष्यन्दिता तथा श्लेष्मकर्तृत्व के कारण हो।[5] इसके फल मधु के समान मधुर होते हैं।[6] शतपथ ब्राह्मण में इसे स्नेह कहा गया है 'यत् स्नेहस्तत् कर्कन्धु' (१२।७।१।४) जो इसकी स्निग्धता का द्योतक है। गोधूम-यव आदि के साथ कुवल, बदर और कर्कन्धु को ग्राम्य तथा आरण्य अन्न कहा गया है (श० १२।७।२।९)। इससे प्रतीत होता है कि इसका चूर्ण अन्न के रूप में प्रयुक्त होता था तथा वन्य होने के साथ-साथ इसे बागों में लगाया भी जाता था। कुवल के लिए 'कवल'[7] 'क्वल'[8] कोल[9] शब्द भी आये हैं। (देखें बदर)

कर्करी(कर्करिक)—(शौ० ४।३७।५; २०।१३२।३) अन्य वनस्पतियों के साहचर्य में यह भी वनस्पति ही प्रतीत होती है। (देखें अर्जुन)

---

१. पै० ४।२१।२.

२. के० प०—२५।२३

३. 'यत् प्रथमं निरष्ठीवत् तत् कुवलमभवत् द्वितीयं तद् बदरं यत्तृतीयं तत् कर्कन्धु'
शौ०—२०।१३६।३ —मै० २।४।१

४. काठ०—१२।१०

५. दध्नो रूपं कर्कन्धूनि—मा० १९।२३

६. 'कर्कन्धु जज्ञे मधु सारघं मुखे—मै० ३।११।९
और देखें:—श० १२।९।१।५; का० श्रौ०—१५।१०।११, हि० श्रौ०—१३।८।२३;
वा० श्रौ०—३।२।७।१५—१८; शां० गृ०—४।१९।२; कौ० सू०—१०।४-६; १८।३२;
के० प०—१०।४
कर्म०—१।३।१३; पा० वा०—१।१।६४; पा०ग०—४।२।८६; ४।३।१३६; ५।२।२३; ६।२।८७;
पा० म०—४।१।६६; ६।३।६१

७. जै० ब्रा०—२।१५६

८. हि० श्रौ०—१।३।१०; १३।८।२३; 'आतञ्चनविकल्पों में एक है; दूध से दही जमाने के लिए उसमें जो जमावन डालते हैं उसे आतञ्चन कहते हैं (ओषधयः पूतीकाः फलास्तण्डुलाः पर्णवल्का इत्यातञ्चनविकल्पाः।' (आप० श्रौ० १४।२६);

९. छां०—७।३।१; तै०—२।५।३।५;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्ण—

कर्णिकार—श्मशानायतन से उद्धरणीय औषधियों में इसकी गणना की गई है।[1] राजवृक्ष और कर्णिकार एकत्र पठित होने से यह प्रतीत होता है कि यह आरम्बध से भिन्न द्रव्य है। इसके पुष्प पीतवर्ण होने से पैत्तिक स्वप्नों में इसका निर्देश है।[2]

कर्पास (कार्पास)—इसका वस्त्र बनाया जाता था।[3] इसके पिचु भी बनाये जाते थे (पिचव्यः कार्पासः—पा० म० ५।१।२; ६।१।८०).

कर्पूर—अनुलेपन तथा पूजन में व्यवहृत होता था[4]। मूत्रपुरीषनिरोध में हरीतकी के साथ इसका विधान है।[5]

कर्शफ[6]—

कलञ्ज—धर्मशास्त्र में यह द्रव्य अभक्ष्य बतलाया गया है तथा पलाण्डु और लशुन के साथ पठित है। टीकाकारों ने इसे 'रक्तलशुन' कहा है।[7]

कलाय[8]—

कल्मलि[9]—अथर्ववेद में इसकी मणि का निर्देश है। इसका अर्थ किया गया है कि जो मल को दूर करे—'कलपति अपगमयति मलद इति।'

कवल—(देखें कर्कन्धु)

कशेरुक—शृंगाटक के साथ इसका उल्लेख है। श्राद्ध में इसे देने का विधान है।[10]

---

१. कौ० सू०—८२।२६ (प०)
२. हि० श्रौ०—२९।१।४; अ० प०—६८।१।१६
३. द्रा० श्रौ०—५।२।४; गौ० ध०—१।१८. पा० ग०—२।४।२१; ४।३।१२६
गां० गृ०—२।१०।८-१२; वि०ध०—२७।१७; शं०लि०ध०—१८२;२२२; नि०सू०—१।११.
पा० म०—७।२।५४; ४।१।५५ (मृदूनामिव कार्पासानांकृतः);
४. शं० लि० ध०—१२८; वि० ध०—६६।२; ७९।११; अ० प०—१९।३।२
५. शौ०—१।३ 'मूत्रपुरीषनिरोधे प्रमेहणसाधनहरीतकीकर्पूरबन्धनम्'—सायण
६. शौ०—३।९।१; Ved. ind. ii—314
७. हि० श्रौ०—२६।५।२८ 'कलज्जं रक्तलशुनम्'—वृ०
वै० ध०—२।१५।५
८. पा० म०—५।१।१९ (कालायसूपिकः)
९. शौ०—१५।२।५, १३, १९
१०. शं० लि० ध०—२२०; पा० म०—५।१।१२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कषाम्बु—इससे पक्व घृत से अश्व का अभ्यंग करने का विधान है। व्याख्याकार ने इसका अर्थ 'देवदारु' किया है[1]।

काकजंघा[2]—मूलविधि में इसके मूल का निर्देश है।

काकमाची[3]—सायण ने 'नितत्नी' शब्द से काकमाची प्रभृति न्यक्प्रसरणशील ओषधियों का ग्रहण किया है। कौशिकसूत्र में केशदोषनिवारणार्थ इसका भृंगराज के साथ प्रयोग है। केशवपद्धति (३१।२८) में इसके फलमणि का बन्धन केशवृद्धि के लिए विहित है। वहाँ 'काचीमाची' शब्द प्रयुक्त है।

काकम्बीर[4]—

काकातनी—इसके मूल को पीस कर उससे सूतिकागार का लेपन करने का विधान है। यह रक्षोघ्न कहा गया है। टीकाकारों ने इसे 'काककदली' या 'इन्द्रवारुणीभेद' बतलाया है[5]।

काकिणी—यह रक्तिका मालूम पड़ती है। यह तोलने के काम में भी आती थी[6]।

काकुत्था[7]—श्वेतपुष्प के अभाव में इसे छोड़ कर अन्य पुष्प लेने का निर्देश है।

काचकपुष्पी[8]—वशीकरण में इसका प्रयोग प्रियंगु आदि ओषधियों के साथ हुआ है।

काञ्चनार[9]—

काण्डपुष्पा[10]—

---

१. हि० श्रौ०—१४।३।२३; (कषाम्बवेन देवदारुरसकेन—व्या०); बा० श्रौ०—३।४।३।४४
२. पा० गृ० १।२१
३. शौ०—६।१३६।१; 'न्यक्प्रसरणशीला ओषधिः। काकमाचीप्रभृति ओषधिः' (सा०) कौ० सू० ३१।२८
४. 'मा काकम्बीरमुद्वृहो वनस्पतिमशस्तीर्वि हि नीनशः।
मोत सूरो अह एवा चन ग्रीवा आदधते वेः॥' —ऋ० ६।५८।१७
५. शां० गृ०—१।२३।१; 'काकादनी काककदली प्रसिद्धा' (नारायण भा०) 'काकादनी नामेन्द्रवारुणीभेदो बृहदारक्तफलः (रा० प०)
कौ० गृ०—१।१५।१; पा० गृ०—४।१।४१
६. शतं हिरण्यकृष्णलानि काकिण्या माषेण वा संमितानि—हि० श्रौ० २२।४।२; आप० श्रौ०—१९।२१।२; पा० म०—५।१।३३
७. शुक्लपुष्पालाभे काकुत्था...जै० गृ० १।१
८. सा०—२।६।१०
९. पा० उ० सो०—२।३।४५
१०. पा० बा०—४।१।४; पा० म०—४।१।६४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काण्डीर[1]—

कान्दाविष[2]—यह कोई विषाक्त कन्द प्रतीत होता है। सायण ने अथर्ववेद चतुर्थकाण्ड के षष्ठमूल में कन्दविष की चिकित्सा के लिए विनियोग किया है। यह पहाड़ों पर होता था।

कापोती[3]—

काम्पील—अथर्ववेद (शौ० २।१०।१–२ सा०) में क्षेत्रिय व्याधि में इसका निर्देश है। कौशिकसूत्र में अनेक स्थलों पर इसका उल्लेख है। यह शान्तवृक्षों में परिगणित है तथा तक्मनाशनगण में भी है[4]। (देखें कम्पिल्लक)

कारस्कर[5]—यह वृक्षविशेष के लिए आया है। जनपदविशेष का भी वाचक है। संभवतः उस प्रदेश में ये वृक्ष विशेष होने के कारण यह संज्ञा हुई हो।

कार्ष्मर्य—सायण ने इसकी निष्पत्ति कृष् धातु से वर्णविकार द्वारा की है। इसका आधार शतपथ ब्राह्मण द्वारा निर्दिष्ट निरुक्ति है।[6] इसे रक्षोघ्न कहा गया है।[7] यज्ञ में इसकी परिधि बनती थी तथा स्रुक्, वपाश्रपणी आदि अनेक पात्र बनते थे। यज्ञिय वृक्षों में यह प्रमुख है।[8]

---

१. पा०—५।२।११; पा० म०—१।१।५

२. शौ०—१०।४।२२; पै० १६।१७।२–३

‘ये अपीषन् ये अदिहन् य आस्यन् ये अवासृजन्।
सर्वे ते वध्रयः कृताः वध्रिर्विषगिरिः कृतः॥
वध्रयस्ते खनितारो वध्रिस्त्वमस्योषधे।
वध्रिः स पर्वतो गिरिर्यतो जातमिदं विषम्॥’—शौ० ४।६।७–८

३. अ० प०—७०।८।१

४. कौ० सू०—८।१५; १६।२८; २७।७; २८।८; ३२।३; ३९।६; ४३।२०; ४८।४१; ७६।३१; ८२।२५; ८३।१७; के० प०—३९।५-१२; शौ०—२।१ (सा०); ४।२८; (सा०); १८।१।४३ (सा०)

५. पा०—६।१।१५६; पा० ग०—६।१।१५७; पा० म०—६।१।१५७; जनपद—बौ० श्रौ०—२०।१३; आप० श्रौ०—२२।६।१८; हि० श्रौ०—१७।६;

६. प्रजापतेर्विस्रस्तस्याग्निस्तेज आदाय दक्षिणाऽकर्षत्। सोऽत्रोदरमत्। यत् कृष्ट्वा उदरमत्—तस्मात् कार्ष्मर्यः—श० ७।४।१।३९; ‘कृषेर्धातोः रमेश्च कार्ष्मर्यशब्द-निष्पत्तिर्वर्णविकारेण द्रष्टव्या’—सायण

७. मै० ३।७।९; ३।१०।१; ३।२।६; क०—२१।७; ३८।१; तै०—५।२।७।३–४; ६।२।१।५; ‘देवा ह एनं वनस्पतिषु रक्षोघ्नं ददृशुः, यत् कार्ष्मर्यम्।’—श० ३।४।१।१६; ७।४।१।३७; ४१

८. आप० श्रौ०—१।२।३०; १०।१०।२०; बौ० श्रौ०—४।१; ६।१०; १०।३०; हि० श्रौ०—११।५।२१; का० श्रौ०—१७।४।१२; पा० गृ०—१।२१; कौ० गृ०—२।६।९; अ० प०—२३।६।५; ७०।१६–९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कार्ष्य[1]—

कालक्लीतक—इसके मूल से सूतिकागार का लेपन करते थे।[2]

काला—श्मशानायतन से उद्धरणीय ओषधियों में इसकी गणना है।[3]

काश—तैत्तिरीय आरण्यक (६।९।१) में अर्जुन, दूर्वा तथा दर्भ के साथ रक्षोघ्न के रूप में इसका निर्देश है (काशानां स्तम्बमाहर रक्षसामपहत्यै)। इसकी चटाई बनती थी[4]। उपनयन में क्षत्रिय के लिए इसकी रशना बनती थी[5]। इसका गुल्म होता है तथा पत्र तीक्ष्णाधार होते हैं। कुश के न मिलने पर काश लेने का विधान है[6]।

किंशुक—ऋग्वेद (१०।२५।२०) में विवाहकालीन रथ के प्रकरण में इसका उल्लेख है। सायण का कथन है कि रथ इसके काष्ठ से निर्मित होता था किन्तु आधुनिक समीक्षकों का मत है कि किंशुकपुष्पों से रथ सजाये जाते थे। यास्क ने इसकी सिद्धि क्रंश धातु से की है जिसका अर्थ प्रकाशकर्म होता है इसके अनुसार 'किंशुक' का अर्थ होगा चमकने वाला[7]। इसके पुष्प रक्तवर्ण होते हैं। (देखें पलाश)

किंशुलुक[8]—

किरि[9]—मूत्रसंग में इसके पान का विधान है।

---

१. पा०—८।४।५

२. शां० गृ०—१।२३।१; 'कालि घेरुल्किकेति प्रसिद्धम्' (ना० भा०) कालघोरुरिति प्रसिद्धम्' (रा० प०)

३. बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५।६; पा० ग०—४।३।१६७

४. काशानामूते कटे—काठ० गृ० ४।५।६;

५. गो० गृ०—२।१०।८-१२

६. बो० पि०—१।१७।२; वि० ध०—७९।२; शां० लि० ध०—५९; ११२; कौ० सू०—२३।१५; ४०।३; अ० प०—१।६।३; के० प०—४०।१-२; पा०—४।२।८०; ६।२।८२; ६।३।१२३; पा० म०—१।१।१३; २।२।३४; २।४।१२; ३।१।९१

७. किंशुकं क्रंशतेः प्रकाशयतिकर्मणः—या० १२।८; पा० म०—३।१।७९ (दैवरक्ताः किंशुकाः) और देखें—हि० गृ०—२०।६।३; आप० गृ०—७।१८।६; कौ० सू०—७७।१; अ० प०—२१।७।३

८. पा०—६।३।११७

९. कौ० सू०—२५।११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किलासनाशन—

किलासभेषज—

ये दोनों नीली आदि श्वित्रनाशक ओषधियों के पर्याय हैं।[1]

कुकुन्दर[2]—

कुकुस[3]—उच्चाटन कर्म में इसका प्रयोग है।

कुङ्कुम[4]—अनुलेपनार्थ इसका उल्लेख है।

कुटक[5]—शान्तवृक्षों में परिगणित है।

कुटज—इसका प्रयोग दन्तधावन में विहित है।[6]

कुद्रीची[7]—यह संभवतः गुडूची के लिये आया है।

कुन्द—इसके पुष्प श्वेत होते हैं। यह कफप्रकृति के स्वप्नों में निर्दिष्ट है।[8]

कुमारी (द्वय)—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है।[9]

कुमुद[10]—इसके पुष्प श्वेत होते हैं तथा यह जल में होता है।

कुरण्ट(क)[11]—शुक्ल पुष्प नहीं मिलने पर इसे छोड़कर अन्य पुष्पों का ग्रहण किया गया है।

कुरर[12]—

---

१. शौ०—११२४।२; पै०—१।२६।२; ९।३।५
२. पा० उ० भो०—२।३।५२
३. अ० प०—३६।४।२
४. वि० ध०—७५।११; अ० प०—५२।२।२; ५०।६।४; शं० लि० ध०—१२८।१८२ ६६।२;
५. कौ० सू०—८।१५; 'मालवके प्रसिद्धः'—(दा० के०)
६. मा० शि०—४।२
७. कौ० सू०—५०।२२; पा० म०—६।३।९५ (कद्रीची)
८. अ० प०—२४।३।२; ६८।१।३०,३३
९. पा० गृ०—१।२१
१०. शौ०—४।३४।५; पै०—६।२२।८; अ० प०—१।४४।३; २४।३।२; ५२।२।१; ६८।१।३०,३३; पा०—४।२।८०; ४।२।८७; पा० म०—१।४।१; ३।२।५ (सरसीरुहं कुमुदम्)—पा० ग०—२।४।३१; ४।२।८०; ५।२।१३५; कौ० सू०—१०६।७
११. जै० गृ०—१।१; अ० प०—२४।५।१; पा० उ० भो०—२।१।८
१२. 'वृक्षात् पर्णं पततीति; संबन्धस्तु तदा न विवक्षितो भवति। न ज्ञायते कङ्कस्य वा कुररस्येति वा'—पा० म० १।४।२३; (कङ्ककुररौ वृक्षविशेषौ पक्षिविशेषौ च-उद्योत)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुलत्थ—देवयज्ञ में यह निषिद्ध माना गया है[1]।

कुल्माष[2]—छान्दोग्य उपनिषद् में टीकाकार ने इसे 'कुत्सिताः माषाः' लिखा है। यह एक आहारकल्पना भी है।

कुवल[3]—(देखें कर्कन्धु)

कुश[4]—यह जल के समान पवित्र माना गया है। यह तृणजाति की वनस्पति है। इसका अग्रभाग तीक्ष्ण होता है जिससे क्षत होने पर रक्त निकलने लगता है। इसका आसन आदि भी बनता है। वर्षाऋतु में इसका संग्रह करते हैं। यज्ञ में इसका भूरिशः उपयोग है। सोम का प्रतिनिधिद्रव्य भी इसे माना गया है। पुंसवन के लिए दक्षिण नासापुट में कुशोदक का सेवन कराते हैं (शां० गृ० १।२०।१–५)। उपनयन में मुञ्ज के अभाव में कुश, अश्मन्तक या बल्वज की रशना बनाते हैं। वास्तुपरीक्षा प्रकरण में कहा गया है कि जहाँ कुश, वीरिण प्रभूत हो वह भूमि उत्तम होती है। यह मेधाजनन माना गया है। यह केतु के लिए विशिष्ट समिधा है।

---

१. पा०—४।४।४; आप० श्रौ०—१६।१९।१४; बौ० श्रौ०—२४।५।१६; शं० लि० ध०—१३२;

२. छां० उ०—१।१०।२।७; या०—१।४

३. पा० म०—४।३।१५५

४. मै०—४-५।७; श०—५।३।२।७; १४।१।३।१; ५।२।१।८; का० श्रौ०—२५।४।६; १८।४।२२; बौ० श्रौ०—१०।१; बौ० पि०—२।१; हि० श्रौ०—२९।१।२३; गो० गृ०—१।२।१; काठ० गृ०—१।७।३; पा० गृ०—१।१४।४; २।५।२४; आ० गृ०—२।७।४; १।२२।१९
जै० गृ०—२।९; शं० लि० ध०—१०७; ४१७; बौ० ध०—१।१४।११; ४।५।२५; १।६।३; वि० ध०—४६।२३; ७९।२; वा० ध०—२७।११,१३; अ० प०—१।६।३; २६।५।६–७; २८।१।३; ३०।२।२; २३।१।५; २३।१०।७; २१।१।२; ३८।१।४; ४२।१।५; पा०—३।१।४२; ५।३।१०५; ८।३।९७; पा० म०—१।१।१३; २।४।१२; २।४।१२;
'आपो हि कुशाः'—श० १।३।१।३
'अवच्छितो हि वै पुरुषः। तस्मादस्य यत्रैव क्ष च कुशो वा यद्वा विकृन्तति तत एव लोहितमुत्पतति।'—श० ३।१।२।१६
'यद्यरुणदूर्वा न विन्देयुः, अपि यानेव कांश्चन् हरितान् कुशानभिषुणुयात्'
—श० ४।५।१०।६
'यद्यु औनडकीनं विन्देत् अथो अपि कुशोर्णा एव स्युः'—श० २।५।२।१५
'कुशानामेवमग्रता'—कौ० गृ० ५।१।६
'वैद्यं चरित्रवन्तं ब्राह्मणमुपवेश्य'''कुशरज्जू वा रशने'''नियुनक्ति'—आ० गृ० ४।९।१४
'मुञ्जाभावे कुशाश्मन्तकबल्वजानाम् (रशना)'—पा० गृ० २।५।२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुशर—ऋग्वेद (१।१९१।३) में इसका उल्लेख है। सायण ने लिखा है :—'कुशराः कुत्सितशराः अन्तश्छिद्राः शरसदृशास्तृणविशेषाः' (देखें शर)। बी० मजुमदार इससे इक्षु का ग्रहण करते हैं क्योंकि यह शब्द बंगाल में इक्षु के अर्थ में ही प्रचलित है।

कुषुम्भ (कुसुम्भ)—इसके फूलों से एक प्रकार का रंग निकलता है जिससे वस्त्र रंगे जाते हैं[1]।

कुष्ठ अथर्ववेद में कुष्ठ का विशेष वर्णन मिलता है। ऐसा कहा गया है कि हिमालय के ऊपर एक अमृत का तालाब है वहीं कुष्ठ होता है। नद्यमार, नद्यारिष तथा नद्याय इसके पर्याय हैं। इसे विश्वभेषज भी कहते हैं। यह सामान्यतः सोम के साथ मिलता है। यह विशेषतः तक्मनाशन तथा रक्षोघ्न माना गया है और वातविकार, यक्ष्मा, कासश्वास, नेत्ररोग, शिरोरोग, आम, प्राणविकार, व्यानविकार में तथा रसायन और वाजीकरण के रूप में उपयुक्त हुआ है। पैप्पलाद संहिता में शूलहर तथा विषघ्न भी बतलाया गया है।[2] यह सुगंधित है तथा सर्वौषधि में पठित है।[3] अथर्वपरिशिष्ट में धूप में इसका प्रयोग है। कौशिकसूत्र में गर्भदृंहण भी कहा है।[4] अथर्ववेदीय अनुक्रमणिका (५।४) में यह कुष्ठ

---

१. शां० गृ०—१।११।२; शं० लि० ध०—१८२; आप० ध०—१।७।२०।१२; वि० ध०—७९।१७

२. शौ०—५।४।१–१०; ६।९५।१–३; १९।३९।१–१०
पै०—१।३१।१–४; १।९३।१–४; ७।१०।१–१०; १३।१३।१०; १९।८।१३–१५; १९।११।१–२; १९।१४।१२; २।७७।२; ३।३०।२

३. शां० गृ० (आ०)—१।११।२; अ० प०—३५।१।१४–१५; ३५।२।१–७; ९–११; १७।२।१४; ६।२।२; १।४४।१०; १८।१।१–३

४. कौ० सू०—३५।२१; ३८।९; ३५।१५; २८।१३

यो गिरिष्वजायथा वीरुधां बलवत्तमः। कुष्ठेहि तक्मनाशन तक्मानं नाशयन्नितः।
सुपर्णसुवने गिरौ जातं हिमवतस्परि। धनैरभि श्रुत्वा यन्ति विदुर्हि तक्मनाशनम् ॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत।
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत ॥
हिरण्ययाः पन्थान आसन्नरित्राणि हिरण्यया।
नावो हिरण्ययीरासन् याभिः कुष्ठं निरावहन् ॥
इमं मे कुष्ठ पूरुषं तमा वह तं निष्कुरु। तमु मे अगदं कृधि ॥
देवेभ्यो अधि जातोऽसि सोमस्यासि सखा हितः।
स प्राणाय व्यानाय चक्षुषे मे अस्मै मृड ॥
उदङ् जातो हिमवतः स प्राच्यां नीयसे जनम्।
तत्र कुष्ठस्य नामान्युत्तमानि वि भेजिरे ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

और तक्म का नाशक कहा गया है। केशवपद्धति (३५।२१) में तगर आदि के साथ घी में मिलाकर वशीकरण के लिए लेप विहित है। वहीं २८।१३ में कुष्ठचूर्ण नवनीत में मिलाकर लेप शिरोरोग, राजयक्ष्मा, कुष्ठ तथा सर्वाङ्गवेदना में विहित है।

कुस्तुम्बुरु[1]—

कूदी[2]—यह वशीकरण में निर्दिष्ट है। 'कुदी' या 'कुटी' भी पाठान्तर है। इसे बदरी मानते हैं।

उतमो नाम कुष्ठास्युत्तमो नाम ते पिता। यक्ष्मं च सर्वं नाशय तक्मानं चारसं कृधि॥
शीर्षामयमुपहत्यामक्ष्योस्तन्वोऽ रपः। कुष्ठस्तत् सर्वं निष्करद् दैवं समह वृष्ण्यम्॥
—शौ० ५।४।१–१०

ऐतु देवस्त्रायमाणः कुष्ठो हिमवतस्परि। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा॥
जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा॥
उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान् जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव। नद्यायं पुरुषो रिषत्।
यस्मै परिब्रवीमि त्वा सायंप्रातरथो दिवा॥
त्रिः शाम्बुभ्यो अङ्गिरेभ्यस्त्रिरादित्येभ्यस्परि। त्रिर्जातो विश्वदेवेभ्यः।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
हिरण्ययी नौरचरद्धिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
यत्र नावप्रभ्रंशनं यत्र हिमवतः शिरः। तत्रामृतस्य चक्षणं ततः कुष्ठो अजायत।
स कुष्ठो विश्वभेषजः साकं सोमेन तिष्ठति। तक्मानं सर्वं नाशय सर्वाश्च यातुधान्यः॥
यं त्वा वेद पूर्व इक्ष्वाको यं वा त्वा कुष्ठ काम्यः।
यं वा वसो यमात्स्यस्तेनासि विश्वभेषजः॥
शीर्षलोकं तृतीयकं सदन्दिर्यश्च हायनः। तक्मानं विश्वधावीर्याधराञ्चं परा सुव॥
—शौ० १९।३९।१–१०

'अश्वत्थो देवसदनस्तृतीयस्यामितो दिवि। तत्रामृतस्य चक्षणं देवाः कुष्ठमवन्वत।
हिरण्ययी नौरचरहिरण्यबन्धना दिवि। तत्रामृतस्य पुष्पं देवाः कुष्ठमवन्वत॥
—शौ० ६।९५।१–२

१. ऋ० तं०—४।६।५; पा०—६।१।१४३
२. कौ० सू०—३५।२४; शौ०—५।१९।१२; Ved. ind. i—177

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कूष्माण्ड[1]—तै० आ० (२।७।१; २।८।१) में यह मन्त्रविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। परवर्ती श्रौतसूत्रों तथा धर्मसूत्रों में भी यह इसी अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। विष्णुधर्मसूत्र (७९।१७) में यह शाकविशेष के लिए निर्दिष्ट है।

कृतव्यधनी[2]—

कृमुक[3]—(देखें क्रमुक)

कृष्णक[4]

कृष्णचणक—(देखें चणक)

कृष्णल—गुञ्जा के लिए संभवतः यह शब्द प्रयुक्त हुआ है। यह मान में व्यवहृत होता था। सायण ने यवत्रय-परिमित सुवर्ण को कृष्णल कहा है। शतकृष्णल यज्ञ भी होता था जिसमें सौ कृष्णलों की आहुति दी जाती थी; इससे आयु और तेज की वृद्धि होने का उल्लेख है[5]।

कृष्णा[6]—सायण ने इसका अर्थ इन्द्रवारुणी किया है जबकि कौ० सू० में नीली का ग्रहण है। इसका प्रयोग श्वित्र तथा पलित में है।

कृष्णाजाजी—यह श्राद्ध में वर्ज्य कहा गया है।[7]

कृसर—सर्वबीज में इसकी गणना की गई है[8]।

---

१. बौ० श्रौ०--२।११; वा० श्रौ०—१।४।१।६; बौ० ध०—१।२०।१९; अ० प०—४२।२।१०; ५२।१२।४; ४६।७।४
२. शौ०—५।१४।९; पै०—२।७।१।१; कौ० सू०—३९।११
३. के० प०—२८।२; शौ०—४।६ (सा०)
४. कौ० सू०—८०।२६
५. तै०—२।३।२।२;३; मै०—२।२।२; काठ०—११।४; तै० बा०—१।३।६।७; हि० श्रौ०—३।८।२०; १३।१।६२; २२।४।१;२;३ बौ० श्रौ०—१।११; १३।२३;२४; कौ० सू०—११।१९; ५२।२०; के० प०—११।१९; शौ०—१।९ (सा०); १।३५ (सा०)
६. 'नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥' शौ०—१।२३।१
'कृष्णवर्णे कृष्णवर्णापादिके वा इन्द्रवारुणि'—(सा०)
पै०—१।१६।१; कौ० सू०—२६।२२
७. शं० लि० ध०—२३२
८. गो० गृ०—२।९।७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

केर[1] **(रा)**—इसका अन्य संभावित वैकल्पिक पाठ 'करीर' भी है। दारिल ने इसे सौराष्ट्र में प्रसिद्ध केरापर्णी या पुपरीक (पुण्डरीक ?) माना है तथा केशव ने इसे पटेरक कहा है।

केरु[2]—गुग्गुल के साथ यह पठित है।

केशदृंहणी[3]—यह पर्याय रूप में प्रयुक्त है। (देखें केशवर्धनी और नितत्नी)

केशवर्धनी[4]—पैप्पलाद संहिता में केशवर्धन के अतिरिक्त इसका निर्देश पलित, शीर्ष-रोग, खालित्य, रसायन, जायान्य तथा उदर रोगों में हुआ है।

केशानी[5]—दारिल ने इसका अर्थ प्रसारणी किया है।

केशी[6]—

कोद्रव[7]—यज्ञ में निषिद्ध है।

---

१. कौ० सू०—२८।६; 'केरापर्णीति या सुराष्ट्रे पुवरोकेति (पुंडरीकेति ?)—दा० पटेरकसमिधः—के०

२. वा० श्रौ०—१।६।१।२६

३. शौ०—६।२१।३; ६।१३६।१; पै०—१।३८।३;४

४. पै०—१।३८।१–४; १९।४०।१–१५

इमा यास्तिस्रः पृथिवीस्तासां ह भूमिरुत्तमा।
तासामधि त्वचो अहं भेषजं समु जग्रभम् ॥
श्रेष्ठमसि भेषजानां वसिष्ठं वीरुधानाम्। सोमो भग इव यामेषु देवेषु वरुणो यथा।
रेवतीरनाधृषः सिषासवः सिषासथ। उतस्य केशदृंहणीरथो ह केशवर्धनीः॥
—शौ० ६।२१।१–३

देवो देव्यामधि जाता पृथिव्यामस्योषधे। तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥
दृंह प्रत्नान् जनयाजातान् जातानु वर्षीयसस्कृधि।
यस्ते केशोऽवपद्यते समूलो यश्च वृश्चते। इदं तं विश्वभेषज्याभिषिञ्चामि वीरुधा॥
—शौ० ६।१३६।१–३

यां जमदग्निरखनद् दुहित्रे केशवर्धनीम्। तां वीतहव्य आभरदसितस्य गृहेभ्यः॥
अभीशुना मेया आसन् व्यामेनानुमेयाः।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥
दृंह मूलमाग्रं यच्छ वि मध्यं यामयौषधे।
केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि॥—शौ० ६।१३७।१–३

५. कौ० सू०—३८।९

६. पै०—५।३८।१

७. क० प्र०—१।९।१०; शं० लि० ध०—१३२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोल—(देखें कर्कन्धु)

कोविदार[1]—यह श्लेष्मातक के साथ पापनामा वृक्षों में परिगणित है। इसकी समिधा वर्ज्य मानी गई है।

कोशकारी—पुंसवन कर्म में इसे गर्भिणी के दक्षिण नासापुट में देने का विधान है।[2]

कोशबिला[3]—रजनी के साथ इसका उल्लेख है।

कोशातकी[4]—अन्य द्रव्यों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान मिलता है।

कौवीराल—अथर्वपरिशिष्ट (२६।५।१–५) में इसकी समिधा उच्चाटन कर्म में विहित है।

कौद्दक[5]—उपर्युक्त द्रव्य के समान ही इसका प्रयोग है।

कयाम्बू—ऋग्वेद में यह पठित है। सायण ने इसका अर्थ किया है :—'कियत् प्रमाणमम्बु उदकं यस्मिन् तत् पुष्करिण्यादिकम्' इस प्रकार जल में होनेवाली ओषधियों का यह द्योतक है। तै० आ० (६।४।१) की व्याख्या में सायण ने पुनः लिखा है :—'कियताऽप्यम्बुना युता काचिदोषधिः'—यह शीतवीर्य तथा दाहशामक है।[6] इसकी सूप बनती थी[7]। (देखें कम्बू)

क्रकोष्मा[8]—यह विषघ्न है।

क्रमुक—'क्रमुक' शब्द भी इसके लिए मिलता है। यह सारवान् वृक्षविशेष है जिससे धनुष बनता था। इसीलिए धनुष को 'कार्मुक' कहते हैं। वैदिक संहिताओं में ऐसा उल्लेख मिलता है कि इसमें अग्नि विलीन है। शतपथ ब्राह्मण के अनुसार

---

१. का० श्रौ०—२१।३।२०; गो० गृ०—१।५।१५; पा० गृ०—१।२१; जै० गृ०—१।१; वि० ध०—६१।४; वै० ध०—३।५।८; पा० ग०—४।२।८०; पा० म०—१।२।४५ (कोविदारानाचष्टे)
२. हि० गृ०—२०।१।९
३. शौ०—२०।१३५।२
४. शा० गृ०—१।२३।१ (घोषावती—ना० भा०; देवदाली—रा० प०) पा० ग० ४।१।४१; ४।३।१६७; पा० म०—२।२।३; ५।३।७२
५. अ० प०—२६।५।१–५
६. यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः। कियाम्बवत्र रोहतु पाकदूर्वा व्यल्कशा ॥' —ऋ०—१०।१६।१३; शौ०—१८।३।६; क्याम्बूः ओषधिविशेषः'—सा०
७. हि० श्रौ०—१५।४।२१
८. पै०—९।१०।९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह स्वादु तथा रक्तवर्ण होता है। यज्ञ में इसके धूप बनते थे तथा घृताक्त समिधा दी जाती थी। परवर्ती टीकाकारों ने इसका अर्थ 'काष्ठशकल' किया है। कौशिकसूत्र में इसे सर्पविषघ्न बतलाया गया है।[1] (देखें अपस्कम्भ)

क्लीतक[2]—

क्लीबकरणी[3]—

क्वल—(देखें कर्कन्धु)

क्षवक[4]—

क्षिप्तभेषजी[5]—यह पिप्पली का पर्याय है। सायण ने इसका अर्थ उत्कृष्ट ओषधि तथा क्षिप्त नामक वातरोग-विशेष की ओषधि दोनों किया है।

---

१. 'अग्नेः प्रिया तनूर्यत् क्रमुकः'—मै० ३।१।९; तै०—५।१।९।३; ५ क०—३०।८; काठ०—१९।१०

'तस्मात् स स्वादुः। रसो हि। तस्मादु लोहितः अर्चिर्हि।'—श० ६।६।३।११

'धनुरुपादानभूतो वृक्षविशेषः क्रमुकः; क्रमुको नाम धनुष उपादानभूतः सारवान् वृक्षविशेषः।'—सा०

तै० ब्रा०—१।४।७।३; ष०—४।४

हि० श्रौ०—११।३।५; (क्रमुकमल्पं काष्ठशकलम्—व्या०); १५।६।१० (धनुरादिनिर्लेखनप्रभवाः शकलाः क्रमुकाः तत्रेन्धनार्थे भवति—व्या०); बौ० श्रौ०—१०।१२; १४।२८; वा० श्रौ०—२।१।२।२२—२८; कौ० सू० २८।२

२. 'क्लीतकैः यवैर्माषैर्वाऽऽप्लुतम्'—गो० गृ० १।१०।१०

टीकाकार ने इसे विशेषण मान कर 'क्लिन्न' अर्थ किया है:—'क्लीतकैः उदकक्लिन्नैः'—

३. पै०—१।६८।१-५; २०।२९।४

त्वं वीरुधां श्रेष्ठतमाभिश्रुतास्योषधे। इमं मे अद्य पुरुषं क्लीबमोपशिनं कृधि॥
क्लीबं कृध्योपशिनमथो कुरीरिणं कृधि। अथास्येन्द्रो ग्रावभ्यामुभे भिनत्त्वाण्ड्यौ॥
क्लीब क्लीबं त्वाकरं वध्रे वध्रिं त्वाकरमरसारसं त्वाकरम्।
कुरीरमस्य शीर्षणि कुम्बं चाधिनिदध्मसि॥
ये ते नाड्यौ देवकृते ययोस्तिष्ठति वृष्ण्यम्। ते ते भिनद्मि शम्ययामुष्या अधि मुष्कयोः।
यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना। एवा भिनद्मि ते शेपो मुष्या अधि मुष्कयोः॥
—शौ० ६।१३८।१-५

४. पा० उ० सो०—२।२।७

५. 'पिप्पली क्षिप्तभेषजी'—शौ० ६।१०९।१ ; पै०—१९।२७।९; २०।५।१८

'क्षिप्तानि तिरस्कृतानि अन्यानि भेषजानि यया सा; यद्वा क्षिप्तस्य वातरोगविशेषस्य भेषजी निवर्त्तिका'—(सा०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

क्षीरिणी[1]—यह दुग्धमय ओषधियों के विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है।

क्षुमा[2]—

क्षुम्प[3]—

क्षेत्रियनाशनी[4]—शौनकीय संहिता में यह वीरुत् क्षेत्रियरोग की नाशनी कही गई है। पैप्पलाद संहिता में यह इसके अतिरिक्त हृदयशूलहर, रक्षोघ्न, केशवर्धन, बल्य तथा हरिमा तथा शीर्षरोग में लाभकर बतलाई गई है।

खड(डा)[5]—यह तृणविशेष के रूप में कथित है।

खदिर[6]—यह यज्ञिय वृक्षों में प्रमुख है। विबाध इसका पर्याय है। इसका सारभाग

---

१. का० श्रौ०—२५।७।१६; हि० श्रौ०—२९।१।४;—बौ० पि०—१।६।२; कौ० सू०—३१।२२

२. पा० उ० भो०—२।२।४२

३. कौ०—२।६९३; जै०—३।५६।२०; शौ०—२०।६३।५
'क्षुम्पमहिच्छत्रकं भवति'—या०—५।१६; अ० प०—४८।११५;
'कदा मर्तमराधसं पदा क्षुम्पमिव स्फुरत्। कदा नः शुश्रवद्गिर इन्द्रो अंग॥'
—ऋ० १।८४।८
'क्षुम्पमिव अहिच्छत्रकमिव', 'अहिच्छत्रं मण्डलाकारेण शयानम्'—सा०

४. उदगातां भगवती विचृतौ नाम तारके। वि क्षेत्रियस्य मुञ्चतामधमं पाशमुत्तमम्॥
अपेयं रात्र्युच्छत्वपोच्छन्त्वभिकृत्वरीः। वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥
बभ्रोरर्जुनकाण्डस्य यवस्य ते पलाल्या तिलस्य तिलपिञ्ज्या।
वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥
नमस्ते लाङ्गलेभ्यो नम ईषायुगेभ्यः। वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥
नमः सनिस्रसाक्षेभ्यो नमः संदेश्येभ्यः।
नमः क्षेत्रस्य पतये वीरुत् क्षेत्रियनाशन्यप क्षेत्रियमुच्छतु॥ शौ०—२।८।१-५
पै०—१।९९।१-४; १९।३५।७-१०

५. पा० ग०—४।२।८६

६. 'अभिव्ययस्व खदिरस्य सारभोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्'—ऋ०—३।५३।१९
'सारेण हि आणिः क्रियते'—सा०
मै०—३।९।३; तै०—३।५।७।१; खि०—३।१६।८; ४।७४;५; ५।१५।१४
शौ०—३।६।१-८-५।५।५; ८।८।३; १०।६।६-१०; २०।१३१।१४ (अश्वत्थ; खदिरो धवः)
पै०—२।५८।१-६; ३।३।१; ५।९।१; ६।४।४; १०।३।२; १६।२९।४; १६।४२।६-८;१६।४३।१-२
२०।६१।३
श०—३।६।२।१२; १३।४।४।९; ऐ० ब्रा०—२।१; जै० ब्रा०—२।२७४; शां० आ०—१२।८;
तै० आ०—५।२।४; पा०—८।४।५; पा० म०—१।१।१; २।१।१; ५।१।९;१२
"भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुत ठोस एवं बलवान् होता है जिससे रथ की आणि बनती थी। शतपथ ब्राह्मण में उल्लेख है कि यह अस्थि के समान दृढ होता है; यज्ञ में खदिर के

भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥''—शौ०—५।५।५
'अमूनश्वत्थ निःशृणीहि खादामून् खदिराजिरम्'—शौ०—८।८।३
'खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले भवतः'—पा० म०—१।१।१
'खदिरबुर्बुरौ गौरकाण्डौ सूक्ष्मपर्णौ, ततः पश्चादाह कङ्कटवान् खदिर इति'—
'तेनासौ विशेषैण द्रव्यान्तरं समुदायं प्रतिपद्यते'—पा० म०—१।१।४५
'बले शालसारः, खदिरसारः'—पा० म०—३।३।१७

का० श्रौ०—१।३।२३;२४; २।८।१; ६।१।९;१०; ८।३।१२; १२।५।२; १५।७।१; २०।४।१९

बौ० श्रौ०—९।१; ११।१; १३।२१; आप० श्रौ०—१।२।२९;३०; ११।५।१०; ७।१।१६

हि० श्रौ०—३।७।१५; ११।१।११; १३।१।७; १३।६।१७; १४।२।४०; १४।३।२; २२।५।१; २४।२।५

वा० श्रौ०—१।२।१।३०; १।२।४।२; १।३।१।३१; १।६।१।५; ३।१।१।१३; द्रा० श्रौ०—५।२।२
गो० गृ०—१।५।१४; कौ० गृ०-२।६।९; बौ० गृ०-१।३।१३; १।१६।४९; मा० गृ०-२।६।४
कर्म० प्र०—१।८।१२; या० शि०—३४; मा० शि०—४।१; निसू०—१।११।७
कौ० सू०—१६।१४; १९।२२; २५।२३;२४; ४७।५१; ४८।१; ५१।१; के० प०—४८।१; २५।२३; १९।२२, २३

अ० प०—२१।३।१; २३।६।२; ५; २७।१।३; ३१।९।४; ३६।२।४-५; ३६।१६।१; ३६।७।१-३;

वि० ध०—२७।२१; ६१।१४; शं० लि० ध०—३६ (१) पा० ग०—६।३।११९
'इतरवृक्षेभ्यः खदिरस्य अतिशयितसारत्वेन'—सा० (शौ० ३।६।१) 'विविधं बाधते कण्टकैः इति विबाधः'—सा० (शौ० ३।६।२)
अरातीयोर्भ्रातृव्यस्य दुर्हार्दो द्विषतः शिरः। अपि वृश्चाम्योजसा ॥
वर्म मह्यमयं मणिः फालाज्जातः करिष्यति। पूर्णो मन्थेन मागमद्रसेन सह वर्चसा ॥
यत्त्वा शिक्वः परावधीत्तक्षा हस्तेन वास्या।
आपस्त्वा तस्माज्जीवलाः पुनन्तु शुचयः शुचिम् ॥
हिरण्यस्रगयं मणिः श्रद्धां यज्ञं महो दधत्। गृहे वसतु नोऽतिथिः ॥
तस्मै घृतं सुरां मध्वन्नमन्नं क्षदामहे।
स नः पितेव पुत्रेभ्यः श्रेयः श्रेयश्चिकित्सतु भूयोभूयः श्वः श्वो देवेभ्यो मणिरेत्य ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमग्निः प्रत्यमुञ्चत सो अस्मै दुह आज्यं भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद् बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तमिन्द्रः प्रत्यमुञ्चतौजसे वीर्याय कम्।
सो अस्मै बलमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यूप बाहर की ओर तथा बिल्व के यूप भीतर की ओर होते हैं जिस प्रकार अस्थि बाहर तथा उसके भीतर मज्जा होती है। इसके अतिरिक्त इससे स्रुव, स्फ्य, शंकु,

---

तं सोमः प्रत्यमुञ्चत महे श्रोत्राय चक्षसे।
सो अस्मै वर्च इद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फालं घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं सूर्यं प्रत्यमुञ्चत तेनेमा अजयद्दिशः।
सो अस्मै भूतिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्मणिं फाले घृतश्चुतमुग्रं खदिरमोजसे।
तं बिभ्रच्चन्द्रमा मणिमसुराणां पुरोऽजयद्दानवानां हिरण्ययीः।
सो अस्मै श्रियमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे।
सो अस्मै वाजिनं दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तेनेमां मणिना कृषिमश्विनावभि रक्षतः।
स भिषग्भ्यां महो दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं बिभ्रत्सविता मणिं तेनेदमजयत्स्वः।
सो अस्मै सूनृतां दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमापो बिभ्रतीर्मणिं सदा धावन्त्यक्षिताः।
स आभ्योऽमृतमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं राजा वरुणो मणिं प्रत्यमुञ्चत शंभुवम् ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तं देवा बिभ्रतो मणिं सर्वाल्लोकान्युधाजयन्।
स एभ्यो जितिमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्वाताय मणिमाशवे। तमिमं देवता मणिं प्रत्यमुञ्चन्त शंभुवम्।
स आभ्यो विश्वमिद् दुहे भूयोभूयः श्वः श्वस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
ऋतवस्तमबध्नतार्तवास्तमबध्नत। संवत्सरस्तं बद्ध्वा सर्वं भूतं वि रक्षति ॥
अन्तर्देशा अबध्नत प्रदिशस्तमबध्नत। प्रजापतिसृष्टो मणिर्द्विषतो मेऽधराँ अकः ॥
अथर्वाणो अबध्नत अथर्वणा अबध्नत।
तैर्मेदिनो अङ्गिरसो दस्यूनां बिभिदुः पुरस्तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
तं धाता प्रत्यमुञ्चत स भूतं व्यकल्पयत। तेन त्वं द्विषतो जहि ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्। स मायं मणिरागमद्रसेन सह वर्चसा ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सह गोभिरजाविभिरन्नेन प्रजया सह ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमत्सह व्रीहियवाभ्यां महसा भूत्या सह ॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमन्मधोर्घृतस्य धारया कीलालेन मणिः सह ॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अश्रि, वितृणी तथा अन्य पात्र बनते थे। इसकी आसन्दी बनती थी तथा इसका काष्ठ इन्धन के काम में भी आता था। यह धव, अश्वत्थ आदि वृक्षों के साथ जंगलों में होता है। इसके वृक्ष में कण्टक होते हैं। इसकी कोमल टहनियों से दातून की जाती हैं। इसके वृक्ष पर लाक्षा लगती है। खदिरसार की मणि बाँधने का निर्देश मिलता है जिससे मनुष्य खदिरसारवत् दृढ होता है। पैप्पलाद संहिता में इसका प्रयोग किलास तथा विष में है।

खर्जूर[1]—वैदिक संहिताओं में इसे शीर्षवत् बतलाया है। इसके सक्तु का प्रयोग यज्ञों में विहित है।

खलकुल[2]—शंकराचार्य ने इससे कुलत्थ का ग्रहण किया है।

खलतुलपर्णी[3]—दारिल ने इसे 'काचमादनी' लिखा है। इसका प्रयोग सर्पविष में किया गया है।

यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्।
स मायं मणिरागमदूर्जया पयसा सह द्रविणेन श्रिया सह॥
यमबध्नाद्बृहस्पतिर्देवेभ्यो असुरक्षितिम्। स मायं मणिरागमत्सर्वाभिर्भूतिभिः सह॥
तमिमं देवता मणिं मह्यं ददतु पुष्टये। अभिभुं क्षत्रवर्धनं सपत्नदम्भनं मणिम्॥
ब्रह्मणा तेजसा सह प्रति मुञ्चामि मे शिवम्।
असपत्नः सपत्नहा सपत्नान्मेऽधराँ अकः॥
उत्तरं द्विषतो मामयं मणिः कृणोतु देवजाः।
यस्य लोका इमे त्रयः पयो दुग्धमुपासते।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥
यं देवाः पितरो मनुष्या उपजीवन्ति सर्वदा।
स मायमधि रोहतु मणिः श्रैष्ठ्याय मूर्धतः॥
यथा बीजमुर्वरायां कृष्टे फालेन रोहति। एवा मयि प्रजा पशवोऽन्नमन्नं वि रोहतु॥
यस्मै त्वा यज्ञवर्धन मणे प्रत्यमुचं शिवम्।
तं त्वं शतदक्षिण मणे श्रैष्ठ्याय जिन्वतात्॥
एतमिध्मं समाहितं जुषाणो अग्ने प्रति हर्य होमैः।
तस्मिन्विदेम सुमतिं स्वस्ति प्रजां चक्षुः पशून्त्समिद्धे जातवेदसि ब्रह्मणा॥

—शौ०—१०।६।१-३५

१. काठ०—९।१०; ३६।७; तै०—२।४।९।२
पा० ग०—४।१।११०; हि० श्रौ०—२२।६।६; शां० गृ०—१।११।२ (फलोत्तम—भा०)
'इन्द्रो वै यतीन् सालावृकेभ्यः प्रायच्छत्तेषां वा एतानि शीर्षाणि यत् खर्जूराः'-मै० १।१०।१२
२. बृ० उ०—६।३।१३; कौ० सू०—८२।१८
३. कौ० सू०—२९।१५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

खल्व[1]—यह दृषद में पीसे जाते थे। सायण तथा शंकर ने इससे निष्पाव का ग्रहण किया है किन्तु महीधर इससे चणक लेते हैं। वेवर इससे Phaseolus radiatus लेते हैं।

गन्धवृक्ष[2]—जै० गृ० (२।५।१३) में 'गन्धौषधि' है।

गभीका[3]—यह वृक्षविशेष है।

गर्मुत्[4]—यज्ञ में इसका चरु वनता था। इसके दाने अण्डाकार होते हैं।

गर्ह्य[5]—शान्तवृक्षों में परिगणित है।

गलावल[6]—यह भी शान्तवृक्षों में है तथा हिमालय प्रदेश में होता है।

गवादनी[7]—(इन्द्रवारुणी)

गवेधुका—इसके लिए 'गवेधुक', 'गवीधुक' तथा 'गवीधुका' शब्द भी प्रयुक्त होते हैं। यह एक प्रकार का धान्य है जिसका चरु बनता था। इसके यवागू तथा सत्तु का भी निर्देश है। इसका चरु रुद्र के निमित्त दिया जाता था। व्याधि होने पर इसके चरु के होम का विधान है (शां० गृ० ४।१९।२) इसका कारण संभवतः रुद्र का ज्वर से संबन्ध है। इससे यह भी प्रतीत होता है कि रोगियों को इसका यवागू दिया जाता था[8]।

---

१. मा०—१८।१२; बृ० उ०—६।३।१३ (खल्वा निष्पावाः वल्लशब्दवाच्याः लोके—शांकर) 'सर्वान् नि मष्मषाकरं दृषदा खल्वाँ इव'—शौ० ५।२३।८
Ved. Pl. 652; Ved. ind. 1-215.

२. बृ० जा०—३।२७

३. पा० ग०—४।३।१६७ (गर्गरिका इति पाका०)

४. तै०—२।४।४।१-२; गर्मुत्संज्ञकमकृष्टपच्यमरण्यमुद्गरूपं धान्यम्' 'तस्मादेतदाण्डमिव'—सा० मै०—२।२।४; काठ०—१०।११; बौ० श्रौ०—३।२६;·पा० म०—१।१।७२
'Wild bean—Ved. ind. i-222; Ved. Pl. 650.

५. कौ० सू०—८।१५ 'गर्ह्यो वेषम्'—दा०

६. कौ० सू०—८।१५ 'गलावलः हिमवति'—दा०

७. पा० ग०—४।१।४१

८. तै०—१।८।७।१; १।८।९।१-२; मै०—२।६।३;५;६; ४।३।८; काठ०—१५।१;४; मा०—१५।५
श०—५।२।४।१३; ५।३।१।१०; ५।३।३।७; ९।१।१।८; १४।१।२।१९
तै० ब्रा०—१।७।३।४; हि० श्रौ०—१२।३।४; बौ० श्रौ०—१०।४७
वा० श्रौ०—२।२।३।२; पा० म०—४।३।१३५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुल्गुलु[1]—वैदिक संहिताओं में इसमें अग्नि का स्थान बतलाया गया है तथा इसे मांसवत् कहा गया है। यह सुगंधित द्रव्य है जिसका यज्ञ में तथा धूप के लिए प्रयोग होता था। अथर्ववेद में लिखा है कि इसकी सुगंध जहाँ तक फैलती है वहाँ तक यक्ष्मा आदि रोग नष्ट हो जाते हैं। यह रक्षोघ्न भी कहा गया है। सायण ने इसका परिचय 'प्रसिद्धं धूपसाधनम्' दिया है। श्रौतसूत्रों में गौल्गुलव (गुग्गुलु-पक्व) घृत से अश्वमेध यज्ञ में अश्व का अभ्यंग करते थे। गायों को 'गुल्गुलुगन्धि' कहा गया है, संभवतः उनमें भी इस अभ्यंग का प्रयोग होता हो[2]। गौ के रोगों में भी इसका प्रयोग होता है (शौ० २।२६—सा०)।

गुडूची—सर्प-वृश्चिक-भय की निवृत्ति के लिए इसे घर में रखने का विधान है। (शौ० ६।५६—सा०)

---

१. काठ०—२५।६; तै०—६।२।८।६
शौ०—४।३७।३; १९।३८।१-३; २।२६ (सा०)
पै०—२।२०।२; २।२१।६; ७।११।९; ५३।४।३; १९।२४।१-३
का० श्रौ०—५।४।१५; १३।३।२३; २४।३।९-१०; हि० श्रौ०—१४।३।२२; १६।६।४१; १८।३।३; बौ० श्रौ०—४।१; १५।२५; १६।२२; आप० श्रौ०—७।२।५।१;
वा० श्रौ०—३।४।३।४४; १।६।१।२६; मा० गृ०—२।१४।२३; शं० लि० ध०—१९७;
वै० ध०—२।४।१-२; वि० ध० ६३।५; ७९।१०; शौ० बृ०—७।७८;
कौ० सू०—१९।१९; २०।२; ३४।१४; अ० प०—६।२।२; १७।२।१४; १९।२।२; ३३।७।१;
६६।२।२-३; पा० वा०—४।३।७१
'यानि वा अदो अग्निरस्थान्यधूनुत स पूतद्रुरभवत् यन्मासं तत् गुग्गुल यत् पूयितमुप-श्लिष्टं स सुगन्धितेजनो'—मै०—३।८।५
'तस्य यन्मांसमासीत्तद् गुग्गुलवभवद् यदस्थि स पीतुदारुर्यानि लोमानि स सुगन्धि-तेजनः'—क०—२९।४
'इदं हिरण्यं गुल्गुल्वयमौक्षो अथो भगः। एते पतिभ्यस्त्वामदुः प्रतिकामाय वेत्तवे ॥'
—शौ० १९।३८।१
'न तं यक्ष्मा अरुन्धते नैनं शपथो अश्नुते। यं भेषजस्य गुल्गुलोः सुरभिगन्धो अश्नुते॥
—शौ० १९।३८।१
'विष्वञ्चस्तस्माद् यक्ष्मा मृगा अश्वा इवेरते। यत् गुल्गुलु सैन्धवं यद् वाप्यासि समुद्रियम् ॥ उभयोरग्रभं नामास्मा अरिष्टतातये।'—शौ०—१९।३८।२
'गुग्गुलु प्रसिद्धं धूपसाधनम्'—ऐ० ब्रा०—१।२८ (सा०)
'धूपसाधनविवासहेतुः गुग्गुलुः प्रसिद्धः'—तां २४।१३।४ (सा०)
'एतानि वै देवसुरभीणि'—तां०—२४।१३।५

२. पा० उ० भो०—३।२।८०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गुन्द्र[1]—

गुवाक[2]—

गृञ्जन[3]—पलाण्डु और लशुन के साथ निषिद्ध भक्ष्यों में इसका उल्लेख है। इसे खा लेने पर चान्द्रायण व्रत करने का विधान है।

गोधूम[4]—तैत्तिरीय संहिता आदि में अन्य धान्यों के साथ इसका उल्लेख है। सायण ने लिखा है कि लोक में यव और व्रीहि की अपेक्षा गोधूम प्रशस्त माना गया है। यज्ञकार्यों में इसके चूर्ण तथा सक्तु का प्रयोग है; अपूप, मण्डक आदि भी इसके बनते थे।

गौरसर्षप[5]—(देखें आवय और बज)

ग्रु[6]—(दर्भ)

घृताची[7]—ऋग्वेद में भी यह शब्द आया है। प्राचीन संहिताओं में यह एक

---

१. पा० उ० भो०—२।३।३०

२. पा० उ० भो० वृ०—२।२।१४

३. पा० उ० भो०—२।२।१९२; वा० ध०—१४।३३; वै० ध०—२।१५।५; ३।५।८; शं० लि० ध०—३४०; ४१८

४. पै०—९।११।१२; मा०—१८।१२; १९।२२; ८९; २१।१९; का०—१९।४।४; २१।२।११; २१।६।१०; २३।४।१
तै०—४।७।४।२; मै०—१।१।१।८; २।११।४; ३।११।२;९ काठ०—१४।८; १८।९; ३८।३;
क०—२८।९; श०—५।२।१।६; १२, १३८ १२।७।१।२; १२।७।२।९; १२।९।१।५; १४।९।३।२२;
तै० ब्रा०—१।३।७।२; २।६।४।४; २।६।१।११; बृ० उ०—६।३।२२
का० श्रौ०—१९।२।१६; हि० श्रौ०—२३।१।१६; २५; वा० श्रौ०—३।२।७।६३; काठ० गृ०—५।१६।१;
क० प्र०—३३; वि० ध०—५१।३५; ८०।१; शं० लि० ध०—१४६; कौ० सू०—८।२०;
अ० प०—१२।१।३-६; ७०।१६-९

५. हि० श्रौ०—२७।५।७३; द्रा० गृ०—१४।६; बौ० पि०—३।४; वा० ध०—३।५५;
शं० लि० ध०—३४५; बौ० ध०—१।८।३०-३४
आप० ध०—२।८।१९।१; अ० प०—१।३१।४; १४३।६;१०; ३०।२।७; ३३।५।८;

६. बौ० श्रौ०—९।१३;१६; १०।५०

७. ऋ०—१।१६७।३; ३।६।१; ४।६।३;
मै०—२।८।१०; क०—२६।८; तै०—४।४।३।२; श०—१।३।४।१४
'भूमिर्माता नभः पितार्यमा ते पितामहः। घृताची नाम वा असि सा देवानामसि स्वसा॥—खि० -४।७।१
'तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि। अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम्॥
—शौ० १०।४।२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अप्सरा का नाम है। खिलस्थान तथा अथर्ववेद में यह लाक्षा का एक पर्याय है। शतपथ ब्राह्मण में 'जुहू' (ऊर्ध्वस्रुक्) का पर्याय है।

चक्रमर्दक[1]—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है।

चक्राङ्किता[2]—

चणक[3]—अरुषी, उदर और गण्डुलक (कृमिरोग) की चिकित्सा में कृष्ण चणक के होम का विधान है (के० प० २७।१४–१८)। गौ के कृमिरोग में भी उपर्युक्त विधान है।

चतुरङ्गुल[4]—यह परिमाणबोधक विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में इसी प्रकरण में 'चीपुद्रु' का भी उल्लेख हुआ है (देखें चीपुद्रु)

चतुष्कोण वनस्पति[5]—

चन्दन[6]—यह सुरभिद्रव्यों में है, इसका अनुलेपन के रूप में प्रयोग है। चान्दन मणि का धारण भी विहित है जो वर्चस्य तथा आयुष्य कहा गया है।

चम्पक[7]—शां० गृ० (१।११।२) के भाष्य में हेमाद्रि से एक श्लोक उद्धृत है जिसमें सर्वौषधि के अन्तर्गत इसका उल्लेख है।

---

१. पा० गृ०—१।२१

२. पा० गृ०—१।२१

३. मा०—१८।१२; शं० लि० ध०—१३२, शौ०—२।३१ (सा०); २।३२ (सा०)
डा० पी० के गोडे इसका मूल उद्भव यूनान और इटली मानते हैं :—
"Presuming that Southern Europe comprising greece and Italy was the native habitat of चणक from which it was taken to Egypt and further to India by Western Aryans".
—Studies in Indian Cultural History, Vol. I, page 216.

४. कौ० सू०—१३।११; २६।२४ (पलाशस्य चतुरंगुलेनालिम्पति); शौ०—६।१२७।१–३

५. मा० गृ०—२।६।४

६. सा०—३।१।३; आप० गृ०—५।१२।८; हि० गृ०—२०।३।१९; १९।३।२४; २६; शां० गृ०—१।११।२ (भा०); शं० लि० ध०—१२८; आप० ध०—१।७।२०।१२; वि० ध०—६६।२; ७९।११; अ० प०—१४५।२; ५।१।५; ९।२।१; १८।३।१–३; १९।३।१,२; २१।१।४; २१।३।३; ३६।१५।१; ६६।२।२–३; ६८।१।३०–३३
'चन्दनमित्यप्यस्य भवति। चारु द्रमति चिरं द्रमति। चमेर्वा पूर्वम्। चारु रुचेर्विपरीतस्य।'—या० ११।५; पा० म०—४।२।६५ (चान्दनगन्धिकः);
'घृतस्य तीव्रो गन्धः चन्दनस्य मृदुः'—पा० म०—२।२।८

७. अ० प०—२६।५।१–५; पा० म०—२।१।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चिति(त्ति)[१]—यह दुःस्वप्ननाशन कहा गया है। कौशिकसूत्र में यह शान्तवृक्षों में परिगणित है। उदरतुण्ड तथा रक्षोग्रह में इससे अवसेचन का विधान है (के० प० ३०।११; ३१।८)

चित्रक[२]—वर्ज्य शाकों में पठित है।

चित्रपर्णी[३]—यह गर्भरक्षा के लिए प्रयुक्त है। (देखें पृश्निपर्णी)

चीपुद्रु[४]—यह विद्रधि, बलास, रक्तपित्त, विसर्प तथा हृद्रोग की ओषधि कही गई है। 'शीपुद्रु' इसका पाठान्तर है। विद्वानों का मत है कि 'चीपुद्रु' शुद्ध रूप है।

चुपुणीका[५]—

चेतन्ती[६]—

च्युकाकर्णी[७]—यह रक्षोघ्न, क्रिमिघ्न तथा विषघ्न वीरुध् कही गई है।

छत्राक[८]—

जङ्गिड[९]—इस द्रव्य का वर्णन केवल अथर्ववेद में मिलता है। इसके मणिधारण का विधान है। यह आयुष्य, शोथनाशक, रक्षोघ्न कहा गया है· आशरीक, विशरीक,

---

१. पै०—२।३७।१; कौ० सू०—८।१६
२. वैं० ध०—३।५।८
३. शौ०—२।२५।१ (सा०)
४. अ० प्रा०—३।४।१
विद्रधस्य बलासस्य लोहितस्य वनस्पते। विसल्पकस्योषधे मोच्छिषः पिशितंचन ॥
यौ ते बलास तिष्ठतः कक्षे मुष्कावपश्रितौ। वेदाहं तस्य भेषजं चीपुद्रुरभिचक्षणम् ॥
यो अङ्ग्यो यः कर्ण्यो यो अक्ष्योर्विसल्पकः। वि वृहामो विसल्पकं विद्रधं हृदयामयम् ॥
परा तमज्ञातं यक्ष्ममधराञ्चं सुवामसि ॥—शौ० ६।१२७।१-३
'चीपुद्रः एतत्संज्ञको द्रुमविशेषः'—सा०
Ved. ind. —I-262; II-383.
५. तै० प्रा०—२।१३।११
६. पै०—१।२९।४; १।७९।३
७. पै०—५।३।१-८
८. आग्नि० गृ०—२।५।२।४; बौ० गृ०—३।६।१; शां० लि० ध०—४१८
९. शौ०—२।४।१-६; (जङ्गिडः वृक्षविशेषो वाराणस्यां प्रसिद्धः—सा०)
१९।३४।१-१०; १९।३५।१-५; (जङ्गिडो नाम कश्चिद् ओषधिविशेषः, स च उत्तरदेशे प्रसिद्धः—सा०)
'आशरीकं विशरीकं बलासं पृष्ट्यामयम्। तक्मानं विश्वशारदमरसां जङ्गिडस्करत् ॥'
—शौ० १९।३४।१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विष्कन्ध, बलास, पृष्ठ्यामय और तक्मरोग में प्रयुक्त हुआ है। विष्कन्धदूषण, सहस्रवीर्य, विश्वभेषज, कृत्यादूषि, सहस्वान् आदि इसके पर्याय हैं। सायण ने इसे वाराणसी में प्रसिद्ध वृक्षविशेष कहा गया है। पैप्पलाद शाखा में यह आरण्य (Wild) तथा कृष्य (Cultivated) दो प्रकार का कहा गया है। दारिल ने इसे अर्जुन कहा है जिसे दाक्षिणात्य लोग अचल कहते हैं। कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में पठित है। कैलण्ड भी इससे Terminalia arjuna लेते हैं।

जतु[1]—(देखें लाक्षा)

जपा[2]—इसके रक्तवर्ण पुष्पों का निर्देश है।

जम्बीर[3] (ल)—

जम्बू[4]—कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में यह परिगणित है।

जयन्ती[5]—पुष्याभिषेक-प्रकरण में इसका उल्लेख हुआ है।

जर्तिल[6]—यह संभवतः वन्य तिल है। इसके यवागू का भी निर्देश है।

जलाषभेषज[7]—निघण्टु में जलाष जल तथा सुख का पर्याय है। अथर्ववेद (शौ०)

'शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभि रक्षताम्।
अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥—पै० २।४।५
पै०—२।११।१-५; ४।१८।१-७; ११।३।१-१०; ११।४।१-५
अ० अ०—२।४; १९।३४; अ० शां०—१९।६; कौ० सू०—८।१५; ४२।२३
(जङ्गिडोऽर्जुनः अचल इति दाक्षिणात्यः)
Ved. ind.—I-268; II-314; Ved. Pl.—651,

१. पा०—४।३।१३८; पा० वा०—४।१।७१
पा० म०—१।१।४६; ४।१।७१; ६।१।६९; ८५; ९१; ३।१।४६

२. जै० गृ०—१।१; या० शि०—२१६ (यादृशी रक्तवर्णाभा जपायाः कुसुमेऽथवा। तादृशं रञ्जयेद् वर्णम्)

३. मै०—३।१५।३; सा०—२५ ३; काठ०—५।१२।१; पा० उ० को०—२।३।५०

४. पा०—४।३।१६५; पा० ग०—४।२।८०; ८२; शां० लि० ध०—२३२
शां० गृ०—१।११।२; (भा०—फलोत्तम); कौ० सू०—८।१५; पा० म०—२।४।७

५. अ० प०—५।१।५

६. काठ०—२१।६; क०—३१।२१; तै०—५।४।३।२; श०—९।१।१।३; हि० श्रौ०—१२।३।४
'Wild Sesamum'—Ved. ind. i-279

७. ऋ०—१।४३।४; ८।२९।५; शौ०—२।२७।६; पै०—२।१६।४; १९।१०।३-४; २०।५६।२; १४।२।३ (जलाषभेषजी); १५।२०।१-१०; अ० प०—३२।१।१७; निघ०—१।१२; ३।६ 'रोगापनयनेन सुखकरभैषज्यवान्' (सा०; ऋ० ८।२९।५); कौ० सू०—३१।११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

में सायण ने इसकी निरुक्ति की है :—'जायन्ते इति जाः। जानां लाषो यस्मिन् तज्जलाषं सुखम्।' रुद्र को भी जलाषभेषज कहा गया है क्योंकि वह रोग दूर कर सुख देनेवाले हैं। प्रकरण के अनुसार शर को भी जलाषभेषज कह सकते हैं क्योंकि यह जलीय ओषधि है तथा मूत्रल रूप में वर्णित है[1]।

जाती—[2]मूलविधि-प्रकरण में इसका उल्लेख है।

जातीफल[3]—चन्दन आदि के साथ अनुलेपन में इसका प्रयोग है।

जाल्य[4]—

जीवन्त[5]—

जीवन्ती[6]—ऋग्वेद तथा यजुर्वेद में विशेषण रूप में प्रयुक्त हुआ है। अथर्ववेद में इसके सम्बन्ध में सायण का कथन है कि यह पाठा का विशेषण है या स्वतन्त्र ओषधि भी हो सकती है। वेदाङ्ग-वाङ्मय में स्पष्ट इससे तन्नामक विशिष्ट ओषधि का ग्रहण किया गया है। केशवृद्धि के लिए इसके फल का मणिबन्धन विहित है (के० प० ३१।२८)

जीवला[7]—सायण ने इससे कहीं सहदेवी और कहीं पाठा का ग्रहण किया है। (देखें जीवन्ती और पाठा)

---

१. शर को मगध की लोकभाषा में 'झलासी' कहते भी हैं जो 'जलाष' का ही अपभ्रंश प्रतीत होता है। उस प्रदेश में अथर्ववेदीय परम्परा की बहुलता का भी यह द्योतक है।

२. पा० गृ०—१।२१

३. शं० लि० ध०—१२८; वि० ध०—६६।२

४. पै०—९।१०।१०

५. 'जीवला नाम ते माता जीवन्तो नाम ते पिता'—शौ० १९।३९।३ (जीवयतीति जीवन्तः—सा०)

६. ऋ०—५।७८।९; काठ०—१।३; ३१।२; क०—४७।२; तै०—३।४।३।५; शौ०—३।१४।६; ८।२।६; ८।७।६; पै०—२।१३।३; १६।३।६; १६।१२।६; १९।५२।८; श०—११।४।३।२; पा० गृ० १।२१;

'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये॥'—शौ० ८।२।६

'स्वयं जीवन्तीं; कदाचिदपि अशुष्काम् इत्यर्थः अथवा सजीवाम् ; एवं महिमोपेतां ओषधीं पाठाख्यां, अथवा जीवलादयः प्रत्येकं ओषधिविशेषाः'—सा०

७. शौ०—६।५९।३; ८।२।६; ८।७।६; १०।६।३; १२।३।२५; १९।३९।३; १९।६९।४ पै०—१।९३।२; ७।१०।३; ८।७।११; १३।१३।१०; १५।१६।३; १६।३।६; १६।१२।६; १७।३८।६; १९।१४।१२; १९।५४।१४; अ० अ०—१९।३९; १९।६९; अ० प्राय०—६।६

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जीवी—कौशिकसूत्र (३१।२८) में 'जीव्यलाका' शब्द आया है। कुछ विद्वान् इससे एक ओषधि तथा कुछ 'जीवी + अलाका' मान कर दो ओषधियों का ग्रहण करते हैं। केशदोष में इसका प्रयोग होता है। दारिल तथा केशव ने इससे काकमाची का ग्रहण किया है।

ज्येष्ठीमधु[1]—(देखें मधुक)—

वृश्चिकदंश में इसे पीसकर पिलाने का विधान है। स्त्रीवशीकरण तथा विवाद में विजय के लिए भी इसका प्रयोग है।

तगर[2]—उशीर, कुष्ठ आदि सुगंधित द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है। केशवपद्धति में इसका घी के साथ लेप स्त्रीवशीकरण के लिए विहित है। परसेनात्रासन—विद्वेषण-कर्म के लिए वाद्ययंत्रों पर तगर और उशीर का लेपकर बजाने का विधान है[3]।

तण्डुलीयक[4]—श्राद्ध में निषिद्ध शाकों में पठित है।

तमाल[5]—उपनयन में इसकी मेखला का भी विधान है। टीकाकार ने इसे 'मूलोदक-संज्ञो वृक्षः' लिखा है।

तरुणक[6]—

तलाशा (श)[7]—यह वृक्षों में श्रेष्ठ माना गया है। शान्तवृक्षों में भी परिगणित है। इसका मणिबन्ध विहित है (के० प० १९।२६)। इससे तालीश का ग्रहण करते हैं।

'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये ॥'
—शौ० ८।७।६

१. के० प०—३२।५; ('वृश्चिकभैषज्यम्—ज्येष्ठीमधु पिष्ठाभिमन्त्र्य पाययति') ३५।२१; ३८।१७

२. कौ० सू०—१६।१; अ० प०—१४३।४;३५।१।१४–१५;३५।२।१–७;९–११; के० प०—३५।२१

३. तुलना करें—सुश्रुतसंहिता, दुन्दुभिस्वनीय अध्याय।

४. वि० ध०—७९।१७;

५. पा० ग०—२।४।२१; ४।२।८०; ५।२।१३५; जै० गृ०—१।१२; आप० ध०—१।१।२।३७; हि० श्रौ०—२६।१।६८

६. 'दर्भः शोचिः तरुणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम्'
—शौ० १०।४।२. पै० १६।१५।२

७. 'तलाशा वृक्षाणामिवाहं भूयासमुत्तमः'—शौ० ६।१५।३; ८।१०।७
कौ० सू०—८।१६; 'तलाशा मालिका अवली प्रसिद्धः'—दा०; वेतसी (के०)
Ved. ind. i–301; Ved. Pl. 663.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तस्तुव[1]—यह सर्पविषघ्न ओषधि है।

ताजद्भङ्ग[2]—यह आसानी से टूट जाता है। दारिल ने इसका अर्थ एरण्ड किया है।

ताबुव[3]—यह सर्पविषनाशक द्रव्यविशेष है।

ताम्बूल[4]—नागवल्ली इसका पर्याय है।

तार्छ (र्च)[5]—दारिल इसे अस्थिकमणि तथा केशव पलाशमणि कहते हैं।

ताल[6]—

तालीस[7]—

तिनिश—[8]

तिन्तिडीक[9]—

तिन्दुक[10]—इसका दन्तधावन निषिद्ध है।

तिमिरक[11]—दारिल ने असिक्नी के लिए तिमिरक (?) लिखा है। (देखें—ककुच)

तिल[12]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख नहीं है किन्तु अन्य संहिताओं में यह मिलता है।

---

१. पैं०—८।२।१०
'तस्तुवं न तस्तुवं घेत् त्वमसि तस्तुवम् । तस्तुवेनारसं विषम्'—शौ० ५।१३।११
Ved. ind.–I—304.

२. शौ०—८।८।३ ('ताजद्भङ्ग इव भज्यन्ताम्'); कौ० सू०—१६।२४ (तस्मिन्नरण्ये सपत्नपर्णीरादधात्यश्वत्थबधकताजद्भंगाह्वखदिरशराणाम्'). ताजद्भंग एरण्डः—सा०

३. पैं०—८।२।९; अ० अ०—५।१३; दं० वि०—१।१०
'ताबुवं न ताबुवं न घेत् त्वमसि ताबुवम् । ताबुवेनारसं विषम्'—शौ० ५।१३।१०

४. पा० उ०—४।९०; आश्वि० गृ०—२।४।१०।३८; ३।३।१।१३; १८

५. कौ० सू०—४८।२४

६. पा०—४।३।१५२; पा० वा०—४।३।१५२

७. पा० उ० को०—२।३।१८०

८. पा० उ० को०—२।३।१४७

९. पा० उ०—४।२०; पा० म०—४।३।१५५ (तैत्तिडीकवनम्)

१०. वि० ध०—६१।३; पा० उ० को०—२।२।२२

११. कौ० सू०—२६।२२ (दा०); पा० म०—८।४।६ (तिमिरवनम्)
बौद्ध वाङ्मय में इसका पुष्प सुगन्धित कहा है (अपदान, II,-345)

१२. मै०—२।१।१४; ४।३।२; तै०—४।७।४।२; काठ०—१२।७; १८।९; मा०—१८।१२
का०—१९।४।४; शौ०—१।७।२; २।८।३; ४।७।३; ६।१४०।२; १०।१३६।६.
१२।२।५४; १८।३।६९; १८।४।३२; पैं०—८।१८।९; ९।१।१।१२; १९।४९।१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माष के साथ यह अधिक प्रयुक्त हुआ है और हेमन्त तथा शिशिर के धान्यों में निर्दिष्ट है। यह ग्राम्य तथा आरण्य दोनों प्रकार का होता है। आरण्य तिल को 'जर्तिल' कहा गया है। तिल से तेल निकालते थे तथा इसकी डंठल (तिलपिञ्ज)

सा०—१।३।७; १।८।१०; ३।५।१; ५
गो०—२।१।१७; तां०—१।८।१५; १६।१।१०; शां० आ०-११।४; १२।८ छां० उ०-५।१०।६
का० श्रौ०—१०।२।११; हि० श्रौ०—१०।४।१५; बौ० श्रौ०—१८।२३;
जै० गृ०—१।११;७;२१९; वा० गृ०—४।२७; मा० गृ०—२।१५।१; १।२१।१२; १।१४।९
बो० गृ०—२।११।६४;४४
(तिलाः श्राद्धे पवित्रं यदि दानाय यदि भोजनाय यद्यपां संसर्जनाय)
गो० गृ०—२।९।६; काठ० गृ०—३।१६।१८; शां० गृ०—४।४।९; ४।३।४; ३।१।३;
१।२८।६; पा० गृ०—१।१५।४; आ० गृ०—१।१०।७; १।१७।२; २।५।१५
कौ० गृ०—३।१।२-४; क० प्र०—२।२।२; बौ० पि०—३।४;९
आप० शु० पृ०—१०१ (मान); शं० लि० ध०—२१३; १४६; १७;
आप० ध०—१।७।२०।१३; १।९।२६।१५; २।७।१६।२२; २।८।२०।१;
हि० श्रौ०—२९।१।५३; २४।६।२७; २७।५।५८; बौ० ध०—२।२।१३-१४;
वै० ध०—२।१५।१; वि० ध०—१९।१८; ८०।१; ७९।१६; ऋ० तं०—४।५।३; ५।२।७
कौ० सू०—७।५; ८।२०; १०।११; ११।६; २७।३३;३६।९;८०।२८;१२४।१; के०प०—२६।४३
अ० प०—१।३०।२; १४३।८; ४।२।९; ८।१।४; ९।१।१-२; १४।१।८; २१।२।२; २३।५।४;
२३।७।२; २३।१२।१; ३०।३।१; ३०।४।२-३; ३१।२।१; ३१।६।४; ३६।१९।१; ३६।३०।१;
४४।१।१०; ४४।३।१०; ६६।२।२-३; ४६; ६९।१।१-५; ७०।१।६-९
पा०—४।३।१४९; ५।१।७; ५।२।४; ६।३।७१
पा० वा०—५।२।२९; ६।३।६७; ४।३।२६; पा० म०—१।१।५;४९; १।३।११; १।४।२;
२।१।५८; ३।१।६७; ३।२।५;२८; ३।३।१९;१२६; ४।२।३६; ४।३।१६६; ५।१।१३; २०; ९४;
५।२।४;२९
'माषाश्च मे तिलाश्च मे'—क० २८।९
'उभयं वैतदन्नं यज्जर्त्तिलाः। यच्च ग्राम्यं यच्चारण्यम्। यदह तिलाः तेन ग्राम्यम्। यदकृष्टे पच्यते तेनारण्यम्' उभयेनैवैनमेतदन्नेन प्रीणाति ग्राम्येण चारण्येन च'—श०—९।१।१।३, जर्तिलाः अरण्यतिलाः (सा०)
'दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खलाश्च खलकुलाश्च'—बृ० उ० ६।३।१३
'अथ य इच्छेत् दुहिता मे पण्डिता जायेत सर्वमायुरियादिति तिलौदनं पाचयित्वा सर्पिष्मन्तमश्नीयातामीश्वरौ जनयितवै'—बृ० उ० ६।४।१७
'अपरिमितगुणान् तिलान्……विप्राय दधात्'—अ० प० ४।२।९
'तिलाः श्वेताः तिलाः कृष्णाः तिलाः गोमूत्रवर्णकाः।
तिलानां तु विचित्राणां धेनुं वत्सं च कारयेत्॥' अ० प०—९।१।१-२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को इन्धन के काम में लाते थे। इससे एक भोज्य पदार्थ भी बनता था जिसे तिलौदन कहते हैं। तिलपिशित चूड़ाकरण के बाद नापित को देने का विधान है। श्राद्ध में यह दान तथा भोजन के लिए पवित्र अन्न माना गया है। अथर्व-परिशिष्ट में यह श्वेत, कृष्ण तथा गोमूत्रवर्ण तीन प्रकार का कहा गया है और इसके गुण अपरिमित बतलाये गये हैं। केशवृद्धिकरण, केशदृढीकरण तथा केशजनन के लिए माष-तिल आदि कृष्ण अन्न के भक्षण का विधान है (के० प० ३१।२८)।

'तिर' शब्द का भी प्रयोग है (शौ०—४।७।३)

तिलक[1]—(देखें स्राक्त्य)

तिल्वक[2]—इसका काष्ठ वज्रवत् दृढ़ एवं कठोर कहा गया है। यज्ञ में इसका यूप बनाया जाता था। श्मशानायतन के लिए यह निषिद्ध माना गया है। गृह्यसूत्रों में इसका इन्धन वर्ज्य माना गया है। इसका दन्तधावन वर्ज्य है।

आग्निवेश गृह्यसूत्र में 'तिल्वका' शब्द है जो क्षुप या लता प्रतीत होती है।

तीक्ष्णतैल[4]—(कृष्णसर्षप)

तीक्ष्णवल्श[5]—

तीक्ष्णशृङ्गी[6]—यह अजशृङ्गी का पर्याय है। इससे उसके तीक्ष्ण शृङ्गाकार फलों का

---

१. पा०—५।१।१२८; ५।२।३६; के० प०—१९।२१–२३ (तिलकमणि); ३९।१
शौ०—२।११ (स्रा०)

२. मै०—'तैल्वकीमभिचरन्नादध्यात् एष वनस्पतीनां वज्रः'—३।१।९
श०—१३।८।१।१६; ष०—३।८; का० श्रौ०—२१।३।२०; (तिल्वकः तिणिसः—टी०) २२।३।८; (तिल्वकः प्रसिद्धः–भा०); वा० श्रौ०—२।१।२।८; हि० श्रौ०—११।३।१९; (बहुगालवं तिलक इति केचित्—व्या०); १७।२।२१; २९।१।१४; जै० गृ०—१।१; आ० गृ०—२।७।५; गो० गृ०—१।५।१५; बो० पि०—१।६।२; वि० ध०—६१।३
'कालां च पृश्निपर्णीं च तिल्वकां चापाघां चापामार्गं च शुण्ठीं च बहुपुत्रीं च विस्रंसिनीकां च राजतपर्णीं च याश्चान्याः क्षीरिण्यः ओषधयो भवन्ति'
—आग्नि० गृ० ३।५।५

४. अ० प०—३६।३०।१

५. पै०—७।७।७

६. पै०—५।९।४; (तीक्ष्णशृङ्ग); १६।१२।९
'एवमग्नओषधीनां वीरुधां वीर्यावती। अजशृङ्ग्यराटकी तीक्ष्णशृङ्गी व्यृषतु ॥'
शौ०—४।३७।६
'अवकोल्बा उदकात्मान ओषधयः। व्यृषन्तु दुरितं तीक्ष्णशृङ्ग्यः ॥'
शौ०—८।७।९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बोध होता है—('तीक्ष्णे उग्रगन्धे श्रृङ्गाकृती फ़ले यस्याः सा'—सा०) शौ० ८।७।९ में यह जल में होने वाली ऐसी ओषधियों का बोधक है। यहाँ संभवतः इससे श्रृङ्गाटक का ग्रहण करना चाहिए। (देखें अजश्रृङ्गी)

तीव्रदारु[1]—

तुग्र[2]—

तुङ्ग[3]—

तुन्यु[4]— दारिल ने इसे तिनिश कहा है। यह शान्तवृक्षों में पठित हैं।

तुम्बर[5]—कौशिकसूत्र में तुम्बरदण्ड का उल्लेख है।

तुम्बुरु[6]—

तुलसी[7]—

तूर्यन्ती[8]—आप० गृ० (६।१४।१३–१४) में शीघ्र प्रसव कराने के लिए लिखा है कि गर्भिणी के पैर की ओर तूर्यन्ती तथा शिर की ओर शोष्यन्ती रक्खे। हरदत्त ने इन दोनों को ओषधि माना है। सुदर्शन ने इसका अर्थ 'अधःपुष्पिका' किया है।[9]

तृण[10]—

तृप[11]—

---

१. पा० ग०—४।३।१५४
२. पा०—४।४।११५
३. पा० उ० ओ०—२।२।६६
४. कौ० सू०—८।१५ (तुन्युः तिनसः—दा०)
५. कौ० सू०—७६।२; अ० प०—३६।४।२; अ० शां०—२२।१
६. पा० म०—१।१।४६; ७।२।१०१
७. अ० प०—३५।२।९–११; शां० ध०—१२९
८. हि० गृ०—२।२।८; आग्नि० गृ०—२।१।३।२
९. 'पत्तस्तूर्यन्तीं निधाय मूर्धञ् शोष्यन्तीम्'—आप० गृ०; भा० गृ०—१।२२
'तूर्यन्तीमिति शोष्यन्तीमिति चौषधिद्वयम्'—हरदत्त
'तूर्यन्तीं अधः पुष्पिकाख्यां ओषधिम्'—सुदर्शन
१०. कौ० सू०—१३।११–१२; १४।१३
११. 'यजमानं तार्प्यं परिधापयति इति आजयेनैवैतत् तृप्तं वासो भवत्यथाप्युदाहरन्ति तृपा नाम वृक्षास्तेषामेवैतद् भवति'—बौ० श्रौ० २५।३४।११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तृष्टा (ष्टिका)[1]—घुणजम्भनी, वृषातकी इसके पर्याय हैं। सायण ने इसे बाणापर्णी तथा दारिल ने इसे शरपुंखा कहा है।[2] यह मूषिकेविषनाशन, घुणनाशन तथा वर्चस्य है। पैप्पलाद संहिता के वर्णन से प्रतीत होता है कि यह कोई सगन्ध ओषधि[3] तथा विषाक्त और वर्जित है। विषातकी तथा परिवृक्ता विशेषण इसके द्योतक हैं। सायण ने तृष्टिका का अर्थ दाहजनक तथा पिपासाजनक किया है[4]। इससे उष्णवीर्य का बोध होता है।

तृष्टाघ (घ्न)[5]—वेबर इससे सर्षप का ग्रहण करते हैं। (देखें तार्ष्टाघ)

तेजन[6]—यह वंश का पर्याय है। खेत के मापदण्ड के रूप में भी व्यवहृत है।

तेजनी[7]—

तौदी[8]—यह विषनाशन मानी गई है।

तौविलिका[9]—सायण ने इससे रोगकारणभूत पिशाची लिया है किन्तु जिमर तथा

---

१. 'तृष्टिके तृष्टवन्दन उदमूं छिन्धि तृष्टिके। यथा कृतद्विष्टाऽसोऽमुस्मै शेप्यावते॥
तृष्टासि तृष्टिका विषा विषातक्यासि। परिवृक्ता यथासस्यृषभस्य वशेव॥'
—शौ० ७।११३।१-२

पै०—२०।१६।१-४; कौ० सू०—३६।१०; ३८

२. 'तृष्टिके इति बाणापर्णीम्' 'बाणापर्णी शरपुंखेति प्रसिद्धा'

३. 'तृष्टा त्वमसि गन्धेनौषधिः घुणजम्भनी।
आखोर्घुणस्य जातानि तानि जम्भय तेजसा॥'—पै० २०।१।७

४. 'कुत्सिता तृष्टा तृष्टका। जितृष पिपासायाम् इत्यस्मात् तृष्टशब्दः। अतिपिपासया अन्तःशरीरे दाहो जन्यते। अत्र जन्ये जनकशब्दः।'

५. कौ० सू०—२५।२३; २७
'तार्ष्टाघीरग्ने समिधः प्रति गृह्णाह्यर्चिषा। जहातु क्रव्याद्रूपं यो अस्य मांसं जिहीर्षति॥
Ved. Ind. i—308 —शौ० ५।२९।१५

६. पै—४।१४।१; शौ०—१।२।४; ६।४९।१; (अन्तर्निःसारं वेणुमिव-सा०) ऋ०—९।११०।५
'वासन्तिकमिव तेजनं यन्त्यवाताय वित्पति'—शौ० २०।१३।३; पा० म०—६।१।८३

७. जै० गृ०—१।२०

८. पै०—१६।१७।६
'तौदी नामासि कन्या घृताची नाम वा असि। अधस्पदेन ते पदमा ददे विषदूषणम्॥'
—शौ० १०।४।२४
Ved. index—i-326

९. पै०—१९।५।९
'तौविलिकेऽवेलयावायमैलब ऐलयीत्। बभ्रुश्च बभ्रुकर्णश्चापेहि निराल॥
—शौ० ६।१६।३
Ved. ind. i-326

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ह्विटनी ने ओषधिविशेष का ग्रहण किया है। ग्रिफिथ इससे कोई जन्तु या ओषधि लेते हैं।

त्रपुस[1]—

त्रायमाणा[2]—'त्रायमाण' शब्द ऋग्वेद में भी आया है। यह 'रक्षा करनेवाला' के अर्थ में विशेष प्रयुक्त हुआ है। यह सर्पविषनाशक कही गई है। सायण इसे पाठा के विशेषणरूप में तथा पृथक् ओषधिविशेष भी मानते हैं। अथर्ववेद (शौ०) में यह विश्वजिद् देवता के लिए (६।१०७।१–४) तथा ओषधिविशेष के लिए (८।२।६) प्रयुक्त है।

त्रिकण्टक[3]—

त्रिवृत् (त्रिवृता)[4]—त्रिगुण के अर्थ में यह शब्द प्रयुक्त होता है। इसके मणिधारण का विधान है। सायण ने इससे सुवर्ण-रजत-लोहमय मणि का ग्रहण किया है।

त्रुटि[5]—यज्ञसंभारों में यव, सर्षप आदि के साथ उल्लेख है।

दण्डन[6]—

---

१. कौ० सू०—२५।२३; अ० शां०—२१।२; 'दधित्रपुसं प्रत्यक्षो ज्वरः'—पा० म० १।१।५९; ६।१।३२–३३
(दध्येव विशिष्टावस्थायुक्तं त्रपुसमित्युच्यते—प्रदीप; तृपुसमिति पाठान्तरं, आद्ये त्रपुसं फलविशेषः'—उद्योत)

२. शौ०—६।१०७।१–४; पै०—१९।४४।७; ८।७।५; १५।१६।२; १६।२।६; ऋ०—६।५०।८; ७।३५।१०

'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्या अरिष्टतातये॥'
—शौ० ८।२।६

'अरसं तेऽहेः विषं इमं कृणोत्वोषधिः।
त्रायमाणां सहदेवीं सहस्वतीं अहातायद् गोरश्वात पुरुषाद् विषम्॥'
—पै० ८।२।११

Ved. ind.—i-328

३. पा० ग०—४।३।१५४

४. शौ०—५।२८।८; १९।२७।१—१५; पा० म०—६।२।१९९
'तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीस्त्रीण्यन्तरिक्षाणि चतुरः समुद्रान्।
त्रिवृतं स्तोमं त्रिवृत आप आहुस्तास्त्वा रक्षन्तु त्रिवृता त्रिवृद्भिः॥'
—शौ० १९।२७।३

५. अ० प०—२१।२।४

६. 'इषीकां जरतीमिष्ट्वा तिल्पिञ्जं दण्डनं नवम्'—शौ० १२।२।५४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दधित्थ[1]—इसका इन्धन वर्ज्य माना गया है।

दर्भ[2]—यह ओषधियों का सारंभूत, जलीय तथा पवित्र ओषधि मानी गई है। इससे

---

१. पा० गृ०—१।२१; जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१५

२. 'आप ओषधयो यद् दर्भाः'—मै०—१।७।२; क०—८।३; शौ०—१९।२८।१–१०; १९।३२।१–१०; १९।३३।१–५; १९।३०।१–५; १९।२९।१–९; १०।४।२; १३; पै०—१।८७।१–४; ७।७।१–९; १२।४।१–१०; १२।५।१–५; १३।११।१–२३; १९।३३।७–८; १५।२२।१०; १५।११।३७; १६।१३।१०; १६।१५।२; १९।२।१४; १६।१६।३; श०—२।२।३।११; ३।१।२।१८; ७।२।३।२ (एकमूलोऽनेकशाखः स्तम्ब इत्युच्यते, दर्भाणां स्तम्बो दर्भस्तम्बः); १०।४।३।१४; १३।१।१।१२

ऐ० आ०—१।२।३; सा०—१।३।२; ष०—२।९; तै० आ०—२।११।१; ६।९।१;

तै० ब्रा०—१४।४।१; ३।३।२।१; ३।७।३।३; जै० ब्रा०—१।६३

पा०– ४।१।१०२; पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४४; २।४।१७

हि० श्रौ०--१।२।६; ४; (दर्भनाड्यौ) १।३।१०; १०।१।४ (दर्भेषीकया वा दर्भपुञ्जीलेन); १४।१।२०; २३।१।६८; २४।२।६

बौ० श्रौ०—१।२।९; १७।४०; ६।१; आ० श्रौ०—३।१४; वा० श्रौ०—१।१।१।७४; १।२।१।२१; ३।४।१।१४;

आप० श्रौ०—१।२।९; १।४।३०; ७।३।११; ९।२।२४; क० प्र०—१।२।२;

बो० गृ०—१।२।४; १।१०।७; ३।५।१; ३।९।३–५; गो० गृ०—२।९।४; २।७।५; काठ० गृ०—२।३।३; २।१२।४; ३।१।४; शां० गृ०–१।२२।८; ४।४।८; पा० गृ०—१।१५।४; आ० गृ०—३।२।२; हि० गृ०—१९।३।२६; २०।१।१९; जै० गृ०—२।६; खा० गृ०—४।२।९; आप० गृ० १।१।२१; ६।१५।४; ७।२०।११; मा० गृ०—१।५।२–३; १।१।१५; ८; बो० पि०—१।१४।२; १।६।५; १।२१।१; हि० श्रौ०—२९।४।४०; २८।२।६९; शां० लि० ध०—१२४; बौ० ध०—२।७।५; १।१३।३०; 'वै० ध०—२।५।२; कौ० सू०—२।८; १८; ८।१६; १६।२५; १७।२; १८।३३; २०।२२; २१।२; २२।१४; २५।३७; २६।३०; ३१।१; ३६।२२; ३८।९; ३९।१९; ४३।६; ४४।२९; ५१।१०; ५३।१; २; २०; ७९।१४; ९०।१; अ० प०—२३।१२।१; ३३।१।७; ३३।५।८; ४४।१।१०

के० प०—२२।१; ३६।३२; ३९।५–१२

Ved. ind. i—340

Ved. Pl.—649

'शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥

—ऋ० १।१९१।३

'जलोदररोगनिवृत्तये गृहतृणदर्भपिञ्जूलीयुक्तघटजलेन अभिषेकं कुर्यात्।'

—शौ० १।१० (सा०)

''अयं दर्भो विमन्युकः स्वाय चारणाय च। मन्योर्विमन्युकस्यायं मन्युशमन उच्यते॥
अयं यो भूरिमूलः समुद्रमवतिष्ठति। दर्भः पृथिव्या उत्थितो मन्युशमन उच्यते॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रशना तथा रज्जु भी बनाई जाती थी। इसके मूल से अनेक सूत्र या काण्ड निकलते हैं अतः इसके स्तम्ब (दर्भस्तम्ब) का निर्देश मिलता है। ऋग्वेद में शर, कुशर आदि के साथ इसका उल्लेख है। शतकाण्ड, सहस्रकाण्ड, सहस्रपर्ण, सहस्रवीर्य तथा दुश्च्यवन इसके पर्याय हैं। यह मन्युशमन माना गया है तथा आयुष्य विषघ्न एवं बल्य है। अथर्ववेद में यह औषधों तथा वीरुधों में श्रेष्ठ माना गया है। विशेषतः आस्राव रोग का यह श्रेष्ठ भेषज कहा गया है। इसके मणि का धारण भी विहित है। जलोदर में भी इसका विधान है। पैप्पलाद संहिता में यह विषघ्न, रक्षोघ्न, अमीवचातन माना गया है तथा इसका प्रयोग सर्पविष, दुःस्वप्न, वृश्चिकविष, शिरःशूल, पर्वशूल, उदरशूल में निर्दिष्ट है। शतपथ ब्राह्मण में इसे मेध्य कहा है।

दशपत्रा[1]—

दशवृक्ष[2]—यह ग्राही से जो पर्वों में आक्रमण करती है, रक्षा करता है। 'पर्व' शब्द से यदि सन्धियों का ग्रहण करें तो इसे सन्धिवात या आमवात में लाभकर मान सकते हैं। कुछ लोग इससे एक वृक्ष और कुछ लोग पलाश, उदुम्बर आदि वृक्षों का ग्रहण करते हैं। इसके मणिधारण का विधान है।

दाडिम[3]—

दारु[4]—(देखें देवदारु)—इसका प्रयोग अनुलेपन के लिए होता था।

वि ते हनव्यां शरणिं वि ते मुख्यां नयामसि।
यथावशो न वादिषो मम चित्तमपायसि॥"—शौ० ६।४३।१-३
'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः।
व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ॥'—शौ० ८।७।२०
'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भंगो यवः सहस्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥'
—शौ० ११।६।१५

१. अ० शां०—२२।१

२. "दशवृक्ष मुञ्चेमं रक्षसो ग्राह्या अधि यैनं जग्राह पर्वसु।
अथो एनं वनस्पते जीवानां लोकमुन्नमय॥'—शौ० २।९।१
(पलाशौदुम्बरादिदशवृक्षशकलनिर्मितमणे—सा०); पै०—२।१०।१-५;
अ० प०—३२।१।७; अ० अ०—२।९; के० प०—२६।३३-४०; २७।५

३. पा० ग०—२।४।३१; शां० लि० ध०—२२०
पा० स०—१।१।१; १।२।४५

४. त्रि० ध०—६६।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दारुपत्रा[1]—

दारुहरिद्रा[2]—हरिद्रा और दारुहरिद्रा के क्वाथ से खालित्य में अवसिंचन करते हैं।

दिप्सौषधि[3]— यह रक्षोघ्न तथा कृत्यानाशन कही गयी है।

दिविधुवक[4]—यह 'काश' के साथ प्रयुक्त हुआ है।

दुर्नाम[5]—इसकी समिधा का उल्लेख है।

दुश्च्यवन[6]—यह दर्भ का पर्याय है।

दूर्वा[7]—आषाढा, सहमाना, सहस्रवीर्या, सहस्रकाण्डा, शतमूला, शतांकुरा, अघद्विष्टा, शपथयोपनी आदि इसके पर्याय हैं। यह 'देवजाता वीरुत्' कही गई है। इसके

---

१. पै०—२०।३७।७

२. के० प०—३०।१०

३. पै०—७।११९

'सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा।
दिप्सौषधे त्वं दिप्सन्तमव कृत्याकृतं जहि॥'—शौ० ५।१४।१

४. कौ० सू० ४०।२; 'Name of a reed plant'—Bloomfield.

५. अ० प०—७०।११६–२

६. 'शतकाण्डो दुश्च्यवनः सहस्रपर्ण उत्तिरः। दर्भो य उग्र ओषधिस्तं ते बध्नाम्यायुषे॥'
—शौ० १९।३२।१

७. ऋ०—१०।१३४।५; १०।१४२।८; मै०—२।७।१५; तै०—४।२।९।२; ५।२।८।३; का०—१४।२।५; शौ०—२।७।१–५; ६।१०६।१; पै०—१९।३३।५; श०—७।४।२।१२; ऐ० ब्रा०—८।५; ८; तै० आ०—६।९।१; १०।१।९; अ० अ०—२।७; का श्रौ०—१७।४।१८; २५।७।१७; २५।१२।१९; हि० श्रौ०—११।५।२१; २३।४।५१; बौ० श्रौ०—९।१; १०।३२; वा० श्रौ०—२।१।६।२४; पा० गृ०—१।१९; २१; कौ० गृ०—४।१।१; हि० गृ०—२०।३।१९; २०।८।१९; जै० गृ०—२।९; वा० गृ०—१४।६; बौ० गृ०—३।११४; ३।९।११; बौ० पि०—१।१७।२; वि० ध०—७९।२; शं० लि० ध०—३४५; कौ० सू०—८।१६; २४।१८; २६।१३; २८।२; ५३।१; २; १६; ५४।१९; ७७।१८

अ० प०—४।१।१६; ५।२।५; ५।५।६; ७।१।५; १८।१।१५–१७; २१।२।३; २६।५।१–५; ३६।४।२; ३६।४।२; ३६।११९।१; ४२।१।७

'अव स्वेदा इवाभितो विष्वक् पतन्तु दिद्यवः।
दूर्वाया इव तन्तवो व्यस्मदेतु दुर्मतिर्देवी जनित्र्यजीजनद् भद्रा जनित्र्यजीजनत्॥'
—ऋ० १०।१३४।५

'आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे॥'
—ऋ० १०।१४२।८

'अघद्विष्टा देवजाता वीरुच्छपथयोपनी।
आपो मलमिव प्राणैक्षीत् सर्वान् यच्छपथाँ अधि॥'

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

काण्ड-काण्ड से, पर्व-पर्व से प्ररोह निकलकर पृथ्वी में इसे प्रतिष्ठित करते हैं जिस प्रकार क्षत्रिय राष्ट्र में प्रतिष्ठित होता है। अतएव इसे ओषधियों में क्षत्रिय मानते हैं। अन्य ओषधियाँ लोम मानी गई हैं जबकि दूर्वा उनका प्राण-रस है अतएव यह उनमें प्रधान मानी गई है। इसके पुष्प का भी उल्लेख है।

दन्भु[1]—

देवदारु[2]—कौशिकसूत्र में इसके मणि का उल्लेख है।

देवमुनि[3]—अपचित की चिकित्सा में इसका उपयोग है।

देवी[4]—तगर और कुष्ठ के साथ इसके काष्ठ का उल्लेख है। यह सौभाग्यकरण कहा गया है।

द्राक्षा[5]—

द्रुघण[6] **(द्रुघ्नी)**—शौ० ८।२।११ के विनियोग में सायण ने द्रुघणमणि का उल्लेख किया है। कौ० सू० (१४।१३) में 'द्रुघ्नी' शब्द आया है।

धन्वन—यह वृक्षविशेष[7], जांगलभूमि[8] तथा धनुष[9] के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इसका दन्तधावन वर्जित है।

'दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्।
तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥'
—शौ० २।७।१, ३

शयाना वर्धते दूर्वा आसीनं वर्धते बसम्'—पा० म० ३।२।१२६
'गोलोमाविलोमभ्यो दूर्वाः जायन्ते'—पा० म० १।४।३०

१. पा० म०—६।३।६१ (अलाबुकर्कन्धुदम्भुफलम्)
२. शौ० बृ०—७।७८; पा० गृ०—१।१९; कौ० सू०—५८।१६ (प०)
पा० म०—८।४।६ (देवदारुवनम्)
३. 'मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुः प्रकृतिभूतो वेणुदार्भूष संज्ञको वृक्ष उच्यते'
—सा० (शौ० ७।७४।१)
४. अ० प०—३५।२।१–७
५. पा० ग०—४।३।१६७; ६।२।८८; ८।२।९; शां० लि० ध०—२२०
पा० म०—५।३।६७ (गुडकल्पा द्राक्षा); ६८; ५।४।१४
६. शौ० ८।२।११ (सा०)
७. शां० श्रौ०—१४।२२।१२; वि० ध०—६१।२
८. ऋ०—२।३८।७; ३।४५।१; ४।१७।२; ४।१९।७; ४।३३।७; ५।५३।६; ५।८३।१०; शौ०—५।१३।१; ६।१००।१; ७।४१।१; ऐ० ब्रा०—२।१९
९. ऋ०—२।२४।८; शौ०—१।३।९; ४।७।४; ११।९।१; या०—९।१७; १६।९
ऐ० ब्रा०—७।१९; श०—९।१।१।६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धव[1]—अथर्ववेद में यह प्लक्ष, अश्वत्थ, खदिर के साथ पठित है। कहीं-कहीं यह पति के अर्थ में भी आया है। इसका दन्तधावन निषिद्ध है। यह लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है।

धातकी[2]—

धात्री[3]—

धुत्तूर[4]—

धूपतृण[5]—

नखरञ्जनी[6]—

नघारिषा[7]—(देखें जीवला) सायण ने इसे पाठा का पर्याय या पृथक् ओषधिविशेष कहा है।

नड (ल)[8]—यह वर्षा ऋतु में होता है। सायण ने इसे जलीय प्रदेश में होने वाला

---

१. पै०—६।४।४; १६।११
पा० गृ०—१।२१; वि० ध०—६।१२
'भद्रात् प्लक्षात् निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिरात् धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति॥'—शौ० ५।५।५
'अश्वत्थः खदिरो धवः'—शौ० २०।१३१।१४

२. पा०—४।१।४१.

३. पा०—३।२।१८१

४. पा० उ० ओ०—२।३।५९; पा० उ०—४।९० (धुस्तूर)

५. हि० श्रौ०—२४।६।१२; आप श्रौ०—१५।१५।१;

६. पा० ग०—४।३।१६७

७. शौ०—८।२।६; ८।७।६; पै०—१६।३।६; १६।१२।६;

८. शौ०—१२।२।१; १९; ५०; ५४; पै०—१।६८।१; ५।२५।१; ५।३२।१०; १२।३।५; १७।३०।१; १७।३४।११; १७।३५।२; १७।१२।१३; १७।३१।९; हि० श्रौ०—२९।१।५७; जै० गृ०—१।१;—गो० गृ०—१।५।१८ बौ० ध०—१।१४।११;—बौ० पि०—१।१७।२; कौ० सू०—७।१३; ४८।३३-३४;—पा०—४।२।८७-८८; ९१; पा० म०—१।१।७२; २।३।६९; ३।२।१२७;—४।१।९६ (यो हि नडो नाम नाडिस्तस्य भवति); १।१।५९; ६।१।३२-३३—(नड्वलोदकं पादरोगः)
पा० ग०—४।२।८०; ६।३।११७; अ० अ०—१।२।२; या०—५।२
'अधप्लायोगिरति दासदन्यानासंगो अग्ने दशभिः सहस्रैः।
अधोक्षणो दश मह्यं रुशन्तो नला इव सरसो निरतिष्ठन्॥' ऋ० ८।१।३३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीघ्र वर्धमान तृणविशेष कहा है। इससे सींक निकलती है तथा इससे चटाई, सूप आदि बनाये जाते थे। यह यक्ष्मनाशन कहा गया है।

नद्य[1]—यह कुष्ठ का पर्याय है।

नद्यमार[2]—यह भी कुष्ठ का पर्याय है (देखें नद्य)

नद्यरिष[3]—(देखें नद्य)—यद्य कुष्ठ का पर्याय है।

नराची[4]—

नरिष्टा[5]—

नलद[6]—यह सौमनस्यजनन तथा वशीकरण कहा गया है। सायण इससे उशीर का ग्रहण करते हैं।

'नलास्तटाकोद्भवास्तृणविशेषाः। ते यथा सरसः तटाकात् संवशो निर्गच्छन्ति'—सा०
'उतो कृत्याकृतः प्रजां नडमिवा च्छिन्धि वार्षिकम्'—शौ० ४।१९।१
'वार्षिकं वर्षासु भवं नडं-एतत्संज्ञं सुच्छेदं तृणविशेषम्'—सा०
'केशा नडा इव वर्धन्तां शीर्ष्णस्ते असिताः परि'—शौ० ६।१३७।२-३
'नडास्तृणविशेषाः, ते यथा तटाकोदकप्रान्तेषु उत्पन्नाः संहताः सन्तः शीघ्रं वर्धमाना द्राघीयांसो भवन्ति'—सा०
'यथा नडं कशिपुने स्त्रियो भिन्दन्त्यश्मना।
एवा भिनद्मि ते शेपोऽमुष्या अधि मुष्कयोः॥'—शौ० ६।१३८।५.

१. त्रीणि ते कुष्ठ नामानि नद्यमारो नद्यारिषः। नद्यायं पुरुषो रिषत्॥—शौ० १९।३९।२
'नद्यां भवः नद्यः'—सा०; पै०—११९३।२; ७।१०।२; १३।१३।१०
२. 'नद्या उदकदोषोद्भवा रोगाः तान् मारयतीति नद्यमारः'—सा०
३. नद्यान् रिष्यतीति नद्यरिषः—सा०
४. शौ०—५।३१।४; पै०—२।७७।३; १९।३०।८
Ved. ind.—i—433
Ved. Pl.—655.
५. 'नरिष्टा नाम वा असि यथासौ हरिणो वृकः'—पै० २०।३७।८
६. शौ०—६।१०२।३; पै०—२।७७।२; १९।१४।३;
ऐ० आ०—३।२।४।१० (नलदमाली); शां० अ०—११।४
आ० श्रौ०—६।१०; कौ० सू० ५१।११२; अ० प०—१८।१।१-३;
पा० ग०—४।४।५३;
'आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरो भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥'
—शौ० ६।१०२।३
('सुगन्धिस्तृणविशेषो नलदः उशीरापरपर्यायः—सा०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नलदी[1]—यह रक्षोघ्न ओषधि है। कुछ पाश्चात्य विद्वानों की धारणा है कि नलद तो ओषधिविशेष का वाचक है किन्तु 'नलदी' 'अप्सरा' का बोधक है किन्तु यह यथार्थ नहीं है क्योंकि ओषधियों के साथ पठित होने से यह भी ओषधिविशेष ही है।

नलिन[2]—

नाकुली[3]—

नागकेशर[4]—

नानारोगभेषज[5]—

नाम्ब[6]—पातञ्जल महाभाष्य में लिखा है कि आम्ब और नाम्ब एक ही है। हरिस्वामिन् ने शतपथब्राह्मण की टीका में लिखा है—'नाम्बा नाम अकृष्टपच्या स्वयंजाता व्रीहयः'।

नारङ्ग[7]—

नारिकेल[8]—

नालिङ्ग[9]—लशुन और पलाण्डु के साथ निर्दिष्ट है। इसके खा लेने पर चान्द्रायण व्रत करने का विधान है।

निचुदार[10]—(नीचदारु)—इसके काष्ठ का उल्लेख है।

---

१. शौ०—४।३७।३;
'गुग्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी'—शौ० ४।३७।३
Ved. ind. i—437
Ved. Pl.—655
२. अ० प०—७०।७।१
३. मं०—२।४।८; छा० ब्रा०—२।४।५
'नाकुलिभस्त्रासप्रियंगुतण्डुलानां वा पूर्णा'—जै० ब्रा० ३।१०।१०;
४. अ० प०—३५।२।१–७
५. पै०—१९।३०।८
६. श०—५।३।३।८; सै० ब्रा०—२।६।६७।९
७. पागस०—१५५; पा० उ० वृ०—१।१२२
८. पा० उ० सो०—२।३।६१; वि० ध०—२२।८३
९. श० लि० ध०—४१८
१०. तां०—२१।४।१३; Ved. Ind. i–459

६ द्रु० च०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नितत्नी[1]—यह केशदृंहण तथा बल्य है। 'देवी' 'चुपुणीका' इसके पर्याय हैं। यह भूमि में नीचे फैलने वाली ओषधि है। सायण ने इसका अर्थ किया है :—'न्यक्-प्रसरणशीला ओषधिः; काकमाचीप्रभृति ओषधिः'।

निम्ब[2]—इसकी समिधा वर्ज्य मानी गई है। इसका दन्त-धावन विहित है।

निर्गुण्डी[3]—

निष्पाव[4]—

नीप[5]—

नीलागलसाला[6]—सायण ने इसका अर्थ सस्यमञ्जरी किया है।

नीलिका[7]—(देखें नीली)

नीली[8]—अथर्ववेदोक्त 'कृष्णा' शब्द से दारिल ने नीली का ग्रहण किया है। भृंगराज, हरिद्रा और इन्द्रवारुणी के साथ पीस कर श्वित्र तथा पलित में इसके लेप का विधान है।

नीलोत्पल[9]—

---

१. पै०—१।६७।१-४; ७।५।६-७; २०।३७।४-५; काठ०—४०।४; तै०—४।४।५१; मै०—२।८।१३

'देवी देव्यामधिजाता पृथिव्यामस्योषधे। तां त्वा नितत्नि केशेभ्यो दृंहणाय खनामसि॥'
—शौ० ६।१३६।१

'नितत्नि नितन्वाने न्यक्प्रसरणशीले ओषधे' (सा०)

२. जै० गृ०—१।१; कौ० गृ०—२।६।९; पा० गृ०—१।२१; गो० गृ०—१।५।१५; बौ० पि०—३।४; अ० प०—२१।३।२; ७०।११-९; वि० ध०—६१।१४

३. वि० ध०—६१।३

४. खल्वा निष्पावा बल्लशब्दवाच्याः लोके—शांकर० बृ० उ० ६।३।१३ पा० म०—१।३।१०; ३।३।२०

५. गो० गृ०—१।५।१५; पा० ग०—४।३।१५४; शु० प्रा०—५।३७; पा० म०—४।१।१७०; ६।१।९१

६. पै०—१९।५।९; अ० प्रा०—३।४।७

'अलसालासि पूर्वा सिलाञ्जालास्युत्तरा। नीलागलसाला'—शौ० ६।१६।४

'अलसालेत्याद्यास्तिस्रः संज्ञास्तिसृणां सस्यवल्लीनाम्'—सा०

७. के० प०—२६।२२-२४

८. पा०—४।१।४२; कौ० सू०—२६।२२; शं० लि० ध०—४१२; पा० वा०—४।२।१२; पा० म०—४।१।४२ (नीली ओषधिः), ४।२।१ (ओषधिविशेषो नीली—प्रदीप)

९. अ० प०—२१।७।३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नीवार[1]—

नीविभार्य—'नीविभार्यौ' से सायण ने श्वेत-पीत सर्षप लिया है। यह उग्र होता है और गर्भ की रक्षा करता है। (देखें सर्षप)

न्यग्रोध[3]—वट का यह नाम है। इससे नीचे की ओर प्ररोह निकल कर इसे भूमि

---

१. काठ०—१२।४; मैं०—३।४।१०; मा० १८।१२; श०—५।१।४।१४; ५।३।३।५; तै० ब्रा०—१।३।६।७; वि० ध०—८०।१; वै० ध०—१।७।५

२. शौ०—८।६।२०; पै०—१६।८१।१. (नीव्यां भर्त्तव्यौ वस्त्राञ्चलन धार्यौं-सा०)

३. मै०—४।४।२ (क्षत्रं न्यवनतमवरोधैर्न्यग्रोधः····क्षत्रं न्यवतनोति द्रढिम्नेऽशिथिरत्वाय) काठ०—४३।४; ४४।१; मा०—२३।१३; शौ०—४।३७।४; ५।५।५; पै०—६।४।४; १३।४।७; खि०—४।७।५;
'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥'
—शौ० ४।३७।४
श०—५।३।५।१३ (पद्भिर्वै न्यग्रोधः प्रतिष्ठितः); १२।७।१।९;
१३।२।७।३; (न्यञ्चो न्यग्रोधा रोहन्ति); १३।८।१।१६;
ऐ० ब्रा०—७।३० (अथास्य स्वो भक्षो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि)—'इदानीमपि तस्मिन् कुरुक्षेत्रे एनान् न्यग्रोधवृक्षान् न्युब्जाः इत्येनन नाम्ना आचक्षते'—सा०
'न्यङ् अधोमुखा रोहति प्रादुर्भवतीति······न्यग्रोधः'—सा०
७।३१; (परोक्षमिव ह वा एष सामो राजा यन् न्यग्रोधः;·····क्षत्रं वा एतद् वनस्पतीनां यन् न्यग्रोधः)
८।१६ (वानस्पत्यचतुष्टय)
छां० उ०—६।१२।१
का० श्रौ०—१५।५।२८; १९।२।१९; २१।३।२०; बौ० श्रौ०—१२।३; १४।१८; १८।८
आप० श्रौ०—९।३।६४ (नैयग्रोध इध्मः क्षत्रियस्य); वा० श्रौ०—३।३।२।२८; ४८
द्रा० श्रौ०—१।१।१७ (महावृक्षो न्यग्रोधादिः—भा०)
गो० गृ०—२।६।६ (न्यग्रोधशुंगामुभयतःफलाम्); शां० गृ०—१।२०।१–५
पा० गृ०—१।१४।४; कौ० गृ०—२।१।१८; हि० गृ०—३।१२; ७।३; २०।१।९; १९।१।१४
जै० गृ०—१।५; १२; बौ० गृ०—२।५।१७; खा० गृ०—२।२।२५; आप० गृ०—६।१४।९–१२; ४।११।१७; वा० गृ०—१६।१; ५।४३; मा० गृ०—२।६।४; हि० श्रौ०—२६।१।६९
आप० ध०—१।१।२।३८; वा० ध०—११।५३; कौ० सू०—५०।६; अ० प०—२।१।३
२६।५।६–७; ६४।८।२; ७१।१६।१; ऋ० तं०—५।२।५
पा०—७।३।५
पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१६४; ७।३।५३; पा० वा०—१।२।६४; २।२।२९; ७।३।१;
पा० म०—१।१।५५ (ये क्षीरिणोऽवरोहवन्तः पृथुपर्णाः ते न्यग्रोधाः);
१।१।७१; १।४।९ (वटकणिका); ५।२।७२;
७।३।१ (न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः); Ved. ind. i-462; Ved. Pl.–655.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में प्रतिष्ठित करते हैं—'न्यग्रोहतीति न्यग्रोधः'। दृढ़ता एवं विस्तार के कारण यह क्षात्रधर्म का प्रतीक है। क्षत्रिय यजमानों को इसके प्ररोह एवं फल खाने का विधान है। पर्णकृच्छ्र व्रत में इसके पत्तों को उबाल कर लेते थे। यज्ञ में इसके चमस, अभिषेकपात्र आदि बनते थे। इसकी समिधा भी प्रयुक्त होती थी। उपनयन में इसका दण्ड क्षत्रिय या वैश्य के लिए विहित है। इसके शुंग का प्रयोग पुंसवनकर्म के लिए निर्दिष्ट है। पतञ्जलि ने इसका परिचय दिया है :—'जिसमें दूध हो, अवरोह हों तथा पृथु पर्ण हों। यह वानस्पत्य-चतुष्टय में उदुम्बर, अश्वत्थ तथा प्लक्ष के साथ निर्दिष्ट है। पञ्चवल्कल (हि० गृ० ३।१२) में भी इसका अन्तर्भाव है। वट के फल के भीतर जो सूक्ष्म कण होते हैं उन्हें 'वटकणिका' कहा है।

ऋग्वेद में यह शब्दतः निर्दिष्ट नहीं है किन्तु पिशल का कथन है कि ऋ० (१।२४।७) में जो वर्णन है उसमें इसके संकेत निहित हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि ऋग्वेदकाल में भी इसका ज्ञान था।

न्यस्तिका[1]—सहस्रपर्णी, सुभगंकरणी इसके पर्याय हैं। सायण ने इसे शंखपुष्पी माना है। (देखें शंखपुष्पी)

पटेरक[2]—यह जलीय प्रदेश में होने वाली वनस्पति है। इसकी समिधा का प्रयोग है।

पत्तूर[3]—

पथ्या[4]—

पद्म[5]—इसका मुकुल हृदयाकार होता है तथा इसका वर्ण रक्ताभ होता है। पद्मनाल

---

१. न्यस्तिका रुरोहिथ सुभगंकरणी मम। शतं तव प्रतानास्त्रयस्त्रिंशन्नितानाः।
तया सहस्रपर्ण्या हृदयं शोषयामि ते॥
शुष्यतु मयि ते हृदयमथो शुष्यत्वास्यम्। अथो नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥
संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद। अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि॥
यथोदकमपपुषोऽपशुष्यत्यास्यम्। एवा नि शुष्य मां कामेनाथो शुष्कास्या चर॥
यथा नकुलो विच्छिद्य संदधात्यहिं पुनः। एवा कामस्य विच्छिन्नं सं धेहि वीर्यावति॥
—शौ० ६।१३९।१-५

'न्यस्तिका दौर्भाग्यलक्षणं नितरामस्यन्ती'—सा०

२. के० प०—३८।६; ४०।१-२

३. पा० उ० सो०—२।३।५९

४. वै० गृ०—३।१५।८

५. गो०—१।३।१६; 'पद्मकोशप्रतीकाशं हृदयं चाप्यधोमुखम्'—तै० आ० १०।११।२; 'पद्म०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

को लोग खाते हैं। इसके बीजों की माला बनाने का विधान है। वासिष्ठ धर्मसूत्र में आहारशुद्धि के प्रकरण में इसका उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में रक्षोघ्न, कृत्या-दूषण, यशस्य-वर्चस्य ओषधियों में इसका उल्लेख है। शुद्धि के लिए पद्मपत्र का पान-पात्र के रूप में उपयोग किया गया है। स्वप्नाध्याय में कफप्रकृति के स्वप्नों में पद्मपत्र का उल्लेख है। इसके होम का भी विधान है।

पद्मक[1]—चन्दन, केशर, कर्पूर तथा अगुरु के साथ अनुलेपन के लिए इसका विधान है।

पनस[2]—पुष्पाभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पनस-पल्लव उल्लेख है। ऋक्तन्त्र में पनसवन का निर्देश है।

परशु[3]—(देखें स्वधिति) यह अपचित् की चिकित्सा में प्रयुक्त है।

पराचीन[4]—

परायती[5]—

परारिका[6]—यह श्राद्ध में वर्ज्य कहा गया है। टीकाकारों ने इसे 'डुण्डुभ' नाम से म्लेच्छों में प्रसिद्ध बताया है।

परिव्याध[7]—

परुषक[8]—

नालानि भवयन्ति'—ऐ० आ० ३।२।४।१०; शां० लि० ध०—४४८; ४१७; वि० ध०—४६।१७; २३; अ० प०—१।४५।५; १८।१।१५-१७; १८।३।१-३; २१।७।३-४; ३८।३।१; ६८।१।३०, ३३; ६८।२।४९; ७०।१।६-९;

'त्रयो वर्णाः शुक्लः पद्मः सुवर्ण इति'—ध० ४।७

'पद्माक्षेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्'—शां० लि० ध० १०७

'मद्यभाण्डे स्थिता आपो यदि कश्चिद् द्विजः पिबेत्। पद्मोदुम्बरबिल्वपलाशानामुदकं पीत्वा त्रिरात्रेणैव शुध्यति'—वा० ध० २०।२१; २७।११

१. वि० ध०—७९।११; अ० प०—१।४५।५

२. ऋ० तं०—५।२।५; अ० प०—५।२।१-३; पा० उ०—३।१; पा० म०—१।१।७;

३. कौ० सू०—३०।१४

४. कौ० सू०—४८।२२

५. ऋ०—१।१९१।१-२

६. हि० श्रौ०—२६।५।५८ (कृष्णडुण्डुभाख्यं प्रसिद्धम्); आप० ध०—१।५।१७।२६ (मडुण्डुभाख्यया म्लेच्छानां प्रसिद्धम्)

७. आ० गृ०—२।७।५; कौ० सू०—४०।१४ (सूकरबालकः—दा०)

८. शां० श्रौ०—१५।१९।१; पा० उ० को०—२।३।१६१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

परुषवार[1]—यह विषघ्न कहा गया है।

परुषाह्व[2]—दारिल (कौ० सू० १६।१४) इसका अर्थ परुष (पर्वयुक्त) आह्व (पलाशवृक्ष) करते हैं। ग्रिफिथ इससे तृणविशेष का ग्रहण करते हैं।

पर्ण[3]—ऋग्वेद में अश्वत्थ के साथ तथा अथर्ववेद में अश्वत्थ और न्यग्रोध के साथ

---

१. शौ०—१०।४।२;

२. पै०—१६।२९।३
'परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधः'—शौ० ८।८।४
'A kind of reed—Griffith

३. ऋ०—१०।९७।५; मै० ४।१।१; तै०—३।५।७।१; क०—४६।८; शौ०—५।५।५; ३।५।१-८; १८।४।५३; पै०—३।१३।१-८; १।१६।६; श०—१।१।१।१; ६।५।१।१; जै० ब्रा०—१।३५५; तां०—२१।४।१३; तै० ब्रा०—१।२।१।६; ।७।१।९; १।७।८।७; ३।७।४।२; अ० अ०—३।४; छां०—२।२३।३; बृ०—३।९।२८।१; क० उ०—१।८।१२; कौ० सू०—३०।१५;
हि० श्रौ०—१३।३।२४; १।३।१० '(आतञ्चनद्रव्यभावे वैकल्पिकानि पञ्च द्रव्याण्याह—तण्डुलैः पर्णवल्कैः फलैः बदरैः पूतीकैः वा)'—बौ० श्रौ०—१८।८, ७; १४।२०, १६; १२।४; १२।३; २।७; आप० श्रौ०—१४।२५; १४।३०; ५।१।१२; १५।१०; का० श्रौ०—४।२।१; १६।३।१६; गो० गृ०—१।७।१६; कौ० गृ०—२।६।९; बौ० पि०—१।१४।२; १।१७।२;

'भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद् धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति॥'—शौ० ५।५।५
'पर्णो राजापिधानं चरूणामूर्जो बलं सह ओजो न आगन्।
आयुर्जीवेभ्यो विदधद् दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥'
—शौ० १८।४।५३

पर्ण-मणि

आयमगन्पर्णमणिर्बली बलेन प्रमृणन्त्सपत्नान्।
ओजो देवानां पय ओषधीनां वर्चसा मा जिन्वत्वप्रयावन्॥
मयि क्षत्रं पर्णमणे मयि धारयताद्रयिम्।
अहं राष्ट्रस्याभीवर्गे निजो भूयासमुत्तमः॥
यं निदधुर्वनस्पतौ गुह्यं देवाः प्रियं मणिम्।
तमस्मभ्यं सहायुषा देवा ददतु भर्तवे॥
सोमस्य पर्णः सह उग्रमागन्निन्द्रेण दत्तो वरुणेन शिष्टः।
तं प्रियासं बहु रोचमानो दीर्घायुत्वाय शतशारदाय॥
आ मारुक्षत्पर्णमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
यथाहमुत्तरो सान्यर्यम्ण उत संविदः॥

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका उल्लेख है। यह पलाश के लिए प्रयुक्त प्राचीन शब्द है। ऐसा व्याख्यान है कि द्युलोक स्थित सोम को गायत्री जब श्येनरूप होकर ला रही थीं तब उसका एक पंख टूट कर गिर गया उसी से 'पर्ण' की उत्पत्ति हुई। त्रिपदा गायत्री के समान इसके भी तीन-तीन पत्ते एक साथ होते हैं। यह ब्रह्म या ज्ञान का प्रतीक माना जाता है। ब्रह्मचारी के लिए उपनयन में पलाशदण्ड का विधान है। यज्ञ में यूप, स्रुव, जुहू, अभिषेकपात्र आदि बनते हैं। इससे राक्षसों का विनाश होता है। 'पराविल्क' का भी उल्लेख है। पर्णकषाय से सिक्त मृत्तिका से उखा आदि के निर्माण का विधान है क्योंकि इससे मृत्तिका में स्थिरता आ जाती है। अथर्व-वद में बल, आयु, समृद्धि तथा लोकप्रियता के लिए पर्णमणि के धारण का विधान है। तैत्तिरीय संहिता (२।५।१।७) में लिखा है कि रजस्वला स्त्री यदि पर्ण (पलाशपत्र) से जल का पान करे तो उन्माद रोग हो जाता है। श्रौत सूत्रों में पर्णवल्क से दही जमाने का विधान है। इसकी समिधा तथा परिधि यज्ञ में प्रयुक्त होती थी। यह लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है।

पर्णधि[1]—सायण ने इसका अर्थ इषुकाण्ड या विषमयपत्रयुक्त वृक्ष किया है।

पर्ण[2]—

पर्पट[3]—

पवतभेषज[4]—

पला[5]—

पलाण्डु[6]—धर्मशास्त्र में यह वर्ज्य आहार कहा गया है।

ये धीवानो रथकाराः कर्मारा ये मनीषिणः।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनान्॥
ये राजानो राजकृतः सूता य ग्रामण्यश्च ये।
उपस्तीन्पर्ण मह्यं त्वं सर्वान्कृण्वभितो जनन्॥
पर्णोऽसि तनूपानः सयोनिर्वीरो वीरेण मया।
संवत्सरस्य तेजसा तेन बध्नामि त्वा मणे॥—शौ० ३।५।१–८

१. शौ०—४।६।५;
२. पै०—२०।३७।८
३. पा० उ० मो०—२।२।९८
४. आप० मं०—२।१।१
५. पै०—१।८९।३
६. पा० उ० बृ०—१।३।७; हि० श्रौ०—२६।५।५८ (स्थूलकायो नीलो लशुनानुकारी)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पलाश[1]—(देखें पर्ण)

यह यज्ञिय वृक्षों में मुख्य है। यज्ञ में इसकी परिधि तथा यूप बनाये जाते हैं। इसकी मांसवत् त्वचा से लोहितवर्ण प्रभूत रस का निर्यास निकलता है। यह वनस्पतियों में तेजस्वी तथा ब्रह्मवर्चस माना गया है। कौशिकसूत्र में यह मेधाजनन बतलाया गया है तथा इसकी गणना शान्तवृक्षों में की गई है। जलोदर में

आप० ध०—१।५।१७।२६ (श्वेत); शां० लि० ध०—३४०; ४१८; वै० ध०—२।१५।५; ३।५।८; बा० ध०—१४।३३; अ० प०—३६।७।१-३; पा० म०—२।२।३६; ५।३।६६ ('वृषलरूपोऽयं, अप्ययं पलाण्डुना सुरां पिबेत्')

1. शौ०—२०।१३५।३; श०—'मांसेभ्य एवास्य पलाशः समभवत्। तस्मात् स बहुरसो लोहितरसः—१३।४।४।१०; ५; ष०—४।४; जै० ब्रा०—१।३।५३;
ऐ० ब्रा०—'तेजो वै ब्रह्मवर्चसं वनस्पतीनां पलाशः'; 'सर्वेषां वा एष वनस्पतीनां योनिर्यत् पलाशः'—२।१; ऐ० आ०—५।१।३; तै० ब्रा०—३।८।१९।१
छां—५।२।३; पु०—६।३।७-१२; हि० श्रौ०—२४।२।५; ४०; १३।५।२१; ३३; १३।१।७; ११।१।११; ५।१।१; ४।१।२; १।२।६; आप० श्रौ०—७।१।२।१७; ८।१।१।१; ९।३।५६; १।२।२९; ३०; ६।३।९।३; बा० श्रौ०—३।४।१।५४; ५५; ३।३।२।८; ४८; १।२।१।२; ३०; ४।१; ४।७; वि० ध०—६।१।१; ४६।२३; २७।१; गौ० ध०—१।२२; २७।११; २०।२१
बा० ध०—१२।३४; ५२
के० प०—१९।२२-२३; २७।१९-२०; ४८।२४.
पा०—४।३।१४१; १६९; पा० म०—४।३।१५५.
१।२।४।२; १।६।१।५; का० श्रौ०—२५।८।१; १५; १।३।३५; २।८।१; ५।१०।७; ६।१।८; ७।९।१२; १५।२।२; १५।५।३८; १५।६।१२; १६।४।४०; १६।६।२६; १७।१।३; १९।३।१३; २०।४।१९; २१।३।३०; ३२;
काठ० गृ०—४।१।२२; कौ० गृ०—२।१।१७; शां० गृ०—४।१७।३; गो० गृ०—१।५।१५
बौ० गृ०—१।३।१३; १।१६।४९; मा० गृ०—१।१७।६; २।६।४
बा० गृ०—१।४; ५।७४; खा० गृ०—२।२।१०-११; जै० गृ०—१।१९; २।६
आ० गृ०—१।१२।२; १।२२।१९; पा० गृ०—१।२१
कौ० सू०—८।१५; १३।५; २६।४०; १०।४-६; १६।५; १८।३२; ३६; १९।२२; २६।३४; ३०।१५; ३५।४; ३६।२०; ३८।२१; ४१।२२; ४२।१६; २०; ४६।४; ५६।२; ५७।४; ८२।२५; २६; ८३।४; ८५।१५; ८९।६; १३९।१-३; अ० प०—२१।३।१; २३।४।५; २३।६।२, ५; २३।९।४; २६।५।१-५; ६-७; ३०।४।२-३; ३५।१।८-१२; ३६।२।४-५; ३८।३।१; ४०।३।२; ६८।१।१६; नि० सू०—१।१।१; या० शि०—३३; या०—१२।२९
बौ० पि०—३।२,४,६,७,१०; हि० श्रौ०—२६।१।६९; २६।८।५; २८।१।२९; ४७; २८।२।६८; २९।१।१४,५६; २९।२।७; २९।४।१९; आप० ध०—१।११।३१।२५; १।१।२।३८
बौ० ध०—२।६।४; शां० लि० ध०—३६।१.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसके लेप का विधान है। केशव ने इसे सर्वरोगभैषज्य कहा है (के०प०४१२५।२०)। कृमिरोग में इसका प्रयोग है।

पलितंकरणी[1]—

पवाकस्ति[2]—यह इन्द्रयव के लिए आया है।

पाकदूर्वा[3]—सायण ने इसका अर्थ परिपक्व दूर्वा किया है। अथर्ववेद में 'शाण्डदूर्वा' शब्द आया है (शौ०—१८।३।६)।

पाकवलि[4]—

पाटली[5]—

पाटा[6]—सायण के अनुसार यह 'पाठा' है। उत्तानपर्णा, सुभगा, देवजूता सहमाना,

---

१. पा०—३।२।५६

२. अ० प०—१।२०

३. ऋ०—१०।१६।३;
तै० आ०—६।४।१; २; कौ० गृ०—५।५।५

४. ५।१५।१३-१४

५. पा० ग०—४।३।१३६; 'पाटलानि मूलानि'—पा० म० ४।३।१६६ (पाटलानि पुष्पाणि (भट्टोजि०)

६. पै०—७।१२।१-१०; २।१६।३; कौ० सू०—३८।१८,७६।२; अ० शां०—१९।६; बृ० दे०—८।५६; आप० गृ०—३।९।५-८; पा० गृ०—१।२१; हि० श्रौ०—२९।१।४; के० प०—३८।१९-२१;

'अधोवृत्ते वातप्लवा महीयसे'—पै० ७।१२।६ -

'नेच्छत्रुः प्राशं जयाति सहमानाभिभूरसि। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
सुपर्णस्त्वान्वविन्दत् सूकरस्त्वाखनन्नसा। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
इन्द्रो ह चक्रे त्वा बाहावसुरेभ्यस्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
पाटामिन्द्रो व्याश्नादसुरेभ्यस्तरीतवे। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
तथाहं शत्रून्त्साक्ष इन्द्रः सालावृकाँ इव। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
रुद्र जलाषभेषज नीलशिखण्डकर्मकृत्। प्राशं प्रतिप्राशो जह्यरसान् कृण्वोषधे॥
—शौ० २।२७।१-६.

इमां खनाम्योषधिं वीरुधां बलवत्तमाम्। यया सपत्नीं बाधते यया संविन्दते पतिम्॥
उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे पराणुद पतिं मे केवलं कृधि॥
नहि ते नाम जग्राह नो अस्मिन् रमसे पतौ। परामेव परावतं सपत्नीं गमयामसि॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सहीयसी तथा सहस्वती ये इसके पर्याय हैं। यह वीर्यवती, विषघ्न, रक्षोघ्न, मेध्य, काम्य तथा गर्भस्थापन कही गयी है। ऋग्वेद में सपत्नीबाधन तथा वशीकरण के रूप में प्रयोग है। संभाषा में प्रतिवादी पर विजय प्राप्त करने के लिए इसके अभिमन्त्रित मूल का भक्षण तथा इसके सात पत्रों की माला शिर पर धारण करने का विधान है (शौ०—२।२७।१–६)। अथर्ववेद (३।१८।१–६) में ऋग्वेदोक्त मन्त्र ही हैं। सायण ने 'उत्तानपर्णी' शब्द की व्याख्या की है 'उत्तानानि ऊर्ध्व-मुखानि पर्णानि पत्राणि यस्याः सा'। पैप्पलादसंहिता में यह सुभगंकरणी तथा पेड़ों के नीचे हवा में डोलती हुई कही गई है। कौशिकसूत्र के विवाहप्रकरण में भी इसका उल्लेख है।

पारिभद्रिका[1]—निषिद्ध दन्तधावनों में इसका उल्लेख है।

पालक्य[2]—श्राद्ध में वर्ज्य शाकों में परिगणित है।

पालेवत[3]—श्राद्ध में दातव्य फलों में निर्दिष्ट है।

पाविका[4]—विबन्ध तथा जलोदर में इसे पिलाने का विधान है।

पाशीमूष[5]—पितृमेध के संभारों में इसकी गणना है।

उत्तराहमुत्तर उत्तरेदुत्तराभ्यः। अधः सपत्नीं या ममाधरा साधराभ्यः॥
अहमस्मि सहमानाथो त्वमसि सासहिः। उभे सहस्वती भूत्वा सपत्नीं मे सहावहै॥
अभि तेऽधां सहमानामुप तेऽधां सहीयसीम्।
मामनु प्र ते मनो वत्सं गौरिव धावतु पथा वारिव धावतु॥
—ऋ० १०।१४५।१–६; शौ०—३।१८।१–६

१. 'न पारिभद्रिकाम्लिकामोचकशाल्मलीशणजम्'—त्रि० ध० ६१।५

२. 'पिप्पलीमुकुन्दभूस्तृणशिग्रुसर्षपसुरसार्जकसुवर्चलकूस्माण्डालाबुवार्ताकुपालक्योपोद-कतण्डुलीयककुसुम्भपिण्डालुकमहिषीक्षीराणि वर्जयेत्—वि० ध० ७९।१७

३. 'आम्रान् पालेवतानिक्षून् मृद्वीकां भव्यदाडिमम्।
विदार्यांश्च भुचुण्डांश्च श्राद्धकालेऽपि दापयेत्॥
द्राक्षां मधुयुतां दद्यात् सक्तून् शर्करया सह।
दद्याच्छ्राद्धे प्रयागेभ्यः शृंगाटककशेरुकान्॥'
शं० लि० ध०—२२०

४. यवगोधूमवल्ली पद्ममूलं पाविका एतानि क्वाथयित्वा पाययति'—के० प० २५।१८

५. कौ० सू०—८३।३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिङ्ग[1]—सायण ने इसका अर्थ गौरसर्षप किया है। (देखें बज और सर्षप)

पिचुक—

पिचुमन्द[2]—

पिण्डफला[4]—

पिण्डालुक[5]—श्राद्ध में वर्ज्य द्रव्यों में परिगणित है।

पिण्डीतक[6]—

पिप्पल[7]—ऋग्वेद मे यह शब्द आया है। सायण ने इसका अर्थ पक्व और पालक फल किया है। निघण्टु में जल के पर्यायों में इसका उल्लेख है। बृहदारण्यक उपनिषद् में यह अश्वत्थ-फल के लिए प्रयुक्त हुआ है। विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्तधावन निषिद्ध कहा गया है, वहाँ स्पष्टतः यह अश्वत्थ के लिए प्रयुक्त हुआ है।

पिप्पली[8]—अथर्ववेद में यह रसायन, क्षिप्तभेषजी, अतिविद्धभेषजी, वातीकृतभेषजी

---

१. शौ०—८।६।६; १८; १९; २३;
'ये सूर्यात् परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि। बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम्'।
पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान् मा दभन् बाधस्वेतः किमीदिनः ॥ —शौ० ८।६।२४-२५

२. पा० ग०—४।२।९०

३. पा० गृ०—३।१०।२४

४. पा० वा०—४।१।४

५. वि० ध०—७९।१७

६. पा० उ० भो०—२।२।४०; वैं० गृ०—३।१४।५

७. 'द्वा सुपर्णा सयुजा सखाया समानं वृक्षं परिषस्वजाते।
तयोरन्यः पिप्पलं स्वाद्वत्त्यनश्नन्नन्यो अभिचाकशीति ॥'—ऋ० १।१६४।२०; २२;
निघ०—१।१२;
'तद् यथाम्रं वोदुम्बरं वा पिप्पलं वा बन्धनात् प्रमुच्यते'—बृ० उ० ४।३।३६
'न च कोविदारशमीपीलुपिप्पलेङ्गुदगुग्गुलुजम्'—वि० ध० ६१।४

८. ऋ०—५।५४।१२ (सा०); पैं०—१९।२७।८-१०; १९।३१।११;
वि० ध०—७९।१७; आप० ध०—१।७।२०।१२; कौ० सू०—१०।१६; २६।३८;
अ० प०—३२।१।४; अ० अ०—६।१०९; पा० ग०—४।१।४१; (वा०) ४।३।१६७;
पा० म०—१।१।२; १।२।४४; ७२; ५।३।७२
'पिप्पली क्षिप्तभेषज्यूतातिविद्धभेषजी। तां देवाः समकल्पयन्नियं जीवितवा अलम् ॥
पिप्पल्यः समवदन्तायतीर्जननादधि। यं जीवमश्नवामहै न स रिष्यति पूरुषः ॥
असुरास्त्वा न्यखनन् देवास्त्वोदवपन् पुनः। वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम् ॥
—शौ० ६।१०९।१-३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कही गई है। सायण ने धनुर्वात, आक्षेपक आदि समस्त वातव्याधि में खिलाने का विधान किया है। समुद्रमन्थन काल में अमृत के साथ इसकी उत्पत्ति कही गई है। जैमिनीय ब्राह्मण में एक आख्यान आता है कि वसिष्ठ का पुत्र अपहृत हो जाने पर उन्होने इच्छा की कि मेरी बहुत प्रजा और पशु हों। पिप्पली के सेवन से उनकी यह इच्छा पूरी हुई। पिप्पल (फल-संतान युक्त होने के कारण इसका नाम पिप्पली है। विष्णुधर्मसूत्र में श्राद्ध में निषिद्ध द्रव्यों में इसकी गणना है। आपस्तम्ब धर्मसूत्र में ब्राह्मणों द्वारा इसका व्यापार निषिद्ध कहा है। कौशिकसूत्र में नवजात शिशु के जातकर्म में अन्य ओषधियों के साथ सर्षपखण्ड से इसे चटाने का विधान है। यह प्रयोग मेधाजनन कहा गया है। आक्षेपक रोग में इसे खिलाने का भी उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट की गणमाला में यह भैषज्यगण में पठित है इससे प्रतीत होता है कि यह उस समय एक महत्त्वपूर्ण ओषधि थी। केशवपद्धति (२६।३३-४०) में वातविकार में पिप्पली खिलाने का विधान है।

पिप्पलीमूल[1]—

पिंषती[2]—

पीतुदारु[3]—यज्ञ में इस वृक्ष का यूप तथा परिधि बनती थी। शतपथ ब्राह्मण में कहा

'पिप्पली एतत्संज्ञा कणाद्यपरपर्याया ओषधिः'
'हस्तिपिप्पल्यादिजातिभेदभिन्नाः सर्वाः पिप्पल्यः'—सा०
ग्रिफिथ यहाँ 'पिप्पली' का अर्थ अश्वत्थ का फल करते हैं जो ठीक नहीं है।
वसिष्ठो वा जीतो हतपुत्रो अकामयत—बहुः प्रजया पशुभिः प्रजायेयेति।......
सोऽब्रवीत् पिप्पलि वा इदं आस येन प्राजनिषीति। तत् पिप्पलीनां पिप्पलीत्वम्।
पिप्पलिनं ह वं नामैतत् पिप्पलीत्याख्यायते तत्। प्रजा वै पिप्पलं, पशवः पिप्पलं,
स्वर्गो लोकः पिप्पलम्।'—जै० ब्रा० ३।१४९

१. पा० ग०—४।२।९०

२. 'अदृष्टान् हन्त्यायस्यथो हन्ति परायती। अथो अवघ्नती हन्त्यथो पिनष्टि पिंषती॥'
ऋ०—१।१९१।१-२

३. काठ०—२५।६; क०—३९।४; श०—१३।४।४।५; पा० ग०—४।३।१५४;
का० श्रौ०—५।४।१४; १८।४।३; २०।४।१८; २४।३।९; १०;
'शरीरं हैवास्य (अग्नेः) पीतदारुः तद् यत् पैतुदारवाः परिधयो भवन्ति'—
श० ३।५।२।१५; पीतुदारुः उदुम्बरविशेषः (सा०)
'अथ यदापोमयं तेज आसीत् यो गन्धः स सार्धं समवद्रत्य चक्षुष्ट उदभिनत्। स एष वनस्पतिरभवत् पीतुदारुः; तस्मात् स सुरभिः। गन्धाद्धि समभवत्; तस्मादु ज्वलनः।
'तेजसो हि समभवत्'—श० १३।४।४।७; पीतदारुर्देवदारुः (टि०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है कि इसमें सुगन्ध होती है तथा तैजस होने के कारण इसकी लकड़ी शीघ्र जलती है। इससे पक्व घृत का अञ्जन तथा अभ्यंग में प्रयोग विहित है। सायण ने इससे उदुम्बरविशेष का ग्रहण किया है जबकि कुछ टीकाकारों ने देवदारु या खदिर लिया है।

पीला[1]—अथर्ववेद में गुग्गुलु और नलदी के साथ इसका उल्लेख हुआ है अतः यह कोई सुगन्धि द्रव्य प्रतीत होता है। सायण ने गुग्गुलु, पीला, नलदी, औक्षगन्धि और प्रमन्दनी इन पाँचों को होमद्रव्य लिखा है। भूतग्रह की चिकित्सा में इसका विनियोग है।

पीलु[2]—यह कटु, रक्षोघ्न तथा आयुष्य कहा गया है। विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्तधावन निषिद्ध किया है। गौतम तथा शंखधर्मसूत्र में यज्ञोपवीत में ब्राह्मण के अतिरिक्त अन्य वर्णों के लिए इसके दण्ड का विधान है।

पीलुमती[3]—यह पीलु के सदृश वृक्षविशेष है।

'पीतुदारुः खदिरवृक्ष इत्येके, देवदारुवृक्ष इत्यन्ये'—ऐ० १।२८ (सा०)
'गौग्गुलवेन प्रातःसवने सौगन्धिकेन माध्यन्दिने सवने पैतुदारवेण तृतीयसवने'
—तां० २४।१३।४
'पैतुदारव उदुम्बर इति केचिन्, देवदारुरित्यन्ये; तदीयतैलेन तृतीयसवने तदुभयं (अञ्जनमभ्यञ्जनं च) कार्यम्'—सा०
'यदस्थि तव पीतदारु'—तां० २४।१३।५

१. गुग्गुलूः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत् परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥'
—शौ० ४।३७।३
'गुग्गुल्वादीनि पञ्च होमद्रव्याणि विनियोगशास्त्रप्रसिद्धानि'—सा०
पै०—१३।४।३; पा०—४।१।११८

२. गौ० ध०—१।२३; श०लि०ध०—३६ (१); वि० ध० ६१।४; पा०—५।२।२४; ६।३।१२१; पा० म०—५।१।९७; ७।१।७४; पा० ग०—४।१।८६; ५।१।९७; ५।२।२४;
'त्वमिन्द्र कपोताय छिन्नपक्षाय वञ्चते। श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्मा अकृणोर्बहुः।'
—शौ० २०।१३५।१२
'पालयन्तीति पीलवः'—शौ० १८।२।४८ (सा०)
'कटुकं अवगूढं पले कुलम्'
'तव चाश्नातु पिप्पलम्'
'रक्षोहणं वृत्रहणं पीलुं पिशाचजम्भनम्। जघानं अग्ने वृक्षाणां तं ते बध्नाम्यायुषे॥
—पै० ७।१९।१-१०

३. 'Blossoming with The Pilu tree (Careya arborea)—Griffith.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुण्डरीक[1]—यह तालाबों में होता है तथा श्वेत वर्ण का होता है। हृदय पुण्डरीक सदृश कहा गया है। ऐतरेय आरण्यक में रक्तवर्ण पुण्डरीक के स्वप्न का उल्लेख अरिष्टप्रकरण में है। अथर्वपरिशिष्ट में कफ-प्रकृति के स्वप्न में पुण्डरीकवन का उल्लेख है जिससे इसके श्वेत वर्ण का संकेत मिलता है।

पुत्रजीवक[2]—इसके बीजों की माला बनाने का उल्लेख है।

पुनर्नवा[3]—यह ग्रीष्म ऋतु में सूख जाती है और बरसात में पानी पड़ने पर पुनः हरी हो जाती है।

पुन्नाग[4]—

पुरुषभेषज[5]—

---

१. शौ०—६।१०६।१; पै०—६।२२।८; श०—१४।५।६-१४; गो०—१।१।३९; तां०—१८।९।६; तै० ब्रा०—१।८।२।१; ३।१०।१।४; ऐ० आ०—३।२।४।१०;
का० श्रौ०—१६।२।२६; १७।४।१; २३।५।२३; अ० प०—६८।१।३०; ३३; अ०अ०-१०।११;
पा० ग० —२।१।५६; ५।३।१०७;
छां०—१।६।७; ८।१।२; बृ० उ०—२।३।६;
'आयने ते परायणे दूर्वा रोहन्तु पुष्पिणीः। ह्रदाश्च पुण्डरीकाणि समुद्रस्य गृहा इमे ॥'
—ऋ० १०।१४२।८
'पुण्डरीकाणि पद्मानि च तेषु ह्रदेषु जायन्ताम्'—सा०
'असौ नक्षत्राणां वा अवकाशे पुण्डरीकं जायते'—मं० ४।४।७
'पुण्डरीकं नवद्वारं त्रिभिर्गुणेभिरावृतम्। तस्मिन् यद् यक्षमात्मन्वत् तद् वै ब्रह्मविदो विदुः ॥ —शौ० १०।८।४३
'पुण्डरीकं शुक्लम्'—बृ० उ० २।३।६ (शांकर)
'यदिदमस्मिन् ब्रह्मपुरे दहरं पुण्डरीकं वेश्म'—छां० ८।१।१
'पुण्डरीकसदृशं वेश्म'—(शांकर)
'हृदयपुण्डरीके वेश्मनि'— „
Ved. ind.—1–536.

२. 'पद्मात्वेन्द्राक्षपुत्रजीवकानामन्यतमादक्षमालां कुर्यात्'—शं० लि० ध० १०७

३. 'अग्नेर्घासो अपां गर्भो या रोहन्ति पुनर्णवाः। ध्रुवाः सहस्रनाम्नीर्भेषजी सन्त्वाभृताः॥
—शौ० ८।७।८; पै० १६।१२।८
'यथा ह वा इदं दावादभिभूवाः अभिवृष्टाः पुनर्णवा ओषधयः समुत्तिष्ठति।'
बौ० श्रौ०—१८।१२

४. अ० प०—२६।५।१-५

५. 'दीर्घायुत्वाय सहसे मह्यं अरिष्टतातये।
सुपर्णो मह्यं अब्रवीद् एतत् समस्तभेषजं एतत् पुरुषभेषजम् ॥'
पै०—२०।५४।९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुष्कर[1]—निरुक्त में पुष्कर का अर्थ अन्तरिक्ष, जल, पोषक, पुष्पयुक्त आदि किया है। सामान्यतः इससे कमल लिया जाता है। 'पुष्करपर्ण' का वैदिक वाङ्मय में बहुशः उल्लेख मिलता है। यज्ञ में इसका प्रयोग बैठने के लिए, कुछ रखने के लिए तथा भोजन के लिए भी किया जाता था। तैत्तिरीय आरण्यक में पुष्करदण्ड तथा पुष्कर का भी निर्देश है। यह जल में होता है। अथर्वपरिशिष्ट (२१।२।४) में पुष्करतन्तु का उल्लेख है। इसका पुष्प सुगंधित होता है।

कुछ विद्वानों ने इससे नीलोत्पल लिया है।[2] मजुमदार ने इसका नाम Nymphoea stellata दिया है।

---

१. ऋ० ७।३३।११; ८।७२।११; तै०—५।१।४।४; क०—३१।७; श०—४।१।५।६; ६।४।१।७; ८; ६।४।२।२; ६।४।२।२; ७।३।२।१४; १०।४।३।१४; १०।५।१।५; गो० १।१।१६; शां०—८।१; तै० ब्रा०—१।२।१।४; १।१।३।६; तै० आ०—१।२३।१; १।२५।१; १।२६।७; बृ० दे०—५।१५४; १५५; हि० श्रौ०—३।३।६; ११।१।२०; ११।१।२१; २२।६।६; बौ० श्रौ०—२।१२; १०।२७; १०।२९; आप० श्रौ०—५।१।१२; अ० प०—२१।२।४; २३।३।१; पा० म०—१।१।५६; ७।२।११७

'पुष्करमन्तरिक्षम्। पोषति भूतानि। उदकं पुष्करम्। पूजाकरम्। पूजयितव्यम्। इदमपीतरत् पुष्करमेतस्मादेव। पुष्करं वपुष्करं वा। पुष्पं पुष्पतेः। वयुनं वेतेः। कान्तिर्वा। प्रज्ञा वा।'—या० ५।१४

त्वामग्ने पुष्कराद्ध्यथर्वा निरमन्थत। मूर्ध्नो विश्वस्य वाघतः।'—ऋ० ६।१६।१३

'पुष्करादधि पुष्करपर्णे'···'पुष्करपर्णे हि प्रजापतिर्भूमिमप्रथयत 'तत् पुष्करपर्णेऽप्रथयत्' (तै० ब्रा० १।१।३।६) इति श्रुतेः। भूमिश्च सर्वजगत आधारभूतेति पुष्करपर्णस्य सर्व-जगद्धारकत्वम्।'—सा०

'अपां वा एतत् पृष्ठं यत् पुष्करपर्णं; योनिर्वा अग्नेः पुष्करपर्णम्'—तै० ५।१।४२

'प्रतिष्ठा वै पुष्करपर्णम्'—श० ७।४।१।१२

'देवाश्च वा असुराश्च उभये प्राजापत्याः पस्पृधिरे। साहेयं पृथिव्यलेलायत् (चांचल्यं प्राप्नोत्), यथा पुष्करपर्णमेवम्। तां ह स्य वातः संवहति।—श० २।१।१।८

'इन्द्रो वृत्रं हत्वा नास्तृषीति मन्यमानोऽपः प्राविशत्। ता अब्रवीत् बिभेत्रि वै, पुरं मे कुरुतेति। स योऽपां रस आसीत्, तमूर्ध्वं समुदौहन्। तामस्मै पुरमकुर्वन्। तद् यदस्मै पुरमकुर्वन् तस्मात् पूष्करम्। पूष्करं ह वै तत् पुष्करमित्याचक्षते परोक्षम्।'
—श० ७।४।१।१३

'पुष्करपर्णैः पुष्करदण्डैः पुष्करैश्च संस्तीर्य तस्मिन् विहायसे—तै० आ० १।२२।९

'यस्ते गन्धः पुष्करमाविवेश'—शौ० १२।१।२४

२. Ved. ind. ii-9
Ved. Pl.—658

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुष्कला[1]—(विष्कला)—यह गर्भप्रस्रावन कही गई है।

पुष्पा[2]—केशवपद्धति में भृङ्गराज आदि के साथ श्वित्र में इसके लेप का विधान है।

पूग[3]—मूलतः इसका अर्थ संघ है। इसके फल गुच्छे में होने के कारण इसकी सञ्ज्ञा 'पूग' हुई हो। शांखायन गृह्यसूत्र के भाष्यकार ने इसे फलोत्तम कहा है[4]।

पूतद्रु[5]—इसके लिए 'पूतुद्रु' या 'पूतुदारु' शब्द भी प्रयुक्त हुये हैं। यज्ञ में इसका यूप या परिधि बनती थी। टीकाकारों ने इसे देवदारु या उदुम्बर कहा है। अथर्ववेद में इसे रक्षोघ्न, शत्रुघ्न तथा अमीवचातन कहा गया है तथा इसमें अग्नि की विशेषरूप से स्थिति बतलाई गई है। पैप्पलादसंहिता में यह विश्वभेषज, दुःस्वप्ननाशन तथा तमोघ्न कहा गया है।

पूतिरज्जु[6]—रॉथ के अनुसार यह एक बनस्पति है किन्तु कुछ लोग इससे 'दुर्गन्धित रज्जु' या सर्पविशेष अर्थ लेते हैं।

पूतीक[7]—'ऊतीक' शब्द भी कहीं-कहीं इसके लिए आया है। 'आदार' भी यही है।

---

१. पै०—१५।३

२. पै०—१६।१२।६; के० प०—२६।२२-२४
'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
अरुन्धतीमुन्नयन्तीं पुष्पां मधुमतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥'—शौ० ८।७।६

३. शां० गृ०—१।१।१२; पा० ग०—२।१।५९; ४।३।५४; पा०—५।२।५२; ५।३।११२; ६।२।२८; शौ०—३।१५ (सा०)

४. 'पूगखर्जूरजम्ब्वाम्रबदरोदुम्बरामलम्। उत्तमानि फलान्याहुः॥'

५. मै०—३।८।५; शौ०—८।२।२८; पै०—१९।५०।४-६; हि० श्रौ०—४।२।१; ४।५।१७; १४।२।३९-४०; १८।३।२; बौ० श्रौ०—४।१; आप० श्रौ०—७।१।५।५; वा० श्रौ०—१।६।१।३६; ३।४।१।५४, ५५; अ० प०—३७।९।१-२; कौ० सू०—८।१५; ५८।१५; अ० प्रा०—३।४।१;
'अग्नेर्वा एतत् शरीरं यत् पूतद्रुः'—जै० ब्रा० २।२७४

६. 'पूतिरज्जुरुपध्मानी पूतिं सेनां कृणोत्वमूम्।
धूममग्निं परादृश्यामित्रा हृत्स्वा दधता भयम्॥'—शौ० ८।८।२
Ved. ind.—ii-11

७. काठ०—३४।३; श०—१४।१।२।१२; तां०—९।५।३-५; ८।४।२; पं० वि०—८।४।१; ९।५।३; जै० ब्रा०—१।३५४; का० श्रौ०—२६।१।३; हि० श्रौ०—२४।१।१०; १५।६।१५-१६; १३।१०; बौ० श्रौ०—९।१; कौ० सू०—२२।१४; २५।११; अ० अ०—८।८; पा० ग०-४।२।७५; पा० म०—१।१।५५; ३।२।११० (शयिष्यामहे पूतीकतृणेषु)।
'यत् पूतीकैर्वा पर्णवल्कैर्वाऽऽतञ्च्यात्'—तै० २।५।३।५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सोम से इसका सम्बन्ध बतलाया गया है और उसके अभाव में इसे लेने का विधान है। ऐसा आख्यान है कि गायत्री पक्षी बनकर सोम लेने गई; सोम के रक्षक ने चलते समय पीछे से उसका पंख काट दिया उसके जो रोम गिरे वही पूतीक हुये। इससे प्रतीत होता है कि यह कोई तृणविशेष है। इससे दही जमाने का काम भी लेते थे। टीकाकारों में कुछ ने इसे रोहिषतृण माना है तथा कुछ सोमसदृश श्यामल लताविशेष मानते हैं (का० श्रौ० २५।१२।१९)। कौशिकसूत्र में मूत्रसंग में अन्य ओषधियों के साथ इसे पिलाने का विधान है। बिछाने के काम में भी इसके तृण आते थे। प्रायः विद्वानों ने इससे Caesalpinia bonducella का ग्रहण किया है किन्तु हिलब्रैण्ट इससे Basella Cordifolia लेते हैं।

पूतुदारु[1]—(देखें पूतद्रु)

कौशिकसूत्र में शान्तवृक्षों में परिगणित है। दारिल ने इसे देवदारु माना है। नामकरण संस्कार में पूतुदारुमणि के बन्धन और पान का विधान है। अथर्व-परिशिष्ट में इसके अभाव में यव लेने का निर्देश है।

'पूतीकाः रोहिततृणम्। आदार इति पूतिकानां नामान्तरम् ॥' —श० ४।५।१०।१ (टि०)

'गायत्री सोममाहरत्तस्या अनु विसृज्य सोमरक्षिः पर्णमच्छिनत् तस्य योंऽशुः परापतत् स पूतीकोऽभवत्। तस्मिन् देवा ऊतिमविन्दन्। ऊतीको वा एष यत् पूतीकानभिषुण्वन्ति ऊतिमेवास्मै विन्दन्ति।'—तां० ९।५।४

'इन्द्रो वृत्राय वज्रमुदयच्छत्। स यत्र यत्र पराक्रमत् तत्राभ्रियत। स पूतीकस्तम्बे पराक्रमत्। सोऽभ्रियत। सोऽब्रवीत्। ऊतिं वै मे धा इति। तदूतीकानामूतीकत्वम्।'
—तै० आ० ५।२।१०

'श्येनहृतं पूतीकानादारानरुणदूर्वाहरितकुशान् पूर्वालाभे पूर्वालाभे उत्तरान्'
—का० श्रौ० २५।१२।११

'पूतीका रोहिषतृणमिति निघण्टौ। माधवाचार्यास्तु पूतीकान् श्यामलान् सोमसदृशान् लताविशेषानिति व्याख्यातवन्तः।' (टि०)

'अन्यं राजानमभिषुणुयुः। अनधिगमे पूतीकानि फाल्गुनानि।'—आ० श्रौ० ६।८

'ओषधयः पूतीकाः कूलास्तण्डुलाः पर्णवल्का इत्यातञ्चनविकल्पाः'
—आप० श्रौ० १४।२६

'गार्हपत्यस्य दर्भैः स्तरणं, दक्षिणाग्नेः पूतीकैः आहवनीयस्य भांगाभिः'
—के० प० २२।३

Ved. ind.—ii-11

१. कौ० सू०—८।१५; 'पूतुदारुर्देवदारुः'—दा०
कौ० सू०—५८।१५;
'पूतुदारुं न विन्द्याच्चेत् यवं तत्र नियोजयेत्'—अ० प० ३७।९।१-२

७ द्र० च०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पृश्निपर्णी[1]—निघण्टु में पृश्नि आकाश का पर्याय है। निरुक्त में 'पृश्नि' सूर्य को कहते हैं क्योंकि इसमें अनेक वर्ण होते हैं। चित्रित पर्ण होने के कारण इसकी संज्ञा पृश्निपर्णी है। अथर्ववेद में यह चर्मरोगहर, रक्षोघ्न, रक्तशोधन, बृंहण, गर्भपोषक, दीपन-पाचन कही गई है। कण्वजम्भनी, सहस्वती, सहमाना इसके पर्याय हैं। कुष्ठ आदि रोगों में इसे पीसकर लेप करने का विधान है। श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में इसकी गणना है। अथर्वपरिशिष्ट के चातनगण में यह पठित है। रक्षोग्रह में इसे पीसकर लेप का विधान है (के० प० २६।३३–४०)।

रॉथ इससे लक्ष्मणा का ग्रहण करते हैं।

पृषातक[2]—

---

१. शौ०—२।२५।१–५; पै०—४।१३।१–७; ४।२२।६; श०—१३।८।१।१६; का० श्रौ०—२५।७।१७; हि० श्रौ०—२९।१।४; आग्नि० गृ०—३।५।५।६; बो० पि०—१।६।२; कौ० सू०—८।२५; २६।३६; अ० प०—१८।१।१५–१७; ३२।१।३; निघ०—१।४;
'पृश्निरादित्यो भवति, प्राश्नुत एवं वर्णा इति नैरुक्ताः'—या० २।१४
'दिवश्च आदित्यस्य च साधारणनामैतत्। प्राप्तोज्ज्वलवर्ण आदित्यः।'
—शौ० २।१।१ (सा०)
'पृश्निपर्णी चित्रपर्णी ओषधिः'—शौ० २।२५।१ (सा०)
'पृश्निपर्णी माषपर्णी'—का० श्रौ० २५।७।१७ (सा०)
'शं नो देवी पृश्निपर्णीति एतेनांशुमत्या संपातवत्करणं ततोऽनुलेपनं पिशाचनाशनम्'
—कौ० सू० २६।३६ (दा०)

शं नो देवी पृश्निपर्ण्यशं निर्ऋत्या अकः।
उग्रा हि कण्वजम्भनी तामभक्षि सहस्वतीम् ॥
सहमानेयं प्रथमा पृश्निपर्ण्यजायत।
तयाहं दुर्णाम्नां शिरो वृश्चामि शकुनेरिव ॥
अरायमसृक्पावानं यश्च स्फातिं जिहीर्षति।
गर्भादं कण्वं नाशय पृश्निपर्णि सहस्व च ॥
गिरिमेनां आ वेशय कण्वान् जीवितयोपनान्।
तांस्त्वं देवि पृश्निपर्ण्यग्निरिवानुदहन्निहि ॥
पराच एनान् प्र णुदं कण्वान् जीवितयोपनान्।
तमांसि यत्र गच्छन्ति तत् क्रव्यादो अजीगमम् ॥—शौ० २।२५।१–५

Ved. ind.—ii-19

Ved. Pl.—657

२. शौ० २०।१३५।३; १४।२।४८ (पृषातकी) आ० श्रौ०—उ० २।३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पैद्व[1]—ग्रिफिथ इसका 'पेदु का घोड़ा' अर्थ करते हैं किन्तु कौशिकसूत्र के आधार पर यह वनस्पति प्रतीत होता है।

प्रतिसर[2]—इसके मणि का धारण विहित है। यह सपत्ननाशन, बलवर्धक और रक्षोघ्न कहा गया है। सायण ने इसे तिलक कहा है। स्राक्त्य भी इसे कहा गया है। अथर्वपरिशिष्ट में कृत्यागण में पठित है।

प्रतीचीनफल[3]—यह अपामार्ग का पर्याय है। अथर्वपरिशिष्ट में कृत्यागण में पठित है। (देखें अपामार्ग)

प्रतोद—शां० आ० (१२।८) में प्रतोदाग्रमणि का वर्णन है।

प्रत्यक्पुष्पा[4]—

प्रप्रोथ[5]—यह सोम का एक प्रतिनिधि द्रव्य है।

प्रबन्धिनी[6]—संभवतः यह अथर्ववेद (शौ०) की प्रमन्दनी है।

प्रमन्द(नी)[7]—कौशिकसूत्र (२५।११) में मूत्रसंग में इसका पान कराने का विधान

---

१. शौ०—१०।४।५-७; १०-११; १५; कौ० सू०—३५।४
'अश्वाश्वस्येदं भेषजमुभयोः स्वजस्य च। इन्द्रो मेहिमघायन्तमहिं पैद्वो अरन्धयत् ॥'
—शौ० १०।४।१०

२. शौ०—८।५।१-२२; पै०—१३।१२।१-१३; १६।२७।१-१०; १६।२८।१-११; अ० प०—३२।१।२
'अयं तिलकवृक्षनिर्मितो मणिः प्रतिसरः प्रतिसरणसाधनः'
'यः कृत्याः करोति तं प्रतिसरतीति प्रतिसरः'—शौ० ८।५।१ (सा०)
अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान् सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमंगलः ॥—शौ० ८।५।१
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान् विमृधो वशी सो अस्मान् पातु सर्वतः ॥—शौ० ८।५।४
'प्रतिसरः रोगादेः प्रतिसरणसाधनभूतः'—सा०

३. कौ० सू०—४६।४९; अ० प०—१८।५।२; ३२।१।२; अ० अ०—७।६५;

४. पा० वा०—४।१।४

५. तां०—८।४।१

६. पै०—१३।४।३

७. गुलगुलुः पीला नलद्यौक्षगन्धिः प्रमन्दनी। तत् परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन ॥
—शौ० ४।३७।३
कौ० सू०—८।१७; २५।११ (इन्दुकः—दा०)
Ved. Pl.—657; Ved. ind.—ii-38.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। केशवपद्धति (१।१६) में इसका प्रयोग उशीर आदि द्रव्यों के साथ रसकर्म में विहित है। दारिल ने इसे इन्दुक कहा है। अथर्ववेद (शौ० ४।३७।३) में 'प्रमन्दनी' आया है। संभवतः पैप्पलादसंहिता की प्रबन्धिनी भी यही है। गुल्गुलु आदि सुगन्धि द्रव्यों के साथ उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि यह भी कोई सुगंधि ओषधि हो। सायण ने इसे होमद्रव्य लिखा है। हिलब्रैण्ट प्रमन्द का विशेषण 'नीचैः शाख' मान कर इसे सोम का पर्याय मानते हैं। दारिल का 'इन्दुक' शब्द भी इसी की ओर संकेत करता है।

प्राक्पुष्पा[1]—

प्राचीन (कण्टक)—कौशिकसूत्र (३५।२३) में इसका उल्लेख हुआ है। इसकी व्याख्या 'मदनी' की गई है।

प्रान्त[2]—

प्रान्तपुष्पा[3]—

प्रायश्चित्त—कौशिकसूत्र (८।१६) में शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है। इसकी दारिलकृत व्याख्या से प्रतीत होता है कि पर्वों पर इसके तीन तीन पत्ते होते हैं।

प्रियंगु[4]—यज्ञ में इसका चरु बनता था। यजुर्वेदीय संहिताओं में व्रीहि, यव आदि

---

१. पा० वा०—४।१।४

२. कौ० सू०—८।१६

३. पा० वा०—४।१।४

४. तै०—२।२।११।४; ४।७।४।२; क०—२८।९; मा०—१८।१२; का०—१९।४।४; काठ०—१०।११; १८।९; सा०—२।६।११; १६; बौ० श्रौ०—१३।२०; १५।१६; वा० गृ०—१४।६; वि० ध०—८०।१; वै० ध०—१।७।५; कौ० सू०—३।२।२; अ० प०—१।४३।९; १।४५।७; ५।१।५; ३५।२।१-७; पा० म०—१।४।२; ४।२।६०

'पृश्निर्वै यददुहत् स प्रियंगुरभवत् इयं वै पृश्निर्वाग् वा तस्या वा एतत् पयो यत् प्रियंगवः'—मै० २।१।८

'प्रियंगवश्च मे'—मै० २।११।४

'प्रियंगवः प्रसिद्धाः'—तै० ४।७।४।२ (सा०)

'प्रियंगुतण्डुलैर्जुहोति। प्रियंगा ह वै नामैते। एतैर्वै देवा अश्वस्यांगानि समदधुः'—
तै० ब्रा०—३।८।१४।६

प्रियंगुकां सहां सहदेवामध्यण्डां भूमिपाशकां सचां काचकपुष्पीमित्येता उत्थाप्य तद्वहश्चूर्णानि कारयेद्'''तेनानुलिप्तो यां यामुपस्पृशते सा सैनं कामयते।'
—सा० २।१।१० (प्रियंगुं फलवतीम् प्रियंगुस्तत्तण्डुलैः सह द्रव्यविशेषः)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

धान्यों में इसका उल्लेख है। कौशिकसूत्र (३२।२) में जम्भगृहीत बालक को इसे दूध के साथ पिलाने का विधान है। विवाह, पुंसवन आदि में भी इसका प्रयोग होता था। अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान तथा पुष्पाभिषेक में इसका प्रयोग है। वशीकरण प्रयोग भी हैं। ष० विं० ब्रा० (५।२) में इसे फलवती कहा गया है जो परवर्त्ती ग्रन्थों में निर्दिष्ट उसके 'फलिनी' पर्याय की ओर इंगित करता है। इस प्रकार 'प्रियंगु' धान्य तथा ओषधि दोनों का वाचक है। कीथ ने इससे केवल धान्य ही लिया है किन्तु मजुमदार ने धान्य तथा ओषधि दोनों का ग्रहण कर तदनुसार वैज्ञानिक नाम दिये हैं। धान्य में इससे 'कङ्गु' लेते हैं जिसे काश्मीरी भाषा में 'पिंग' कहते भी हैं। बर्मी में इसे 'पियांग' (Pyaung) कहते हैं। विद्वानों की धारणा है कि यह शब्द पूर्वी एशिया का है जो आगे चल कर संस्कृत और बर्मी में प्रविष्ट हुआ[1]।

प्रियाल[2]—निषिद्ध मूलों में इसकी गणना है।

प्रेणी[3]—ग्रिफिथ इससे किसी सौभाग्यकरण ओषधि का ग्रहण करते हैं।

'अथ ततो ब्रूयाच्चतुष्टयान्यौषधानि संभरत तोक्मकृतानि व्रीहीणां महाव्रीहीणां प्रियंगूनां यवानां इति।' '…भौज्यं वा एतदोषधीनां यत् प्रियंगवो'—ऐ० ब्रा० ८।१६

'प्रियंगवो यवाश्च प्रसिद्धाः'—(सा०)

'अथ ह कक्षीवतो नाकुलिभस्रासप्रियंगुतण्डुलानां वा सिकतानां वा पूर्णा। तासां ह स्म संवत्सरे संवत्सरे एकैकां प्रास्यति। तावद् हास्मा आयुर् दत्तमास।

—जै० ब्रा० ३।१०१

'न्यग्रोधश्रृंगं वा घृतेन कोशकारीं वा प्रैयंगवेण संयावेन…उरुमूलोपधानायै दक्षिणे नासिकाछिद्रे प्रणयेत्'—हिं० गृ० २।१।१९

('ब्राह्मणो भुञ्जीत प्रतिगृह्णीयाच्च)…यवसमूलफलमध्वभया… प्रियंगु… सर्वेषाम्।'

'व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि'—कौ० सू० ८।२०

'यवव्रीहिमहाव्रीहिप्रियंगूणां हि तण्डुलाः।
श्यामाकतण्डुलतिलाः आसाद्याः श्रुतिचोदिताः॥'—अ० प० २३।७।२

Ved. ind.—ii-52

Ved. Pl.—657

१. T. Burrow : Samskrit etymological notes, Sarup-Bharati, page 7.

२. पा० गृ०—१।२१

३. शौ०—६।८९।१; देखें ग्रिफिथ का अंगरेजी अनुवाद।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्लक्ष[1]—यह क्षीरीवृक्ष है; इसकी उत्पत्ति मेद से बतलाई गई है। न्यग्रोध आदि वानस्पत्य-चतुष्टय में इसकी गणना है। उन्माद रोग में इसकी समिधा से हवन करने का विधान है। प्लक्ष लाक्षा का अधिष्ठान कहा गया है (देखें लाक्षा)। यज्ञ में प्लक्षशाखा का प्रयोग है। इसके फल अभिषुत कर खाये जाते थे। तैत्तिरीय संहिता में इसके लिए 'प्रक्ष' शब्द है।

प्लक्षोदुम्बर[2]—दारिल ने इसके विषय में 'पिप्परीति प्रसिद्धः' लिखा है।

फलवती[3]—इसका अर्थ टीकाकारों ने प्रियंगु किया है।

फलवृक्ष[4]—टीकाकार ने इसका अर्थ उदुम्बर किया है।

---

१. तै०—६।३।१०।२; काठ०—४४।१; शौ०—५।५।५; पै०—६।४।४; श०—३।८।३।१०; १३।५।३।८; तां—२१।४।१३; ऐ० ब्रा०—७।३२; पा०—८।४।५; ४।३।१६४; पा० ग०—४।२।९१; ४।३।१६४; का० श्रौ०—६।२।७; ६।८।७; हि० श्रौ०—४।३।११; ९।८।२४; १४।३।१४; बौ० श्रौ०—४।१; १२।३; १४।१८; आप० श्रौ०—७।२।६।३; ७।२।८।३; ७।४।१२।८; वा० श्रौ०—३।४।३।२४; पा० गृ०—१।१९; १।२१; का० गृ०—५।१८।१; कौ० गृ०—२।६।९; वै० ध०—२।४।१-२; अ० प०—२।१-३; २६।५।६-७; ६४।८।३; ७१।१६।१; पा० म०—१।१।२; २।१।१ (प्लक्षन्यग्रोधखदिरपलाशाः)
'देवा अन्योन्यस्मै पशुमालभं स्वर्गं लोकमायंस्तेऽमन्यन्तानेन वै नोऽन्ये लोकमन्वारोचयन्तीति तस्य मेधं प्लाक्षारयन् स प्लक्षोऽभवत् तत् प्लक्षस्य प्लक्षत्वम्। क्लोम्नो वै तं हृदयात् प्लाक्षारयंस्तस्मादेतत् सुषिरयत्'—मै० ३।१०।२
'य उन्माद्येत्तस्मै होतव्या गन्धर्वाप्सरसो वा एतमुन्मादयन्ति···तेनैवैनान् शमयति नैयग्रोधं औदुम्बर आश्वत्थः प्लाक्षः इतीध्मो भवत्येते वै गन्धर्वाप्सरसो गृहाः स्व एवैनान् आयतने शमयति'—तै० ३।४।८।४
'प्लक्षो मेधेन'—तै० ७।४।१२।१
'तस्य (देवैरालभ्यमानस्य पशोः) अवाङ् मेधः पपात। स एष वनस्पतिरजायत। तं देवाः प्रापश्यन्। तस्मात् प्रख्यः। प्रख्यो ह वै नामैतद्, यत् प्लक्ष इति'
—श० ३।८।३।१२
'अथास्यैष स्वो भक्षो न्यग्रोधस्यावरोधाश्च फलानि चौदुम्बराणि अश्वत्थानि प्लाक्षाणि अभिषुणुयात् तानि भक्षयेत्।'—ऐ० ब्रा० ७।३०
'अथ ततो ब्रूयात् चतुष्टयानि वानस्पत्यानि संभरत नैयग्रोधान्यौदुम्बराणि आश्वत्थानि प्लाक्षाणीति'—ऐ० ब्रा० ८।१६
Ved. ind. ii–28; 54.

२. कौ० सू०—२०।२२; २२।२; ७५।१९;

३. षं० ब्रा०—१।५।२
Ved. ind. ii–58.

४. खा० गृ०—१।२।२५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फाल्गुन[1]—(देखें अर्जुन)—

सोम के अभाव में इसे लेने का विधान है। जैमिनीय ब्राह्मण में बभ्रुतूल फाल्गुन का उल्लेख है।

बकुल[2]—

बज[3]—यह श्वेतसर्षप का वाचक है। यह रक्षोघ्न, कुष्ठघ्न तथा गर्भरक्षक तथा गर्भाशयसंकोचक है। पीतसर्षप (पिंग) के साथ इसे देने का विधान है। इन्हें नीविभार्य भी कहते हैं। गर्भिणी के सीमन्तोन्नयन में श्वेत और पीतसर्षप को अभिमंत्रित कर बांधने का विधान है।

बदर(री)[4]—यह मध्यमप्रमाण बदरीफल है। यह पिच्छिल होता है तथा इसके सक्तु

---

१. हि० श्रौ०—१५।६।१५; बौ० श्रौ०—१४।३०; आ० श्रौ०—६।८
'यदि तं न विन्देयुः बभ्रुतूलानि फाल्गुनानि अभिषुणुयुः।''' बभ्रुतूलानि अभिषुत्यानि मेध्यतराणि'—जै० ब्रा० १।३५४
कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम Ficus oppositifolia किया है (देखें—सत्यप्रकाश कृत 'Founders of Sciences in Ancient India, Appendix II, pages 163-164.)

२. पा० ग०—५।२।३६

३. शौ० ८।६।१–२६, पै०—१६।७९।१–१०; १६।८०।१–१०; १६।८१।१–८
अ० शां०—२१।४; दं० वि०—२।८
'कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम्'—शौ० ८।६।३; 'दुर्नामाख्यस्य दोषस्य विनाशनं बजं श्वेतसर्षपरूपं भेषजम्'—सा०
'गर्भं त उग्रौ रक्षतां भेषजौ नीविभार्यौ'—शौ० ८।६।२०

४. मा०—१९।२२; ९०; मै०—३।११।९; का०—२१।६।११; २३।४।२;३; जै० ब्रा०—२।१५६; तै० ब्रा०—१।८।५।१; २।६।४।५; २।६।११।२; का० श्रौ०—१५।१०।११; १९।२।१८; हि० श्रौ०—१।३।१०; १३।८।२३; २६।१।६९; बौ० श्रौ०—१७।३९; वा० श्रौ० -३।२।७।२०–२१; शां० गृ०—४।४।१०; ४।१७।३; हि० गृ०—१९।३।२६; आप० गृ०—४।११।१६; ५।१२।८; बो० गृ०—२।५।१७; वि० ध०—६१।१४; आप० ध०—१।१।२।३८; कौ० सू०—२५।२४; २८।९; अ० प०—२०।१।१७; पा० ग०—४।१।४१; ९९; ५।२।२४; ६।२।८५;८७; के० प०—३५।२१; पा० म०—१।१।५८; १।२।३०;५१;५२ (बदरी सूक्ष्मकण्टका मधुरा वृक्षः); १।४।१०९; २।२।५; ४।३।१३९; ५।१।११९
'यत् प्रथमं निरष्ठीवत् तत् कुवलमभवत् द्वितीयं तद् बदरं यत्तृतीयं तत् कर्कन्धुः।
मै०—२।४।१
'बदरैरुपवाकाभिर्भेषजम्'—मै० ३।११।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का प्रयोग होता था। दधि-आतञ्चन के अभाव में इसका प्रयोग होता था (हि० श्रौ० १।३।१०)। स्नातक कर्म में 'बादर मणि' का भी प्रयोग विहित है (बौ० श्रौ०—१७।३९)। उपनयन में इसके दण्ड का विधान वैश्य के लिए है (आप० गृ० ४।११।१६)। कौशिकसूत्र में वशीकरण प्रयोग है। (देखें कुवल)

बधक[1]—दारिल ने इससे आरग्वध का ग्रहण किया है। (देखें वधक) इसकी समिधा का प्रयोग है।

बन्धुजीवक[2]—मञ्जिष्ठा के साथ उल्लेख होने से इसके रक्तवर्ण पुष्पों का संकेत होता है।

बन्धूक[3]—इसका दन्तधावन निषिद्ध है। बन्धुजीवक इसका नामान्तर है।

बभ्रु[4]—यह शंखपुष्पी का विशेषण है। सायण ने इसका अर्थ पीतवर्ण किया है। अक्ष के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

बभ्रुतूल[5]—यह फाल्गुन का विशेषण है।

बला[6]—यह रसायन, विषघ्न, बल्य तथा प्रमेहघ्न है। अथर्वपरिशिष्ट में पुष्पाभिषेक में प्रयोग है।

बलासनाशिनी[7]—

बलासभेषज[8]—

बल्वज[9]—यह तृणविशेष है जिससे रस्सी बनती थी और इससे आसन, खाट, कुर्सी

'सक्तूनां रूपं बदरम्'—का० २१।२।११

'नासिकाभ्यामेवास्य वीर्यमस्रवत्'''यत् स्नीहा तद् बदरम्'—श० १२।७।१।२

'अथ यानि नासिक्योर्लोमानि तान्युपवाकसक्तवश्च बदरसक्तवश्च'—श० १२।९।१।५

१. कौ० सू०—१६।११;१४; (किरमालः—दा०); शौ० ६।१३३ (सा०)

२. अ० प०—५८।१।७

३. वि० ध०—६१।३; पा० ड०—४।४१

४. शौ०—६।१३९।३

५. तां०—९।५।७

६. पै०—१९।१९।१-१३; अ० प०—५।१।४

७. शौ० ६।१४।१-३

८. शौ० ६।१४।१-३

९. ऋ०—८।५३।३; शौ०—१४।२।२२; पै०—१८।९।३-४; मै०—२।२।५; काठ०—१०।१०: श०—१४।१।३।११; का० श्रौ०—२६।२।८; जै० गृ०—१।१; पा० गृ०—२।५।२४;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि बुनते थे। इसका इन्धन भी होता था। आनूप देश में विशेष होता है। उपनयन में मुञ्ज के अभाव में इसकी रशना बनती थी। इसकी सूप भी बनाते थे। गौ के मूत्र से इसकी उत्पत्ति बतलाई गई है।

बहुप(पु)त्रिका[1]—श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में परिगणित है।

बाण(णा)पर्णी[2]—दारिल ने इसे शरपुंखा तथा केशव ने माषिका माना है। सायण ने तृष्टिका (शौ०—७।११३।१-२) से बाणपर्णी का ग्रहण किया है। इसके अतिरिक्त शौ० ३।१८।१ का भी सायणभाष्य देखें। इसमें सपत्नीजयन प्रयोग है। कौशिकसूत्र (३६।३८) में क्लैव्य में इसका प्रयोग है।

बाधक[3]—इसका यूप तथा स्रुव आदि पात्र बनते थे। टीकाकारों ने इससे गिरिमालक या व्याधिघात का ग्रहण किया है (देखें बधक)। जैमिनीय गृह्यसूत्र में इसका इध्म वर्ज्य कहा है। कौ० सू० (४७-४८) में व्याधिघातकदण्ड का ग्रहण किया गया है।

बा(ब,ला[4]—यह बला प्रतीत होती है।

बाह्लिका[5]—

गो० गृ०—१।५।१८; आप० ध०—१।७।२१।१; वि० ध०—२७।१८; कौ० सू०—७८।३; अ० प०—२३।१।५; २८।१।३; दं० वि०—२।२; पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४२; १४४; ५।१।५०; पा० म०—१।२।४५ (एकश्च बल्वजो बन्धनेऽसमर्थः तत्समुदायश्च रज्जुः समर्था भवति)

'बल्वजाः तृणविशेषाः'—श० १४।१।३।११ (सा०)

'गौर्यत्राधिष्कन्ना न्येमहत्ततो बल्वजा उदतिष्ठन्'—तै० २।२।८।१-२

'उपस्तृणीहि बल्वजमधिचर्मणि रोहिते'—शौ० १४।२।२३

1. बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५।७;
2. कौ० सू०—३६।१९;३८; अ० अ०—३।१८
   'बाणापर्णी शरपुंखेति प्रसिद्धा' (दा०)—कौ० सू० ३६।१९
   के० प० ३६।१९ (बाणपर्णी माषिका लोके प्रसिद्धा)
   मजुमदार ने इसे जलज वनस्पति माना है किन्तु वस्तुतः यह शरपुंखा है।
3. का० श्रौ०—२२।३।८; हि० श्रौ०—१७।२।२१; बौ० श्रौ०—१४।१६; गो० गृ०—१।५।१५; जै० गृ०—१।१; कौ० सू०—१६।१७; १९; ३६।३६; ४७।१३; ४८; ११६।६;
   'बाधको यो गिरिमालक इति प्रसिद्धः'—का० श्रौ० २२।३।८ (सा०)
4. पा० गृ०—१।२१
5. पै०—२०।३९।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बि(वि)भीद(त)क[1]—ऋग्वेद में 'विभीदक' शब्द है। इससे द्यूत का अक्ष बनता था। इसकी समिधा भी होती थी। ऋग्वेदीय उद्धरणों से संकेत मिलता है कि इसके वृक्ष बड़े और प्रवातशील वन्य प्रदेशों में होते हैं तथा इसमें मादकता भी होती है विशेषतः फलों में। इसका दन्तधावन निषिद्ध है। (देखें अक्ष)

बिम्ब (बी)[2]—

बिल्व[3]—यह यूप्य वृक्षों में है; यज्ञ में इसके यूप बनते थे। शांखायन आरण्यक में

---

१. पै०—१९।३२।८-१०; मै०—२।१।६; सा०—३।६।१२; ष०—३।८; ४।४; का० श्रौ०—२१।३।२०; २२।३।९; हि० श्रौ०—१७।२।२६; २२।१।१२; बौ० श्रौ०—१४।१६; आ० श्रौ०—उ० ३।७; पा० गृ०—१।२१; गो० गृ०—१।५।१५; हि० श्रौ०—२९।१।४; वि० ध०—६१।२; आ० ध०—२।१०।२५।१२; अ० पु०—२६।५।१–५; पा० ग०—४।३।१५४; पा० म०—५।१।१२; १३
'न स स्वोदक्षो वरुण ध्रुतिः सा सुरा मन्युर्विभीदको अचित्तिः।
अस्ति ज्यायान् कनीयस उपारे स्वप्नश्चनेदनृ तस्य प्रयोता ॥—ऋ० ७।८६।६
'विभीदकः द्यूतसाधनोऽक्षः'—सा०
'प्रावेपा मा बृहतो मादयन्ति प्रवातेजा इरिणे वर्वृतानाः।
सोमस्येव मौजवतस्य भक्षो विभीदको जागृविर्मह्यमच्छान् ॥' ऋ०—१०।३४।१
'वृक्षस्य शतशाखस्य मा कृन्त ! प्यावमृन्तवः।
वैभीतकस्य यत् फलं तेन त्वोन्मदयामसि ॥'—पै० २०।२२।६–७
'विभीतको विभेदनात् (विभेत्ता कोष्ठस्य—दुर्ग०)—या० ९।८

२. पै०—९।६।१०–११; कौ० सू०—३१।८; ऋ० तं०—३।४।९; पा० ग०—२।४।३१; ४।१।४१; पा० म०—१।१।५८; ६।१।९४; ४।१।९७

३. मै०—३।९।३; त०—२।१।८; २; खि०—२.६।६; ५।२२।१०; शौ०—२०।१३६।१५; श०—१।१।३।२०; १३।३।२०; १३।४।४।५; तां०—२१।४।१३; जै० ब्रा०—२.२७४; ऐ० ब्रा०—२।१; तै० ब्रा०—३।८।१९।१; ३।८।२०।१; सा०—२।२।२; ३।१।१२; का० श्रौ०—२।८।१; ६।१।९; २०।४।१९; हि० श्रौ०—४।१।१२; ८।१।१; १३।१।७; १४।२।४०; २६।१।६९; आप० श्रौ०—१।२।२०; ७।१।१।१५–१६; बा० श्रौ०—३।४।१; ५४; ५५; १।६।१।५; १।२।१।२०; पा० गृ०—१।२१; काठ० गृ०—१।४।१८; २।८।२; २।९।१; गो० गृ०—२।१०।१२; आ० गृ०—१।१९।१३; बौ० गृ०—२।६।१२; जै० गृ०—१।१२; १९; वि० ध०—६१।१४; ४६।१६; गौ० ध०—१।२२; वा० ध०—२०।२१; वै० ध०—१।८।१; बौ० ध०—१।८।३०–३४; १।१४।१०; शं० लि० ध०—३६ (१); १६८; ४१७; कौ० सू०—८।१५; अ० पु०—२।१–३; ५।३।३; २३।१।४; २३।६।५; २६।५।१–५; ३१।६।४; ३३।१।७; ३३।५।८; ३६।२।४–५; ३६।२।१।१; ४०।३।२; ७०।१।६–९; कर्म०—१।३।१४; या० शि०—३३; पा०—४।३।१३६; १५१; ६।४।१५३; पा० मा०—४।२।५२; ३।१।१; ६।४।१५३; (बिल्वक) ४।३।१४२;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बैल्वमणि का धारण विहित है जो सपत्नक्षपण, विष्टम्भजम्भन, दुःस्वप्ननाशन, रक्षोघ्न, रसायन तथा प्रजास्थापन, विषघ्न और शामक कहा गया है। इसके धारण से कुलज रोग नहीं होते हैं। इसके फल के भीतर पीले रंग की मज्जा होती है जिसे लोग खाते हैं। यह मांगलिक फलों में है, इसके जल से विवाह में कन्या को स्नान कराने का विधान है। उपनयन में इसका दण्डधारण विहित है। स्नातककर्म में बैल्वमणि का धारण निर्दिष्ट है। यह शौचद्रव्यों में परिगणित है। इसके फल खाकर रहने को श्रीफलकृच्छ्र तथा पत्र खाकर रहने को पर्णकृच्छ्र कहा गया है। एक मास तक बिल्व, आमलक या पद्माक्ष पर रहने को श्रीकृच्छ्र कहते हैं। बिल्व का दन्तधावन विहित है। 'बिल्व' एक मान भी निर्धारित हुआ। अथर्व-परिशिष्ट में पुष्याभिषेक तथा समिधा के लिए इसका प्रयोग हुआ है। निरुक्त में भरण (पोषण करने के कारण इसकी संज्ञा 'बिल्व' निर्धारित हुई है। विल्व एक आरोपणीय वृक्ष है।

बिस'— सायण ने इसका अर्थ 'पद्मकन्द' किया है। मूत्रावरोध में अन्य ओषधियों के

'(प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु) अथ यत् कुन्तापमासीत्, यो मज्जा, स सार्धं समवद्रुत्य श्रोत्रत उदभिनत्। स एष वनस्पतिरभवत् बिल्वः। तस्मात्तस्यान्तरतः सर्वमेव फलमाद्यं भवति। तस्माद्‌ हारिद्र इव भवति। हारिद्र इव हि मज्जा।'

—श० १३।४।४।८

'परिधिवृत्ताश्च यूप्याः बिल्वखदिरपलाशरौहीतकौदुम्बरप्रभृतयः'

—काठ० गृ० १४।१८ (दे०)

'बिल्वं भरणाद्वा भेदनाद्वा'—या० १।१४

'बिल्वैरामलकैर्वापि पद्माक्षैरथवाशुभैः। मासेन लोके श्रीकृच्छ्रः कथ्यते पुरुषोत्तमै॥'

—शं० ध० ४४८

'पलाशबिल्वपत्राणि कुशान् पद्मानुदुम्बरान्। क्वाथयित्वा पिबेदापस्त्रिरात्रेणैव शुध्यति॥'

—वा० ध० २७।११

'न स सुप्तमश्नाति न किल्विषं कृतं नैनं दिव्यो वरुणो हन्ति भीतम्।
नैनं क्रुद्धं मन्यवोऽभियन्तीरामणिं बैल्वं यो बिभर्त्ति॥
नास्य त्वचं हिंसति जातवेदा न मांसमश्नाति न हन्ति तानि।
शतायुरस्मि जरदष्टिः प्रैतीरामणिं बैल्वं यो बिभर्त्ति॥
नास्य प्रजा दुष्यति जायमाना न शैलगो भवति न पापकृत्या।
नान्यन् मिथस्तस्य कुलेषु जायते इरामणिं बैल्वं यो बिभर्त्ति॥'—शां० आ० १२।४-८

१. शौ०—४।३४।५; पै०—६।२२।८; वि० ध०—४६।१५; पा० गृ०—४।२।८०; ८६; ५।२।१३५; पा० स०—४।३।१६६

'आलबिसोलं फाण्टं पाययति'—कौ० सू० २५।१८

'बिसं बिस्यतेर्भेदनकर्मणः वृद्धिकर्मणो वा'—या० २।२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साथ इसका फाण्ट पिलाने का विधान है। अथर्ववेद में अनेक जलज द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है। विष्णुधर्मसूत्र में मूलकृच्छ्र में बिस के अभ्यवहार का निर्देश है।

बुर्बुर[1]—निघण्टु में जल का पर्याय है। पातञ्जल महाभाष्य में बब्बूल के लिए प्रयुक्त हुआ है। (देखें खदिर)

बृहती[2]—शांखायन गृह्यसूत्र में अन्य ओषधियों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान है। कौशिकसूत्र में पुंसवन में इसका प्रयोग है। हिरण्यकेशि श्रौतसूत्र में बृहतीफल का उल्लेख है। सामविधान ब्राह्मण (२।३।४) में श्वेतपुष्पी बृहती का निर्देश है।

बृहत् कण्टकारिका[3]—

बृहद् दूर्वा[4]—

ब्रह्मवृक्ष[5]—

ब्रह्मसुवर्चला[6]—पर्णकृच्छ्र में इसके पत्र में क्वथित जल पीने का विधान है।

ब्राह्मी[7]—यह मेध्य कही गई है। आहारशुद्धि के लिए भी इसका पान विहित है।

भङ्ग(ङ्गा)[8]—ऋग्वेद में जो 'भंग' शब्द आया है वह सोम का विशेषण है, उसका

---

१. निघ०—१।१२ (उदकनाम); पा० म०—१।१।४६
२. हि० श्रौ०—२८।३।५; कौ० सू०—३५।४; शां. गृ०—१।२३।१; बो० पि०—१।१४।२; पा० मा०—६।१।१७३
'बृहती प्रसिद्धा'—शां० गृ० १।२३।१ (ना० भा०)
'बृहती नाम कण्टकारी'—शां० गृ० १।२३।१ (दा० प०)
३. अ० प०—१।१५-१७;
४. कौ० सू० (प०)—८२।२६
५. बौ० पि०—३।११
६. वि० ध०—४६।२३; ५१।३२;
७. सा०—२।७।४; ५; वा० ध०—२७।१०; शं० लि० ध०—३९९; अ० प०—१।४४।१०; पा० म०—६।४।१७१ (ब्राह्मी औषधिः)
'अष्टरात्रोपोषितो ब्राह्मीमुत्थाप्य'''सहस्रकृत्वः प्राश्नीयात् श्रुतनिगादी भवति'
'पुष्पाणि वास्याः उदकेन संवत्सरं पक्वेन प्राश्नीयात् श्रुतनिगादी भवति'।
—सा० २।७।४-५
८. कौ० सू०—१४।२८; १६।१६; २२।१४; ३५।२८; ४७।३९; बौ० श्रौ०—१८।३६।६; ७; (मादक वीरुध्); पा० ग०—४।१।४१; ५।१।३९; ६९; पा०—५।२।४; पा० वा०—५।२।२९; शौ०—४।३१ (सा०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्थ सायण ने शत्रुभञ्जक (भंगं शत्रूणां भञ्जकम्) किया है। अथर्ववेद में यह स्पष्टतः वनस्पति है। यहाँ सायण ने इसका अर्थ 'शण' किया है। कौशिकसूत्र (१४।२८) में मुञ्ज के साथ इसका पाश बनाने का उल्लेख है। इससे आहवनीय अग्नि के परिस्तरण का विधान है (कौ० सू० २३।१४)। कौ० सू० (३५।२८) में इसकी बनी धनुर्ज्या का उल्लेख है। कौ० सू० (४।३९) में इसकी शय्या का निर्देश है। इन सब उद्धरणों से अथर्ववेदीय परम्परा में इसके बहुल प्रचार का संकेत मिलता है।

भचुण्ड[1]—श्राद्धकाल में दातव्य फलों के साथ इसका उल्लेख है।

भण्डी[2]—श्वेतपुष्प के अभाव में इसे छोड़कर अन्य पुष्प लेने का विधान है।

भद्र[3]—लाक्षा के अधिष्ठानों में इसका उल्लेख है।

भद्रदारुणा[4]—चन्दन, कुष्ठ आदि सुगंधित द्रव्यों के साथ इसके लेप का विधान है।

भद्रमुञ्ज[5]— उपनयनसंस्कार में ब्राह्मण के लिए इसकी मेखला का विधान है।

भद्रमुस्त[6]— नक्षत्रस्नान में इसका उपयोग है।

भल्लातक[7]—

भव्य—फलों में इसका उल्लेख है।

'उपो षु जातमप्तुरं गोभिर्भङ्गं परिष्कृतम्। इन्दुं देवा अयासिषुः ॥'—ऋ० ९।६१।१३
'भंगं शत्रूणां भञ्जकम्'—सा०
'पञ्च राजानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भंगो यवः सहस्तेनो मुञ्चन्त्वंहसः' ॥
—शौ० ११।८।१५

'भंगः शणः'—सा०
'उपरिप्लुता भंगेन हतोऽसौ फडिति'—का० ७।१३; श० ४।१।१।२६
'भंगेन अभिषवामर्दन'—सा०

१. शां० लि० ध०—२२०
२. जै० गृ०—१।१
३. शौ०—५।५।५;
पै०—२०।३।२;
४. अ० प०—१८।३।१-३;
५. कौ० सू०—५६।१; ५७।१;
६. अ० प०—१।४५।८
७. पा० उ० भो०—२।२।४२;
८. शां० लि० ध०—२२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भस्त्रफला[१]—

भस्त्रास[२]—नाकुली और प्रियंगु के साथ इसका उल्लेख है। (देखें प्रियंगु)

भाङ्गा[३]—(देखें भङ्गा)

इसका आस्तरण में उपयोग होता था (देखें पूतीक)

भू[४]—तुलसी और महादेवी के साथ इसके चूर्ण का प्रयोग वशीकरण में है।

भूमिपाशक[५]—(देखें प्रियंगु)

कुछ विद्वानों ने इसका लैटिन नाम Ononis arvensis or spinosa दिया है।[६]

भूर्ज[७]—

भूस्तृण[८]—निषिद्ध शाकों में पठित है।

भृङ्गरक[९]—यह भृङ्गराज का वाचक है।

भृङ्गराज[१०]—श्वित्र और पलित में इसका प्रयोग है (देखें रामा)। हरिद्रा, नीलिका, इन्द्रवारुणी और पुष्पा के साथ लेप करने का विधान है। केश के वृद्धिकरण, दृढीकरण तथा संजनन के लिए काकमाचीफल के साथ इसके जल से प्रातः सायं अवसिंचन करते हैं।

---

१. पा० वा०—४।१।४
२. जै० ब्रा०—३।१०१;
३. के० प०—२२।१
४. 'तुलसी·भू·महादेवीचूर्णस्पृष्टस्तथा वशी'—अ० प० ३५।२।९-११
५. सा०—२।६।१०;
६. Satya Prakash : Founder of Sciences of Ancient India, Appendix II, pages 163-164.
७. काठ०—३६।६; कौ० सू०—३८।९;
'भूर्जो वै नामैष वृक्षः कार्या एतस्य स्रुचः'—मै० १।१०।१२
८. वि० ध०—७९।१७; वै० ध० ३।५।८
९. कौ० सू०—२६।२२;
१०. पा० गृ०—१।२१;
'श्वेतकुष्ठापनोदनाय भृङ्गराजहरिद्रेन्द्रवारुणीनीलिकाः पिष्ट्वा शुष्कगोमयेन श्वित्रप्रदेशं आलोहितदर्शनं प्रघृष्य लेपयेत्। पलितनाशनेऽपि पलितानि आच्छिद्य··· विलिम्पेत्।'—शौ० १।२३।१ (सा०)
के० प०—२६।२२-२४; ३१।२८—शौ० ६।१३५ सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मङ्गल्य[1]—सीमन्तोन्नयन में इनसे स्नान कराने का विधान है।

मचकचातनी[2]—अन्य ओषधियों के साथ इससे सूतिकागार के लेपन का विधान है।

मञ्जिष्ठा[3]—यह लोहितवर्ण होती है तथा इससे लाल रंग बनता था। उपनयन में क्षत्रियों के लिए माञ्जिष्ठ वस्त्र का विधान है।

मण्डूकी[4]—अन्य ओषधियों के साथ उल्लेख होने के कारण यह भी वनस्पति हीं है। मण्डूकपर्णी का ग्रहण इससे होता है। शतपथ ब्राह्मण में 'पशु' शब्द का प्रयोग होने से इससे मेढ़क लेते हैं। कौशिकसूत्र में एक स्थान पर (४०।४) मेढक तथा दूसरे स्थल (८२।२६) में स्पष्टतः 'मण्डूकपर्णी' शब्द है जिससे ओषधिविशेष का ग्रहण होता है।

मदन[5]—इसके कण्टकों का उल्लेख है। स्थावर विषों में मदनफल खिलाकर वमन कराने का विधान है।

मदयन्ती[6]—नक्षत्रस्नान तथा पुष्पाभिषेक में इसका उल्लेख है।

मदावती[7]—अथर्ववद में यह मद-मूर्च्छाकर ओषधिविशेष है। सर्षप की माता का नाम भी मदावती कहा गया है। 'अभ्रिखाता' इसका विशेषण है।

---

१. वा० गृ०—१६।७

२. शां० गृ०—१।२३।१ (पम्पोटीति लोके प्रसिद्धा—ना० भा०; 'मचकचातनी नाम पटोली—रा० प०)

३. शां० ब्रा०—७।७; हि० श्रौ०—२६।१।७३; शां० गृ०—१।१।१२; कौ० गृ०—२।१।९; आ० गृ०—१।१९।९; वा० ध०—११।६५; गौ० ध०—१।२१; कौ० सू०—३८।९; अ० प०—५८।१।७;
'लोहिनी-द्यौर्भवति यथा मञ्जिष्ठा'—ऐ० आ० ३।२।४।१०

४. 'शं ते नीहारो भवतु शं ते प्रुष्वाव शीयताम्।
शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति।
मण्डूक्यप्सु भुवं इमं स्वग्निं शमय ॥'—शौ० १८।३।६०
(मण्डूकस्य स्त्री मण्डूकी तया; यद्व मण्डूकपर्ण्याख्यया ओषध्या—सा०)
का० श्रौ०—१८।२।११; बौ० श्रौ०—१०।४७; कौ० सू०—४०।४; ८२।२६ (प०)
'अग्ने पित्तमपामसि मण्डूकि ताभिरागहि सेमं नो यज्ञं पावकवर्णं शिवं कृधि'—
ऋ० ९।१।२।२७; शौ०—४।१५।१४

५. अ० प०—३६।११।१; के० प०—२८।३

६. अ० प०—१४३।६; १४५।७; ५।१।४

७. पै०—१९।५।८
'वि ते मदं मदावति शरमिव पातयामसि'—शौ० ४।७।४.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मदुघ[1]—यह स्वाद में मधुर है तथा दौर्भाग्यनाशन एवं गर्भबृंहण है। इसका मणि धारण भी विहित है। कौशिकसूत्र के टीकाकार ने इसे ज्येष्ठीमधुक लिखा है। अथर्ववेद (शौ० ६।१०२।३) के भाष्य में सायण ने इससे मधूकवृक्ष या यष्टिमधुक लिया है और दूसरे स्थल (१।३४।४) पर मधुस्रावी पदार्थ का ग्रहण किया है। 'मधुघ' भी पाठान्तर है जो 'मधुदुघ' का संक्षिप्त रूप है।

मधुक[2]—(देखें मदुघ)—अथर्वपरिशिष्ट में मधुक की समिधा का उल्लेख है। सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'विरोहणशीला लता मधुभाख्या' (शौ० १।३४।१)—संभाषा में विलय के लिए इसके भक्षण का विधान है। विवाह में मधुकमणि का बन्धन विहित है (शौ० १।३४ सा०) जाङ्गम विषों में भी इसे पिलाने का विधान है (शौ० ७।५७।१–२; ७।५८।१–८)।

(मूर्च्छाकरमदयुक्ते विषोपादानभूते ओषधे—सा०)

'विहह्लो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता'—शौ० ६।१६।२; ४।७५–६

१. पै०—२।३२।१–५; २।३३।१–५; २।३४।१–५; २।३५।१–५; ४।२०।१–७; ६।६।१–९;
कौ० सू०—३५।२१; ३८।१७; ७६।८; ७९।१०; अ० प०—३७।९।१–२; अ० अ०—१।३४;

'मधोरहं मधुतरः मदुघान् मधुमत्तरः'—शौ० १।३४।४

'आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च। तुरौ भगस्य हस्ताभ्यामनुरोधनमुद्भरे॥'
शौ०—६।१०२।३

Ved. ind. ii—122.

२. शां० ब्रा०—१६।९; कौ० सू०—३२।५; अ० प०—२६।५।६–७; पा० म०—५।१।७७
(स्थालपथं मधुकम्)

'वचां मधुकमित्येते आस्येऽवधार्यापां फेनेन···निगीर्य विवदेत् परिषदि राजनि चोत्तरवादी भवति।'—सा० २।७।१३

'इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। मधोरधि प्रजातासि सा नो मधुमतस्कृधि॥
जिह्वाया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्। ममेदह क्रतावसो मम चित्तमुपायसि॥
मधुमन् मे निक्रमणं मधुमन् मे परायणम्। वाचा वदामि मधुमद् भूयासं मधुसंदृशः॥
मधोरस्मि मधुतरो मदुघान् मधुमत्तरः। मामित् किल त्वं वनाः शाखां मधुमतीमिव॥
परि त्वा परितत्नुनेक्षुणागामविद्विषे। यथा मां कामिन्यसो यथा मन्नापगा असः॥'
—शौ० १।३४।१–५

"ऋचं साम यजामहे याभ्यां कर्माणि कुर्वते। एते सदसि राजतो यज्ञं देवेषु यच्छतः॥
ये ते पन्थानोऽव दिवा येभिर्विश्वमैरयः। तेभिः सुम्नया धेहि नो वसो॥
—शौ० ७।५७।१–२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधुक्रोडा[1]—

मधुजाता[2]—यह मधुक का विशेषण है। सायण ने इसकी अनेक प्रकार से व्युत्पत्ति की है :—

'मधुनि मधुरसोपेते भूतले जाता उत्पन्ना। यद्वा मधुने मध्वर्थं उपभोक्तृणां वचसि माधुर्यसंपादनाय जाता उत्पन्ना। अथवा मधुना क्षौद्ररसेन जाता उत्पन्ना। तस्या उत्पत्तौ क्षौद्ररस एव जलवत् कारणम् इत्यर्थः।'

मधुमती[3]—(देखें जीवला)

मधुयष्टिका[4]—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है।

मधुला[5]—यह विषघ्न तथा मशकजंभनी कही गई है। सर्पविष में इसका प्रयोग है। यह मधुक का पर्याय है ऐसी सायण की मान्यता है।

तिरश्चिराजेरसितात्पृदाकोः परि संभृतम्। तत्कङ्कपर्वणो विषमियं वीरुदनीनशत् ॥
इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन्मधुला मधूः। सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजम्भनी ॥
यतो दष्टं यतो धीतं ततस्ते निर्ह्वयामसि। अर्भस्य तृप्रदंशिनो मशकस्यारसं विषम् ॥
अयं यो वक्रो विपरुर्व्यङ्गो मुखानि वक्रा वृजिना कृणोषि।
तानि त्वं ब्रह्मणस्पत इषीकामिव सं नमः ॥
अरसस्य शर्कोटस्य नीचीनस्योपसर्पतः। विषं ह्यस्यादिष्यथो एनमजीजभम् ॥
न ते बाह्वोर्बलमस्ति न शीर्षे नोत मध्यतः। अथ किं पापयामुया पुच्छे बिभर्ष्यर्भकम् ॥
अदन्ति त्वा पिपीलिका वि वृश्चन्ति मयूर्यः। सर्वे भल ब्रवाथ शार्कोटमरसं विषम् ॥
य उभाभ्यां प्रहरसि पुच्छेन चास्येन च। आस्येन ते विषं किमु ते पुच्छधावसत्" ॥
—शौ० ७।५८।१–८

१. अ० शां०—१५।४
२. पै०—२।९।१–५
'इयं वीरुन्मधुजाता मधुना त्वा खनामसि। मधोरधि प्रजातासि सनो मधुमतस्कृधि ॥
—शौ० १।३४।१
३. शौ०—८।७।१६; पै०—२।३२।१–२; २।३५।१; ४।२०।१; ६।६।७
४. पा० गृ०—१।२१;
५. मै०—४।९।१; पै०—४।१९।१–७; २०।१३।८–९; ८।५।१–११; तै० आ०—४।२।५; ५।२।१३
अ० अ०—५।१।५
'मधु त्वा मधुला चकार'—ऋ० ११।९१।१०–१३;
'ऋतजात ऋतावरि मधु मे मधुला करः'—शौ० ५।१५।१–११
'इयं वीरुन्मधुजाता मधुश्चुन् मधुला मधूः। सा विहुतस्य भेषज्यथो मशकजंभनी ॥
—शौ० ७।५६।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मधूक[1]—इसके मणिधारण का विधान है। शां० गृ० (५।९।१) में 'मधूक' शब्द सम्भवतः मधुमक्षिका के लिए प्रयुक्त है।

मधूलक[2]—सायण ने इसका परिचय देते हुए लिखा है—'मधुरसबहुलं जलमधूक-वृक्षपुष्पम्'

मध्वष्ठीला[3]—

मन्धुक[4]—संग्राम में विजय के लिए इसकी समिधा का प्रयोग होता है।

मयूरशिखा[5]—

मरिच[6]—ब्राह्मणों के लिए अपण्य द्रव्यों में पिप्पली के साथ इसका उल्लेख है। इस शब्द की उत्पत्ति द्राविड स्रोत से कही जाती है।

मला[7]—(ओषधिविशेष)

मल्लिका[8]—

मशकजम्भनी—[9](देखें मधुला)

मसूय[10]—

'उक्तविधगुणोपेता मधुकाख्या ओषधिः'—सा०
'मधुलावृषलिंगाभिः खलतुलपर्णो संक्षुद्य मधुमन्थे पाययति (सर्पविष-प्रकरणे)
—कौ० सू० २९।१५

१. शां० गृ०—१।२२।९; ४।१७।३; ५।९।१; कौ० गृ०—१।८।९;
(मधूके विवदन्ते; यष्टिमधूकं केचिद् ब्रवन्ते, मधूकवृक्षं पक्वं केचित्'—भा०)

२. पै०—२।९।२; ८।१०।७; १९।३३।१४; १९।५२।१६; अ० प्रा०—३।४।१
'जिह्वया अग्रे मधु मे जिह्वामूले मधूलकम्'—शौ० १।३४।२

३. काठ०—३७।१४

४. तै०—३।४।८।२; बौ० श्रौ०—१४।१८

५. पा० गृ०—१।२१

६. पा० उ० भो०—२।२।७७; आप० ध०—१।७।२०।१२
पा० म०—५।१।७७ (स्थालपथं मरिचम्)
T. Burrow : Sanskrit etymolological notes, p. 8.

७. अ० शां०—२१।४

८. पा० उ० वृ०—२।३२; पा० म०—४।३।१६६ (पुष्प)

९. शौ०—७।५६।२; पै०—२०।१३।८; कौ० गृ०—१५।११; (मशकादनी)

१०. तै० ब्रा०—३।८।१४।६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मसूर[1]—बृहदारण्यक उपनिषद् में निर्दिष्ट दस ग्राम्य धान्यों में पठित है।

मसूस्य[2]—इसके सक्तु का विधान है।

महादेवी[3]—वशीकरण में इसका प्रयोग है।

महाबला[4]—

महारजन[5]—इससे वस्त्र रंगा जाता था। यह कुसुम्भ का वाचक है।

महावृक्ष[6]—खा० गृ० के टीकाकार ने इसका अर्थ उदुम्बर किया है। यह रक्षोघ्न माना गया है।

महाव्रीहि[7]—

महौषध[8]—

मातुलुंग[9]—

मादानक[10]—इसे मदनफल माना गया है। इससे सिद्ध दुग्ध नवजात बालक के लिए सौमनस्यजनन होता है।

---

१. मा०—१८।१२; का०—१९।४।४; तै०—४।७।४।२; मै०—२।११।४; काठ०—१८।९; क०—२८।९; वि० ध०—७९।१८; शं० लि० ध०—१३२; 'दश ग्राम्याणि धान्यानि भवन्ति—व्रीहियवास्तिलमाषा अणुप्रियंगवो गोधूमाश्च मसूराश्च खल्वाश्च खलकुलाश्च।'—बृ० उ० ६।३।१३

२. हि० श्रौ०—१४।३।३; आप० श्रौ०—२०।१०।५

३. अ० प०—३५।२।९-११

४. अ० प०—७१।१७।७ (देवताविशेष)

५. बृ० उ०—२।३।६; वि० ध०—५०।२१; पा० वा०—४।२।२
'तस्य हैतस्य पुरुषस्य रूपम् यथा माहारजनं वासः—बृ० उ० २।३।६; महारजनं हरिद्रा (शांकर)

६. पै०—१३।४।७; खा० गृ०—४।१।११; पं० वि० ब्रा०—७।६।१५; १४।३।१२
'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबद्धा अभूतन॥'
—शौ० ४।३७।४

७. कौ० सू०—५४।११; अ० प०—२३।७।२

८. अ० शां०—२१।४; बृ० दे०—८।५६ (पाठा)

९. पा० उ० को०—२।२।६५

१०. कौ० सू०—१२।१; के० प०—१२।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मांसी[1]—इसका सौभाग्यजनन एवं वशीकरण प्रयोग है।

मालती[2]—इसका दन्तधावन विहित है।

माष[3]—यजुर्वेद में अन्य धान्यों के साथ इसका उल्लेख है। इसे अमेध्य और अयज्ञिय कहा गया है और ऐसा विधान है कि जिसे यज्ञ करना हो वह उसके पूर्व सायंकाल माष न खाय। यह शमीधान्य के अन्तर्गत है जिसका व्रीहि, यव के साथ प्रयोग होता था। यह अण्डाकार होता है अतः प्रतीकरूप में पुंसवन में यव के साथ इसका प्रयोग विहित है। अथर्ववेद (शौ० ६।१३०।१) में 'रथ-जिता' इसका पर्याय दिया है। कौशिकसूत्र में इसके मन्थ और पिष्ट का उल्लेख है। यह हेमन्त में पकता है (तै० ७।२।१०।२)।

---

१. अ० प० ३५।१।१४–१५; ३५।२।१–७;

२. पा०—४।१।४१; वि० ध०—६१।१४;

३. मै०—४।३।२; मा०—१८।१२; का०—१९।४।४; क०—२८।९; शौ०—६।१३०।१; १२।२।५३; पै०—१७।३०।४; १९।४९।१०; २०।३९।३; नां०—१६।१।१०; गो०—२।१।१७; का० ब्रा०—२।१।१।८; बौ० श्रौ०—१८।८; आप० श्रौ०—४।१।२८; वा० श्रौ०—२।१।१।५०; १।१।२।९; २; बौ० गृ०—२।१।१।४४; जै० गृ०—१।१।१; ५; २।९; आ० गृ०—१।१३।२; १।१७।२; १।१७।२; शां० गृ०—१।२८।६; काठ० गृ०—४।५।५; गो० गृ०—२।९।६; १।१०।१०; क० प्र०—१।९।१०; वि० ध०—८०।१; शं० लि० ध०—१३२; १४६; आप० ध०—२।७।१६।२२; ऋ० तं०—५।२।७; कौ० सू०—७०।१२; ७।१६; १।३१–३२; ३६।१३; अ० प०—१।३०।२; पा०—५।२।४; ५।१।७; पा० ग०—२।४।३१; पा० वा०—८।४।१०; पा० म०—१।१।५१; ५८; २।२।६; १।४।२७; ३।१।९६; ३।२।२८; ४।३।१६६; ५।१।३७; ६।३।१३; के० प०—३१।२८

'माषाश्च मे'—मै० २।११।४

'न माषाणामश्नीयादयज्ञिया वै माषा न तस्य सायमश्नीयात् यस्य प्रातः यक्ष्यमाणः स्यात्'—मै० १।४।१०

'अमेध्या वै माषाः'—क० ३१।१०; काठ० ३२।७; तै० ५।१।८।१

'स वा आरण्यमेवाश्नीयात्। या वा आरण्या ओषधयः; यद्वा वृक्ष्यम्। तदु ह स्माहापि बर्कुर्वार्ष्णिः—माषान् मे पचत, न वा एतेषां हविर्गृह्णन्तीति' तदु तथा न कुर्यात्। व्रीहियवयोर्वा एतदुपचम्-यच्छमीधान्यम्, तद् व्रीहियवावेवैतेन भूयांसौ करोति। तस्मादारण्यमेवाश्नीयात्'—श० १।१।१।१०

'अविः कृष्णा भागधेयं पशूनां सीसं क्रव्यादपि चन्द्रं त आहुः।
माषाः पिष्टाः भागधेयं ते हव्यमरण्यान्या गह्वरं सचस्व॥'—शौ० १२।२।५३

'आरण्यं सायमाशोऽश्नात्यमाषमांसम्'—आप० श्रौ० ४।१।२८

'माषौ च यवं च पुंल्लिङ्गं कृत्वा दधिद्रप्सेनैनां प्राशयेत्'—जै० गृ० १।५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

माषपर्णी[1]—

मिरिका[2]—

मुकुन्दक[3]—जौली इसे पलाण्डुभेद मानते हैं। यह निषिद्ध शाकों नें है।

मुक्तिका[4]—

मुञ्ज[5]—इससे इषीका (सींक) निकलती है। मुञ्ज की मेखला बनती थी तथा इसकी रस्सी में खाट, आसन आदि बिने जाते थे। काठक गृह्यसूत्र में 'सप्तमुञ्ज' शब्द की व्याख्या करते हुये व्याख्याकार ने लिखा है :—'सप्तमुञ्जो मुञ्जविशेषः'—

'इषीका यस्य हेमाभा पत्रं यस्य सुपिञ्जरम्।
सप्तमुञ्ज इति ख्यातः स शरःपर्पटः स्मृतः॥' (ब्राह्मणबल)

यह बड़ा मजबूत होता है और एक साल में तैयार हो जाता है। यह जलप्रधान तथा पित्तशामक कहा गया है (पै०)। यह सुषिर एवं धूमरक्तवर्ण होता है। छिन्न यज्ञशिर का यह योजक भीं कहा गया है। मुञ्ज के तन्तुओं एवं प्रलवों का भी उल्लेख है।

कौ० सू० में मूत्रसंग तथा गर्भस्रंसन-प्रकरण में इसका प्रयोग है। आस्राव (रक्तस्राव) में भी इसका प्रयोग विहित है।

(माषौ च वृषणवत्, यवं च शिश्नवत् संनिवेश्य रेतोबिन्दुवत् अग्रगेन दधिबिन्दुना सह प्राशयेत - का०)

'माषमसूरकुलत्थोद्दालकवर्जं निर्वापणीयम्'—शं० ध० १३२

'तिलमुद्गमाषयवगोधूमादीनां सस्यमुष्टिग्रहणेषु न दोषः पथिकानाम्'—शं० ध० १४६

१. शौ०—२।२५।३ (देखें वनस्पति)

२. पा० वा०—८।४।६;

३. वि० ध०—७९।१७

४. कौ० सू० (प०)—८२।२६

५. ऋ०—१।१६१।८; काठ०—१९।१०; क०—३०।८; ३१।२१; शौ०—२।३।१-५; पै०—१०।३।२।१२; २०।३३।६; श०—६।४।३।७; ६।६।१।३; ६।६।२।१५; १६; ६।७।१।१६; ७।१।२।१८ ३।२।१।१३; १४।१।३।१५; १४।२।१।१६; जै० ब्रा०—१।९; ऐ० ब्रा०—८।५; शां० ब्रा०—१८।७; गो०—२।४।६; तै० ब्रा०—३।८।१।१; तै० आ०—५।४।४; जै० उ० ब्रा०—३।१।५।२; क० उ०—२।३।१७; का० श्रौ०—२।७।१; ७।३।२२; १३।२।१९; १६।२।४; १६।३।६; १६।४।२१; १७।१।९; २६।२।७; १०; २६।३।३; २६।५।१६; हि० श्रौ०—७।१।२; ११।१।३४; ११।३।३; २५; ६; १४।१।२०; २४।१।२०; २४।२।३; ४; २६; बौ० श्रौ०—२।१२; ६।१०; ९।५; १३; १०।१; १२; द्रा० श्रौ०—१०।४।१; ३; आप० श्रौ०—२।२।५०; १०।३।२९; १०।१०।१३; वा० श्रौ०—२।४।१।१४; मा० गृ०—१।१।८; १।१।१८; १।२२।७;

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust
Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बा० गृ०—५।१४; ६।७; आ० गृ०—४।१०।११; खा० गृ०—२।४।२०; बो० गृ०—२।५।१३; जै० गृ०—१।१२; हि० गृ०—१९।१।१४; आ० गृ०—१।१९।१; पा० गृ०—२।५।२१; काठ० गृ०—१।१।६; ३।१।४; ४।१।१२; गो० गृ०—२।१०।८-१२; हि० श्रौ०—२६।१।६५; ६७; २९।१४।२; आप० ध०—१।१।२।३३; ३५; १।७।२१।१; बौ० ध०—१।३।१४; वि० ध०—२७।१८; गौ० ध०—१।५; वा० ध०—११।५८; कौ० सू०—१४।२८; २१।१४; २५।६; २६।२; ३२; ३२।३; ३३।१; २; ४६।२६; अ० प०—२८।१।३; ४०।३।२; ऋ० प्रा०—८।३२; पा०—३।१।११७; पा० ग०—४।१।९९

पा० म०—१।१।७१; ४।२।१२४;

Ved. ind. ii-165

'मुञ्जवान्नाम पर्वतः सोमोत्पत्तिस्थानम्। तत आहृतत्वात् तेन मुञ्जतृणेन शोधितं अपगततृणमित्यर्थः।'—ऋ० १।१६१।८ (सा०)

'शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥'
—ऋ० १।१९१।३

'मौञ्जाः मुञ्जाः प्रसिद्धाः' (सा०)

'ऊर्ग् वै मुञ्जाः ऊर्जैनं परिगृह्णाति'—काठ० १९।११; तै० ५।१।९।५;

'संवत्सरेणैव मौञ्जं भवति'—तै० ५।१।१०।५

'यथा द्यां च पृथिवीं चान्तस्तिष्ठति तेजनम्।
एवा रोगं चास्रावं चान्तस्तिष्ठतु मुञ्ज इत्॥'—शौ० १।२।४

'रोगः ज्वरातीसारादिरूपः' 'आस्रावो मूत्रातीसारः'[1] —सा०

'नि मुञ्जेषु यद् उदकं नि नडेषु यद् अन्तरम्।
यत् समुद्रे यत् सिन्धौ तेनाग्निं शमयामसि॥—पै० ९।७।१२

'अग्निर्देवेभ्य उदक्रामत्। स मुञ्जं प्राविशत्। तस्मात् स सुषिरः, तस्माद्धैवाभ्यन्तरतो धूमरक्त इव।'—श० ६।३।१।२६

'यज्ञिया हि मुञ्जाः'—श० १२।८।३।६

'अथ मौञ्जेन वेदेनोपमार्ष्टि।—श० १४।२।१।१६

(असावेव खलु वेदः बन्धुः छिन्नस्य यज्ञशिरसो बन्धकः—सा०)

---

१. यहाँ सायण की व्याख्या युक्तियुक्त प्रतीत नहीं होती। 'अस्राव' से रक्तस्राव का ग्रहण उचित है क्योंकि मुञ्ज पित्तशामक होने के कारण उसमें लाभकर होगा। मूत्र पर तो उसका वर्धक प्रभाव होता है ऐसी स्थिति में मूत्रातिसार में उसका प्रयोग कैसे होगा? संभवतः 'रोग' और 'आस्राव' ये दो शब्द क्रमशः निज और आगन्तु रोगों के वाचक हैं। सायण की निम्नांकित टिप्पणी से प्रतीत होता है कि वह इन शब्दों से युक्तिव्यपाश्रय और दैवव्यपाश्रय का ग्रहण करना चाहते थे:—"यद्यपि अत्र रोगशब्देन व्याधिसामान्यवाचिना आस्रावोऽपि गृहीतः तथापि एतन्मन्त्रसाध्या क्रिया आस्रावस्य विशेषतो निवर्त्तिकेति दर्शयितुं आस्रावस्य पृथगभिधानम्"

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मुतव[1]—कुश के अभाव में इसे छोड़ कर अन्य द्रव्यों को लेने का विधान है।

मुद्ग[2]—सीमन्तोन्नयन में इसका विधान है (देखें तिल) शां० आ० (१२।८) में मुद्गौदन का उल्लेख है।

मुलाली[3]—सायण ने इसे 'मृणाली' कहा है किन्तु यह कोई स्वतन्त्र वनस्पति प्रतीत होती है।

मुसल[4]—

मुस्ता[5]—मुस्ता के फाण्ट का उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में वशीकरण में इसका प्रयोग है।

'मौञ्जास्तन्तवः'—का० श्रौ० १३।२।१९
'मुञ्जाभावे दार्भम्'—द्रा० श्रौ० १०।४।३
'शरमयी मौञ्जी वा मेखला त्रिवृत्'—आप० श्रौ० १०।३।२९
'मुञ्जो विमुच्यत इषीकया'—या० ९।८
'अदो यदवधावत्यवत् कमधि पर्वतात्। तत् ते कृणोमि भेषजं सुभेषजं यथाससि ॥
आदङ्गा कुविदङ्गा शतं या भेषजानि ते। तेषामसि त्वमुत्तममनास्रावमरोगणम् ॥
नीचैः खनन्त्यसुरा अरुस्राणमिदं महत्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥
उपजीका उद्भरन्ति समुद्रादधि भेषजम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥
अरुस्राणमिदं महत् पृथिव्या अध्युद्भृतम्। तदास्रावस्य भेषजं तदु रोगमनीनशत् ॥'
—शौ० २।३।१-५

'आस्रवन्तीति आस्रावा अतिसारातिमूत्रनाडीव्रणादयः'—सा०
'अरुः स्रायति पक्कं भवति उपशमनोन्मुखं भवति अनेनेति अरुस्राणम्।'—सा०

१. गो० गृ०—१।५।१८; जै० गृ०—१।१

२. तै०—४।७।४।२; का०—१९।४।४; मा०—१८।१२; काठ०—१८।९; क०—२८।९; जै० गृ०—१।७; पा० गृ०—१।१५।४; वि० ध०—८०।१; शं० लि० ध०—१४६; 'मुद्गाश्च मे'—मै० २।११।४; पा०--४।४।२५;पा०म०—४।३।१५४ (शालीन् भुंक्तं मुद्गैः) ४।३।१६६ (फलपाकशुषाम्); ५।१।२७; ५।१।९० (मुद्गा अपि हि षष्टिरात्रेण पच्यन्ते)

३. पै०—६।२२।८
'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली'—शौ० ४।३४।५
'मुलालीति मृणाली विवक्षिता'—सा०
Ved. Ind.—ii-168 (Some Part of an edible lotus)

४. 'मौसलाः परिधयः'—आ० श्रौ० (उ०) ३।७

५. अ० प०—३५।२।९-११; हि० श्रौ०—१४।३।२३;
'मौस्तफाण्टेन (कृतेन) परिवृक्ती'—वा० श्रौ० ३।४।२।४४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूर्वा[1]—इसकी मेखला बनती थी।

मूलक[2]—

मूलशत[3]—मूलविधि में इसका उल्लेख है।

मूलोदक[4]—

मृद्वीका[5]—श्राद्ध में दातव्य अन्य फलों के साथ इसका उल्लेख है।

मेतिका[6]—कौशिकसूत्र में 'रजनी' शब्द से इसका ग्रहण किया गया है। श्वित्र में इसका प्रयोग है।

मेषशृंगी[7]—इसकी फली के कोश का उल्लेख है।

मोचक[8]—इसका दन्तधावन निषिद्ध है।

यव[9]—यह एक धान्य है जिसका वर्णन अत्यन्त प्राचीन काल से उपलब्ध होता है।

---

१. 'मौञ्जीज्यामौर्वीसौत्र्यो मेखलाः क्रमेण'—गौ० ध० १।५, भा० गृ० १।२
'मौर्वी क्षत्रियाय धनुर्ज्या वा'—कौ० सू० ५७।२

२. 'पलाण्ड्वादीन् निर्यासं श्वेतवृन्ताकं सुनिषण्णकं श्लेष्मातकं वृज्जकं चित्रकं शिग्रुं भूस्तृणं कोविदारं मूलकं च वर्जयति।'—वै० ध० ३।५।८; पा० ग०—२।४।३।
'मूलकेनोपदंशं भुंक्ते'—पा० म० ४।१।४८

३. पा० गृ०—१।२१

४. आप० ध०—१।१।२।३७ (मूलोदकसंज्ञो वृक्षस्तस्य त्वचा ग्रथिता—वृ०)

५. पा० उ० मो०—२।२।२०, शं० लि० ध०—२२०

६. कौ० सू०—२६।२२

७. कौ० सू०—२८।९; ११

८. वि० ध०—६१।५

९. ऋ०—१।२३।१५; १।६६।३; १।११७।२१; १।१३५।८; १।१७६।२; २।५।६; २।१४।११; ५।८५।३; ७।३।४; ८।२।३; ८।२२।६; ८।६३।९; ८।७८।१०; तै०—६।२।१०।३; ६।४।१०।५; ७।२।१०।२; मा०—५।२६; १८।१२; २३।३०; मै०—४।२; काठ०—१५।१०; शौ०—८।७।२०; ११।६ (सा०) ११।८।१५; १२।१।४२; ९।१।२२; ९।६।१४; २।७ (सा०) २।८।३; ६।३०।१; ६।५०।१;२; ६।९१।१; ६।१४०।२ ६।१४२।१–३ पै०—९।८।१–८; ९।९।१–६; १६।४।८; श०—१।१।४।२०; २।५।२।१; ३।६।१।९; १०; ४।२।३।११; १२।७।२।९; तै० ब्रा०—१।८।४।१; शां० ब्रा०—४।१२; छा० उ०—३।१४।३; हि० श्रौ०—११।६।४७; १५।५।२४; २३।१।६–८;१६;२५; बौ० श्रौ०—३।१२; ५।११; आप० श्रौ०—६।८।२९।२–३;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऋग्वेद में अनेक स्थलों पर इसका निर्देश है जहाँ संभवतः यह सामान्य धान्य वाचक है । अथर्ववेद में यव के मणिधारण का विधान है जो अनेक रोगों को दूर

६।८।३११४; वा० श्रौ०—३।२।७।६३; आ० श्रौ०—२।९; गो० गृ०—१।५।१९; १।७।२; १।१०।१०; २।७।१८; २।९।६; काठ०आ०गृ०—१।६।४; २।३।३;५।६।१; शां०गृ०—१।३।१०; १।२४।३; १।२८।६; ३।१।३; ४।४।९; आ० गृ०—१।१०।७; १।११।३; ३।१३।२; १।१७।२; २।५।१५; २।८।१५; २।९।७; ४।९।७; कौ० गृ०—३।१।२–४; ४।१।१; हि० गृ० २०।१।६; जै० गृ०—१।५;८;११;२४; बो० गृ०—१।२।२६; १।१०।७;८; खा० गृ०—२।२।३३–३४; ४।१।१०; आप० गृ०—३।९।५–८; व्रा० गृ०—१४।६; मा० गृ०—१।११।२; २।१।५; २।३।१०; वो० पि०—१।१७।२; १।२३।१;

त्रि० ध०—१३।२–४; ५१।३५; ५९।७; ८०।१; गौ० ध०—१९।१३; बौ० ध०—३।५।४; ३।९।१७; ४।५।२३;२५; ३।६।४–१०; शां० लि० ध०—१६;१४६; वै० ध०—१।७।५; आप० ध०—२।७।१६।२२; हि० श्रौ०—२७।२।१७; २८।४।१९; २९।१।७९; २९।३।१९; कौ० सू०—७।५; ८।१६;२०; १२।२; २२।११;१२; २५।१७; २६।३५; २८।१७–२०; ३३।७; ३५।४; ४३।६; ५८।१९; ७८।१६; ७९।१४; ८२।१७; ८४।३; अ० प०—५।५।६; १२।१।३–६; १७।१।३–४; २१।२।२;४; २३।७।२; ३०।३।१; ३०।४।२–३; ३१।२।१; ७०।१।६–९; ७०।४।४; के० प०—२६।३३–४० (यवमणि); २६।४३ (यवबुस)

क० प्र०—१।९।१०; २।२।२; या०—६।२६; ऋ० तं०—५।२।४;

पा०—४।३।४८; १४९; ५।१।७; ५।२।३; ६।२।७८; पा० वा०—४।१।४९

'दीर्घशूको धान्यविशेषः'—सा० (शौ० ६।३०।१) ६।९१।१

'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजाऽमृतं हविः ब्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ ॥

शौ०—८।७।२०

'यो वै कशायाः सप्त मधूनि वेद मधुमान् भवति ।

ब्राह्मणश्च राजा च धेनुश्चानड्वांश्च ब्रीहिश्च यवश्च मधु सप्तमम् ॥—शौ० ९।१।२२

'पञ्च राजानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः । दर्भो भंगो यवः महस्तेनो मुञ्चन्त्वंहसः ॥

—शौ० ११।८।१५

'यस्यामन्नं ब्रीहियवौ'—शौ० १२।१।४२

'यवोऽन्यान् हन्त्योषधिः । यवैद यावयद् गोरश्वात पुरुषात् विषम् । पै०—९।८।३

'यवो राजा यवो भिषक् यवस्य महिमा महान् । यवस्य मन्थं पपिवान् इन्द्रश्चकार वीर्यम् ॥—पै० ९।८।४

'शिवौ तेऽस्तां ब्रीहियवौ अबलासौ अदो मधौ । एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुञ्चतो मांहसः ॥—पै० १६।४।८

'यदयुवत तस्माद् यवा नाम'·····यः सर्वासामोषधीनां रसः आसीत् तं यवेषु अदधुः तस्माद् यत्रान्या ओषधयो म्लायन्ति तदेते मोदमाना वर्धन्ते ।'—श० ३।६।१।९–१०

यवोऽसि धान्यराजोऽसि वारुणो मधुसंयुतः । निर्णोदः सर्वपापानां पवित्रं ऋषिभिः स्मृतम् ॥—बौ० ध० ३।६।४–१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करता है। व्रीहि और यव अमृत दिव्य भेषज कहे गये हैं। सप्त मधुओं में इसकी गणना है। यह पाच उत्तम वीरुधों में परिगणित है। धान्यों में व्रीहि और यव श्रेष्ठ कहे गये हैं। यव विषघ्न, बल्य तथा यक्ष्मनाशन है। शतपथ ब्राह्मण में व्रीहि, गोधूम आदि के साथ ग्राम्य तथा आरण्य अन्न में इसकी गणना है। यज्ञ में इसके सक्तु का विधान है। वसन्त में यव से आग्रयण होता है। सीमन्तोन्नयन, पुंसवन से लेकर अन्त्येष्टि तक सभी संस्कारों में यव आवश्यक है। सीमन्तोन्नयन में यवप्रसून का विधान है। यव से अनेक आहारकल्प, यावक, यवागू, मन्थ, सक्तु, यवौदन, पायस आदि बनाने का उल्लेख है। विष्णुधर्मसूत्र में वत्सनाभविष में सात यव घी में मिलाकर लेने का विधान है। कौशिकसूत्र में इसकी गणना शान्त ओषधियों तथा मिश्र धान्यों में है।

मूत्रसंग में यव का प्रयोग विहित है। यवमणि का बन्धन तक्मनाशन गण तथा सर्वभैषज्य में निर्दिष्ट हैं। अथर्वपरिशिष्ट में यव से आदित्यमण्डक बनाने का विधान है।

यवक[1]—

यवस[2]—यह वन में होनेवाली यवसदृश वनस्पति है जो पशुओं के चोर के रूप में प्रयुक्त हुई है।

'पर्वण्याग्रयणं कुर्वीत वसन्ते यवानां शरदि व्रीहीणाम्'—मा० गृ० २।३।१०

'कलौ मांसाशनप्रतिषेधाद् यवौदनमेव श्रेयः'—हि० श्रौ० (वृ०) २८।४।१९

'पुंसवनं तृतीये मासि अन्यत्र गृष्टेर्घृते चरुं श्रपयित्वा·····जुहुयात्, माषौ यवं च पुल्लिंगं कृत्वा दधिद्रप्सेनैनां प्राशयेत्'—जै० गृ० १।५

'अण्डरूपेण माषौ शिश्नरूपेण यवम्'—आ० गृ० (वृ०) १।१३।२-४

'आण्डौ स्थ इत्यभितो यवं सर्षपौ धान्यमाषौ वा'—हि० गृ० २०।१६

'व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—कौ० सू० ८।२०

'अग्निर्यव इन्द्रो यवः सोमो यवः। यवयावानो देवाः यावयन्त्वेनम् ॥—शौ० ९।२।१३

'उशीनरवत् मद्रेषु यवाः'—पा० म० १।१।५६; ६।३।३४

'औलूखलो यावकः इति···न च यावक उलूखलादेवापकृष्याभ्यवह्रियते।
अवश्यं रन्धनादीनि प्रतीक्षयाणि।'—पा० म० ४।३।३५

'लुप् प्रकरणे फलशाकशुण्ठामुपसंख्यानं कर्त्तव्यम्ः, ब्रीहयः यवा माषा मुद्गाः तिला।
—पा० म० ४।३।१६६

इसके अतिरिक्त, पा० म०—४।१।४९; ५।२।४; ६।३।१२; १।४।५१; २।१।१७
Ved. ind. ii—187.

१. पा०—५।२।३

२. ऋ०—१।३८।५; १।९१।१३; ३।४५।३; ४।४१।१०; ४।४२।५; ७।१८।१०; ७।८७।२; ७।९३।५; ७।१०२।१; मा०—२१।४३;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यवाष[1]—

रक्तचन्दन—

रक्तशालि[2]—

रजनी[4]—किलास, पलित आदि में रंगने के लिए इसका प्रयोग विहित है। कौशिक-सूत्र की व्याख्या में दारिल ने इससे मेथिका का ग्रहण किया है। केशव ने पद्धति में हरिद्रा लिया है। अथर्ववेदीय सूक्त में 'नक्तं जाता' विशेषण हरिद्रा का है इस सम्बन्ध में सायण निश्चित नहीं हैं। (देखें हरिद्रा)

रज्जुदाल[5]—यज्ञ में इसका यूप बनता था। टीकाकारों ने इसका अर्थ श्लेष्मातक किया है। यह श्लेष्मल तथा पिच्छिल द्रव्य है। जैमिनीय ब्राह्मण के अनुसार इसके फल शिश्नवत् होते हैं तथा श्लेष्मा शुक्रवत्। ताण्ड्य ब्राह्मण (२१।४।१३) में 'निचुदार' पाठ है। इसका अर्थ भी श्लेष्मातक किया गया है। वस्तुतः रज्जुदाल श्लेष्मातक से भिन्न है।

श०—३।१।४।१०; ८।७।३।१२; तै० ब्रा०—२।४।५।५; तै० आ०—१।२९।१;
'यवसानामारम्भे वर्त्तमानानां तृणानाम्'—सा० (ऋ० १।९४।११)
हि० श्रौ०—१४।२।२१; आ० गृ०—२।४।८; गौ० ध०—१७।३;

१. क०—४६।४; काठ०—३०।१
पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४१; ५।२।१३५;
तौ अवित्ताविन्द्रो वा इति। तौ प्रापताम्। तयोर्याः प्रोक्षणीरापः आसंस्ताभिरनु-विसृज्य शीर्षे अच्छिनत्। तौ वृषश्च यवाषश्चाभवताम्। तस्मात्तौ वर्षेषु शुष्यतः। अद्भिर्हि हतौ।'—काठ०—३०।१

२. आग्नि० गृ०—२।४।११।१८;

३. अ० प०—१।४३।६

४. शौ०—१।२३।१-५; २०।१३५।१२; तै० ब्रा०—३।४।७।१; बौ० ध०—२।२।१७;
कौ० सू०—२६।२२; पा०—४।११४१
नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥'
—शौ० १।२३।१
'रञ्जयति स्वसंसृष्टं वस्त्रादिकं अर्थम् इति रजनी'—सा०
'कोशबिले रजनि ग्रन्थेर्धानमुपानहि पादम्'—शौ० २०।१३५।१२
'प्रकामाय रजयित्रीम्'—तै० ब्रा० ३।४।७।१; 'वस्त्रेषु रञ्जनकारिणीम्'—सा०

५. श०—१३।४।४।५; ६; तै० ब्रा०—३।८।१९।१; ३।८।२०।१; जै० ब्रा० २।२७४; का० श्रौ०—२०।४।१७; हि०श्रौ०—१४।२।३८; बौ०श्रौ०—१५।१४;वा०श्रौ०—३।४।१।५४-५५;
'प्रजापतेः प्राणेषूत्क्रान्तेषु शरीरं श्वयितुमध्रियत। तस्य यः श्लेष्मासीत् स सार्धं समवद्रुत्य मध्यतो नस्त उदभिनत्। स एष वनस्पतिरभवत् रज्जुदालः। तस्मात् स

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रथबन्धुर[1]—

राजक्षपणी (राजपर्णी)[2]—श्मशान से उद्धरणीय ओषधियों में परिगणित है।

राजमाष[3]—निषिद्ध द्रव्यों में पठित है।

राजवृक्ष[4]—इसका मूल निषिद्ध तथा समिधा वर्ज्य कही गई है। श्मशानायतन से उद्धरणीय ओषधियों में कर्णिकार आदि के साथ पठित है।

राजवृक्षपर्णी[5]—

राजिका[6]—(देखें आसुरी)

रामठ[7]—

रामा[8]—सायण ने इससे भृङ्गराज का ग्रहण किया है। यह अन्य ओषधियों के साथ श्वित्र और पलित में प्रयुक्त होती है। इसके प्रयोग का विधान यह है कि सूखे उपले से श्वित्रप्रदेश को रगड़े जब रक्त आने लगे तब भृङ्गराज, हरिद्रा, इन्द्रवारुणी तथा नीलिका को पीसकर लेप करे। पलित में पके बालों को हटा कर लेप करे। गरुड़ के पित्त से इसकी उत्पत्ति बताई गई है। इससे इसके पैत्तिक स्वरूप (उष्णवीर्य) का संकेत मिलता है।

श्लेष्मणः श्लेष्मगो हि समभवत्। तेनैवैनं तद्रूपेण समर्पयति। तद्यत् सोऽग्निष्ठो भवति'—श० १३।४।४।५; ६

'श्लेष्मातको रज्जुदालः'—सा० (तै० ब्रा०—३।८।१९।१)

'प्रजापतिर्वा एष वृक्षाणां यत् रज्जुदालः। तस्य यानि फलानि शिश्नान्येव तानि, अथ यः श्लेष्मा रेत एव तत्।'—जै० ब्रा० २।२७४

'रज्जुदालः श्लेष्मातकः गूँदी' इति लोके प्रसिद्धः—का० श्रौ० (टि०) २०।४।१७

१. 'दर्भः शोचिस्तरुणकमश्वस्य वारः परुषस्य वारः। रथस्य बन्धुरम्'—शौ० १०।४।२

२. आग्नि० गृ०—३।५।५।७; बौ० पि०—१।६।२

३. वि० ध०—७९।१८; पा० म०—५।१।२०

४. जै० गृ०—१।१; पा० गृ०—१।२।१; गो० गृ०—१।५।१५

'पुरस्तादेव श्मशानायतनात् ओषधीरुद्धारयति—पाठापृश्निपर्णीकर्णिकारराजवृक्षकण्टकतिलकबिभीतकार्कशरश्वदंष्ट्राध्यण्डा अन्याश्च क्षीरिणीरनुत्वयाः।'

—हि० श्रौ० २४।१।४;

५. बौ० पि०—१।४।७

६. अ० प०—३५।१।६–१२

७. पा० उ०—१।१०१

८. पै०—१।१६।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रास्ना[1] —यह मेखला के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

रूप[2]—पुष्पवर्ग की ओषधि है।

रेष्य[3]—यह गर्भदृंहण कहा गया है।

रोपणाका[4]—सायण ने इसे काष्ठशुकाख्य पक्षिविशेष माना है किन्तु केशव इससे एक वनस्पति लेते हैं।

रोहिणी[5]- सायण ने इसे लाक्षा माना है। यह संधानीय तथा रोपण है। (देखें लाक्षा)

रोहितक[6]—यह यूप्य वृक्षों में है; यज्ञ में इसका यूप बनाया जाता था। उपनयन में इसके दण्ड का भी विधान है।

रौहिण —इसका हवन किया जाता था तथा इसके पिष्ट का लेप विहित है।

नक्तंजातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च।
इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
किलासं च पलितं च निरितो नाशया पृषत्।
आ त्वा स्वो विशतां वर्णः परा शुक्लानि पातय॥
असितं ते प्रलयनमास्थानमसितं तव।
असिक्न्यस्योषधे निरितो नाशया पृषत्॥
अस्थिजस्य किलासस्य तनूजस्य च यत् त्वचि।
दूष्या कृतस्य ब्रह्मणा लक्ष्म श्वेतमनीनशम्॥—शौ० १।२३।१-४
'व्याधितो जन अनया ओषध्या रमते इति रामा भृङ्गराजाख्या ओषधिः'—सा०

१. श०—१।३।१।१५; का० ब्रा०—२।२।४।१२; तै० ब्रा०—३।२।२।७; तै० आ०—४।२।६;
२. 'शुक्लाः सुमनसस्तासामलाभे जपारूपकाकुत्थामण्डीकुरण्डकवर्जं गन्धवत्यो वा' —जै० गृ० १।१
३. कौ० सू०—३५।२१;
४. कौ० सू०—२६।२०; ऋ०—१।५०।१२; शौ०—१।२२।४; तै० ब्रा०—३।७।६।२२ Ved. ind. ii–227
५. शौ०—४।१२।१-७; पै०—४।१५।१-७; कौ० सू०—२८।५; अ० अ०—४।१२
६. 'यत्र चमसं न्यौब्जत्ततो रोहितकोऽजायत तस्माद्रौहीतकः'—मै० ३।९।३; पै०—९।७।१३; जै० ब्रा० (लोहितक)—१५९; का० श्रौ०—६।१९; हि० श्रौ०—४।१।२; बा० श्रौ०—१।६।१।१५; १।२।१।३०; आप० श्रौ०—१।२।३०; ७।१।१।१५-१६; बो० गृ०—२।५।१७; पा० गृ०—१।२१; या० गृ०—२।६।४; पा० ग०—४।३।१५२; ४।१।११२;
७. हि० श्रौ०—२४।६।१२; बौ० श्रौ०—९।५; १०; १३; शां० श्रौ०—१२।१६।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लकुच[1]—

लक्ष्मणा[2]—मूलविधि-प्रकरण में इसका उल्लेख है।

लघुकण्टवारिका[3]—

लवङ्ग[4]—

लवणी[5]—

लशुन[6]—

लाक्षा[7]—व्रणरोपण तथा अस्थि आदि के सन्धान के लिए प्रयुक्त है। प्लक्ष, न्यग्रोध

सु०—१३।५; १४।३; आ० ज्यो०—२।१०

'श्वो राज्ञः क्रय इत्युपकल्पयते···रौहिणपिष्टानि'—बौ० श्रौ० ९।५

'अन्त्राणां रौहिणपिष्टलेपेन प्रध्वंसयति मज्जाम्'—हि० श्रौ० २४।६।१२

१. पा० उ० भो०—२।२।७९

२. पा० गृ०—१।२१; शौ०—२।२५।३

३. अ० प०—१८।१।१५।१७

४. पा० उ०—१।१२०

५. पा० ग०—४।११४१

६. वा० ध०—१४।३३; वै० ध०—२।१५।५; शं० लि० ध०—२४०; ४१८; सु० ध०—२।१२२; अ० प०—३६।७।१-३;

७. शौ०—४।१२।१-७; ५।५।१-९; पै०—६।४।६; खि०—४।७।७; शं० लि० ध०—४०५; कौ० सू०—२८।१४; ३५।२४; ३८।९; ७६।८; अ० प०—५०।६।५; ६५।५।७; या० शि०—२१७; शौ० बृ०—८।५१; अ० आ०—३।२; पा०—४।२।२; पा० उ० भो०—२।३।१९१; के० प०—२८।१४

'सद्यः पतति सांसेन लाक्षया लवणेन च'—वा० ध० २।२७

रोहण्यसि रोहण्यस्थ्नश्छिन्नस्य रोहणी रोहयेदमरुन्धति ॥
यत्ते रिष्टं यत् ते द्युत्तमस्ति पेष्ट्रं त आत्मनि।
धाता तद् भद्रया पुनः सं दधत् परुषा परुः ॥
सं ते मज्जा मज्ज्ञा भवतु समु ते परुषा परुः।
सं ते मांसस्य विस्रस्तं समस्थ्यपि रोहतु ॥
मज्जा मज्ज्ञा सं धीयतां चर्मणा चर्म रोहतु।
असृक् ते अस्थि रोहतु मांसं मांसेन रोहतु ॥
लोम लोम्ना सं कल्पया त्वचा सं कल्पया त्वचम्।
असृक् ते अस्थि रोहतु च्छिन्नं सं धेह्योषधे ॥
स उत् तिष्ठ प्र हि प्र द्रव रथः सुचक्रः सुपविः सुनाभिः। प्रति तिष्ठोर्ध्वः ॥
यदि कर्तं पतित्वा संशश्रे यदि वाश्मा प्रहृतो जघान।
ऋभू रथस्येवाङ्गानि सं दधत् परुषा परुः ॥ —शौ० ४।१२।१-७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि वृक्षों से प्राप्त की जाती थी। यह रक्तवर्ण होती है। लाक्षाविक्रय निषिद्ध था। कौशिकसूत्र में सद्योव्रण में लाक्षाश्रृत क्षीर पीने का विधान है। यह रंगने के काम भी आती थी। केशवपद्धति (२८।४) में शस्त्राघात, रक्तस्राव तथा अस्थिभग्न में लाक्षोदक से सिंचन का विधान है। (देखें अरुन्धती और सिलाची)

लिङ्गा—सर्पविष में इसे पिलाने का विधान है (कौ० सू० २९।१५)

लिबुजा[1]—

लोकेशी[2]—(देखें आसुरी)

लोध्र[3]—ऋग्वेद में 'लोध' शब्द है जिसका अर्थ टीकाकारों ने 'रक्तवर्ण' किया है। संभवतः इसकी छाल रक्ताभ होने के कारण इसकी संज्ञा 'लोध्र' हुई हो।

रात्री माता नमः पितार्यमा ते पितामहः।
सिलाची नाम वा असि सा देवानामसि स्वाहा ॥
यस्त्वा पिबति जोधति त्रायसे पुरुषं त्वम्।
भर्त्री हि शश्वतामसि जनानां च न्यंचनी ॥
वृक्षं वृक्षमारोहसि वृषण्यन्तीव कन्यला। जयन्ती प्रत्यातिष्ठन्ती स्परणी नाम वा असि ॥
यद् दण्डेन यदिष्वा यद् वारुर्हरसा कृतम्।
तस्य त्वमसि निष्कृतिः सेमं निष्कृधि पुरुषम् ॥
भद्रात् प्लक्षान्निस्तिष्ठस्यश्वत्थात् खदिराद्धवात्।
भद्रान्न्यग्रोधात् पर्णात् सा न एह्यरुन्धति ॥
हिरण्यवर्णे सुभगे सूर्यवर्णे वपुष्टमे। रुतं गच्छासि निष्कृते निष्कृतिर्नाम वा असि।
हिरण्यवर्णे सुभगे शुष्मे लोमशवक्षणे। अपामसि स्वसा लाक्षे वातो हात्मा बभूव ते ॥
सिलाची नाम कानीनोऽजबभ्रु पिता तव।
अश्वो यमस्य यः श्यावस्तस्य हास्नास्युक्षिता ॥
अश्वस्यास्नः संपतिता सा वृक्षां अभि सिष्यदे।
सरा पतत्रिणी भूत्वा सा न एह्यरुन्धति ॥ —शौ० ५।५।१-९

1. ऋ०—१०।१०।१३-१४; शौ०—६।८।१; १८।१।१५-१६; गां०—१२।१३।११;१२; जै० ब्रा०—७६; कौ० सू०—३५।२१; दंवि०—२१२
'लिबुजा व्रततिर्भवति, लीयते विभजन्तीति'—या० ६।२८
'यथा ताम्बूलादिवल्ली···आश्लिष्यति'—सा० (शौ० ६।८।१)
'लेपेन उपचयेन जाता लिबुजा'—सा० (तां० १२।१३।११)
2. अ० प०—३५।२।१-७;
3. पा० उ० भो०—२।३।२९
Ved. ind. —ii—283.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लोहिततूल[1]—यह अर्जुन नामक तृण का एक भेद माना गया है।

लोहितवृक्ष[2]—

वकुल[3]—

वङ्क[4]—शान्तवृक्षों में इसकी गणना की गई है।

वचा[5]—यह स्मरणशक्ति तथा वाक्शक्ति को बढ़ाने वाली है। कौशिकसूत्र में दारिल ने इसका अर्थ वासा दिया है।

वञ्जुल[6]—

वट[7]—इसका दन्तधावन विहित है।

वधक[8]—

वन्दना[9]—

वपा—(कौ० सू० ८।१६) यह शान्त ओषधियों में परिगणित है।

---

१. 'इन्द्रो वृत्रमहंस्तस्य यो नस्तः सोमः समधावत्तानि बभ्रुतूलान्यर्जुनानि यो वपाया उत्खिन्नायास्तानि लोहिततूलानि'—तां० ९।५।७

२. पै०—२०।५१।८

३. पा० उ० भो०—२।३।११०

४. कौ० सू०—८।१५; (शरवङ्कौ हिमवति प्रसिद्धौ—दा०; कन्यकुब्जे प्रसिद्धः (के०)

५. अ० प०—१।४४।१०; ५।१।५;
'वचामेतेन कल्पेन वाचो व्रतेन पूर्वेण प्राश्नीयाच्छ्रुतनिगादी भवति।' मत्स्याक्तक शंखपुष्पीवचारकेरटीघृतानि···एतेनैव प्राश्नीयाच्छ्रुतनिगादी भवति।' वचायास्त्रिवृतं कारयेन् मणिं···तं मणिं कण्ठेन शिरसा वा धारयन् कथासु श्रेयान् भवति'
'वचां मधुकमित्येते आस्येऽवधाय अपां फेनेन···निगीर्य···परिषदि राजनि चोत्तरवादी भवस्युत्तरवादी भवति'—सा० २।७।१०-१३

६. पा० उ० भो०—२।३।११०;२१२

७. शौ०—२०।१३५।१३; पा० गृ०—१।१९;२१; वि० ध०—४६।२३; अ० प०—१।४३।१; २६।५।१-५; पा० ग०—४।२।८०;८६; पा०—६।२।८२; ५।१।१२१

८. 'ताजद्भंग इव भज्यन्तां हन्त्वेनान् वधको वधैः'
'परुषानमून् परुषाह्वः कृणोतु हन्त्वेनान् वधको वधैः'—शौ० ८।८।३-४

९. ऋ०—७।५०।२; (वन्दनं पततसंज्ञकं विषं विजानन् विविधजन्मनि परुषि वृक्षादीनां पर्वणि भुवत् उद्भवत्—सा०); शौ०—७।११५।२; ७।१२०;
पै०—२०।१७।८; पा० वा०—३।२।१०७;
'वन्दना नाम लतानां वृक्षाणां चोपरि प्ररूढास्तदीयशाखां आवेष्टमानाः विचित्रपर्णलताविशेषाः'—सा० (शौ० ७।११५।२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वंश[1]—इससे मकान छाये जाते थे। वन में उत्पन्न होने तथा शब्द करने से यह वंश कहलाता है। (देखें वेणु)

वरण[2]—यह वल्य, रसायन, विषघ्न, रक्षोघ्न तथा यक्ष्मनाशन है। यज्ञ में इसकी परिधि तथा उलूखल, स्रुव, स्रुक् आदि पात्र बनते थे। राजयक्ष्मा आदि में इसके मणिधारण का भी विधान है। यह शान्तवृक्षों में पठित है। वरणवृक्षों के आधिक्य से नदीविशेष की संज्ञा वरणावती हुई (शौ० ४।७।१)।

---

१. ऋ०—१।१०।१; मै०—४।८।१०; तै०—१।६।१२।३; शौ०—३।१२।६; ९।३।४;
पै०—१६।३९।५; २०।२२।३; श०—९।१।२।२५; तै० ब्रा०—१।२।३।१; गो०—२।३।११;
शां० ब्रा०—११।४;२४।७; शां० आ०—२।१०; ७।९;१०;८।१;९; वा० ‌ ै०—१।४।१।६;
काठ० गृ०—१।१२।२; आ० गृ०—२।८।१३; पा० गृ०—१।२१; बौ० पि०—२।६;
कौ० सू०—३६।६; अ० प०—२६।५।१–५; पा० ग०—५।१।५०; ६।३।१२०;
पा० म०—१।१।२ (वंशस्तम्ब); १४; ६।१।२०८
‘वंशो वनशयो भवति, वननाच्छ्रूयत इति वा’—या० ५।५

२. मै०—१।६।७; शौ०—१०।३।१–२५; पै०—५।८।८; १९।६।१–१५; १६।६३।१–१०;
१६।६४।१–१०; १६।६५।१–४; तां०—५।३।९;१०; गो०—१।१।७; जै० ब्रा०—१२५;
श०—१३।८।४।१; तै० आ० ६।९।२; छां०—२।२२।१; ३।८।१; ३; का० श्रौ०—१।३।१०;
२१।३।३०; २१।४।२७; हि० श्रौ०—१।४।१२; वा० श्रौ०—१।२।४।३;
हि० श्रौ०—२९।१।७७;४१; कौ० गृ०—५।८।४; बो० पि०—१।१७।२; १।२१।१;
कौ० सू०—८।१५; १९।२२; २६।३७; ८३।४; ८५।१३; अ० प०—३२।१।७;२४;
या०—१०।३; पा०—४।२।८२; के० प०—२६।३३।४०; १९।२२–२३;
‘वरणा नाम वृक्षविशेषाः’—सा० (शौ० ४।७।१)
“वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥
इन्द्रस्य वचसा वयं मित्रस्य वरुणस्य च। देवानां सर्वेषां वाचा यक्ष्मं ते वारयामहे॥
यथा वृत्र इमा आपस्तस्तम्भ विश्वधा यतीः। एवा ते अग्निना यक्ष्मं वैश्वानरेण वारये॥
—शौ० ६।८५।१–३

अयं मे वरणो मणिः सपत्नक्षयणो वृषा। तेना रभस्व त्वं शत्रून्प्र मृणीहि दुरस्यतः॥
प्रैणाञ्छृणीहि प्र मृणा रभस्व मणिस्ते अस्तु पुर एता पुरस्तात्।
अवारयन्त वरणेन देवा अभ्याचारमसुराणां श्वः श्वः॥
अयं मणिर्वरणो विश्वभेषजः सहस्राक्षो हरितो हिरण्ययः।
स ते शत्रूनधरान्पादयाति पूर्वस्तान्दभ्नुहि ये त्वा द्विषन्ति॥
अयं ते कृत्यां विततां पौरुषेयादयं भयात्। अयं त्वा सर्वस्मात्पापाद्वरणो वारयिष्यते॥
वरणो वारयाता अयं देवो वनस्पतिः। यक्ष्मो यो अस्मिन्नाविष्टस्तमु देवा अवीवरन्॥
स्वप्नं सुप्त्वा यदि पश्यासि पापं मृगः सृतिं यदि धावादजुष्टाम्।
परिक्षवाच्छकुनेः पापवादादयं मणिर्वरणो वारयिष्यते॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अराय्यास्त्वा निर्ऋत्या अभिचारादथो भयात्। मृत्योरोजीयसो वधाद्वरणो वारयिष्यते ॥
यन्मे माता यन्मे पिता भ्रातरो यच्च मे स्वा यदेनश्चकृमा वयम् ।
ततो नो वारयिष्यतेऽ यं देवो वनस्पतिः ॥
वरणेन प्रव्यथिता भ्रातृव्या मे सबन्धवः । असूर्तं रजो अप्यगुस्ते यन्त्वधमं तमः ॥
अरिष्टोऽ हमरिष्टगुरायुष्मान्त्सर्वपूरुष । तं मायं वरणो मणिः परि पातु दिशोदिशः ॥
अयं मे बरण उरसि राजा देवो वनस्पतिः।
स मे शत्रून्वि बाधतामिन्द्रो दस्यूनिवासुरान् ॥
इमं बिभर्मि वरणमायुष्माञ्छतशारदः। स मे राष्ट्रं च क्षत्रं च पशूनोजश्च मे दधत् ॥
यथा वातो वनस्पतीन्वृक्षान्भनक्त्योजसा।
एवा सपत्नान्मे भङ्ग्धि पूर्वाञ्जातां उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥
यथा वातश्चाग्निश्च वृक्षान्प्सातो वनस्पतीन् ।
एवा सपत्नान्मे प्साहि पूर्वाञ्जातां उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥
यथा वातेन प्रक्षीणा वृक्षाः शेरे न्यर्पिताः ।
एवा सपत्नांस्त्वं मम प्र क्षिणीहि न्यर्पिय पूर्वान्जातां उतापरान्वरणस्त्वाभि रक्षतु ॥
तांस्त्वं प्र च्छिन्द्धि वरण पुरा दिष्टात्पुरायुषः।
य एनं पशुषु दिप्सन्ति ये चास्य राष्ट्रदिप्सवः ॥
यथा सूर्यो अतिभाति यथास्मिन्तेज आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशश्चन्द्रमस्यादित्ये च नृचक्षसि ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशः पृथिव्यां यथास्मिञ्जातवेदसि ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशः कन्यायां यथास्मिन्त्संभृते रथे ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशः सोमपीथे मधुपर्के यथा यशः ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशोऽ ग्निहोत्रे वषट्कारे यथा यशः ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशो यजमाने यथास्मिन्यज्ञ आहितम् ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा यशः प्रजापतौ यथास्मिन्परमेष्ठिनि ।
एवा मे वरणो मणिः कीर्तिं भूतिं नि यच्छतु तेजसा मा समुक्षतु यशसा समनक्तु मा ॥
यथा देवेष्वमृतं यथैषु सत्यमाहितम् । एवा मे वरणो मणिः :-- —शौ० १०।३।१-२५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्षाभू[1]—'वर्षाहू'[2] तथा 'वर्षाह्वा'[3] शब्द भी आते हैं।

वराण[4]—(देखें वीरण)

वलीक[5]—हृद्रोग, जलोदर तथा कामला में मधूदक में वलीकतृणों को मिलाकर इससे अवसिंचन का विधान है।

वल्मीक[6]—यह शान्त ओषधियों में परिगणित है।

वसुक[7]—

वाघातक[8]—

वातीकृतभेषजी[9]—यह पिप्पली का पर्याय है।

वातीकृतनाशनी[10]—यह विषाणका के विशेषण रूप में है।

वार्त्ताकु[11]—वर्जित शाकों में परिगणीत है।

वालदुच्छ[12]—यह कोई गन्धयुक्त ओषधिविशेष है।

---

१. पा०—६।४।८४; पा० म०—६।४।८४ (वर्षासु भवति, वर्षा वा भवते प्राप्नोतीति वर्षाभूरोषधिविशेषः—प्रदीप; ओषधिविशेषः, भेके तु ह्रस्वान्तः-उद्योत) आग्नि० गृ०—२।५।१०।३; ११

२. मै०—३।१४।१९; मा०—२४।३८; बौ० श्रौ०—१३।३७ (वर्षाहूस्तम्बम्); हि० श्रौ०—(वर्षाहु)—२२।६।१८ (उत्कटे वर्षाहुस्तम्बं प्रतिष्ठाप्योन्नमय्य पृथिवीमिति वर्षाह्वां जुहोति) 'वर्षाहुः पुनर्नवा'···व्या०
Ved. ind. ii–517

३. 'वर्षाह्वां जुहोत्येषा वा ओषधीनां वृष्टिवनिः'—तै० २।४।१०।३;

४. पा० ग०—४।२।८०

५. के० प०—३०।१२ (मधूदके वलीकतृणानि प्रक्षिप्य······व्याधितमवसिञ्चति) 'स्रवन्ति वलीकान्युदकम्'—पा० म० ३।१।८७

६. कौ० सू०—८।१६

७. बौ० श्रौ०—१४।२०।११; वैता० श्रौ०-२६।१४; द्रा० श्रौ०-१५।३८; ला० श्रौ०—५।११।८

८. आ० श्रौ० (उ०) ३।७ (वाघातकश्च वृक्षविशेषः-वृ०)

९. वातीकृतस्य भेषजीमथो क्षिप्तस्य भेषजीम्'—शौ० ६।१०९।३

१०. विषाणका नाम वा असि पितृणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी'—शौ० ६।४४।३ 'वाती आस्रावस्य रोगस्य शोषयित्री कृतनाशिनी कृतं रोगस्य निदानभूतं दुष्कर्म तस्य नाशयित्री'—सा०

११. वि० ध०—७९।१७

१२. 'वालदुच्छस्य गन्धेन हिरण्यवर्चसेन च'—पै० २०।२०।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वासा[1]—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है।

वास्तूक[2]—

विकङ्कत(तिका)[3]—ऋग्वेद (१।१९२।१) में 'कंकत' शब्द आया है जिसका सायण ने अर्थ किया है 'अल्पविष'। यज्ञ में इसके यूप, विभिन्न पात्रों तथा समिधा का प्रयोग होता था। यह यज्ञिय वृक्षों में प्रमुख हैं। शतपथ ब्राह्मण में परिधि के उपादानवृक्षों के प्रकरण में लिखा है कि यह पलाश का हो, यदि यह न मिले तो विकङ्कत का हो, उसके अभाव में कार्ष्मर्य का हो, यदि यह भी न हो तो बिल्व, खदिर या उदुम्बर का हो। ये वृक्ष यज्ञिय होते हैं। ये आर्द्र होने चाहिए।

---

१. कौ० सू०—८।१६ (वृषकः-दा०); ३९।६ (आटरूषकः-दा०); पा० ग०—८।२।९; पा० उ० भो०—२।३।१६८

२. पा० उ० वृ०—४।४१;

३. मै०—३।१।९; तै०—३।५।७।३; काठ०—१९।१०; २१।९; २७।८; क०—३०।८; शौ०—५।८।१; ११।१२।३; पै०—७।१८।१; श०—१।३।३।२०; १।३।४।१; ११२।४।१०; ५।२।४।१८; १५; ६।६।३।१; ९।२।३।३९; १४।१।२।५; १४।१।३।२६; का० ब्रा०—१।२।४।७; तै० ब्रा०—१।१।३।१२; १।२।१।७; तै० आ०—५।२।५; ५।४।९; का० श्रौ०—१।३।२२; २।८।१; ५।४।१३; १५।२।२; १६।४।३६; २६।१।४; २६।२।१०; हि० श्रौ०—१।४।१२; ३।३।६; ८।१।१; ११।३।१५-१६; १३।८।१५; २४।१।३; २४।२।५; २४।३।३; बौ० श्रौ०—२।७; १२; ९।१; ५; १९; १०।१२; आप० श्रौ०—१।२।३०; १।५।१०; ५।५।५; ६।१।३।६; वा० श्रौ०—१।२।४।२; १।४।४।२; १।५।२।१०; २।१।२।२४; कौ० गृ०—२।६।९; हि० गृ०—२०।३।१९; कौ० सू०—४८।८; अ० प०—२३।२।५; २३।४।५; २३।६।५; पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१४१;
'वैकङ्कतेनेध्मेन देवेभ्य आज्यं वह—शौ० ५।८।१
'सैषा प्रथमा आहुतिः यद् विकङ्कतः'—श० ६।६।३।१
'परिध्युपादानभूतान् वृक्षान् विधत्ते'—ते वै पालाशाः स्युः, ब्रह्म वै पलाशः ब्रह्माग्निः अग्नयोहि; तस्मात् पालाशाः स्युः। यदि पालाशान् न विन्देत् अथो अपि वैकङ्कताः स्युः। यदि वैकङ्कतान् न विन्देत्—अथो अपि कार्ष्मर्यमयाः स्युः। यदि कार्ष्मर्यमयान् न विन्देत् अथो अपि बैल्वा स्युः। अथो खादिराः अथो औदुम्बराः। एते हि वृक्षा यज्ञियाः। तस्मादेतेषां वृक्षाणां भवन्ति। ते वा आर्द्राः स्युः। एतद् हि एषां जीवम्, एतेन सतेजसः, एतेन वीर्यवन्तः तस्मादार्द्राः स्युः'—श० १।३।३।२०: १।३।४।१
'विकङ्कतः गोकर्णः'—भा० (आप० श्रौ० १।२।३०)
'पञ्च पञ्च नानावृक्षीयाः समिधोऽभ्यादधाति ··· ··· अश्वत्थश्चोदुम्बरश्च पर्णश्च शमी च विकङ्कतश्चेत्येदन्नानुपूर्व्यं भवति'—बौ० श्रौ० २।७

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विडङ्ग[1]—

वितन्त्री[2]—

विदारी[3]—श्राद्ध में दातव्य द्रव्य में पठित है। पुंसवन कर्म में भी इसका प्रयोग है।

विबाध—(देखें खदिर)

विभीतक(क)[4]—(देखें बिभीतक)

केशवृद्धिकरण तथा केशपतन में विभीतक-क्वाथ से अवसिञ्चन का विधान है।

विशफ[5]—

विश्लिष्टभेषज[6]—

विश्वभेषज(जी)[7]—ऋग्वेद (१।२३।२०) में जल को विश्वभेषजी तथा वात (१।१३७।३) को विश्वभेषज कहा गया है।

विश्वामित्रतृण[8]—

विषदूषण(णी)[9]—

विषा[10]—तै० ब्रा० (३।७।१३।१४) में भी यह शब्द आया है जिसका अर्थ सायण ने 'व्यापिनी' किया है। यह बाणापर्णी का विशेषण है।

विषाणका (विषाणा)[11]—यह रक्षोघ्न और क्रिमिघ्न कहा गया है। सहस्रचक्षु

---

१. पा० ग०—२।४।३१; पा० उ०—१।१२१

२. 'इमां खनाम्योषधिं वितन्त्रीं अनुतन्तुनाम्' पै०—३।२९।१-६

३. शं० लि० ध०—२२०; पागम०—५७
'फालचमसे सरूपवत्सायाः दुग्धे व्रीहियवावधाय मूर्च्छयित्वाप्यण्डे बृहतीपलाशविदार्यौ वा प्रतिनीय पैद्वमिव'—कौ० सू० ३५।४ (विदारी वेलापलाशक इति प्रसिद्धः—दा०)

४. जै० गृ०–१।१; दं वि०—१।४; के० प०—३०।९
विभीदको विभेदनात्' या०—९।८ (विभेत्ता कोष्ठस्य—दु०)

५. शौ०—३।९।१; Ved. ind.—ii–314

६. शौ०—२७।५।२

७. शौ०—४।१३।२; ६।५२।३ (सर्वस्य रोगजातस्य शमनीम्—सा०); पै०—१।५८।३;

८. बौ० ध०—१।६।३ (टि०)

९. पै०—३।१५।१-६; १९।१३।४-६; २०।५६; ४।२२।१-७; ६।७।१-९;

१०. शौ०—७।११८।२

११. बिषाणका नाम वा असि पितॄणां मूलादुत्थिता वातीकृतनाशनी'—शौ० ६।४४।३
'विशेषेण रोगनिवर्त्तनस्य संभक्त्री'—सा०
पै०—३।२२।१-६; ५।९।२; ८।६।१-११; १९।३१।१-३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका विशेषण है। मजुमदार ने इसे Gymnema sylvestre माना है (देखें अजश्रृंगी)

विषातकी[1]—बाणापर्णी का विशेषण है।

विष्कन्धदूषण[2]—यह जङ्गिड का विशेषण है।

विष्णुक्रान्ता[3]—यह पृथिवी के पर्याय के रूप में प्रयुक्त हुआ है। बाद में ओषधि-वाचक बना।

विस्रंसिका[4]—

विहल्ह[5]—यह सर्षप का पिता कहा गया है।

विह्वल[6]—

वीर(रि)ण[7]—ऊपर भूमि में अधिक होता है। वास्तुप्रकरण में ऐसा विधान है कि जिस भूमि में कुश, वीरण अधिक हों वही वास्तु के लिए प्रशस्त है। कौशिकसूत्र में वीरणितूल का उल्लेख है। श्वित्र में श्वेतपुष्प वीरिण की इषीकाओं के बन्धन का विधान है। अपचितभैषज्य-प्रकरण में भी इसका उल्लेख है। राजयक्ष्मा में इसका बन्धन विहित है (के० प० ३२।१३)। सायण ने शौ० ८।३ में वीरणतूल के साथ इङ्गिडाज्य के होम का उल्लेख किया है। प्राचीन शब्द 'वीरिण' है।

---

१. 'तृष्टासि तृष्टिका विषा विषतक्यसि'—शौ० ७।११८।२
'विषं आतंकयति संयोजयति इति विषातकी'—सा०

२. पै० ३।७।१-६

३. तै० आ०—१०।१।८; बौ० श्रौ०—१२।१२

४. बौ० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५ (विस्रंसिनीका)

५. 'विहल्हो नाम ते पिता मदावती नाम ते माता' शौ०—६।१६।२
cf. विहल्ह—Olibane (Jataka, iv-92) B. C. Law—Indian Culture, Vol. XV, Nos. 1-4
Ved. ind.—ii-316

६. पै०—१९।५।८

७. ऋ०—१।१९१।३; पै०—९।६।७; ९।७।१३; शौ०—१।२८ (सा०); श०—१२।८।१।१५; ष०—५।२; आ० गृ०—२।७।४; कौ० सू०—१८।१०; १३; २५।३०; २६।२६; ३२।१३;
'शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणाः सर्वे साकं न्यलिप्सत ॥
—ऋ० १।१९१।३

'वैरिणाः वीरणप्रकाराः'—सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीरतर[1]—सीमन्तोन्नयन में इसके शंकु का प्रयोग है।

वीरोदीक[2]—यह सौमनस्यजनन तथा वशीकरण है।

वृद्धपुत्री[3]—यह आसुरी का पर्याय है। (देखें आसुरी)

वृश्चिकजम्भन[4]—

वृष[5]—सर्वविष में मधुला और लिंगा के साथ इसे खलतुलपर्णी में पीस कर मधुमन्थ में मिला कर पिलाने का विधान है। यह वासा का पर्याय है। (देखें वासा)

वृष्णयावती[6]—

वेणु[7]—यह बड़ा तथा सुषिर और पर्वयुक्त होता है। अग्नि के संपर्क से कृष्णवर्ण हो

'समूलं हि पितृणाम्। वीरिणमिश्रे। एतत् ह अस्याः पिञ्यमनतिरिक्तम्। अथो मेधमेव तत् बद्धं करोति।'—श० १३।८।१।१५

'यस्मिन् कुशवीरिणं प्रभूतम्'—आ० गृ० २।७।४

'वीरिणतूलमिश्रमिङ्गिडं प्रपुटे जुहोति'—कौ० सू० २५।३०

'शुक्लप्रसूनस्य वीरिणस्य चतसृणामिषीकाणामुभयतः प्रत्युष्टं बध्नाति'—कौ० सू० २६।२६

Ved ind.—ii-317; 318

१. 'वीरतर शंकुना······सीमन्तमूर्ध्वं विनयति'—पा० गृ० १।१५।४
'अथ वीरतरेण······' गो० गृ०—२।७।६
(वीरास्तरन्त्यनेनेति वीरतरः शरः—टि०)

२. 'आञ्जनस्य मदुघस्य कुष्ठस्य नलदस्य च।
वीरोदीकस्य मूलेन मुखेन मर्दनं कृतम्॥'—पै० २।७७।२

३. अ० प०—३५।२।१–७

४. पै०—१९।४७।१–२

५. (वृषदती); जै० ब्रा०—१८०; २८९; कौ० सू०—२९।१५; ३३।१४
'तयोर्याः प्रोक्षणीराप आसंस्ताभिरनुविसृज्य शीर्षे अच्छिनत्। तौ वृषश्च यवाषश्चाभवताम्। तस्मात्तौ वर्षेषु शुष्यतः। अद्भिर्हि हतौ।'—क० ४४।४; काठ० ३०।१
'मधुलावृषलिंगाभिः खलतुलपर्णीं संक्षुद्य मधुमन्थे पाययति'—कौ० सू० २९।१०

६. पै०—४।५।२

७. मै०—३।१।२; ३।२।४; ऋ०—८।५५।३; खि०—३।७।३; काठ०—१३।१२; १९।१; २०।३; क०—२९।८; ३१।५; पै०—१५९।२; ४।१४।१
श०—२।६।२।१७; ६।३।१।३१; ४१; शां—४।१३; तै० ब्रा०—३।९।७।१; का० ब्रा०—२।१।३।२१; तै० आ०—५।२।४; ५।३।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता है। इससे अनेक शाखायें निकलती हैं। इसका फल यवाकार होता है जिसे वेणुयव कहते हैं और जो वसन्त में पकते हैं। इससे अनेक पात्र, सूर्प, दण्ड आदि बनते हैं। अपचितभैषज्य-प्रकरण में वेणु की तीक्ष्णाग्र शलाका से उसे विद्ध करने का विधान है। (देखें वंश)

वेणुदार्भूष[1]—इसकी लकड़ी से धनुष बनते थे।

वेतस[2]—यह जलीय प्रदेश में होता है। इसकी चटाई तथा चमस, शलाका आदि पात्र बनते थे। जलसंपर्क के कारण यह शीत तथा पित्तशामक माना गया है। इसकी गणना शान्तवृक्षों में है।

हि० श्रौ०—३।८।२२; ११।१।११; ११।५।२१; ११।६।१७; २४।१।३; २४।२।५; ६; का० श्रौ०—१६।२।५; १८।२।१३; बौ० श्रौ०—९।१; १०।१९; आप० श्रौ०—६।८।३।११४ मा० गृ०—२।३।१२; खा० गृ०—३।१।२४; शां० गृ०—४।४।२; जै० गृ०—१।१९; हि० गृ०—१९।३।३३; कौ० गृ०—२।६।९; पा० गृ०—२।६।३१; काठ० गृ०—१।३।११; बौ० ध०—१।५।३; १।१४।१०; ११; २।६।७; ३।१।१; कौ० सू०—३२।८; अ० प०—१८।२।२; २३।१।५; २३।५।१; ना० शि०—१।३।१; आप० शु०—८।१२; ९।१; ऋ० तं०—४।७।६; तै० प्रा०—२।१३।८; पा० ग०—४।२।८०; ८६; ९१; ४।३।१३४; ४।४।१०३; ५।१।१२२; ६।४।१५३; पा० म०—६।१।२१५

1. 'मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन शरप्रकृतिभूतो वृक्षविशेष उच्यते'······अथवा मुनेर्देवस्य इति पदद्वयेन धनुःप्रकृतिभूतो वेणुदार्भूषसंज्ञको वृक्ष उच्यते'—सा० (शौ० ७।७८।१)
'वेणुर्वै वनस्पतिः फलग्रहितमः स एषां वीर्यवत्तमः'—मै० ३।१२
'यावान् पुरुष ऊर्ध्वबाहुस्तावता वेणुना विमिमीत एतावद् वै पुरुपे वीर्यं वीर्येणैव विमिमीतेऽथो एतावान् वै पुरुषे महिमा महिम्नो अवरुद्ध्यै।'—मै० ३।२।४
'आग्नेयो वै वेणुः'—तै० ५।२।५२
'तेजो वै वेणुः'—तै० आ० ५।२।४
'वेणूनां पाकेन यवसदृशं धान्यं वेणुयवाः'—का० (हि० श्रौ० ३।८।२२)
'वेणोरुद्गा इवाभितोऽसमृद्धा अघायवः'—शौ० १।२७।३
'वेणोः वंशकाण्डस्य परितो वर्त्तमानाः उद्गच्छन्तीति उद्गाः शाखा इव'—सा०
'अग्निर्वै देवेभ्योऽपाक्रामत्। स वेणुं प्राविशत्। स एतानि वर्माण्यानह्यत यानि परूंषि। स एतं लोकमन्वचरद् यः सुषिरः। स यत्र यत्रावसत्तन्निरदहत्। तत् कल्मा-षमभवत्।'—क० २९।८

2. ऋ०—४।५८।५; मा०—१३।६८; १७।६; ९३; तै०—४।२।९।६; ४।६।१।२; मै०—२।७।१७; २।१०।१; ३।३।६; का०—१४।४।१; १८।१।७; १९।१।७; क०—२८।१; काठ०—१६।१६; १७।१७; २१।७; ४०।७; शौ०—१०।७।४१; १८।३।५; पै०—८।१३।५; ९।७।१३; १७।११।२; श०—९।१।२।२२; २४; ११।५।१।१; १२।८।३।१५; १३।३।१।३; १३।२।२।१९; तै० ब्रा०—३।८।४।३; ३।८।१९।२; जै० ब्रा०—१२३; तां—२१।४।१३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वेत्र[1]—

वेदतृण[2]—

वेष्टन[3]—

व्यल्कशा[4]—शाण्डदूर्वा का विशेषण है। (देखें शाण्डदूर्वा)

व्याघ्री[5]—अथर्वपरिशिष्ट में सिंही के साथ व्याघ्री का निर्देश है। अथर्ववेद में इसके मणि का उल्लेख है।

व्याघ्रदन्ती[6]—पुष्याभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पठित हैं।

का० श्रौ०—१३।२।१९; १९।२।१०; २०।२।२; २०।८।२; हि० श्रौ०—१४।१।१४; ३७; १४।३।१३; १४।४।२४; बौ० श्रौ०—१०।४७; १२।८; १३।३७; १५।६; ३३; वा० श्रौ०—१०।४७; १२।८; १३।३७; १५।६; ३३; वा० श्रौ०—३।४।१।७; ३।४।३२४; ३।४।५।९; हि० श्रौ०—२८।४।१०; कौ० गृ०—४।१।९; बो० पि०—१।१७।२; १।१४।२; कौ० सू०—८।१५; २७।१०; ४०।३; ७; ८; ८२।२६ (प०); अ० प०—३६।२२।१; ३७।८।२; ६५।३।२; ३; ८; निघ०—३।२९; या०—३।२१; पा०—४।२।८७; पा० ग०—४।१।४१; ४।२।८७; ९१; ६।४।१५३; अ० अ०—१७।१०; १८।३; के० प०—४०।१-२; पा० म०—११।५७

'अपां वा एतत् पुष्पं यद् वेतसः'—मै० ३।३।६

'वैतसः कटो भवति······अप्सुजो वेतसः'—मै० ३।३।६

'यो वेतसं हिरण्ययं तिष्ठन्तं सलिले वेद स वै गुह्यः प्रजापतिः'—शौ० १०।७।४१

'उप द्यामुप वेतसमवत्तरो नदीनाम्। अग्ने पित्तमपामसि'—शौ० १८।३।५

'वेतसो नदीतीरगतो वृक्षविशेषः'—सा०

'अप्सुयोनिर्वै वेतसः'—श० १२।८।३।५

'वैतसो वितस्तं भवति'—या० ३।२१

'वेतसो जलजम्बुकः' टि० (का० श्रौ० १९।२।१०)

'वेतसशाखाभिः कुशमुष्टिभिर्वा त्रिः प्रदक्षिणं प्रोक्षति गोसूक्तैरुपस्थानं मुच्यते सर्वरोगेभ्यः।'—कौ० गृ० ४।१।९

१. कौ० सू०—४०।१०

२. 'वेदः स्वस्तिः द्रुघणः स्वस्तिः'—शौ० ७।२९।१
'वेदो नाम दर्भमुष्टिः'—सा०

३. पै०—४।१४।१

४. शौ०—१८।३।६

५. 'वैयाघ्रो मणिर्वीरुधां त्रायमाणोऽभिशस्तिपाः।
अमीवाः सर्वाः रक्षांस्यप हन्त्वधि दूरमस्मत्॥'—शौ० ८।७।१४; पै० १६।१३।४
अ० प०—१८।१।१५-१७

६. अ० प०—५।१।४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्याघ्रपत्रक[1]—

व्याधिघात[2]—

व्यालक[3]—

व्रीहि[4]—व्रीहि और यव दिव्य तथा अमृत भेषज माने गये हैं। यह विषघ्न भी कहा गया है। इसके सक्तु, मासर, नग्नहु, पायस आदि कल्प बनते थे। इसका आग्रयण शरद् में होता था। शान्त ओषधियों तथा मिश्र धान्यों में इसकी गणना है। कृष्ण व्रीहि का लाजमंड ज्वर में देने का विधान है। पुंसवन, जातकर्म, चूड़ाकरण आदि संस्कारों में यह बहुशः प्रयुक्त होता है। महाव्रीहि का भी उल्लेख मिलता है।

---

१. पा० गृ०—१।२।
२. फि०—२
३. पै०—९।१०।१०
४. तै०—१।८।१०।१; ७।२।१०।३; मै०—३।१०।२; ४।३।२; काठ०—१०।६; ११।५; मा०—१८।१२; शौं०—६।१४०।२; ८।२।१८; ८।७।२०; ९।६।१४; ११।४।१२; पै०—९।११।१२; १६।१३।१०; ऐ० ब्रा०—२।८।७; २।११।१२; ८।१६।३; ४; श०—५।३।३।२; ५।५।५।९; जै० ब्रा०—१।१३; बृ० उ०—६।३।२२; छां० उ०—३।१४।३; ५।१।५;
हि० श्रौ०—३।८।२२; २३।१।६–८; बौ० श्रौ०—३।१२; ५।११; १७।३१; आप० श्रौ०—१।४।२६; २७; ६।८।२९।२–३; ६।८।३१।१४; वा० श्रौ०—१।५।५।१; ३।२।७।६३; आ० श्रौ०—२।९; वि० ध०—५९।७; ८०।१; वै० ध०—२।४।१–२; आप० ध०—२।७।१६।२१; २।७।१६।२२; हि० श्रौ०—२७।२।१७; गो० गृ०—१।५।१९; १।७।२; २।७।१८; २।९।६; काठ० गृ०—२।३।३; शां० गृ०-१।३।१०; १।२४।३; १।२८।६; ३।१।३; आ० गृ०—१।१०।७; १।११।३; १।१७।२; २।८।१५; २।९।७; ४।९।७; कौ० गृ०—३।१।२–४; ४।१।१; जै० गृ०—१।८; ११; २४; बो० गृ०—१।२।२६; २।६।२१; २।११।४४; ३।११।४; खा० गृ०—२।२।३३ ३४; ४।१।१०; मा० गृ०-१।११।२; २।३।१०; कौ० सू०-२।६–७; ७।५; ८।१६; २०; १२।२; १८।१३; २९।१८; ३५।४; ४३।६; ५८।१९; ६१।८; २०; ७९।१४; अ० प०—५।५।६; २१।२।२; २३।७।२; ३१।२।१; ७०।१।६–६९; ७०b।४।४; क० प्र०—१।९।१०; पा०—३।१।१४८; ५।२।२; ११६; ६।२।३८; पा० वा०—३।२।२४; पा० म०—३।२।२४ (स्तम्बकरिर्व्रीहिः); ४।३।१६६; ५।२।९४; ६।१।१६६; १।२।५८
'व्रीहिमत्तं यवमत्तमथोमाषमथो तिलम्'—शौ० ६।१४०।२
'शिवौ तेस्तां व्रीहियवावबलासमदोमधौ। एतौ यक्ष्मं विबाधेते एतौ मुञ्चतो अंहसः'
—शौ० ८।२।१८

'व्रीहिर्यवश्च भेषजौ दिवस्पुत्रावमर्त्यौ'—शौ० ८।७।२०
शरदि व्रीहीणाम्'—बौ० श्रौ० ३।१२
नवेन यजे। शरदि व्रीहीणां वसन्ते यवानां वर्षासु श्यामाकानाम्—जै० गृ० ११२४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शंखपुष्पी[1]—यह सौभाग्यकरण एवं वशीकरण कही गई है। न्यस्तिका, सुभंगकरणी, सहस्रपर्णी, संवननी, समुष्पला, बभ्रु, कल्याणी आदि इसके पर्याय हैं। 'सभायामह त्वं वद' इससे मेध्य गुण-धर्म का भी संकेत होता है। केवल शंखपुष्पी के क्वाथ पर रहने का पर्णकृच्छ्र नामक धार्मिक विधान था। सुराभाण्ड में रक्खा जल पीने पर शुद्धि के लिए सात दिनों तक शंखपुष्पीश्रृत दुग्ध पीने का विधान है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूलविधि के अन्तगत प्रधान मूलों में इसकी गणना है। शांखायन गृह्यसूत्र के भाष्य में यह सर्वौषधि में परिगणित है। कौशिकसूत्र (१०।१६) में मेधाजनन-प्रकरण में किस्त्यनाभि और पिप्पली तथा शुक्लपुष्प तथा हरितपुष्प को स्वर्ण से नवजात शिशु को चटाने का विधान है। केशवपद्धति में शुक्लपुष्प से शंखपुष्पी का ग्रहण किया गया है। सौभाग्यकरण के लिए इसके मूल का बन्धन विहित है। (देखें न्यस्तिका)

शण[2] —इससे सूत्र निकाला जाता था। विष्कन्ध (शोषरोग—'रक्षः पिशाचादिकृतगति-प्रतिबन्धात्मकः शरीरशोषणरूपो वा विघ्नः—सा०) में इसके मणि का धारण किया

---

१. शौ० - ६।१२९।१-३; ७।३८।३।५; ६।१३९।१-५; वि० ध०—४६।२३; ५१।२२; वा० ध०—२७।११; बौ० ध०—२।१।२१; (शंखपुष्पी नाम समुद्रतीरे लताविशेषः-वि०) पा० गृ०—१।२१; शां० गृ०—१।११।२ (भा०) (शंखपुष्पी च कुष्ठं च लव्यको नागकेसरम्। सर्वौषधय एताः स्युः मांगल्ये शुभकर्मणि॥ इति हेमाद्रौ सा०—२।३।३; के० प०—३६।१२;
'शुक्लपुष्पहरितपुष्पे इति शंखपुष्पिका अ(ग)न्धपुष्पिका प्रसिद्धे—के० प० १०।१६

२. शौ०—२।४।५; (शणः प्रसिद्धः मणिबन्धनसूत्रप्रकृतिभूतः—सा०)
श०—३।२।१।११; ६।६।१।२४; ६।६।२।१५; १६; ६।७।१।७; का० श्रौ०—७।३।२२; हि० श्रौ०—११।३।३ (शणः पत्तिविशेषः-व्या०) २६।१।७१; द्रा० श्रौ०—५।२।४; गो० गृ०—२।१०।८-१२; काठ० गृ०—१।४।८ (शाणी वरासी—आ०) १।५।९; शां० गृ०—१।२४।११-१३; पा० गृ०—२।५।१६; वा० गृ०—५।१४; जै० गृ०—१।१२; गौ० ध०—१।१७; वि० ध०—२७।१९; ६।१५; वा० ध०—११।६०; आप० ध०—१।१।२।४०; बौ० ध०—१।३।१४; कौ० सू०—२५।२८; २७।३३; ५७।१३; ७२।१५; ७९।१५; नि० सू०—१।४१; पा० ग०—४।१।९९; पा० म०—४।१।६४; ५।२।४ (देखें उमा)
'शणश्च मा जङ्गिडश्च विष्कन्धादभिरक्षताम्। अरण्यादन्य आभृतः कृष्या अन्यो रसेभ्यः॥—शौ० २।४।५
'तस्य यन्नेदिष्ठमुल्बमासीत् ते शणाः, तस्मात्ते पूतयो वान्ति'—श० ३।२।१।११
'शणा जरायु, तस्मात्ते पूतयः'—श० ६।६।१।२४;
Ved. ind. ii–350

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जाता था। सायण के अनुसार इसकी खेती की जाती थी किन्तु मूलपाठ से प्रतीत होता है कि यह वन्य ओषधि थी। यज्ञ में शण की मेखला पहनी जाती थी। यह सूत्रमय होती थी और इससे दुर्गन्ध आती थी। पौधे को पानी में सड़ा कर सूत्र निकालने से संभवतः दुर्गन्ध आ जाती थी। इस प्रकरण में मुञ्ज और उमा (अतसी) के साथ इसका उल्लेख है। ये सभी सूत्रमय द्रव्य हैं। इसकी रज्जु भी बनाई जाती थी। इसके सूत्रों से वस्त्र भी बनाया जाता था जिसका उपयोग उपनयन संस्कार में विशेषतः करते थे।

मैकडोनल एवं कीथ इससे Cannabis sativa (भंगा) या Crotalaria juncea का ग्रहण करते हैं।

शणफला[1]—

शतकाण्ड[2]—यह दर्भ का पर्याय है। इसके साथ दुश्च्यवन, सहस्रपर्ण, उग्रोषधि अच्छिन्नपर्ण, सहस्रकाण्ड, सहमान शब्द प्रयुक्त हुये हैं। सायण ने इसकी व्याख्या की है कि जो अनेक काण्डों (पर्वों) से युक्त हो। इसका मणिबन्धन आयुष्य माना गया है।

शतपत्र[3]—कौशिकसूत्र के पितृमेध-प्रकरण में मन्त्रोक्त ओषधियों में यह परिगणित है।

शतपत्रा[4]—(ओषधिविशेष)

शतपर्वा[5]—यह रक्षोघ्न माना गया है।

शतपुष्पा[6]—अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान-विधि में सौभाग्यकरण तथा पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में पठित है।

शतमूला[7]—

---

१. पा० वा०—४।१।४

२. अ० शां०—१९।६; अ० अ०—१०।२१; शौ०—१९।३२।१–१०; १९।३३।१–५; 'शतशब्दः अपरिमितवचनः, अनेकैः काण्डैः पर्वभिर्युक्तः'—सा०

३. पा० ग०—५।२।१०७; कौ० सू०—८२।२६ (प०) 'मन्त्रोक्ता ओषधीरुच्यतेः—शमीशाखा, दुग्ध, शतपत्र, पलाशपत्र, वेतसः, कर्णः, नदीफेनं च, अवका च, अगुरु, हेरुका, बृहद्दूर्वा. आकाशफेन, मण्डूकपर्णी, मुक्तिका-एताः मंत्रोक्ता ओषधयः'—

४. अ० प०—७०।९।५

५. पै०—५।९।२;

६. पा० वा०—४।१।४; अ० प०—१४३।९; ५।१।५; ७।१।५

७. तै० आ०—१०।१।७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शतवार[1]—सायण ने इसका अर्थ किया है—जिसके सौ मूल या शूक हों अथवा जो सैकड़ों रोगों को नष्ट करे। इसे हिरण्यशृंग तथा ऋषभ भी कहा गया है। इससे इसके शृंगाकार स्वरूप का संकेत मिलता है। यह रक्षोघ्न, दुर्णामचातन तथा वाजीकरण कहा गया है। विशेषतः दुर्णाम (अर्श) रोग के लिए यह प्रशस्त है। सायण ने इससे कुष्ठ, पामा आदि चर्मरोगों का ग्रहण किया है।

शतशाख[2]—

शतांकुरा[3]—

शतातृण[4]—पितृमेध के संभारों में सहस्रातृण के साथ इसका उल्लेख है।

शतावरी[5]—पारस्कर गृह्यसूत्र में मूलविधि के प्रकरण में इसका निर्देश है। अथर्वपरिशिष्ट में पुष्याभिषेक के लिए कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में पठित है।

शतिङ्ग[6]—(ओषधिविशेष)

शफक[7]—अथर्ववद के अनुसार यह जल में होने वाली वनस्पति है। डा० सूर्यकान्त

---

१. पै०—२।२०।४; २।२७।१–५; अ० शां०—१९।६; अ० ध०—१०।२२

'शतवारो अनीनशद् यक्ष्मान् रक्षांसि तेजसा।
आरोहन् वर्चसा सह मणिर्दुर्णामचातनः॥ १॥
शृङ्गाभ्यां रक्षो नुदते मूलेन यातुधान्यः।
मध्येन यक्ष्मं बाधते नैनं पाप्मातिवर्त्तते॥ २॥
ये यक्ष्मासो अर्भका महान्तो ये च शब्दिनः।
सर्वा दुर्णामहा मणिः शतवारो अनीनशत्॥ ३॥
शतं वीरानजनयच्छतं यक्ष्मानपावपत्।
दुर्णाम्नः सर्वान् हत्वाव रक्षांसि धूनुते॥ ४॥
हिरण्यशृङ्ग ऋषभः शातवारो अयं मणिः।
दुर्णाम्नः सर्वान् तृड्ढ्वाव रक्षांस्यक्रमीत्॥ ५॥
शतमहं दुर्णाम्नीनां गन्धर्वाप्सरसां शतम्।
शतं शश्वतीनां शतवारेण वारये॥ ६॥—शौ० १९।३६।१–६

२. पै०—२०।२२।६–७; पै०—१९।१०।३;

३. तै० आ०—१०।१।७

४. कौ० सू०—८३।३

५. पा० गृ०—४।१।१२३; पा० गृ०—१।२१; अ० प०—५।१।५; ७।१५

६. अ० शां०—२।१४

७. 'आण्डीकं कुमुदं सं तनोति बिसं शालूकं शफको मुलाली। एतास्त्वा धारा उप यान्तु सर्वाः स्वर्गे लोके मधुमत् पिन्वमाना उप त्वा तिष्ठन्तु पुष्करिणीः समन्ताः॥' शौ०—४।३४।५;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का कथन है कि इसके पत्ते शफाकृति होते हैं इसीलिए इसे शफक कहा गया है। इसका आधार संभवतः मैकडोनल एवं कीथ की ऐसी मान्यता है। इनका कथन है कि अथर्ववेद में यह सोम का नाम है किन्तु आप० श्रौ० में इससे भोज्य जलज वनस्पति अभिप्रेत है। मजुमदार इससे शृङ्गाटक (Trapa bispinosa) लेते हैं।

शमक(का)[1]—वाराह गृह्यसूत्र में शमी के साथ शमक का उल्लेख है जो विवाह के अवसर पर उदकुम्भ में डाला जाता है। कौशिकसूत्र में शान्त ओषधियों में इसकी गणना है। दारिल ने इसे संभवतः जल के समीप होने वाली तथा नन्दपुर में प्रसिद्ध कहा है।

शमी[2]—अग्नि के दाह को शान्त करने के कारण इसका नाम 'शमी' पड़ा। वैदिक संहिताओं और ब्राह्मणों में ऐसा आख्यान है कि जब अग्नि अपने प्रचण्ड रूप में

पै०—६।२२।८; वै० को०—पृ० ५०५;
Ved. ind. ii–354; Ved. Pl.–660.
(शफाकृतिः जलोत्पन्नः-सा०) आप० श्रौ०—९।१४।१४

१. पै०—१९।३८।१; ३; वा० गृ०—१४।६; कौ० सू०—८।१६ (शमका नन्दपुरे वार्यंपृष्ठतो जाता वरणप्रसिद्धा-दा०) ३१।१; पा० ग०—४।१।१०४

२. मै०—१।६।५; १२; १।१०।१२; ३।१।९; ४।१।१; क०—६।२; ७; ३०।८; ४६।८; काठ०—३६।६; तै०—५।१।९६; ४।७।४; शौ०—६।११।१ (अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी-सा०); ६।१२।१–३; ६।३०।२; ३; पै०—१९।१२।१; १९।२४।५–६; श०—२।१।४।५; २।५।२।१२; १।१।१।२२; ९।२।३।३७; ११।५।१।१३; १५; १३।८।४।१; ष०—५।२; का०—१।५।१।१०; सा०—३।३।५; का० श्रौ०—४।२।१; ४।८।२०; ५।३।१; १८।४।५; २१।३।३०; २५।८।२; हि० श्रौ०—३।३।६; ५।२।४; ६; ११।१।११; ११।३।१५–१६; २४।२।५; बौ० श्रौ०—२।७; १२; ५।६; आप० श्रौ०—५।१।२; ५।५।५; ८।२।५।९; ८।२।६।१३; वा० श्रौ०—१।२।१।२; १।२।४।२; १।४।१।२; हि० श्रौ०—२८।१।४७; २८।२।६८; २९।१।७९; पा० गृ०—१।२; १९; शां० गृ०—१।२।३।५; ४।१७।३; काठ० गृ०—२।१३।२; ३।२।२; ३।७।३; ५।१।१; गो० गृ०—१।७।१६; हि० श्रौ०—१९।१।१६; २०।३।१९; कौ० गृ०—२।६।९; ५।८।४; मा० गृ०—१।११।१०; आ० गृ०—१।१७।३; ४।६।४; बौ० पि०—१।१८।१२; वि० ध०—६१।४; कौ० सू०—८।१६; २८।९; ३१।१; ८; ८२।२६ (प०); ८३।३; ४; ८५।१४; १९; १३७।५; अ० प०—१।४४।७; ५।५।६; २१।२।३; २२।१।४; ५; २२।२।१; २३।६।५; ३०।१।१७; ६५।३।२; निघ०—२।१; पा०—४।३।१४२; ५।३।८८; ११८; ८।३।९६; पा० ग०—४।१।४१; ४।२।८६; ५।२।२४; ६।२।८७; ४।२।८६; ४।३।१४२; ५।३।८८; पा० म०—४।१।९२;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकट हुये तो देवता भयभीत हो गये। ऐसी स्थिति में शमी ने उनके भय को शान्त किया। इससे यह संकेत मिलता है कि शमी की लकड़ी से अग्निज्वाला मन्द निकलती है, बहुत तीक्ष्ण और आशुकारी न होकर मन्द रूप में देर तक जलती है। यज्ञ में अश्वत्थ की उत्तरारणि तथा शमी की अधरारणि बना कर दोनों के संघर्ष से अग्नि उत्पन्न करते थे। यह पुरुष और प्रकृति के संयोग से सृष्टि का प्रतीक माना जाता था।

इसमें बहुत सी पत्तियाँ होती हैं। शमी तथा यव हेमन्त में शुष्क नहीं होते। बृहत्पलाशा, सुभगा, वर्षवृद्धा, ऋतावरी ये इसके पर्याय हैं।

इसके पत्र, शाखा, काष्ठ आदि का उपयोग होता था। इसकी लकड़ी से शम्या आदि अनेक पात्र बनते थे तथा यज्ञवास्तु में भी इसका उपयोग होता था। यज्ञवृक्षों में इसकी गणना है।

अथर्ववेदीय परम्परा में इसके अनेक ओषधीय उपयोग दृष्टिगोचर होते हैं। शमीगर्भ अश्वत्थ के कोयले को मधुमन्थ में मिला कर पुंसवन के लिए स्त्री को

५।३।८८; ६।११।०७; ७।३।९५; वे० प०—२८।९-१०; ३।१८;

Prosopis spicigera तथा mimosa suma शमी के लिए लैटिन नाम दिये गये हैं
(देखें Ved. ind. ii-354.)

शमीमश्वत्थ आरूढस्तत्र पुंसवनं कृतम्। तद् वै पुत्रस्य वेदनं तत् स्त्रीष्वा भरामसि॥
—शौ० ६।११।१

'अग्निदाहशमनहेतुर्वृक्षः शमी'—सा०

'परि द्यामिव सूर्योऽहीनां जनिमागमम्। रात्री जगदिवान्यद्धंसात्तेनाते वारये विषम्॥
—शौ० ६।१२।१

'यस्ते मदोवकेशो विकेशो येनाभिहस्यं पुरुषं कृणोषि।
आरात् त्वदन्या वनानि वृक्षि त्वं शमि शतवल्शा वि रोह॥'
बृहत्पलाशे सुभगे वर्षवृद्ध ऋतावरि। मातेव पुत्रेभ्यो मृड केशेभ्यः शमि॥
—शौ० ६।३०।२-३

'तम् अशमयत्तज् शम्याः शमीत्वम्'—मै० १।६।५

'यद्वै प्रजा वरुणो गृह्णाति शमीं च यवं च न गृह्णाति; हेमन्तो हि वरुणस्तस्मादेतौ हेमन्न शुष्यतः'—काठ० ३६।६

'तद्यदेतं शम्या अशमयन्; तस्माच्छमी····शान्त्या एव न उपश्यै।—श० ९।२।३।३७

'शान्त्या अप्रदाहाय'—तै० ब्रा० १।१।३।११-१२ (शमयति अनेनेति व्युत्पत्त्या शमीति नाम संपन्नम्—सा०)

'परःशतानि शमीपर्णानि भवन्ति'—तै० ब्रा० १।६।४।५

'शमीपत्रसहस्रेण स्नानात् पुत्रं प्रसूयते'—अ० प० १।४४।७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पिलाने का विधान है तथा इसका मणिबन्ध भी करते हैं। सर्पविष में भी इसे मधु में मिला कर पिलाते हैं। संभवतः इसके मद का भी प्रयोग होता था। इसके लगाने से केश गिर जाते हैं और नये बाल निकल आते हैं। कौशिकसूत्र में शमी शान्त वृक्षों में परिगणित है। भूतरक्षोग्रह के लिए मेषशृंगी के फलकोश से शमी-चूर्ण भात में मिला कर खिलाने का विधान है। अथर्वपरिशिष्ट में यह उल्लेख है कि शमीपत्र से मूलनक्षत्र में स्नान करने से पुत्र होता है।

कल्पग्रन्थों में इसकी समिधा, शंकु, स्रुवा, अभ्रि, ध्रुवा आदि के लिए उपयोग है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूल विधि के अन्तर्गत इसका उल्लेख है। पितृ-मेध-प्रकरण में भी अवका आदि के साथ श्मशान में डालने का विधान है।

शमीपत्रिका[1]—अन्नप्राशन के बाद गोदान के संभारों में इसका उल्लेख है।

शमुक[2]—शान्ति के प्रकरण में शमी आदि द्रव्यों के साथ इसका निर्देश है।

शम्याक[3]—इसकी समिधा का उल्लेख है।

शंशप—(देखें शिंशपा)

शर[4]—यह अत्यन्त प्राचीन द्रव्य है। ऋग्वेद में इसका उल्लेख मिलता है। वहाँ इसके घने जंगलों में साँपों के निवास का होना बतलाया गया है। सायण ने व्याख्या

---

१. कौ० सू०—५३।१; २;

२. काठ० गृ०—५।१८।१; (समुपहतेऽद्भुते वा शान्त्यै शमीं शमुकं शाम्यवाकमश्वत्थ-प्लक्षन्न्यग्रोधोदुम्बरं दूर्वां च प्राचीनप्रसृतानि षड् दर्भपिञ्जूलानि सुमनसश्चापामार्गं सर्वबीजानि······संसृजति)

३. कौ० सू०—३११; ८२।१२; १९

४. ऋ०—१।१९१।३; (शराः वेणुदंडसदृशाः अन्तश्छिद्राः तृणविशेषाः–सा०)
मै०—२।१।६; तै०—५।२।६।२; काठ०—९।५; २८।४; शौ०—१।२।१; पैं०—१६।५४।२;
श०—१।२।४।१; २; २।१।३।१२; ३।२।१।१३; का० वा०—२।२।२।१; ष०—३।८;
सा०—२।२।१;
का० श्रौ०—२२।३।१०; २५।७।१७; २५।१२।१९; हि० श्रौ०—७।१।२; १०।१।४;
१७।३।२५; २२।१।३; बौ० श्रौ०—६।१; १४।१६; आप० श्रौ०—१०।३।२९;
आ० श्रौ०—(उ०)–३।७)–(शरो नाम वेणुसदृशः–वृ०); हि० श्रौ०—२९।१।४;
गो० गृ०—१।५।१८; जै० गृ०—१।१; मा० गृ०—१।११।८; बौ० ध०—१।१४।११;
कौ० सू०—१६।१४; ३६।१४; ४७।१; ११६।५; ऋ० तं०—३।१।६; ५।२।५; मा०—५।४;
अ० अ०—१।२; मा० शि०—१।४८; पा०—४।३।१४४; ६।३।१२०; ८।४।४९; ८।४।५;
पा० ग०—८।४।३९; पा० म०—२।२।३४; २।४।१२; ६।१।८३;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

करते हुये लिखा है कि शर वेणुदण्डसदृश अन्तश्छिद्र तृणविशेष हैं। अथर्ववेद के अनुसार यह मूत्रजनन है अतः मूत्रसंग में लाभकर है।

'वज्रो वै शरः, विरक्षस्तायै। सतूला भवति'—श० ३।१।३।१२; 'शरस्तृणविशेषः, तस्य मध्यशलाका इषीका' (सा०)

के० प०—३२।८; ३५।३; २१; ४८।२१

'शरासः कुशरासः दर्भासः सैर्या उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥
—ऋ० १।१९१।३

'अथ यस्य जातानि प्रमीयरेन्, न्यग्रोधशृङ्गान् शरमूलं चोत्थाप्य तदहस्त्रिवृतं कारयेन् मणिं...तृतीये गर्भमासि निदध्यात् मेखलायां मणिं धारयेत्। पुमांसं ह जनयति। जातस्य कण्ठेऽवसृजेत् कुमारमाज्यशेषं प्राशयेत् सर्वाणि स्रोतांसि तर्पयेदभ्यक्षीताहरहस्तत ऊर्ध्वमुपयुक्ते पुनः प्रयोगः शतं वर्षाणि जीवति जारयैव विस्रंसते॥
—सा० २।२।१

शरो मुञ्जः—का० श्रौ० २५।७।१७ (भा०)

सतूलया शरेषीकया दर्भेषीकया वा...आङ्क्ते—हि० श्रौ० १०।१।४

शरः शृणातेः—या० ५।४ (शृणाति हिनस्तीति शरः)

"क्षिप्रं शर इव भज्यन्तां बृहज्जालेन संदिताः"—शौ० ८।८।४

"विद्मा शरस्य पितरं पर्जन्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥
विद्मा शरस्य पितरं वरुणं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥
विद्मा शरस्य पितरं चन्द्रं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे बालिति॥
विद्मा शरस्य पितरं सूर्यं शतवृष्ण्यम्।
तेना ते तन्वे शं करं पृथिव्यां ते निषेचनं बहिष्टे अस्तु बालिति॥
यदान्त्रेषु गवीन्योर्यद्वस्तावधि संश्रितम्। एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
प्र ते भिनद्मि मेहनं वर्त्रं वेशन्त्या इव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
विषितं ते वस्तिबिलं समुद्रस्योदधेरिव।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥
यथेषुका परापतदवसृष्टाधि धन्वनः।
एवा ते मूत्रं मुच्यतां बहिर्बालिति सर्वकम्॥"—शौ० १।३।१-९

कारणस्य अतिशयितवीर्यत्वप्रतिपादनेन तज्जन्यस्यापि शरस्य अमोघवीर्यत्वं उक्तम्।
—सा०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

शतपथ ब्राह्मण में शर को वज्र माना है राक्षसों का विनाश करने के कारण। इस वनस्पति में तूलवत् भाग होता है तथा मध्य में शलाकावत् इषीका होती है। सामविधान में इसका मणिधारण पुंसवन में उपयोगी कहा गया है। नवजात शिशु को घी के साथ चटाने से बल्य तथा आयुष्य होता हैं। शर की चटाई या आसन बनाया जाता था।

कल्पसूत्रों में इसकी चटाई, मेखला का उल्लेख बहुशः मिलता है। शर की रस्सी, खाट आदि बुनने के काम में भी आती थी। इसकी इषीका का उपयोग अञ्जन के लिए शलाका रूप में करते थे। केशवपद्धति में गण्डमाला-भैषज्यप्रकरण में शर से गण्डमाला को विद्ध करने का विधान है। स्त्री-वशीकरण के लिए तगर, शरखण्ड, अञ्जन, कुष्ठ, और ज्येष्ठीमधु को घी में मिला कर अंगों पर लेप करने का निर्देश है।

इसकी पत्तियाँ तीक्ष्ण होने के कारण क्षत उत्पन्न करती हैं तथा काण्ड संभवतः बाणरूप में प्रयुक्त होता था अतः इसे शर कहते हैं।

शलाञ्जाला[1]—सायण ने इसका अर्थ सस्यमञ्जरी किया है।

शल्मलि[2] (शाल्मलि)—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। विवाह के लिए शल्मलि के काष्ठ का रथ बनाया जाता था जो इसी के फूलों से सजाया जाता था। इसके फल विषाक्त कहे गये हैं और यह वृक्षों में सबसे बड़ा बतलाया गया है।

गृह्यसूत्रों में इसका मूल निषिद्ध तथा समिधा वर्जित कही गई है। विष्णुधर्मसूत्र में इसका दन्तधावन निषिद्ध है। अथर्वपरिशिष्ट में वैतरणी नदी के वर्णन में इसका उल्लेख है। इसमें शलम (कांटे) होने से इसकी संज्ञा 'शलमलि' हुई है। इसके पुष्पों को 'शिम्बल' (ऋ० ३।५३।२२) तथा किंशुक कहते हैं।

---

१. शौ० ६।१६।४, (सस्यमंजरी—सा०) कौ० सू० ५१।१६ (सिलाञ्जाला)

२. ऋ०—७।५०।३; १०।८५।२०; काठ०—४४।१; मा०—२३।१३; का०—२५।४।१; तै०—७।४।१२।१;
श०—१३।२।७।४; तां०—९।४।१०; मं०—१।३।११; तै० ब्रा०—१।५।६।६;
पा० गृ०—१।२१; गो० गृ०—१।५।१५; जै० गृ०—१।१; वि० ध०—६१।५;
अ० प०—९।४।२;
या०—१२।८; पा० ग०—४।१।८०; ४।२।८०;८२; ६।२।८५; पा० उ० भो०—२।३।१२०
'सुकिंशुकं शल्मलिं विश्वरूपं हिरण्यवर्णं सुवृतं सुचक्रम्।
आ रोह सूर्ये अमृतस्य लोकं स्योनं पत्ये वहतुं कृणुष्व॥'—ऋ० १०।८५।२०
'शल्मलिः सुशरो भवति, शरवान् वा—या० १२।८; ved. Ind. ii—366, 380

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust
Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शाक[1]—कल्पसूत्रों में इसका उल्लेख है। आश्वलायन गृह्यसूत्र में वास्तुपरीक्षा-प्रकरण में उल्लेख है कि इसे उस भूमि से हटा देना चाहिये। कौशिकसूत्र में इसके फल एवं पत्र का निर्देश है। फलों का प्रयोग नेत्ररोगों में है।

शा(श)कबलि[2]—

शाण्डदूर्वा[3]—यह जलप्रदेश में होनेवाली वनस्पति है। सायण ने इसे बृहद् दूर्वा कहा है जिसका मूल अण्डाकार तथा काण्ड दीर्घ हो।

शात्[4]—

शाम्यवाका[5]—शान्तवृक्षों में इसकी गणना है।

शार्ङ्गविष[6]—हिमालयोद्भव शार्ङ्गविष सात यव की मात्रा में घी मिला कर देने का विधान है। इसके अतिरिक्त अन्य विष निषिद्ध हैं। वृत्तिकार ने इसका अर्थ शृङ्गाकार वत्सनाभ किया है।

शाल[7]—पद्धतिकार ने नवजात शिशु के नामकरण के प्रसंग में धारण के लिए लिए शालमणि का विधान किया है।

---

१. आ० गृ०—२।७।५; बौ० ध०—१।१०।९; कौ० सू०—३०।४; ३३।१४; ११६।६; पा० म०—४।३।१।५५

२. खि०—५।१५।१३

३. यं त्वमग्ने समदहस्तमु निर्वापया पुनः। क्याम्बूरत्र रोहतु शाण्डदूर्वा व्यल्कशा—शौ० १८।३।६

जलसमीपे उत्पद्यमाना—अण्डाकृतिमूलसहिता दीर्घकाण्डा वा दूर्वा शाण्डदूर्वा सा बृहद्दूर्वेत्युच्यते—सा०

४. ऋ०—९।१५।६; या० २५।१

'सोमो राजा यद् इमं लोकं आजगाम स शात्सु एव तद् उवास'—जै० ब्रा०—१।३५४

५. कौ० सू० ८।१६;

(शाम्यवाका अपामार्गसदृशैः स्निग्धैः ह्रस्वतरागतपुष्पं वासकृति स्यात्—दा०)

६. 'विषाण्यदेयानि सर्वाणि, ऋते हिमाचलोद्भवात् शार्ङ्गात्। तस्य च यवसप्तकं घृतप्लुतमभिशस्ताय दद्यात्।'

वि० ध०—१३।२-४; (तच्च शृंगाकृतिवद् वत्सनाभसंज्ञकम्—वृ०)

७. पा० गृ०—१।२१; कौ० सू०—५८।१६ (प०); पा० ग०—२।४।३१; ४।२।९०; पा० म०—१।१।१; ३।३।१७ (शालसारः, खदिरसारः); ६।१।९१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शालातृण[1]—

शालि[2]—अभीष्ट वस्तु के न मिलने पर उसके सदृश अन्य द्रव्य के ग्रहण का विधान है। उदाहरणार्थ, कहा है कि व्रीहि के अभाव में शालि लेना चाहिए।

शालूक[3]—सायण ने इसका अर्थ उत्पलकन्द किया है। कौशिकसूत्र में पितृमेध के संभारों में इसका उल्लेख है। अथर्वपरिशिष्ट में वैतरणी नदी के वर्णन में निर्दिष्ट है। यह एक पृथक् वनस्पति प्रतीत होती है।

शिखण्डी[4]—सायण ने इसका अर्थ मयूर किया है किन्तु अन्य वनस्पतियों के साहचर्य से यह वनस्पति ही प्रतीत होती है।

शिग्रु[5]—ऋग्वेद में यह जनपदविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र में कृमि-रोग में नवनीत मिलाकर इसके प्रदेह का विधान है। अथर्वपरिशिष्ट में उच्चाटन-कर्म में इसकी समिधा का उल्लेख है। धर्मसूत्रों में इसका दन्तधावन निषिद्ध है तथा श्राद्ध में इसका शाक वर्जित है।

शितीवार[6]—

शिम्बल[7]—शाल्मलि का पर्याय है। यह शान्तवृक्षों में परिगणित है।

शिंशपा[8]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। इससे रथ के चक्के बनाये जाते थे। शान्त-

---

१. कौ० सू०—१८।१०
२. अ० प०—७०।१।६–९; ऋ० प्र०—पृ० ३२
(यथोक्तवस्त्वसंपत्तौ ग्राह्यं तदनुकारि यत्। यवानामिव गोधूमाः व्रीहीणामिव शालयः॥)
पा०—५।२।२; पा० म०—१।३।२२; १।३।१२; १।२।३९; २।१।१; २।१।६९ (लोहितशालि); ३।३।१३३; ६।१।५०; ३।४।२१; ५।४।५०;
३. शौ०—४।३४।५; पै०—६।२२।८; कौ० सू०—८३।३; ८६।६; अ० प०—९।४।२ (असि-पत्रवनं यत्र शालूकाः शाल्मली तथा)
४. पै०—१३।४।७; ९
'यत्राश्वत्था न्यग्रोधा महावृक्षाः शिखण्डिनः। तत्परेताप्सरसः प्रतिबुद्धा अभूतन॥'
—शौ० ४।३७।४
५. ऋ०—७।१८।१९ (जनपदविशेष); वि० ध०—६१।३; ७९।१७; वै० ध०—३।५।८; कौ० सू०—२९।२३; ३७।५; अ० प०—२६।५।१–५; पा० ग०—२।४।६७; ४।१।१०४; ४।३।१६४; पा० उ० को०—२।१।९७; अ० शां०—२०।५
६. के० प०—३९।५–१२
७. कौ० सू०—८।१५ (शेरगीति प्रसिद्धः, शल्मलिः करण्टकः—दा०); १६
८. ऋ०—३।५३।१९; खि०—५।१५।२; शौ—२०।१२९।७; पै०—१९।२२।१; २
कौ० सू०—८।१६; २४।१; पा०—७।३।१; पा० ग०—४।२।८०; ४।३।१३९; १५०; ४।१।९९; पा० म०—२।१।५७; ५।१।२;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वृक्षों में इसकी गणना है। अथर्ववेद (शौ० ६।१२९।१–३) में 'शंशप' शब्द से इसका अभिधान है।

शिरीष[1]—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है। गृह्यसूत्रों में गृहशान्ति तथा आग्रहायणी-कर्म में इसका उपयोग किया गया है। अथर्वपरिशिष्ट में नक्षत्रस्नान तथा पुष्याभिषेक में यह विहित है। इसका दन्तधावन प्रशस्त माना गया है।

शिलाची (ची)[2] (सिलाची)—यह अरुन्धती का पर्याय है। (देखें अरुन्धती एवं लाक्षा)।

शीतपाकी[3]—यह श्राद्ध में निषिद्ध कहा गया है।

शीतवुध्न[4]—

शीतिका[5]—यह शीतप्रदेश में होनेवाली ओषधि है।

शीपाल (ला)[6]—ऋग्वेद में यह शैवाल के लिए प्रयुक्त शब्द है। यह नदियों में होता है। शीपाल शीतल तथा दाहशामक होता है।

शीपुद्रु[7]—(देखें चीपुद्रु)—इसका प्रयोग असित, विद्रध, लोहित, विसल्पक, बलास, शीर्षरोग, अंगरोग, स्रक्तिवल्ग और विलोहित में विहित है।

---

१. प०—५।२; जै० आ०—१।५; १।२७।; जै० गृ०—२।६; शा० गृ०—४।१७।३; कौ० सू०—८।१५; अ० प०—१।४३।१; ५।२।१–३; २६।७।१–३; या० शि०—३३; पा० उ०—४।२७; पा० ग०—४।२।८०; ८२; ४।३।१३९; १५०; ५।२।१३५; पा० म०—१।२।५१; ३।१।७

२. खि०—४।७।१; पै०—४।६।१; शौ०—५।५।१; ८

३. कृष्णाजाजीनिभं चैव शीतपाकी तथैव च। वर्जयेल्लवणं सर्वं तथा जम्बूफलानि च॥
—शां० ध० २३२

४. वा० श्रौ०—१।२।२।३१ (शीतवुध्नं दध्नातनक्ति)

५. शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति। मण्डूक्या सु सं गम इमं स्वग्निं हर्षय॥
ऋ०—१०।१६।१४

"शीतिकाः शैत्ययुक्ता ओषधयः"—सा०; शौ० १८।३।६० (शीतस्य कारिणि, ओषधि-विशेषस्येयं संज्ञा; शीतिकाख्यौषधिः'—सा०)

६. ऋ० १०।६८।५; शौ०—६।१०६।३ (सा०); २०।१६।५; पै०—१९।४।६; ष०—३।१;
पा० ग०—४।२।८० (सीपाल);
पा० ग०—५।२।३६; जै० गृ०—१।१७।८ (शैवाल)
पा० ग०—१।४।६१; पा० गृ०—१।१६।२; पै०—१।५।४ (शेवल)
पा० ग०—४।२।८०; आ० गृ०—२।८।१४; ४।४।८ (शीपाल)
'मधु परुष्णी शीपाला शमास्ने अस्तु शं हृदे'—शौ० ६।१२।३

७. पै०—१।९०।१–४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शीर्य[1]—जैमिनीय गृह्यसूत्र तथा गोभिल गृहसूत्र में ऐसा उल्लेख है कि कुश के अभाव में शूकतृण, शर, शीर्य, बल्वज, मुतव, नल तथा शुण्ठ को छोड़कर अन्य तृणों का ग्रहण करे।

शीर्षपर्णी[2]—दारिल ने इसका अर्थ शिरीष किया है। यह पिशाचनाशन कहा गया है।

शुण्ठ (ण्ठी)[3]—गृह्यसूत्रों में 'शुण्ठ' शब्द एक तृणविशेष के लिए प्रयुक्त हुआ है जो कुश के प्रतिनिधि के रूप में वर्जित है। यह शब्द 'अल्पकाय' या 'ह्रस्व' का वाचक है।

शुक्लपुष्प (ष्पा)[4]—केशव ने इससे शंखपुष्पी का ग्रहण किया है।

शुक्लशात्[5]—(देखें शात्)

शूकतृण[6]—कुश के अभाव में इसका ग्रहण निषिद्ध है।

शृङ्गबेर[7]—

शृङ्गाटक[8]—इसे श्राद्ध में देने का विधान है।

शृंगी[9]—(ओषधिविशेष)

शेपहर्षणी[10]—यह वाजीकरण ओषधि प्रतीत होती है। (देखें कपित्थ)

---

१. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८ (तेषामलाभे शूकतृण-शर-शीर्य-बल्वज-मुतव-नल-शुण्ठवर्जं सर्वतृणानि)
पा० म०—२।२।३४ (शरशीर्यम्); २।४।१२
२. कौ० सू०—३१।८ (शीर्षपर्णिका शिरीषः), के० प०—३१।८
३. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८; हि० श्रौ०—९।७।१९ (शुण्ठाऽल्पकाया ह्रस्वेति यावत्—व्या०); आप० श्रौ०—१०।८।५ (शुण्ठी अल्पकाया); बो० पि०—१।६।२; आग्नि० गृ०—३।५।५।७
४. कौ० सू०—१०।१६
५. जै० ब्रा०—१।३५४
६. जै० गृ०—१।१; गो० गृ०—१।५।१८
७. पा० उ० ओ० वृ०—२।३।६।१; पा० म०—२।१।३५ (शृङ्गबेरमिति च कटुकशब्दस्य); २।१।१ (मधुरो गुडः, कटुकं शृङ्गबेरम्)
८. शं० लि० ध०—२२०; पा० उ० ओ०—२।२।१००
९. पा०—४।१।४१;
१०. पै०—४।५।१-१० (तां त्वा वयं खनामस्यू ओषध शेपहर्षणीम्)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शेफालिका[1]—

शेलु[2]—

शेव(वा)ल[3]—यह जरायुपातन कहा गया है। (देखें--शीपाल)

शैलेय[4]—

शैवाल—(देखें शीपाल)

शोचि[5]—सर्पविष-प्रकरण में दर्भ के साथ इसका उल्लेख है।

शोष्यन्ती[6]—शीघ्र प्रसव के लिए गर्भिणी के शिर की ओर इसे रखते हैं।

श्मशानवृक्ष[7]—

श्यामा[8]—यह श्वित्र और पलित में उपयुक्त औषधि है। सवर्णीकरण के कारण 'सरूपंकरणी' भी इसका पर्याय है। यह संभवतः भृंगराज (देखें रामा) या नीली का वाचक है।

श्यामाक[9]—यह एक धान्यविशेष है। इसके दाने बहुत छोटे होते हैं। यह वर्षा ऋतु

१. पा० वा० ग०—४।३।१६७; पा० म० ५।३।५५ (धौतकशैफालिकादयः प्रक्षालनवैजात्यकृता वस्त्रस्य गुणविशेषाः—उद्योत)

२. पा० उ० ओ०—२।१।१०५; (देखें डल्हण सु० क० ८।१२०)

३. पै०—१।५।४; के० प०—४०।१-२; पा०—५।३।८४

४. पा०—५।३।१०२

५. शौ०—१०।४।२

६. आप० गृ०—६।१४।१३-१४; भा० गृ०—१।२२

७. आग्नि० गृ०—२।६।८।६

८. कौ० सू० १०६।७

'सरूपा नाम ते माता सरूपो नाम ते पिता। सरूपकृत् त्वमोषधे सा सरूपमिदं कृधि॥
श्यामा सरूपंकरणी पृथिव्या अध्युद्भृता। इद मूषु प्रसाधय पुना रूपाणि कल्पय॥
—शौ० १।२४।३-४

९. तै०—१।८।१।२; २।३।२।६; ४।७।४।२; मा०—१८।१८; मै०—२।११।४; का०—१०।२; शौ०—१९।५०।४; २०।१३५।१२ (श्यामाकं पक्वं पीलु च वारस्या अक्रुणोर्बहुः) श०—१०।६।३।२; १२।७।१।९; कौ० ब्रा०—४।१२; का० ब्रा०—२।१।१५; छां० उ०—३।१४।३; हि० श्रौ०—२२।१।११; २३।१।६-८; बौ० श्रौ०—३।१२; आप० श्रौ०—६।८।२९।२; ३; ६।८।३१।१४; वा० श्रौ०—३।२।७।६३; आ० श्रौ०—२।९; वि० ध०—८०।१; वै० ध०—१।७।५; बो० गृ०—३।१।१४; मा० गृ०—२।३।१२; वा० गृ०—१४।६; जै० गृ०—१।१४; कौ० सू०—८।२०; ११।४; ७४।१६; अ० प०—२३।७।२; नि० सू०—१०।९;

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में पकता है। कल्पसूत्रों में वर्षा में इनके आग्रयण का विधान है तथा सोम के लिए शरद् में विहित है। शतपथ ब्राह्मण में इन्द्र के रोमों से इसकी उत्पत्ति बतलायी गयी है जो इस पौधे के रोमश होने का प्रतीक है। श्यामाकसक्तु का सुरासंधान में भी प्रयोग किया गया है। सर्पबलि-प्रकरण में श्यामाक के आंटे का घी या इक्षुरस में पायस (खीर) बनाकर देने का विधान है। अथर्वपरिशिष्ट में श्यामाकतण्डुल यज्ञसंभारो में निर्दिष्ट है।

श्येनहृत[1]—यह सोम का प्रतिनिधि द्रव्य है और उसके अभाव में लिया गया है।

श्रीपर्ण[2]—

श्रीफल[3]—श्रीफ़ल से अंशुपट्ट के शोधन का विधान है।

श्रीवेष्टक[4]—नक्षत्रस्नानविधि में इसका उल्लेख है।

श्लेष्मातक[5]—यह पापनामा वृक्षों में परिगणित है, इसकी समिधा वर्ज्य है। धर्मशास्त्र

'यथा श्यामाकः प्रपतन्नपवान् नानुविद्यते'—शौ०—१९।५०।४
(श्यामाको धान्यविशेषः—सा०)

व्रीहिर्वा यवो वा श्यामाको वा श्यामाकतण्डुलो वा—श० १०।६।३।२
(श्यामाकतण्डुलो वा यथासूक्ष्मः—सा०)

'लोमभ्य एवास्य चित्तमस्रवत्, ते श्यामाका अभवन्'—श० १२।७।१।९
'वर्षासु श्यामाकैर्यजेत—आप० श्रौ० ६।८।३१।१४
नवेन यजेत शरदि व्रीहीणां, वसन्ते यवानां, वर्षासु श्यामाकानाम्—जै० गृ० १।२४
व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि—कौ० सू० ८।२०
यवव्रीहिमहाव्रीहिप्रियंगूणां हि तण्डुलाः।
श्यामाकतण्डुलतिला आम्नायाः श्रुतिचोदिताः॥—अ० प० २३।७।२

१. यद्यरुणपुष्पाणि न विन्देयुः श्येनहृतमभिषुणुयात्। यत्र वै गायत्री सोममच्छापतत्, तस्या आहरन्त्यै सोमस्यांशुरपतत्। तच्छ्येनहृतमभवत्। तस्माच्छ्येनहृतमभिषुणुयात्—श० ४।५।१०।२;४; 'श्येनहृतं पूतीकानादारानरुणदूर्वाहरितकुशान् पूर्वालाभे पूर्वालाभे उत्तरान्'—का० श्रौ० २५।१२।२९
(खदिरादेर्बहुकालीनस्य वृक्षस्य ये वल्लीरूपा अंकुरा उत्पद्यन्ते तच्छ्येनहृतमित्युच्यते—टि०)
२. अ० प० ३०।१।१७
३. वै० ध०—३।४।३
४. अ० प०—१।४३।४
५. का० श्रौ०—२१।३।२० (हि०); गो० गृ०—१।५।१५; पा० गृ०—१।२१
जै० गृ०—१।१; वा० ध०—१४।३३; वि० ध०—६१।२; वै० ध०—३।५।८
अ० प०—१९।१।४; २१।३।५; के० प०—४८।१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में यह निषिद्ध द्रव्य है तथा इसका दन्तधावन भी वर्जित है। यज्ञ की भूमि इससे रहित होनी चाहिये।

श्वदंष्ट्रा[1]—श्मशानायतन से उखाड़ी जाने वाली औषधियों में यह परिगणित है।

श्वेतक[2]—सोम के प्रतिनिधि फाल्गुन के अभाव में इसे लेने का विधान है।

श्वेतगिरिकर्णिका[3]—रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, यशस्य और वर्चस्य ओषधियों में इसकी गणना है।

श्वेतचन्दन[4]—इसके अनुलेपन का उल्लेख है।

श्वेतपाकी[5]—

श्वेतफला[6]—

श्वेतवृन्ताक[7]—यह वर्जित शाक है।

श्वेता[8]—पुष्याभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय औषधियों में यह पठित है।

षष्टिक[9]—

सचा[10]—एक वशीकरण प्रयोग में अन्य औषधियों के साथ इसका उल्लेख है।

---

१. 'पुरस्तादेव श्मशानायतनात् ओषधीरुद्धारयन्ति पाठा पृश्निपर्णी कर्णिकारराजवृच-कण्टकतिलक विभीतकाकशरश्वदंष्ट्राध्यण्डा अन्याश्च क्षीरिणीरनुत्खयाः' —हि० श्रौ० २९।१।४

२. बौ० श्रौ०—१४।२०

३. अ० प०—१८।१।१५-१७

४. अ० प०—३०।२।७

५. पा० वा० ग०—४।३।१६५

६. पा० म०—४।१।६४

७. वै० ध०—३।५।८;

८. 'ओषधीस्तेषु सर्वेषु कलशेषूपकल्पयेत्। सहा च सहदेवी च बला चातिबला तथा॥ मदयन्ती वचा श्वेता व्याघ्रदन्ती सुमंगला। शतावरी जयन्ती च शतपुष्पा सचन्दना॥ प्रियंगु रोचनोशीरं अमृता च ससारिवा। अश्वत्थप्लक्षबिल्वानां न्यग्रोधपनसस्य च॥ शिरीषाम्रकपित्थानां पल्लवैः समलंकृतान्। हेमरत्नौषधिबिल्वपुष्पगन्धाधिवासितान्॥ अ० प०—५।१।४-५; ५।२।१-३

९. पा०—५।१।९०; ५।२।३

१०. 'गोजरायुकमहस्तस्पृष्टं शोषयित्वा प्रियंगुकां सहां सहदेवां अध्यण्डां भूमिपाशकां सचां काचकपुष्पीमित्येता उत्थाप्य तदहश्चूर्णानि कारयेत्......तेनानुलिप्तो यां यां उपस्पृशते सा सेनं कामयते'—सा० २।६।१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सचीन[1]—

सदंपुष्पा (ष्पी)[2]—टीकाकारों ने इसका अर्थ त्रिसन्ध्या किया है। इसके मणि का धारण ग्रह, भूत आदि का निवारक कहा गया है। 'सहस्रचक्षु' इसका पर्याय है तथा यह गरुड की कनीनिका तथा कश्यप और सरमा का नेत्र कही गई है। सायण का कथन है कि नेत्र के सदृश इसके पुष्प होते हैं। गृह्यसूत्रों में 'सदापुष्पा' का विधान समावर्त्तन संस्कार में है। कौशिकसूत्र में सर्पविष में भी इसका प्रयोग है। चक्षु के साथ इसका सम्बन्ध होने से यह चक्षुष्य भी प्रतीत होती है।

सदंफला[3]—

१. 'नमामि शच्यागतं सचीनं विषदूषणम्'—पै० १४४।२;

२. शौ०—४।२०।१-९; पै०—१३।१०।११; कौ० गृ०—३।१।२-४; शां० गृ०—३।१।३
कौ० सू०—२८।७; ३९।६; (त्रिसंध्या-दा०; सन्ध्या—के०)
के० प०—२८।७ (सदंपुष्पा सन्ध्या प्रसिद्धा); ३९।५-१२

सदंपुष्पा

आपश्यति प्रति प्रश्यति परा पश्यति पश्यति।
दिवमन्तरिक्षमाद्भूमिं सर्वं तद्देवि पश्यति॥
तिस्रो दिवस्तिस्रः पृथिवीः षट् चेमाः प्रदिशः पृथक्।
त्वयाहं सर्वा भूतानि पश्यानि देव्योषधे॥
दिव्यस्य सुपर्णस्य तस्य हासि कनीनिका।
सा भूमिमा रुरोहिथ वह्यं श्रान्ता वधूरिव॥
तां मे सहस्राक्षो देवो दक्षिणे हस्त आ दधत्।
तयाहं सर्वं पश्यामि यश्च शूद्र उतार्यः॥
आविष्कृणुष्व रूपाणि मात्मानमप गूहथाः।
अथो सहस्रचक्षो त्वं प्रति पश्याः किमीदिनः॥
दर्शय मा यातुधानान्दर्शय यातुधान्यः।
पिशाचान्त्सर्वान्दर्शयेति त्वा रभ ओषधे॥
कश्यपस्य चक्षुरसि शुन्याश्च चतुरक्षयाः।
वीध्रे सूर्यमिव सर्पन्तं मा पिशाचं तिरस्करः॥
उदग्रभं परिपाणाद्यातुधानं किमीदिनम्।
तेनाहं सर्वं पश्याम्युत शूद्रमुतार्यम्॥
यो अन्तरिक्षेण पतति दिवं यश्चातिसर्पति।
भूमिं यो मन्यते नाथं तं पिशाचं प्रदर्शय॥

—शौ० ४।२०।१-९

३. सदंपुष्पे सदंफले सदं इन्द्राभिरक्षताम्—पै० १३।१०।११

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सदाभद्रा[1]—गृहशान्ति-प्रकरण में गृह में इसके बन्धन का विधान है।

सप्तपर्ण[2] **(र्णी)**—इसकी माला के धारण का विधान है।

समक्तभेषज[3]—यह रक्षोघ्न, बल्य तथा आयुष्य है।

समुष्पला[4]—यह शंखपुष्पी का पर्याय है।

संवननी[5]—यह शंखपुष्पी का विशेषण है। इसका अर्थ वशीकरण है।

संस्कन्दा[6]—यह ओजस्य तथा गर्भस्थापन है।

सरल[7]—

सरूपंकरणी[8]—यह सवर्णीकरण ओषधि है जो श्वित्र, पलित आदि में प्रयुक्त होती है। संभवतः भृंगराज या नीलिनी का कर्मवाचक पर्याय है। (देखें श्यामा)

सर्ज[9]—इसका दन्तधावन विहित है।

सर्जक[10]—यह हरितशाकवर्ग में निषिद्ध शाकों में सुरसा के साथ पठित है। संभवतः यह अर्जक है।

---

१. जै० गृ०—२।६
२. के० प०—३८।२१; पा० म०—२।३।१ (सप्तपर्णः…पर्वणि पर्वणि सप्तपर्णान्यस्य); ८।१।१
३. 'दीर्घायुत्वाय सहसे मह्या अरिष्टतातये। सुपर्णो मह्यं अब्रवीत् एतत् समक्तभेषजं एतत् पुरुषभेषजम् ॥ —पै० १९।४०।३; २०।५४।९
४. संवननी समुष्पला बभ्रु कल्याणि सं नुद। अमूं च मां च सं नुद समानं हृदयं कृधि ॥'—शौ० ६।१३९।३; 'समुष्पला सम्यक् उप्तफला सती—सा०
५. शौ०—६।१३९।३
६. संस्कन्दम् ओज ओजसा देवेभिर्नाम ते हितम्।
हिरण्यनाम नाम ते संस्कन्दासि ओषधे ॥
सं ते शीर्षकपालानि सं योन्यां सं गवीन्योः।
सं ते सर्वाण्यंगानि संस्कन्दासि ओषधे ॥
समुद्रो नदीभिः सं द्यावापृथिवी उभे।
सं नया पत्न्या योन्यां संस्कन्दासि ओषधे ॥'—पै० १९।४८।१३-१६
७. पा० म०—३।१।९६
८. शौ०—१।२४।४ (असरूपं सरूपं क्रियते अनया—सा०)
९. वि० ध०—६१।१४
१०. वि० ध०—७९।१७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्जरस[1]—नक्षत्रस्नानविधि में इसका उल्लेख है।

सर्पसुगन्धा[2]—सर्पविष का प्रतिषेधक है।

सर्षप[3]—आवय भी इसका पर्याय आया है (शौ०—६।१६।१-२)। श्वेत और पीत

---

१. अ० प०—१।४३।४

२. 'शंखपुष्पीं सर्पसुगन्धां चोत्थाप्य तदहस्त्रिवृतं कारयेन्मणिम्...शतावरं तं मणिं कण्ठेन शिरसा वा धारयतो न सर्पभयं भवति' सा०—२।३।३; (बिल्वपत्रसदृश-क्षुद्रपत्रोपेतां विषमारणप्रयोगप्रसिद्धं एतद् द्वयम्—सा०)

३. छां० उ०—३।१४।३; सा०—२।२।१०; ३।१।७; ष०—५।२;
हि० गृ०—२०।१।६; १७; शां० गृ०—३।१।३; काठ० गृ०—३।१।१।१;
पा० गृ०—१।१६।२३; १।१९
कौ० गृ०—३।१।२-४; ४।१।१; जै० गृ०—१।८; बो० गृ०–२।१।१७;
मा० गृ०—२।३४।२७
वा० गृ०—१।११५; आप० गृ०—६।१५।६; वि० ध०—१९।१८; ७९।१७; वै० ध०—
३।४।३; शं० लि० ध०—१६८
कौ० सू०—३०।१; ३५।२०; अ० प०—६।१।१९; ७।१।५; २१।२।४; ३१।२।१; ३३।१।१७;
३५।१।१६-१७; ३५।२।९-११; ३६।१२।१; ३६।१८।१; ३७।८।१; ६६।२।२-३; ६८।३।३;
७०।२२।१; पा० उ०—३।१४१; के० प०—२५।२३; ३०।१-२; ३५।२०
पा० स०—१।१।२; ५।३।५५; ५।२।२९; ८।३।४१
गौरसर्षपान्...प्राश्नीयाद् दीर्घायुर्भवति' —सा०—२।२।१०
'एष मे आत्मान्तर्हृदयेऽणीयान् व्रीहेर्वा यवाद्वा सर्षपाद्वा श्यामाकाद्वा श्यामाकतण्डुलाद्वा'—छां० ३।१४।३
'आण्डौ स्थ इत्यभितो यवसर्षपौ धान्यमाषौ वा—हि० गृ०—२०।१।६
'अथातः शान्तिं करिष्यन् रोगार्त्तो भयार्त्तो वा...गौरसर्षपकल्कैः स्नात्वा...गौरसर्षप-दूर्वाव्रीहियवानवर्नीय...अभिजुहोति'—कौ० गृ० ४।१।१
'अधिस्नातस्य निशायां सद्यःपीडितसर्षपतैलमौदुम्बरेण स्रुवेण...जुहोति'
—मा० गृ० २।१४।२७

'त्रिवर्णसर्षपैः होमात् सह त्रिमधुरेण तु। संपद्यते सुतस्तस्य मेधावी श्रुतधारकः।
—अ० प० ३६।१८।१

'दुग्धाक्तान् सर्षपान् हुत्वा तस्माद् भस्म मुखे क्षिपेत्।
सर्वेषु व्यवहारेषु स भवत्यपराजितः॥—अ० प०—३६।२३।१

सर्षप

यौ ते मातोन्ममार्ज जातायाः पतिवेदनौ।
दुर्णामा तत्र मा गृधल्लिंश उत वत्सपः॥
पलालानुपलालौ शर्कुं कोकं मलिम्लुचं पलीजकम्।
आश्रेषं वव्रिवाससमृक्षग्रीवं प्रमीलिनम्॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

दो प्रकार के सर्षप का उल्लेख है। श्वेत के लिए 'नीवी' तथा पीत के लिए 'भार्य' शब्द अथर्ववेद में आया है (शौ०—८।६।२०)। इसके दाने अण्डाकार

मा सं वृतो मोप सृप ऊरू माव सृपोऽन्तरा। कृणोम्यस्यै भेषजं बजं दुर्णामचातनम् ॥
दुर्णामा च सुनामा चोभा संवृतमिच्छतः। अरायानप हन्मः सुनामा स्त्रैणमिच्छताम् ॥
यः कृष्णः केश्यसुर स्तम्बज उत तुण्डिकः। अरायानस्या मुष्काभ्यां भंससोप हन्मसि ॥
अनुजिघ्रं प्रमृशन्तं क्रव्यादमुत रेरिहम्। अरायांछ्वकिष्किणो बजः पिङ्गो अनीनशत् ॥

यस्त्वा स्वप्ने निपद्यते भ्राता भूत्वा पितेव च।
बजस्तान्त्सहतामितः क्लीबरूपांस्तिरीटिनः ॥
यस्त्वा स्वपन्तीं त्सरति यस्त्वा दिप्सति जाग्रतीम्।
छायामिव प्र तान्त्सूर्यः परिक्रामन्ननीनशत् ॥
यः कृणोति मृतवत्सामवतोकामिमां स्त्रियम्।
तमोषधे त्वं नाशयास्याः कमलमञ्जिवम् ॥
ये शालाः परि नृत्यन्ति सायं गर्दभनादिनः।

कुसूला ये च कुक्षिलाः ककुभाः करुमाः स्रिमाः।
तानोषधे त्वं गन्धेन विषूचीनान्वि नाशय ॥
ये कुकुन्धाः कुकूरभाः कृत्तीर्दूर्शानि बिभ्रति।
क्लीबा इव प्रनृत्यन्तो वने कुर्वते घोषं तानितो नाशयामसि ॥
ये सूर्यं न तितिक्षन्त आतपन्तममुं दिवः।
अरायान्बस्तवासिनो दुर्गन्धींल्लोहितास्यान्मककान्नाशयामसि ॥
य आत्मानमतिमात्रमंस आधाय बिभ्रति।
स्त्रीणां श्रोणिप्रतोदिन इन्द्र रक्षांसि नाशय ॥
ये पूर्वे वध्वो यन्ति हस्ते शृङ्गाणि बिभ्रतः।
आपाकेष्ठाः प्रहासिन स्तम्बे ये कुर्वते ज्योतिस्तानितो नाशयामसि ॥
येषां पश्चात्प्रपदानि पुरः पार्ष्णीः पुरो मुखा।
खलजाः शकधूमजा उरुण्डा ये च मट्मटाः कुम्भमुष्का अयाशवः।
तानस्या ब्रह्मणस्पते प्रतीबोधेन नाशय ॥
पर्यस्ताक्षा अप्रचङ्कशा अस्त्रैणाः सन्तु पण्डगाः
अव भेषज पादय य इमां संविवृत्सत्यपतिः स्वपतिं स्त्रियम्।
उद्धर्षिणं मुनिकेशं जम्भयन्तं मरीमृशम्। उपेषन्तमुदुम्बलं तुण्डेलमुत शालुडम् ॥
पदा प्र विध्य पार्ष्ण्या स्थाली गौरिव स्पन्दना ॥
यस्ते गर्भं प्रतिमृशाज्जातं वा मारयति ते। पिङ्गस्तमुग्रधन्वा कृणोतु हृदयाविधम् ॥
ये अम्नो जातान्मारयन्ति सूतिका अनुशेरते।
स्त्रीभागान्पिङ्गो गन्धर्वान्वातो अभ्रमिवाजतु ॥
परिसृष्टं धारयतु यद्धितं माव पादि तत्। गर्भं त उग्रौ रक्षता भेषजौ नीविभार्यौ ॥
पवीनसात्तङ्गल्वाऽच्छायकादुत नग्नकात्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बहुत छोटे होते हैं। सामविधान में सर्षप के आभ्यन्तर प्रयोग (आयुष्य), उद्वर्त्तन (अलक्ष्मीनाशन) तथा हवन का विधान है। गृह्यसूत्रों में पुंसवन, जातकर्म, समावर्त्तन, रक्षाविधान तथा शान्तिकर्म में इसका प्रयोग विहित है। विनायक प्रकरण में सद्यःपीडित सर्षपतैल की आहुति का उल्लेख है। धर्मसूत्रों में सर्षपशाक निषिद्ध माना गया है। शंख, शुक्ति, गोश्रृंग का शोधन सर्षप से करने का विधान है। कौशिक सूत्र में 'बजश्च पिंगलश्च' (श्वेत और पीत सर्षप) का गर्भदृंहरण के रूप में प्रयोग है। अथर्वपरिशिष्ट के घृतकम्बल-प्रकरण में गौरसर्षप का उल्लेख है। उच्छुष्माकल्प-प्रकरण में त्रिवर्णसर्षप का निर्देश है। संभवतः इसमें श्वेत, पीत के अतिरिक्त रक्त सर्षप का भी समावेश है।

नेत्ररोग में सर्षपतैलाभ्यंग, सर्षपकाण्डमणिबन्धन तथा सर्षपशाक विहित है। सीमन्तकर्म में भी इसका प्रयोग है।

सल्लकी[1]—

सवंशा[2]—यह शान्तवृक्षों में पठित है।

सह[3]—पाँच श्रेष्ठ वीरुधों में इसकी गणना है।

सहदेवा(व)[4]—सामविधान में इसका वशीकरण प्रयोग है।

प्रजायै पत्ये त्वा पिङ्गः परि पातु किमीदिनः ॥
द्वयास्याच्चतुरक्षात्पञ्चपादानङ्गुरेः। वृन्तादभि प्रसर्पतः परि पाहि वरीवृतात् ॥
य आमं मांसमदन्ति पौरुषेयं च ये क्रविः।
गर्भान्खादन्ति केशवास्तानितो नाशयामसि ॥
ये सूर्यात्परिसर्पन्ति स्नुषेव श्वशुरादधि।
बजश्च तेषां पिङ्गश्च हृदयेऽधि नि विध्यताम् ॥
पिङ्ग रक्ष जायमानं मा पुमांसं स्त्रियं क्रन्।
आण्डादो गर्भान्मा दभन्बाधस्वेतः किमीदिनः ॥
अप्रजास्त्वं मार्तवत्समाद्रोदमघमावयम्।
वृक्षादिव स्रजं कृत्वाप्रिये प्रतिमुञ्च तत् ॥—शौ० ८।६।१–२६

१. पा०—४।१।४१; पा० उ० भो०—२।२।७

२. कौ० सू०—८।१६ (श्रृगालवञ्चक-दा०)

३. पा०—३।१।१४०; पै०—६।२२।१०;१५।२३।१२
'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भङ्गो यवः सहस्ते नोमुञ्चन्त्वंहसः'
—शौ० ११।८।१५

'सहः कश्चिद् ओषधिविशेषः'–सा०; Ved. ind. ii-44.

४. सा०—२।६।१०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सहदेवी[1]—अथर्ववेद में अरुन्धती, विश्वरूपा, सुभगा, जीवला इसके विशेषण दिये गये हैं। यह बल्य, रक्षोघ्न तथाअनेक रोगों का विनाश करने वाली है। यह स्तन्यजनन भी है। पारस्कर गृह्यसूत्र में मूलविधि-प्रकरण में इसके मूल का निर्देश है। अथर्वपरिशिष्ट में कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में परिगणित है। (देखें अरुन्धती, जीवन्ती और जीवला)।

सहमाना(न)[2]—यह बल्य एवं रक्षोघ्न ओषधि प्रतीत होती है। अथर्वपरिशिष्ट के गणमाला—प्रकरण के आदित्यगण में 'विषासहि सहमाना' पठित है। इससे इसके विषघ्न कर्म का भी संकेत मिलता है। यह पृश्निपर्णी के विशेषण रूप में भी प्रयुक्त हुआ है।

---

१. शौ०—६।५९।१-३; पै०—१९।१४।११; पा० गृ०—१।२१; अ० प०—५।१।४ के० प०—३९।५-१२

'अनड्‌द्भ्यस्त्वं प्रथमं धेनुभ्यस्त्वमरुन्धति। अधेनवे वयसे शर्म यच्छ चतुष्पदे॥
शर्म यच्छत्वोषधिः सह देवीररुन्धती। करत्पयस्वन्तं गोष्ठमयक्ष्मां उत पूरुषान्॥
विश्वरूपां सुभगामच्छावदामि जीवलाम्। सा नो रुद्रस्यास्तां हेतिं दूरं नयतु गोभ्यः॥'
—शौ० ६।५९।१-३

२. मै०—२।७।१६;

'सहस्व मे अरातिं सहस्व पृतनायतम्। सहस्व सर्वं पाप्मानं सहमानास्योषधे॥
मा०—१२।९९

'आषाढासि सहमाना सहस्वारातिं सहस्व पृतनायतम्। सहस्रवीर्यासि मा जिन्व।'
—मा० १३।२६

'जीवलां नघारिषां जीवन्तीमोषधीमहम्।
त्रायमाणां सहमानां सहस्वतीमिह हुवेऽस्मा अरिष्टतातये॥—शौ० ८।२।६

'सहमानां रोगस्याभिभवित्रीम्' (सा०)

'एवं महिमोपेताम् ओषधीं पाठाख्याम्......अथवा जीवलादयः प्रत्येकम् ओषधिविशेषाः (सा०)

'यद् वः सहः सहमाना वीर्यं यच्च वो बलम्। तेनेमस्मादू यक्ष्मात् पुरुषं मुञ्चतौषधीरथो कृणोमि भेषजम्॥—शौ० ८।७।५

'सहस्व यातुधानान् सहस्व यातुधान्यः। सहस्व सर्वा रक्षांसि सहमानास्योषधे॥'
—पै० ६।८।१

पै०—२।१६।१-२; २।१७।१-५; ६।८।१-९; २०।१९।८; ५।१।७-८; अ० प०—३२।१।१९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सहस्रकाण्ड[१]—यह संभवतः दर्भ का पर्याय है।

सहस्रचक्षु[२]—शौनकीय अथर्ववेद में यह सदंपुष्पा के विशेषण के रूप में प्रयुक्त हुआ है। पैप्पलाद शाखा में यह विषाणा का पर्याय है जो वातीकृतभेषजी कही गई है।

सहस्रपर्ण[३]—यह दर्भ का पर्याय है।

सहस्रपर्णी[४]—यह शंखपुष्पी का पर्याय है। बहुवचनान्त प्रयोग होने पर इसी प्रकार की अन्य ओषधियों का बोध होगा। (देखें न्यस्तिका)

सहस्रवल्श[५]—यह दर्भ का पर्याय है। (देखें शतवल्श)

सहस्रवीर्या[६]—नक्षत्रस्नानविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है।

सहस्रातृण[७]—पितृमेध के संभारों में शतातृण के साथ इसका उल्लेख है।

सहस्वती[८]—यह पाठा तथा पृश्निपर्णी का पर्याय है। सायण के मत में यह पृथक् भी कोई ओषधि हो सकती है।

---

१. पै०—७।७।७; १२।४।२; १९।२३।२; २०।४३।१०
'दिवो मूलमवततं पृथिव्या अध्युत्ततम्। तेन सहस्रकाण्डेन परि णः पाहि विश्वतः॥
—शौ० २।७।३

२. शौ०—४।२०।२; पै०—३।२२।१–६; ५।९।२; ८।६।१–११; १९।३१।१–३
'पृथिव्यां निष्ठितमसि विषाणा नाम वातीकृतभेषजी'—पै० १९।३१।१२

३. शौ०—१९।३२।१

४. शौ०—६।१३९।१; पै०—१६।१३।३; १२।४।१
'यावतीः कियतीश्चेमाः पृथिव्यामध्योषधीः। ता मा सहस्रपर्ण्यो मृत्योर्मुञ्चन्त्वंहसः॥'
—शौ० ८।७।१३

५. श०—३।६।४।१६; तै० ब्रा०—३।२।२।६; ३।३।२।१

६. अ० प०—१४३।६

७. कौ० सू०—८३।३

८. उत्तानपर्णे सुभगे देवजूते सहस्वति। सपत्नीं मे परा धम पतिं मे केवलं कुरु॥
—ऋ० १०।१४५।२

शौ०—८।२।६; पै०—१७।१३।१० (सहसिनी)

सहीयसी—शौ० ८।७।११; ३।१८।६; १०।५।४३; पै०—१६३।२; १६।१३।१; १६।१२।२९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सहस्य[1]—शतपर्व तथा सहस्रकाण्ड इसके विशेषण हैं।

सहा[2]—पुष्याभिषेक में कलश में डाली जाने वाली ओषधियों में परिगणित है।

सारिवा[3]—

साल[4]—(देखें शाल)

सावस्क[5]—मूत्रसंग में पिलाने का विधान है।

सितीवार[6]—(देखें शितीवार)

सिद्धार्थक[7]—यह गौर सर्षप है। (देखें सर्षप)

सिद्धेश्वर[8]—मूलविधि-प्रकरण में निर्देश है।

सिध्रक(का)[9]—श्रौतसूत्रों में इसकी लकड़ी से बने मुशल का उल्लेख है।

सिपुन[10]—यह शान्तवृक्षों में पठित है।

सिंही[11]—रक्षोघ्न, कृत्यादूषण, वर्चस्य, आयुष्य ओषधियों में पठित है। श्वेतपुष्पी सिंही का मूल पीस कर नस्य देने से गर्भधारण होता है।

---

१. सहस्येन भेषजेन दिव्येन शतपर्वणा। तेन सहस्रकाण्डेन कृणोमि पुनराभृतम्॥'
पै०—१९।२३।१-८

२. अ० प०—५।१।४

३. अ० प०—५।१।५

४. 'निःसालां धृष्णुं धिषणमेकवाद्यां जिघत्स्वम्'—शौ० २।१४।१ (सालो वृक्षविशेषः-सा०)

५. कौ० सू०—२५।११

६. कौ० सू०—३९।६ (अपामार्गसदृशो महान्……)

७. जै० गृ०—२।६; वि० ध०—७९।१६; अ० प०—१।४४।१०; १।४५।८; ५।५।६

८. पा० गृ०—१।२१

९. का० श्रौ०—२०।२।२८; हि० श्रौ०—१४।१।३३; (सैध्रको महासारो वृक्षो यस्य वृक्षस्य मध्ये लोहसमानं कृष्णारुणादिवर्णयुक्तं विधत्ते); वा० श्रौ०—३।४।१।२२; बौ० श्रौ०—१५।५; हि० गृ०—९।४।२७; पा०—८।४।४

१०. कौ० सू०—८।१५; १६; (अग्निस्वामी सिपुना धायटी प्रसिद्धः-दा०)

११. अ० प०—१८।१।१५-१७
'सा यदि गर्भं न दधीत सिंह्याः श्वेतपुष्प्याः'''मूलमुत्थाय'''निशायामुदपेषं पिष्ट्वा दक्षिणस्यां नासिकायामासिञ्चति'—पा० गृ० १।३।१

११ द्र० च०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिलिन्द्र[1]—

सिलुत्कक[2]—इसके मणिधारण का विधान है।

सीबला[3]—(वल्लीरूप ओषधिविशेष)

सुगंधितेजन[4]—यह गन्धयुक्त ओषधिविशेष है जो यज्ञ में बहुशः प्रयुक्त होता था। 'सुगन्धिक' शब्द भी इसके लिए आया है।

सुनिषण्णक[5]—यह वर्जित शाकों पठित है।

सुभगंकरणी[6]—यह शंखपुष्पी का पर्याय है।

सुमंगला[7]—पुष्पाभिषेक के लिए कलश में स्थापनीय ओषधियों में पठित है।

सुर(सूकर) बालक[8]—वाजीकरण के लिए कपिकच्छूमूल तथा सुरबालक को दुग्ध में पका कर पिलाने कां विधान है।

---

२. पा० उ० मो०—२।३।३०

२. कौ० सू०—१९।२२

३. मा० शि०—४३

४. मै०—१।१०।४; ३।८।५; तै० ६।२।८।४; क०—३९।४; श०—३।५।२।१७
तां ब्रा०—२४।१३।५; ऐ० ब्रा०—१।२८; जै० ब्रा०—१।१३
का० श्रौ०—१।४।१०; ५।४।१५; २४।३।९; १०; ७–११ अ०; १०।७।१४; २५।१२।२७
बौ० श्रौ०—४।१; आप० श्रौ०—७।२।५।१; हि० श्रौ०—१८।३।३; बृ० दे०—७।७८
'यत् पूयितमुपश्लिष्टं स सुगन्धितेजनः'—मै० ३।८।५
'गन्धो हैवास्य सुगन्धितेजनम्। तद् यत् सुगन्धितेजनं भवति गन्धेनैवैनमेतत् समर्धयति'—श० ३।५।२।१७
'तस्यास्थि देवदार्वासीन् मेदो मांसं च गुग्गुलुः।
सुगन्धितेजनं स्नायु शुक्रं रजतकाञ्चने॥
रोमाणि काशाः केशास्तु कुशाः कूर्चानखानि च।
अन्त्राणि चैवाप्यवका मज्जा सिकतशर्कराः॥
असृक् पित्तं च विविधा धातवो गैरिकादयः।'—बृ० दे० ७।७८
'सुगन्धितेजनं रोहितकः'—'सुगन्धितेजनं रोहिणपुष्पाणि'—का० श्रौ० टी०
सुगन्धितेजनं सुगन्धितृणम्—आ० श्रौ० भा०
सुगन्धितेजनस्तृणविशेषः यत् सुगन्धितेजनश्च जाठराग्नेर्भवति'—आप श्रौ० बृ०

५. 'पलाण्डादीन् निर्यासं श्वेतवृन्ताकं सुनिषण्णकं श्लेष्मातकं गृञ्जनकं चित्रकं शिग्रु भूस्तृणं कोविदारं मूलकं वर्जयति'—वै० ध० ३।५।८

६. शौ०—६।१३९।१

७. अ० प०—५।१।४

८. के० प०—४०।१४–१५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सुरसा[1]—वर्जित शाक है।

सुरेश्वरी[2]—यह राजिका का पर्याय है।

सुलक्ष्मणा[3]—मूलविधि-प्रकरण में लक्ष्मणा के साथ सुलक्ष्मणा का उल्लेख है।

सुवर्चला[4]—विष्णुधर्मसूत्र में सुवर्चला वर्जित शाकों में पठित है। वासिष्ठ धर्मशास्त्र में आहारशुद्धि के लिए ब्राह्मी, सुवर्चला तथा शंखपुष्पी दूध के साथ पीने का विधान है।

सुवर्णपुष्पी[5]—

सुषिर[6]—वास्तुशमन में उदुम्बर, पलाश, यव आदि सात द्रव्यों में इसका उल्लेख है। यह वंश का पर्याय प्रतीत होता है।

सैर्य[7]—ऋग्वेद में इसका उल्लेख है। संभवतः यह काश है। इसकी मेखला यज्ञोपवीत में दी जाती थी।

सोम[8]—यह वैदिक काल की एक प्रसिद्ध ओषधि था किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि उस काल में भी यह सुलभ नहीं था। यह मुञ्जवान् नामक पर्वत पर होता था और

---

१. वि० ध०—७९।१७

२. अ० प०—३५।१६-१२; ३५।२९-११

३. पा० गृ०—१।२१

४. कौ० सू०—२६।१२; (सुवर्चला प्रसिद्धा त्रिसन्ध्यासदृशी—दा०), अ० प०—४।३६।१२
पा० ग०—४।२।१०; 'आहारशुद्धिं वक्ष्यामि तन्त्रे निगदतः शृणु। अक्षारलवणां रूक्षां पिबेद् ब्राह्मीं सुवर्चलाम् ॥ त्रिरात्रं शंखपुष्पीं च ब्राह्मणः पयसा सह।'
—वा० ध० २७।१०
वि० ध०—७९।१७
पा० म०—३।१।७ (सुवर्चला आदित्यमनु पर्येति)

५. अ० प०—१८।१।१५-१७

६. भा० गृ०—२।५

७. शरासः कुशरासो दर्भासः सैर्या उत। मौञ्जा अदृष्टा वैरिणः सर्वे साकं न्यलिप्सत॥
—ऋ० १।१९१।३
'सैर्याः तटाकादिप्रान्तोद्भवास्तृणविशेषा अश्ववाला इति प्रसिद्धाः'—सा०
हि० श्रौ०—२६।१।६८; आप० ध०—१।१।२।३७

८. ऋ०—७।९८।१; १०।९४।३; १४४।५; ९।९२।१;३।५३।१४; ३।४८।१-२; १।१६८।३; १।२८।७; ४।१६।१; ९।७९।४; ८।१।१७; ५।३६।२; मै०—४।८।५; २।५।५; ३।९।४; ३।११।३
तै०—२।१।५।५; ३।२।५-६; शौ०—३।२१।१०; ७।३।२; २।५।७
५।२४।७—(सोमो वीरुधामधिपतिः स मावतु)
'अश्वत्थो दर्भो वीरुधां सोमो राजामृतं हविः'—८।७।२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

६।६।२-३; ६।७।१-२; ६।५।१—(सा०). 'या ओषधयः सोमराज्ञीर्बह्वीः शतविचक्षणाः। बृहस्पतिप्रसूतास्ता नो मुञ्चन्त्वंहसः'—(शौ० ६।९६।१; ३); ६।१२३।५. ७।५।४ (सा०) 'तस्याः सोमो राजा वत्सः आसीच्छन्दः पात्रम्'—(शौ० ८।१३।१४); ९।१।११-१३; ११।१।१८—(सोमस्य अंशवः लताखण्डाः—सा०);
'पञ्च राज्यानि वीरुधां सोमश्रेष्ठानि ब्रूमः। दर्भो भंगो यवः सहस्तेनो मुञ्चन्त्वंहसः॥
—शौ० ११।८।१५

१४।१।१-६; १९।१०।७—(सोमः लतारूपः—सा०)
पै०—१।४६।१-६; २।८०।१-५; १४।१।१९; १५।५।१०
श०—३।२।४।१-२२;३।३।३।१-८; 'देवो वै सोमो दिवि हि सोमो वृत्रो वै सोम आसीत्तस्यैतच्छरीरं यद् गिरयो यदश्मानस्तदेषोशाना नामौषधिर्जायत इति ह स्माह श्वेतकेतुरौद्दालकिस्तामेतदाहृत्याभिषुण्वन्तीति—४।२।५।१५; 'सोमो वै देवानां हविः—(४।४।२।१); ४।५।१०।१-८
जै० ब्रा०—१।१२; छां० ब्रा०—२।५।६; मं० ब्रा०—२।१।६
या०—२।५ (मत्सरः सोमः, मन्दतेस्तृप्तिकर्मणः); ४।८—(मधु सोममित्यौपमिकं माद्यतेः); ४।१९—(हरिः सोमो हरितवर्णः); ५।३—(सोमो दुग्धाम्भः चरति); ५।१२; ६।४—(ऋदूदरः सोमः); ११।२—(ओषधिः सोमः सुनोतेः, यदेनमभिषुण्वन्ति); ११।४—सोमं यं ब्रह्माणो विदुः चन्द्रमसम्); ११।५—(वायुः सोमस्य रक्षिता साहचर्यात्। रसहरणाद्वा। समानां संवत्सराणां माम आकृतिः सोमः। रूपविशेषैरोषधिः। चन्द्रमाः वा); ११।१२; १८
तै० प्रा०—१।४।४८; ऋ० प्रा०—८।२
का० श्रौ०—७-११ अ० (सोमयाग); २५।१२।१७; १४।१०—(पूतीकानां सोमशब्देनैव उपलक्षणं न द्रव्यान्तरबुद्ध्या)
हि० श्रौ०—३।७।१८; ८।७।१९ (न वैश्यराजन्ययोः सोमभक्षणं विद्यते। यथा ब्राह्मणः सोमं पिपासेन्‌ नैयग्रोधस्तम्भिनीराहृत्य ताः संपिष्य दधन्युन्मृज्य भक्षयति); ९।४।११; ५।१४; ७।१९; ११।५।२१; १२।५।४; १४।१।२३—(यं शिशुं) जातं पुरा तृणाघातात् सोमं पाययन्ति स सोमपो भवति); १५।६।१२; १७।७।२८—(पञ्चमे वर्षे सोमा भवन्ति); आप० श्रौ०—१।४।२४; २५; १०।१।१—(सोमः ओषधिविशेषः—भा०) तत्र सोम ओषधिविशेषः, न चन्द्रो देवता वा यागकरणत्वश्रुतेः। न चोद्भिदादिवत् यागसामानाधिकरण्याद् नाममात्रमनर्थकम्; अंशात्मके निष्पत्रे सक्षीरेऽभिषवादियोग्ये पेयरसस्तुतिलताविशेषे तत्र तत्र मन्त्रार्थवादेभ्यः सोमशब्दावगतेः व्रीह्यादिवत् यागसाधनमेव। तथायुर्वेदे—'श्यामलाऽमला च निष्पत्रा क्षीरिणी त्वचि मांसला। श्लेष्मला वमनी वल्ली सोमः स्याच्छागभोजनम्॥'—वृत्तिः)
बा० श्रौ०—१।५।१।६४; आ० श्रौ०—२।१; आ० गृ०—३।३।२; पा० गृ० १।१४।४
शां० गृ०—१।२०।१-५ (पुंसवन); गौ० ध०—१९।१३; बौ० ध०—१।३।३१;
शं० लि० ध०—१२४; कौ० सू०—२४।४,५; ३१।२२; ३८।९; के० प०—१६।३ (सोमांकुरमणि); २५।२१; पा०—३।२।९०; ४।२।३०; ४।४।१३७; ५।४।१२५; ६।३।२७, १३१; ७।२।३३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वहाँ के निवासियों (गन्धर्वों) द्वारा लाया जाता था और खरीद कर काम में आता था। कुष्ठ आदि औषधिद्रव्य सोम के सहचर कहे गये हैं। सोम ओषधियों का राजा माना गया है।

सोम बभ्रु, अरुण या हरिवर्ण कहा गया है। इसमें पर्व और अंशु होते हैं। इसका काण्ड अंगुल्याकार होता है। इसमें पत्र भी होते हैं। इसका रस उत्तेजक और मादक कहा गया है। पत्थरों या ओखल में पीस कर रस निकालते थे और दूध, दही, यवागू या मधु मिला कर उपयोग में लाते थे। दिन में तीन बार सोम-सवन का विधान है।

ऋग्वेद के नवम मण्डल में सोम का विस्तृत वर्णन है। इसकी दुर्लभता के के कारण ब्राह्मणकाल में इसके अभाव में पूतीक आदि प्रचलित हुये।

सोमावती[1]—यह ऋग्वेद में निर्दिष्ट है।

सौवर्चल[2]—सौभाग्यकरण में इसका प्रयोग है।

स्थगर[3]—तैत्तिरीय ब्राह्मण में इससे अलंकार करने का उल्लेख है। यह एक सुगन्धित द्रव्य है। उशीर के साथ अञ्जन एवं अभ्यंग में प्रयुक्त हुआ है। कौशिकसूत्र में स्थकर है और गर्भदृहंण के रूप में प्रयुक्त है।

स्थूलंकरणी—(पा० ३।२।५६)

स्पन्दन[4]—इससे रथ बनता था।

स्पृक्का[5]—

स्फूर्जक[6]—पितृमेध-प्रकरण में इसका उल्लेख है। श्मशान में ये वृक्ष नहीं होने चाहिए।

---

१. तै०—४।२।६।३; क०—२५।४; ऋ०—१०।९७।७; पै०—११।६।१०

२. के० प०—३६।१२ (सौवर्चलं सूर्यवेलेति प्रसिद्धा)

३. तै० ब्रा०—२।३।१०।२; कौ० सू०—३५।२१; अग्नि० गृ०–१।७।१।१; गो० गृ०–४।२।२७; क० प्र०—२।८।५; पा० ग०—२।४।६३; ४।४।५३
'आञ्जनाभ्यञ्जने स्थगरोशीरमिति'—आप० गृ० ७।१८।११

४. पा० ग०—४।३।१४१
'अभिव्ययस्व खदिरस्य सारमोजो धेहि स्पन्दने शिंशपायाम्।
अक्ष वीलो वीलित वीलयस्व मा मामादस्मादव जीहियो नः॥
—ऋ० ३।५३।१९

५. पा० उ० भो० वृ०—२।२।६

६. का० श्रौ०—२१।३।२०
'नाश्मगन्धान्, नाध्यण्डान्, न पृश्निपर्णीन्, नाश्वत्थस्यान्तिकं कुर्यात्, न बिभीतकस्य,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्यन्दन[1]—यह शान्तवृक्षों में परिगणित है।

स्योनाक[2]—

स्रक्त्य[3]—यह तिलक है। इसके मणिधारण का विधान है। यह बल्य, रक्षोघ्न तथा कृत्यानाशन है। यह ओषधियों में श्रेष्ठ कहा गया है। कौशिकसूत्र में यह शान्त वृक्षों में परिगणित है। इसे प्रतिसर भी कहते हैं।

न तिल्वकस्य, न स्फूर्जकस्य, न हरिद्रोः, न न्यग्रोधस्य, ये चान्ये पापनामानः'
—श० १३।८।१।१६

१. कौ० सू०—८।१५; (मदन-दा०; हिमवति नर्मदायां प्रसिद्धः—के०)

२. पा० उ० ओ० वृ०—२।२।१४

३. शौ०—२।११।१-५; ८।५।१-११; पै०—१।५७।१-५; १६।२७।१-१०; १६।२८।१-११
कौ० सू०—८।१५; ३९।१; अ० प०—३२।१।१८; अ० अ०—२।११; ८।५;
'स्रक्त्योऽसि प्रतिसरोऽसि प्रत्यभिचरणोऽसि। आप्नुहि श्रेयांसमति समं क्राम॥'
—शौ० २।११।२

'स्रक्तिस्तिलकवृक्षः तत्र भवः स्रक्त्यः'—सा०

तिलक (प्रतिसर)

अयं प्रतिसरो मणिर्वीरो वीराय बध्यते।
वीर्यवान्सपत्नहा शूरवीरः परिपाणः सुमङ्गलः॥
अयं मणिः सपत्नहा सुवीरः सहस्वान्वाजी सहमान उग्रः।
प्रत्यक्कृत्या दूषयन्नेति वीरः॥
अनेनेन्द्रो मणिना वृत्रमहन्ननेनासुरान्पराभावयन्मनीषी।
अनेनाजयद् द्यावापृथिवी उभे इमे अनेनाजयत्प्रदिशश्चतस्रः॥
अयं स्राक्त्यो मणिः प्रतीवर्तः प्रतिसरः।
ओजस्वान्विमृधो वशी सो अस्मान्पातु सर्वतः॥
तदग्निराह तदु सोम आह बृहस्पतिः सविता तदिन्द्रः।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥
अन्तर्दधे द्यावापृथिवी उताहरुत सूर्यम्।
ते मे देवाः पुरोहिताः प्रतीचीः कृत्याः प्रतिसरैरजन्तु॥
ये स्राक्त्यं मणिं जना वर्माणि कृण्वते। सूर्य इव दिवमारुह्य वि कृत्या बाधते वशी॥
स्राक्त्येन मणिना ऋषिणेव मनीषिणा। अजेषं सर्वाः पृतना वि मृधो हन्मि रक्षसः॥
याः कृत्या आङ्गिरसीर्याः कृत्या आसुरीर्याः कृत्याः स्वयंकृता या उ चान्येभिराभृताः।
उभयीस्ताः परा यन्तु परावतो नवतिं नाव्याऽ अति॥
अस्मै मणिं वर्म बध्नन्तु देवा इन्द्रो विष्णुः सविता रुद्रो अग्निः।
प्रजापतिः परमेष्ठी विराड्वैश्वानर ऋषयश्च सर्वे॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्रक्[1]—यह शान्तवृक्षों में पठित है। इसके मूल का प्रयोग है।

स्रेकपर्ण[2]—

स्वधा[3]—मजुमदार इसे एक वनस्पति मानते हैं।

स्वधिति[4]—

उत्तमो अस्योषधीनामनड्वान्जगतामिव व्याघ्रः श्वपदामिव।
यमैच्छामाविदाम तं प्रतिस्पाशनमन्तितम् ॥
स इद् व्याघ्रो भवत्यथो सिंहो अथो वृषा। अथो सपत्नकर्शनो यो बिभर्तीमं मणिम् ॥
नैनं घ्नन्त्यप्सरसो न गन्धर्वा न मर्त्याः। सर्वा दिशो विराजति यो बिभर्तीमं मणिम् ॥
कश्यपस्त्वामसृजत कश्यपस्त्वा समैरयत्। अबिभस्त्वेन्द्रो मानुषे बिभ्रत्संश्रेषिणेऽजयत्॥
मणिं सहस्रवीर्यं वर्म देवा अकृण्वत ॥
यस्त्वा कृत्याभिर्यस्त्वा दीक्षाभिर्यज्ञैर्यस्त्वा जिघांसति।
प्रत्यक्त्वमिन्द्र तं जहि वज्रेण शतपर्वणा ॥
अयमिद्वै प्रतीवर्त ओजस्वान्संजयो मणिः। प्रजां धनं च रक्षतु परिपाणः सुमङ्गलः ॥
असपत्नं नो अधरादसपत्नं न उत्तरात्। इन्द्रासपत्नं नः पश्चाज्ज्योतिः शूर पुरस्कृधि ॥
वर्म मे द्यावापृथिवी वर्माहर्वर्म सूर्यः। वर्म म इन्द्रश्चाग्निश्च वर्म धाता दधातु मे ॥
ऐन्द्राग्नं वर्म बहुलं यदुग्रं विश्वे देवा नाति विध्यन्ति सर्वे।
तन्मे तन्वं त्रायतां सर्वतो बृहदायुष्मां जरदष्टि र्यथासानि ॥
आ मारुक्षद्देवमणिर्मह्या अरिष्टतातये।
इमं मेथिमभिसंविशध्वं तनूपानं त्रिवरूथमोजसे ॥
अस्मिन्निन्द्रो नि दधातु नृम्णमिमं देवासो अभिसंविशध्वम्।
दीर्घायुत्वाय शतशारदायायुष्माञ्जरदष्टिर्यथासत् ॥
स्वस्तिदा विशां पतिर्वृत्रहा विमृधो वशी।
इन्द्रो बध्नातु ते मणिं जिगीवाँ अपराजितः सोमपा अभयंकरो वृषा।
स त्वा रक्षतु सर्वतो दिवा नक्तं च विश्वतः ॥—शौ० ८।५।१-२२

१. कौ० सू०—८।१५ (स्रग्वंशौ हिमवत इति प्रसिद्धौ—दा०; मालवके प्रसिद्धः—के०) ३३।९; ११
२. मै० ४।१३।४; काठ०—१६।२१; तं० ब्रा०—३।६।६।३
'स्रेकपर्णाऽष्ठीवन्ता षड्विंशतिरस्य वंक्रमः'—ऐ० ब्रा० २।६; १५
(स्रेकपर्णा करवीरपत्राकारौ—सा०)
Ved. ind. ii–491.
३. शौ०—६।९६।३; Ved. Pl. 662
४. ऋ०—९।९६।६; Ved. Pl. 662 (A great tree with heart wood according to Roth)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हपुषा[1]—

हरिचन्दन[2]—

हरिणी[3]—अमृता, अपराजिता आदि द्रव्यों के साथ इसका उल्लेख है।

हरितपुष्पा[4]—शुक्लपुष्पा (शंखपुष्पी), हरितपुष्पा, किंस्त्यनाभि तथा पिप्पली इन्हें नवजात शिशु को स्तन्य प्रारम्भ करने के पूर्व स्वर्णखण्ड से चटाने का विधान है। यह मेधाजनन है। केशव ने इससे अन्धपुष्पिका का ग्रहण किया है।

हरितभेषज[5]—यह आञ्जन का विशेषण है।

हरिद्रा[6]—इसका चूर्ण मधु और घृत के साथ लेने से मेध्य कहा गया है। भृंगराज, इन्द्रवारुणी तथा नीली के साथ इसका प्रलेप श्वित्र तथा पलित में विहित है। केशव-पद्धति में इसके साथ पुष्पा का भी उल्लेख है। हृद्रोग तथा कामला में हरिद्रौदन खिला कर पूरे शरीर में उसके उद्वर्त्तन का विधान है। कौशिकसूत्र में सर्पविष आदि में घी के साथ पिलाने का उल्लेख है।

---

१. पा० उ० श्रो०—२।३।१६४
२. पा०—२।४।३१
३. अ० प०—१८।१।१५-१७
४. अहं रुद्रेभिरिति शुक्लपुष्पहरितपुष्पे किंस्त्यनाभिपिप्पल्यौ जातरूपशकलेन प्राक् स्तनग्रहात् प्राशयति'—कौ० सू० १०।१६
'शुक्लपुष्पाहरितपुष्पे शंखपुष्पिका अन्धपुष्पिका प्रसिद्धे'—के० प० ११।१९
५. शौ०—४।९।३ 'हरितस्य पाण्ड्वादिरोगजनितस्य श्यामलत्वस्य निवर्त्तकम्'—सा०
६. हि० श्रौ०—२६।१।७४; आ० गृ०—१।१९।९; कौ० गृ०—२।१।१०; वा० ध०—११।६६; गौ० ध०—१।२१; कौ० सू०—२६।१८; २८।४; ३२।७; ३८।९; अ० प०—१७।१।३-४; ५०।६।४; ५२।४।५; ६३।४।९; के० प०—२६।१८; २२-२४; ३०।१०; ३१।५
पा० वा०—४।२।२
'हरिद्रायास्तुलावराध्यं चूर्णयित्वा एतेनैव कल्पेन संवत्सरं यस्त्वेनं प्राश्नीयात् श्रुतनिगादी भवति' (पूर्वोक्तेन 'मधुसर्पिभ्याम्' इति—सा० २।७।९)
'नक्तं जातास्योषधे रामे कृष्णे असिक्नि च। इदं रजनि रजय किलासं पलितं च यत्॥
शौ०—१।२४।१
'हे ओषधे हरिद्राख्ये त्वं नक्तं रात्रौ जाता उत्पन्ना असि भवसि; अतस्त्वं श्वैत्य-निवर्त्तनेन काष्र्ण्यं आपादयितुं शक्ता भवसीत्यर्थः'
'रञ्जयति स्वसंसृष्टं वस्त्रादिकं अर्थम् इति रजनी'—सा०
'हरिद्रौदनं व्याधितस्य भोजनं दत्वा तस्योच्छिष्टं चानुच्छिष्टं चैकत्र कृत्वा तेनोद्-वर्त्तनं शिरः प्रभृत्यारभ्य यावत्पादौ'—के० प० २६।१४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हरिद्रु[1]—श्मशान से इसे हटा देने का विधान है। मैकडोनल एवं कीथ इससे देवदारु लेते हैं किन्तु वस्तुतः यह Adina cordifolia है। (देखें हारिद्रव)

हरिद्रुपर्णी[2]—

हरीतकी[3]—मूत्रपुरीष-निरोध में कर्पूर के साथ इसका प्रयोग है।

हारिद्रव[4]—अथर्ववेद की व्याख्या में सायण ने इसका अर्थ पक्षिविशेष किया है। (देखें हरिद्रु)

हिंगु[5]—वानप्रस्थ आश्रम में लवण, हिंगु, लशुन निषिद्ध किये गये हैं।

हिरण्यपर्ण[6]—यह सुवर्णवर्णपत्र वाली वनस्पति है। खिलस्थान में 'हिरण्यपर्णा' लाक्षा का विशेषण है।

हिरण्यपुष्पी[7]—इसका वशीकरण प्रयोग है।

---

१. श०—१३।८।१।१६; पा० ग०—४।३।१०६; ४।४।५३
'हृद्रोगं मम सूर्य हरिमाणं च नाशय। शुकेषु मे हरिमाणं रोपणाकासु दध्मसि॥
अथो हारिद्रवेषु मे हरिमाणं निदध्मसि॥'—ऋ० १।५०।११-१२
हारिद्रवेषु हरितालद्रुमेषु (सा०); तै० ब्रा०—३।७।६।२२;२३

२. पा० ग०—४।४।५३ 'न्यग्रोधाश्वत्थतिल्वकहरिद्रुस्फूर्जकविभीदकपापनामभ्यश्च'—
—का० श्रौ० २१।३।२०

३. पा०—४।३।१६७; पा० वा०—१।२।५२; पा० ग०—४।१।४१ शौ० —१।३ (सा०)
देखें (कर्पूर)

४. ऋ०—१।५०।१२ (हरितालद्रुम—सा०); शौ०—१।२२।४

५. वै० ध०—१।७।८-३

६. खि०—४।७।७; मा०—२१।५६; २८।२३; का०—३०।२।९; ३०।३।१०
देवेभ्यो वनस्पते हवींषि हिरण्यपर्ण प्रदिवस्ते अर्थम्।
प्रदक्षिणिद्रशनया निपूय ऋतस्य वक्षि पथिभी रजिष्ठैः॥'—मै० ४।१३।७
'वनस्पतिर्हिरण्यवर्णो आश्विभ्यां सरस्वत्या सुपिप्पल इन्द्राय पच्यते।'—मै० ३।११।५
'होता यक्षच्छतक्रतुम्। हिरण्यपर्णमुक्थिनम्।'—तै० ब्रा० २।६।१७।७
'हिरण्यपर्णशब्देन सुवर्णपर्णयुक्तो दशमप्रयाजदेवो वनस्पतिरुक्तः'—सा०
हिरण्यपर्णः सुवर्णपत्रोपेतः सुवर्णसदृशज्वालोपेतो वा'—सा० (तै० ब्रा० ३।६।११।२)
'हिरण्यपर्ण ऋतपर्ण···हिरण्यवर्णपर्णेति'—या० ८।१९

७. अ० प०—१८।१।१६ (सुवर्णपुष्पी); 'हिरण्याक्षो मधुवर्णो हिरण्यपरिचिन्तने।
अंको हिरण्यो यस्तव तेनास्यै पतिमावह॥—पै० २।७९।१-५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिरण्यमूल[1]—मूलविधि के प्रकरण में इसका उल्लेख है।

हेरुका[2]—

ह्लादिका[3]—

ओषधिगण

अकण्टक वृक्ष[4]—

अनुलेपन[5]—

अभय गण[6]—

अम्ल[7]—

अयाज्ञिक काष्ठ[8]—

आदित्यगण[9]—इसमें विषासहि सहमाना का पाठ है।

आयुष्य गण[10]—

कण्टकी वृक्ष[11]—

---

१. पा० गृ०—१।२१
२. कौ० सू० (प०)—८२।२६
३. ऋ०—१०।१६।१४: 'आह्लादकफलयुक्तै; वृक्षैः'—(सा०) 'शीतिके शीतिकावति ह्लादिके ह्लादिकावति'—शौ० १८।३।६०
'ह्लादःसुखं तत्कारिणि; ह्लादकाख्यौषधिः'—सा०
४. कौ० सू०—८३।११
५. एतदेव कुमारीणां सटोद्धरणमत्रैवानुलेपनम्—काठ० गृ०—३।७।६ (अनुलेपनं सर्वौषधिकुङ्कुमप्रभृतिभिः—दे०)
६. अ० प०—३२।१।१९; कौ० सू०—१३९।७
७. वा० ध०—६।६३; बौ० ध०—१।८।२८
८. बौ० ध०—१।१०।१०
९. अ० प०—३२।१।१९
१०. अ० प०—३२।१।१९; कौ० सू०—५४।११
११. हि० श्रौ०—२४।२।५ (काण्टकीं च समिधम्); ११; २४।५।८; २८।१।७ (खदिरादयः); आ० गृ०—२।७।५ (कण्टकिक्षीरिणस्तु समूलान् परिखाय); ४।१।१२; पा० गृ०—१।२१; कौ० गृ०—२।६।९ [वर्ज्यं समिध्); खा० गृ०—४।२।८; या० शि०—३४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कषाय[1]—

कृत्यागण[2]—इसमें प्रतीचीनफल (अपामार्ग) तथा प्रतिसर (तिलक) का उल्लेख है।

क्षीरीवृक्ष[3]—

गन्धद्रव्य[4]—चन्दन, कर्पूर, कुङ्कुम आदि द्रव्यों की आहुति, उदक तथा कल्क का प्रयोग है।

चातन गण[5]—इसमें पृश्निपर्णी का उल्लेख है।

तक्मनाशन गण[6]—इसमें दशवृक्ष, मृगश्रृंग, वरण का पाठ है।

त्रिफला[7]—दन्तमञ्जन में इसका प्रयोग है

त्रिमधुर[8]—

दशवृक्ष[9]—

दुःस्वप्ननाशन गण[10]—

धान्य[11]—

नानाबीज[12]—

---

१. वि० ध०—६१।१५; आप० ध०—१।१।२।४१; बौ० ध०—२।१।१।२३ हि० श्रौ०—२६।१।७२
२. अ० प०—३२।१।२
३. आ० गृ०—२।७।५
४. काठ० गृ०—२।७।७ (गन्धाहुति—'सुगन्धचन्दनघनसारादिद्रव्ययुतेनाज्येनाहुतयो गन्धाहुतयः—दे०); २५२ (गन्धोदक); बो० गृ०—३।११।४ जै० गृ०—२।५ (गन्धौषधि)
५. अ० प०—३२।१।३
६. अ० प०—३२।१।७
७. या० शि०—३६; ना० शि०—२।७।३-६; पा०—६।४।१ २२; पा० म० ४।१।६४
८. कौ० गृ०—१।२०।८; अ० प०—३६।७।१-३; १८।१; १९।१; २०।१; ६९।६९।५
९. शौ०—२।९।१; पै०—२।१०।१-५; अ० प०—३२।१।७
१०. अ० प०—३२।१।८
११. हि० गृ०—२०।१।६
१२. आप० श्रौ०—६।८।२९।१६; आप० गृ०—१।३।१५ (व्रीहियवादीनि-हरदत्त)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नानावृक्ष[1]—

परिधिवृक्ष[2]—

पिप्पल्यादि शान्तिगण[3]—

फलोत्तम[4]—

भैषज्यगण[5]—इसमें अघद्गिष्टा, वरण और पिप्पली का उल्लेख है।

मिश्रधान्य[6]—

यज्ञिय वृक्ष[7]—यज्ञ में उपयुक्त वनस्पति इसमें आते हैं।

यशस्य[8]—

यूप्यवृक्ष[9]—यज्ञ में यूप के योग्य पलाश, खदिर आदि वृक्षों का इसमें समावेश है।

रौद्रगण[10]—इसमें जलाषभेषज का उल्लेख है।

वर्चस्य गण[11]—

---

१. बौ० श्रौ०—२।७ (अश्वत्थ, उदुम्बर, पर्ण, शमी, विकंकत); १०।५०; १२।५-(नानावृक्ष्याणि पत्राणि); १७।३१; १८।८; आप० श्रौ०—५।५।५; वा० श्रौ०—१।४।४।२; बौ० पि०—१।१७।२ (चतुरो नानावृक्ष्यान् परिधीन् पर्णमयवारणवैतसशमीमयान्)

२. पालाश्यः समिधो नित्याः परिधिवृक्षाणां वा'—काठ० गृ० १।४।१८ (परिधिवृक्षाश्च यूप्याः बिल्वखदिरपलाशरौहीतकौदुम्बरबदरप्रभृतयः। यज्ञिया वा सर्वे परिधिवृक्षाः'—दे०; परिधिवृक्षा यज्ञिया यूप्या वा—आ०)

३. अ० प०—३२।१।२०

४. कौ० गृ०—१।७।१-२; शां० गृ०—१।११।२, काठ० गृ० २।८।२, ९।१

५. अ० प०—३२।१।२४

६. व्रीहियवगोधूमोपवाकतिलप्रियंगुश्यामाका इति मिश्रधान्यानि'—कौ० सू० ८।२०

७. का० श्रौ०—७।४।८; द्रा० श्रौ०—५।२।१ (यज्ञार्हस्य वृक्षादेरश्वत्थस्य); आप० श्रौ० १।२।३० मा० गृ०—१।६।२; २२।११; वा० गृ०—५।७४; खा० गृ०—२।२।१०; ३।४।१०; ८।३; काठ० गृ०—२।६।१; (वटादीनामन्यतमस्य—दे०; अश्वत्थोदुम्बरादियज्ञियवृक्षोद्भवां—ब्रा०); गो० गृ०—१।९।१६ (यज्ञियानामेवौषधिवनस्पतीनां फलानि); नि० सू०—१।११; बौ० गृ०—१।३।२; २।५।३५; बौ० ध०—१।३।१६; हि० श्रौ०—२९।४।४०; बौ० पि०—३।१; ७; गौ० ध०—१।२४; अ० प०—२३।१।२; ६।५; ९।४;

८. अ० प०—१८।१।१४

९. आप० श्रौ०—७।१।१५ (यूप्याः वृक्षाः पलाशखदिरबैल्वरौहीतकाः); वा० गृ०—६।३१;

१०. अ० प०—३२।१।१७

११. अ० प०—३२।१।१०; १८।१।१४; कौ० सू०—१०।४-६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शर्मवर्मगण[1]—

शाकवर्ग[2]—

शान्त[3]—शान्तिकर्म में उपयोगी औषधियाँ इसमें आती हैं।

सप्तधान्य[4]—

सर्वगन्ध[5]—

सर्वतृण[6]—

सर्वबीज[7]—

सर्वरस[8]—

सर्वसुरभि[9]—

---

१. अ० प०—३२।१।१४;

२. बौ० ध० १।१०।९

३. कौ० सू०—२६।४०; २७।५ (दश); १३।५; ८।३।३-४; ५४।२०; १३९।३; २१।१८—(शान्तशाखा); २१।२—(शान्तफल); अ० प०—२६।२।३; ३१।२।४; ६९।१।५; कौ० गृ०—२।८।६ (शान्त इति शुष्क अथवा अकण्टक—वि०); कौ० सू०—५३।१-२ (शान्ता ओषधीः); ९४।—; पलाशोदुम्बरजम्बुकाम्पीलस्रग्वङ्घशिरीषस्रक्तयवरण-बिल्वजंगिडकुटकगर्ह्यंगलावलवेतसशिम्बलसिपुनस्यन्दनारणिकाश्मयोक्तुन्युपृतुदारवः शान्ताः'—कौ० सू० ८।१५

'चितिप्रायश्चित्तिशमीशमकासवंशाशाम्यवाकातलाशापलाशवाशाशिंशपाशिम्बलसिपुन-दर्भापामार्गाकृतिलोष्ठवल्मीकवपादूर्वाप्रान्तव्रीहियवाः शान्ताः'—कौ० सू० ८।१६

४. अ० प०—११।१।१५; पा० गृ०—१।२१

५. काठ० गृ०—२।८।२; ९।१; (सर्वगन्धैः सर्वौषधिभिः—आ०); पा० गृ०—१।२१; मा० गृ०—२।६।४; २।१४।२३; अ० प०—१।४४।२; २०।३।४

६. जै० गृ०—१।१

७. गो० गृ०—२।९।७; अ० प५—१।४३।२; १०।१।१

८. मा० गृ०—२।६।४; १४।२३; अ० प०—२०।३।४

९. शां० गृ० १।११।२; खा० गृ०—३।१।७; का० श्रौ०—७।४।२२ (पिप्पल्यादिः—भा०); २५।८।२३; बौ० श्रौ०—१७।२९; आप० गृ०—५।१२।८; हि० गृ०—१९।३।२४; कौ० गृ०—१।७।१-२; १।१८।१-२; कौ० सू० १६।२९; ५८।१२; ७६।२१; ८३।३; ८५।१९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सर्वौषध(धि)[1]—

सुगन्धिबीज[2]—

सौम्यवृक्ष[3]—

---

१. बौ० श्रौ०—२।१२; १३; १८; १०।२७; ५०; ५७; का० श्रौ०—७।४।२२; १७।३।६; २१।४।४; मा० गृ०—२।६।४; २।१४।२३; बो० पि०—३।१।२०; १।१७।२; खा० गृ०—३।१।६; सर्वौषधेनापः फाणयेत्); जै० गृ०—१।११ (सर्वोषधीभिः स्फाण्टमुदकम्); पा० गृ०—१।१९; २१; शां० गृ०—१।११।२; गो० गृ०—३।४।११;

२. अ० प०—२१।१।४

३. प०—७०।१।६-९ (सौम्यवृक्षाश्रयाः कार्याः समिधः शान्तिमिच्छता)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ग्रन्थ-सन्दर्भ

अथर्वप्रातिशाख्यम् : विश्वबन्धु शास्त्री, पंजाब विश्वविद्यालय, लाहौर, १९२३.
अथर्ववेदपदानुक्रमणिका : विश्वेश्वरानन्द एवं नित्यानन्द, निर्णयसागर, बम्बई, १९०७.
अथर्ववेदसंहिता (सायणभाष्यसहिता) : भाग १–४, सं० विश्वबन्धु, होशियारपुर, १९६०–६२.
अथर्ववेदीय दन्त्योष्ठविधि : सं० रामगोपाल शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२१.
अथर्ववेदीया पंचपटलिका : भगवद्दत्त, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२०.
अथर्ववेदीया बृहत् सर्वानुक्रमणिका : सं० रामगोपाल शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२२.
अथर्ववेदीया माण्डूकी शिक्षा : सं० भगवद्दत्त, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२१.
अष्टाध्यायी (पाणिनिविरचिता) : गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, सं० १९८५.
आपस्तम्बधर्मसूत्रम् (हरदत्तमिश्रविरचितवृत्तिसमेतम्) : सं० चिन्नस्वामी एवं अ० स० रामनाथ शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३२.
आश्वलायनगृह्यसूत्रम् (नारायणकृतवृत्तिसमेतम्) : गोविन्द पुरुषोत्तम रानडे शास्त्री, आनन्दाश्रम, पूना, १९३६.
आश्वलायनश्रौतसूत्रम् (नारायणकृतवृत्तिसमेतम्) : सं० गणेश शास्त्री गोखले, आनन्दाश्रम, पूना, १९१७.
ईशावास्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.
उपनिदानसूत्रम् : सं० मंगलदेव शास्त्री, राजकीय संस्कृत पुस्तकालय, बनारस, १९३१.
उपनिषत्संग्रहः : मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९७०.
ऋक्तन्त्रम् (सामप्रातिशाख्यम्) : सं० सूर्यकान्त शास्त्री, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९३३.
ऋक्प्रातिशाख्यम् (उव्वटभाष्ययुतम्) : सं० युगलकिशोर व्यास एवं प्रभुदत्त शर्मा, चौखम्बा संस्कृत बुकडिपो, १९०३.
ऋग्वेदप्रातिशाख्यम् : सं० मंगलदेव शास्त्री, इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, १९३१.
ऋग्वेदसंहिता (सायणभाष्यसहित) : भाग १–५, वैदिक संशोधन मण्डल, पूना, १९३३–१९५१.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ऋग्वेदादिभाष्यभूमिका : स्वामी दयानन्द सरस्वती, अजमेर, सं० १९४९.

ऐतेरेयब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : आनन्दाश्रम, पूना, १९३०.

ऐतरेयारण्यकम् (सायणभाष्यसहितम्) : आनन्दाश्रम, पूना, १९५९ (तृ० सं०)

ऐतरेयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२२.

ऐतरेयब्राह्मण भागः १–२, आनन्दाश्रम, पूना, १९३१ (द्वि० सं०)

कठोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.

कर्मप्रदीप (नारायणोपाध्यायकृत परिशिष्टप्रकाशसहितः) : सं० चन्द्रकान्त तर्कालंकार, बंगाल एशियाटिक सोसाइटी, १९०९.

कात्यायनश्रौतसूत्रम् (कर्काचार्यकृतभाष्यसमेतम्) : भाग १, सं० नित्यानन्दपन्तपर्वतीय, चौखम्बा, बनारस, १९२७.

कात्यायनश्रौतसूत्रम् (कर्काचार्यकृतभाष्यसमेतम्) : भाग २, सं० गोपाल शास्त्री नेने, डोगरा अनन्तराम शास्त्री, चौखम्बा, १९३९.

केनोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२२.

खादिरगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दव्याख्यासहितम्) : ए० महादेव शास्त्री एवं एल० श्रीनिवासाचार्य, गवर्नमेण्ट आफ मैसूर, १९१३.

गोभिलगृह्यसूत्रम् (मुकुन्दझाकृतव्याख्यासहितम्) : चौखम्बा, वाराणसी, १९३६.

चारायणीय मन्त्रार्षाध्याय : सं० विश्वबन्धु शास्त्री, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९३५.

छान्दोग्यब्राह्मण (गुणविष्णु-सायणभाष्यसहित) : दुर्गामोहन भट्टाचार्य, संस्कृत कालेज, कलकत्ता, १९५८.

छान्दोग्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०१९.

जैमिनीय उपनिषद् ब्राह्मण (तलवकार उपनिषद् ब्राह्मण) : पं० रामदेव, डी० ए० वी० कालेज, लाहौर, १९२१.

जैमिनीय ब्राह्मण : रघुवीर एवं लोकेशचन्द्र, नागपुर, १९५४.

ताण्ड्यमहाब्राह्मण (सायणभाष्यसहित) : सं० चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा, १९३५.

तैत्तिरीयप्रातिशाख्यम् (माहिषेयकृतपदक्रमसदनाख्यभाष्योपेतम्) : वी० वेंकट राम शर्मा, युनिवर्सीटी आफ मद्रास, १९३०.

तैत्तिरीयब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : भाग १–२, आनन्दाश्रम, पूना, १९३८ (द्वि० सं०)

तैत्तिरीयसंहिता (सायणाचार्यभाष्यसहिता) भाग १–६ : आनन्दाश्रम, पूना, १९४०-१९४८.

तैत्तिरीयारयण्कम् : आनन्दाश्रम, पूना, १८९७.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तैत्तिरीयोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.
दैवतसंहिता : श्रीपाद दामोदर सातवलेकर, पारडी (सूरत), १९६४.
द्रव्यगुणविज्ञान : भाग २–३, प्रियव्रत शर्मा, चौखम्बा, १९७५ (तृ० सं०)
द्राह्यायणगृह्यसूत्रम् (रुद्रस्कन्दीयवृत्तिसमेत) : उदयनारायण सिंह, मधुरापुर (मुजफ्फरपुर)
निघण्टुसमन्वितं निरुक्तम् : लक्ष्मणस्वरूप, पंजाब विश्वविद्यालय, १९२७.
निदानसूत्रम् (सामवेदीयम्) : सं० सत्यव्रत शर्मा, कलकत्ता, १८९६.
निरुक्तम् (दुर्गाचार्यकृतवृत्तिसमेतम्) : आनन्दाश्रम, पूना, भाग १–२, १९२४–२६.
पारस्करगृह्यसूत्र : सं० अनन्तराम डोगरा शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३९.
प्रश्नोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.
बृहदारण्यकोपनिषद् : गीताप्रेस, सं० २०२५.
बौधायनधर्मसूत्रम् (श्रीगोविन्दस्वामिविवरणोपेतम्) : सं० चिन्नस्वामी शास्त्री, चौखम्बा, बनारस, १९३४.
बौधायनपितृमेधसूत्र : सी० एच० राबे, लीडन, १९११.
भरद्वाजगृह्यसूत्रम् : हेनरियेट जे० डब्ल्यू० सैलोमन्स, लीडन, १९१३.
माण्डूक्योपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२४.
मुण्डकोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.
मैत्रायणीय मानवगृह्यसूत्रम् (श्रीमदष्टावक्ररचितभाष्योपेतम्) : रामकृष्ण हर्षजी शास्त्री, सेण्ट्रल लाईब्रेरी, बड़ौदा १९२६.
लघुऋक्तन्त्रसंग्रहः (सामसप्तलक्षणसहितः) : सं० सूर्यकान्त, मेहरचन्द लक्ष्मणदास, लाहौर, १९४०.
वाराहगृह्यसूत्रम् : सं० श्री उदयनारायण सिंह, शास्त्र पब्लिशिंग हाउस, मधुरापुर, पो० विधुपुर बाजार, जि० मुजफ्फरपुर, १९३४.
विष्णुस्मृतिः (नन्दपंडितरचितवैजयन्ती वृत्तिसमेतम्) : जुलियस जोली, चौखम्बा, १९६२.
वेदांगप्रकाश : अजमेर, सं० १९७०.
वैदिक कोश : सूर्यकान्त, बनारस हिन्दू युनिवर्सिटी, १९६३.
वैदिकपदानुक्रमकोषः भाग १–१९, सं० विश्वबन्धु, होशियारपुर, १९३५–१९६३.
व्याकरणमहाभाष्यम् (प्रदीपोद्योतसहितम्) : भाग १–५, गुरुकुल झज्जर (रोहतक), १९६१–६४.
व्याकरणवाङ्मय में आयुर्वेदीय सामग्री : भाग १–६, आचार्य प्रियव्रत शर्मा, आयुर्वेद विकास, मार्च-सितम्बर, १९६४.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शतपथब्राह्मणम् : सं० श्रीधर शर्मा वारे, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९४०.
शांखायन आरण्यक : सं० श्रीधर शर्मा, आनन्दाश्रम, पूना, १९२२.
शांखायन गृह्यसूत्रम् (श्रीनारायणप्रणीतभाष्यसहितम्) : राजकोट, १९३२.
शिक्षासंग्रहः : सं० मुगलकिशोर व्यास, बनारस संस्कृत सीरीज, १८८९.
शौनकीय वृहद्देवता ; रामकुमार राय, चौखम्बा संस्कृत सीरीज, १९६३.
श्वेताश्वतरोपनिषद् : गीताप्रेस, गोरखपुर, सं० २०२३.
षड्विंशब्राह्मणम् (सायणभाष्यसहितम्) : सं० जीवानन्द विद्यासागर, कलकत्ता, १८८१.
षड्विंशब्राह्मण (सायणभाष्यसहित) : वी० आर० शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६७.
सत्याषाढ (हिरण्यकेशिविरचितं श्रौतसूत्रम्) : भाग १–९, आनन्दाश्रम, पूना, १९०७–१९३०.
सामविधानब्राह्मणम् : वी० आर० शर्मा, केन्द्रीय संस्कृत विद्यापीठ, तिरुपति, १९६४.
सिद्धान्तकौमुदी : सं० शिवदत्त शास्त्री, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई १९२६.
स्मृति-सन्दर्भ : मनसुखराय मोर, कलकत्ता, १९३७.
Āgniveśya Gṛhyasūtra : ed. L. A. Ravi Verma, University of Travancore, 1940.
Ancient Indian Flora: B. C. Law, Indian Culture, Vol. XV, Nos. 1–4, 1948–49.
Āpastambīya Gṛhyasūtra : ed. M. Winternitz, Alfred Holder, (with the commentary of Haradatta & Sudarśanāchārya) Vienna, 1887.
Āpastamba Śrautasūtra : Vol. I. ed. Narsimhachar, Mysore, 1944. Vol. II, Ed. Shrinivasa Gopalacharya, Mysore, 1954.
Āpastamba Śulvasūtram : ed. D. Shrinivashachar & Vidwan S. Narasimhachar, University of Mysore, 1931.
Ārṣeya Brāhamaṇa : ed. Burnell, Mangalore, 1876.
The Aṣṭādhyāyī of Paṇini : S. C. Vasu, Vol. I-II, Motilal Banarasi Dass, Delhi, 1962.
The Atharvaveda and The Gopatha Brāhmaṇa : Maurice Bloomfield, Strassburg, 1899.
The Atharvaveda Prāti Śākhya : W. D. Whitney, C. S. S. Office, Varanasi, 1962.
Atharvaveda Samhitā (Vol. I–II) : W. D. Whitney, Motilal Banarasidass, Delhi, 1962.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bodhāyana Gṛhyasūtra : ed. R. Sharma Shastri, University of Mysore, 1920.

The Baudhāyana Śrauta sūtra : ed. W. Caland, Asiatic Society, calcutta, Vol. I–III, 1907–1913.

The Dharmasūtra of Śaṅkhalikhita : P. V. Kane, A. B. O. R.I. (Vol. VII–VIII), Poona, 1926.

The Etymologies of Yāska : Siddheshwar Verma, Vishweshwaranad Institute, Hoshiarpur, 1953.

Founders of Sciences in Ancient India, Satyaprakash, Appendix I (pp. 161–63), The Research Institute of Ancient Scientific Studies, New Delhi, 1965.

Sri Gautam Dharma Śāstram : ed. Adolf Freiderich Stenzler, London, 1876.

Gautama Pitṛmedha sūtra : ed. Caland, Leipzig, 1896.

Glossary of Vegetable drugs in Bṛhattrayī : Balwant Singh & K. C. Chunekar, Chowkhamba, 1972.

Gobhila Gṛhyasūtra (Eng. Tr.) : Oldenberg, Sacred Books of the East, Vol. XXX.

Gopatha Brāhmaṇa : D. Goastra, Leiden, 1919.

Gṛhyasaṅgraha : ed. Bloomfield, Journal of German Oriental Society, Vol. 35.

The Hymns of the Atharvaveda : Vol. I–II, Ralph T. H. Griffith, Chowkhamba, 1968.

The Hymns of the Ṛgveda : Vol. I–II, Griffith, Chowkhamba, 1963.

The Hymns of the Sāmaveda : Griffith, Chowkhamba, 1963 (4th ed.)

India of Vedic Kalpasūtras : Ramgopal, National Publishing House, 1959.

Jaimini Gṛhyasūtra : ed. Caland, Motilal Banarsidass, Lahore, 1922.

Jaiminīya Saṁhitā : ed. Caland, Breslaw, 1907.

Jaiminiya Śrautasūtra : Leiden, 1906.

Kāṇva Śatapatha Brāhmaṇa : ed. Caland, Motilal Banarasidass, Lahore, 1926.

Kāṭhaka Gṛhyasūtra : ed. W. Caland, D. A. V. College, Lahore; 1925.

The Kaucika sūtra of Atharvaveda : ed. Maurice Bloomfield, New Haven, 1889.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Kauṣītaka Gṛhyasūtras (with the commentary of Bhavatrāta) : ed. T. R. Chintamani, University of Madras, 1944.

The Kauṣitakī Upaniṣad : Ed. Major B. D. Basu, The Sacred Books of the Hindus Vol. XXXI–Pt. I., Nov.–Dec., Painini Office, Allahabad. 1925

Laugākṣi Gṛhyasūtra (with the Bhāsyam of Devapāla) : Ed. Madhusudan Kaul Shastri, Jammu & Kashmir Govt., Shrinagar, 1928 (I), 1934 (II).

Maitrāyaṇī VārāhaŚrautasūtra : ed. W. Caland & Raghuvir, Meharchand Laksmandas, Lahore, 1933.

On the interpretation of doubtful words in the Atharvaveda : T. Chowdhury, J. B. O. R. S., Vol. XVII–Pt. I, 1930–31.

The Orion : B. G. Tilak, Poona, 1955 (4th ed.)

Pāraskara Gṛhyasūtra : ed. Adolf Freiderich Stenzler, Leipzig, 1976.

The Parishiṣtas of Atharvavada : ed. G. M. Bolling & J. V. Negelein, Leipzig, 1909.

Ṛgveda Samhitā (with Commentary of Sāyanācārya) : ed. F. Maxmuller, Chowkhamba, 1966.

Ṣaḍviṁśa Brahmaṇa : ed. H. F. Eelsingh, Leyden, 1908, Jivanand Vidyasagar, Calcutta, 1881.

The Sāmavidhāna Brāhmaṇa : ed. A. C. Burnell, London, 1873.

The Śāṅkhāyana Āraṇyaka : ed. A. B. Keith, Royal Asiatic Society, London, 1908.

Śāṅkhāyana Gṛhyasūtram : ed. S.R. Sehgal, Munshi Ram Manoharlal, Delhi, 1960.

Śatapatha Brāhmana : ed. A. Weber, 1964 (2nd ed.)

Some ātharvaṇic Portions in the Gṛhyasūtras : B.C. Lele, Bonn, 1927.

Śrautasūtra of Āpastamba (with the commentary of Rudradatta) : Richard Garbe, Asiatic Society, Calcutta, 1885.

Sāmavidhāna : ed. Burnell, London, 1873.

Śvetāśvataropaniṣad : ed. Swami Tyāgisānand, Madras, 1949.

Taittirīya Samhitā : A. B. Keith, Motilal Banarsidass, Delhi, 1967.

The Twelve Principal Upaniṣads (Vol. II) : Ed. E. Roer, Madras, 1931.

The Twelve Principal Upaniṣads (Vol. III) : Ed. Mitra & Cowell, Madras, 1932.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Vaikhānasa Dharma praśna : ed. T. Ganapati Shastri, Trivandam, 1913.

Vanaspati : G. P. Majumdar, Calcutta University, 1927.

Vārāha Gṛhyasūtra (with short extracts from the Paddhatis of Gaṅgādhara and Vaśiṣṭha) : ed. Dr. Raghuvir, Punjab University, Lahore, 1932.

Śrī Vāśiṣṭha Dharmaśāstra : ed. Rev. Alois Anton Fuhrer, Govt. Central Book Depot, Bombay, 1883.

Vedāṅga Jyotiṣam : ed. R. Shama Shastry, Mysore, 1936.

Vedic Index (Vol. I & II) : Macdonell A. A. & Keith A. B., Motilal Banarasidass, Delhi, 1958.

Vedic Plants : G. P. Majumdar, B. C. Law Vol. I, pp. 645–66, Indian Research Institute, Calcutta 1945.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट १

वनौषधियों के पर्याय तथा वैज्ञानिक नाम

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
अक्ष	बिभीतक, विभीदक, बभ्रु, कलि	Terminalia belerica Roxb.
अगरु		Aquillaria agallocha Roxb.
अजश्रृंगी	अराट्की, तीक्ष्णश्रृङ्गी	1. Gynandropsis pentaphylla DC. 2. Cleome viscosa Linn.
अजीता	अपराजिता, अपरका, गिरिकर्णिका	Clitorea ternatea Linn.
अणु		Panicum miliaceaum Linn.
अतसी	क्षुमा, उमा	Linum usitatissimum Linn.
अतिबला	कङ्कतदन्ती	Abutilon indicum (Linn.) SW.
अधःपुष्पी	अन्धपुष्पिका, हरितपुष्पा	Trichodesma indicum R. Br
अध्याण्डा		Mucuna sp.
अपामार्ग	प्रतीचीनफल, प्रत्यक्पुष्पा, प्राचीनकण्टक	Achyranthes aspera Linn.
अमृता	अमृता, गुडूची, ओजोमानो, कुद्रोचो, चक्राङ्किता	Tinospora cordifolia (Willd) Miers.
अमला	आमलकी, आमलक, धात्री	emblica officinalis Gaertn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
अम्लिका	तिन्तिडीक	Tamarindus indica Linn.
अरट्ठु	अरलु	Ailanthes excelsa Roxb.
अरणी		Clerodendrum phlomidis Linn. f.
अरिमेद		Acacia leucophloea Willd.
अरिष्ट	पूयवृक्षफल	Sapindus mukorossi Gaertn.
अरुष्कर	भल्लातक	Semecarpus anacardium Linn. f.
अर्क		Calotropis procera (Ait) R. Br.
अर्जुन	(१) तृणवाचक-फाल्गुन, बभ्रुतूल, लोहिततूल (२) वृक्षवाचक-इन्द्रवृक्ष, ककुभ	Terminalia arjuna W. & A.
अलाबू		Lagenaria vulgaris Ser.
अशोक		Saraca indica Linn.
अश्मगन्धा	अश्वगन्धा, अश्वावती	Withania somnifera Dunal.
अश्मला		Bergenia ligulata (Wall.) Engl.
अश्मन्तक	अश्मयोक्त	Bauhinia malabarica Roxb.
अश्वत्थ	पिप्पल, ब्रह्मवृक्ष	Ficus religiosa Linn.
असन		Pterocarpus marsupium Roxb.
अहिच्छत्रक	क्षुम्प, छत्राक	Agaricus campestris Linn.
आकाशफेन		Cassytha filiformis Linn.

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्याय		वैज्ञानिक नाम
आखु		Ipomoea reniformis Chois.
अञ्जन	हरितभेषज	Hardwickia binata Roxb.
आटरुष	वृष, वासा	Adhatoda vasica Nees.
आदार	पूतोक, ऊतोक, भूस्तृण,	Cymbopogon martini (Roxb) Wats.
आम्र		Mangifera indica Linn.
आरग्वध	वधक, बधक, बाधक, राजवृक्ष, व्याधिघात, शम्याक, वाधातक	Cassia fistula Linn.
आर्द्रक	शृङ्गवेर, शुण्ठी, महौषध	Zingiber officinale Roscoe.
आवय	सर्षप, तीक्ष्णतैल, नीविभार्य, (१) बज-सिद्धार्थ, गौरसर्षप पिङ्ग (२) कृष्णसर्षप	Brassica campestris Var. sarson Prain.
आसुरो	राजिका, लोकेशी, सुरेश्वरी, वृद्धपुत्री, कटुका, कटुकपत्रा, रक्तवर्णा, किलासनाशन	B. juncea Linn. B. nigra Linn.
इक्षु		Saccharum officinarum Linn.
इङ्गिड		
इङ्गुदी		Balanites aegyptiaca (Linn) Delile.
इज्जल		Barringtonia acutangula (Linn) Gaertn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
इत्कट		Sesbania bispinosa (Jacq) Fawcett & Rendle.
उच्छुष्मा	कपिकच्छू	Mucuna pruriens DC.
उत्तानपर्णा	सुभगा, देवजूता, सहस्वती, पाटा, सहमाना, सहीयसी	Cissampelos pariera Linn.
उदुम्बर	फलवृक्ष, महावृक्ष, ऊर्जावान्, उदोजस, भद्र	Ficus glomerata Linn.
उपवाका		Wrightia tomentosa Roem. & Schult
उपोदकी		Basella rubra Linn
उर्वारु	एर्वारु, कर्कटिका	Cucumis utilissimus Roxb.
उल		Skimmia laureola Sieb & Zucc. ex Walp
उशाना		
उशीर	नलद, वोरिण, वीरण	Vetiveria zizanioides (Linn) Nash.
ऊर्जयन्ती		
ऋतावरी	बृहत्पलाशा, सुभगा, वर्षवृद्ध	
ऋद्धि		habenaria sp.
ऋषभ		Microstylis wallichii Lindl.
एरका		Typha elephantina Roxb.
एरण्ड	ताजद्भङ्ग	Ricinis communis Linn.
एला	त्रुटि	Elettaria cardamomum Maton.
कच्छुरा		Fagonia cretica Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कटभी		Albizzia procera (Roxb) Benth.
कण्ट	कण्टकारी, कण्टाको, लघुकण्टकारी, व्याघ्री, व्याघ्रदन्ती, सिंही	Solanum xanthocarpum Schrad & Wendle.
कदम्ब	नीप	Anthocephalus cadamba Mi.
कदर		Acacia suma Buch. Ham.
कदली		Musa paradisiaca Linn.
कनक्नक	धत्तूर	Datura stramonium Linn.
कन्दली	शिलीन्ध्र	Crinum sp.
कपित्थक	दधित्थ	Feronia limonia (Linn) Swingle.
कमल	नलिन, पद्म, पुण्डरीक, पुष्कर, आण्डीक	Nelumbo nucifera Gaertn.
कम्पिल्लक	काम्पील	Mallotus philppinensis Muell Arg.
करंज		Pongamia pinnata (Linn.) Merr.
करवीर	स्रेकपर्ण	Nerium indicum Mill.
करीर		Capparis aphylla Roth.
कर्कटश	श्रृंगी	Pistacia integerrima Stew ex Brandis.
कर्कन्धु		Zizyphys nummularia W. H.
कर्पास		Gossypium herbaceum Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
कर्पूर		Cinnamomum camphora Nees & Eberm,
कलञ्ज	रक्तलशुन	
कलाय		Pisum sativum Linn.
कशेरुक		Scirpus kyssor Roxb.
काकजंघा		Peristrophe bicalyculata Nees.
काकवीर		
काकातनी	काकिणी, गुन्जा, कृष्णल	Abrus precatorius Linn.
काञ्चनार		Bauhinia variegata Linn.
काण्डीर		Ranunculus sceleratus Linn.
कान्दाविष	शार्ङ्गविष	Aconitum sp.
कारस्कर		Strychnos nuxvomica Linn
काश्मर्य		Gmelina arborea Linn.
काश	अश्ववार	Saccharum spontaneum Linn.
कुकुन्दर		Blumea lacera DC.
कुङ्कुम		Crocus sativus Linn
कुन्द		Jasminum multiflorum Andr.
कुमारी	बाला	Aloe vera Tourn ex Linn.
कुमुद	उत्पल	Nymphaea alba Linn.
कुरण्टक		Barleria prionitis Linn.
कुलत्थ	खलकुल	Dolichos biflorus Linn.
कुशर		Saccharum sp.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
कुसुम्भ	महारजन	Carthamus tinctorius Linn.
कुष्ठ	नघ, नघमार, नघारिष, तक्मनाशन, अमृतपुष्प, त्रायमाण, दुर्नाम	Saussurea lappa C. B. Clarke
कुस्तुम्बरु		Coriandrum sativum Linn.
कूष्माण्ड		Benincasa cerifera Sav.
क्रमुक	क्रमुक, अपस्कम्भ	
कृष्णा	इन्द्रवारुणी, गवादनी, इन्द्रवल्ली, इन्द्राणी	citrulus coloynthis Schrad.
कृष्णाजाजी		Nigella sativa. Linn.
केशी		
कोद्रव	उद्दालक (वनकोद्रव)	Paspalum scrobiculatum Linn.
कोल	कवल, कुवल, कवल, बदर	Zizyphus juJuba Lam.
कोशकारी		
कोशातकी	कोशबिला	Luffa acutangula Roxb.
क्षवक		Centipeda minima (Linn)A.Br.et Aschers.
खदिर	विबाध	Acacia catechu Willd.
खर्जूर		Phoenix sylvestris Roxb.
खल्व	निष्पाव	Dolichos lablab Linn.
गवेधुका		Coix lachryma-jobi Linn.
गुग्गुलु		Commiphora mukul (Hook ex Stocks) Engl.
गुन्द्र	पटेरक	Typha angustata Bory and Chaub.
गुवाक	पूग	Areca catechu Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
गृञ्जन		
गोधूम		Triticum aestivum Linn.
चक्रमर्दक		Cassia tora Linn
चणक	कृष्णचणक	Cicer arietinum Linn.
चन्दन	श्वेतचन्दन	Santalum album Linn.
चम्पक		Michelia campaka Linn.
चित्रक		Plunbago zeylanica Linn.
चित्रपर्णी	पृश्निपर्णी, कण्वजम्भनी, सहस्वती, सहमाना, अंशुमती	Uraria picta Desv.
चीपुद्रु	शीपुद्रु, सरल, श्रीवेष्टक	Pinus longifolia Roxb
चेतन्ती		
जङ्गिड	विष्कन्धदूषण	
जपा		Hibiscus rosa-sinensis Linn.
जम्बीर		Citrus limon (Linn) Burm. f.
जम्बू		Syzygium cumini (Linn) Skeels.
जयन्ती		Sesbania sesban (Linn) Merr.
जर्त्तिल		
जाती	मालती	Jasminum. grandiflorum Linn.
जातीफल		Myristica fragrans Houtt.
जीवन्ती		Leptadenia reticulata W. & A,
तगर		Valeriana wallichii DC.
तण्डुलीयक		Amaranthus spinosus Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर्याय		वैज्ञानिक नाम
तमाल		Garcinia morella Desr.
तलाशा	तालीश	Abies webbiana Linn.
ताम्बूल		Piper betle Linn.
ताल		Borassus flabellifer Linn.
तिनिश	रथबन्धुर, स्यन्दन, स्यन्दन, तुन्यु	Ougeinia dalbergioides Benth.
तिन्दुक		Diospyros embryopteris Pers.
तिल		Sesamum indicum Linn.
तिलक	प्रतिसर, स्वक्तय	Wendlandia exerta Dc.
तिल्वक		
तुलसी	सुरसा	Ocimum sanctum Linn.
तृष्टा	घुणजंभनी, विषातकी, परिवृत्ता, बाणापर्णी, शरपुंखा, विषा	Tephrosia purpurea (Linn) Pers.
त्रपुस		Cucumis sativus Linn.
त्रायमाणा		Gentiana kurroo Royle.
त्रिकण्टक	गोक्षुर, श्वदंष्ट्रा	Tribulus terrestris Linn.
दर्भ	(१ शतकाण्ड, सहस्रकाण्ड, सहस्रपर्ण, सहस्रवीर्य, दुश्च्यवन, वेदतृण, अच्छिद्रपर्ण सहमान, सहस्रवल्श, ग्रु, उग्रोषधि, सहस्य	Imperata cylindrica Beauv.
	(२) कुश, अमृततृण	Desmostachya bipinnata Stapf.
दाडिम		Punica granatum Linn.
दारु	देवदारु, कसाम्बु, भद्रदारु, पूतद्रु, पूतदारु	Cedrus deodara (Roxb.) Loud.
दारुहरिद्रा	पीतुदारु	Berberis aristata DC.
दूर्वा	अघद्विष्टा, अनन्ता, आषाढ़ा, सहमाना,	Cynodon dactylon (Linn) Pers.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
	सहस्रवीर्या, सहस्रकाण्ड, शतमूला, शतांकुरा, शपथयोपनी, देवजाता वीरुत्, शतपर्वा, शाद्व, अपाघा	
द्राक्षा	मृद्वीका	Vitis vinifera Linn.
धन्वन		Grewia tiliaefolia Vahl.
धव		Anogeissus latifolia Wall.
धातकी		Woodfordia fruticosa Kurz.
धूपतृण		Cymbopogon sp.
नड		Phragmites maxima Blatter & Mc Cann.
नलदी	केशी, केशानी, मांसी, वालदुच्छ	Nardostachys jatamansi DC.
नाकुली		Aristolochia indica Linn.
नागकेशर		Mesua ferrea Linn.
नारङ्ग	नालिङ्ग	Citrus reticulata Blanc.
नारिकेल		Cocos nucifera Linn.
नितत्नी	काकमाची, काचीमाची, केशबृंहणी केशवर्धनी, जीवी, चुपुणीका, देवी	Solanum nigrum Linn.
निम्ब	पिचुमन्द	Azadirachta indica A. juss.
निर्गुण्डी		Vitex negundo Linn.
नीलिका	नीली, असिक्नी, काला	Indigofera tinctoria Linn.
नीवार	आम्ब, नाम्ब	Hygroryza aristata Nees.
न्यग्रोध	वट	Ficus bengalensis Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
न्यस्तिका	सुभगंकरणी, सहस्रपर्णी, शंखपुष्पी बभ्रु, शुक्लपुष्पा, समुष्पला, संवननो	Convolvulus pluricaulis Chois.
पत्तूर		Alternanthera sessilis (Linn) R. Br.
पद्मक		Prunus cerasoides D. Don.
पनस		Artocarpus heterophyllus Lam.
परारिका		
परुषक	परुषवार, परुषाह्व	Grewia asiatica Linn.
पर्ण	पलाश, आह्व, किंशुक	Butea monosperma (Lam) Kuntze.
पर्पट		Fumaria indica Pugsley.
पलाण्डु		Allium cepa Linn.
पाकदूर्वा	शाण्डदूर्वा, क्याम्बू, मुस्ता, व्यल्कशा, कम्बू	Cyperus rotundus Linn.
पाटली		Schrebera swietenioides Roxb.
पारिभद्रिका		Erythrina indica Lam.
पालक्य		Spinacea oleracea Linn.
पिचुक		Hibiscus cancellatus Roxb.
पिण्डालुक		Dioscorea sp.
पिण्डीतक		Randia uliginosa DC.
पिप्पली	अतिविद्धभेषजी, क्षिप्तभेषजो, वातीकृतभेषजो	Piper longum Linn.
पीलु		Salvadora persica Linn.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
पीलुमती		Salvadora sp.
पुत्रजीवक		Putranjiva roxburghii Wall.
पुनर्नवा	वर्षाभू	Boerhaavia diffusa Linn.
पुन्नाग	तुङ्ग	Calophyllum inophyllum Linn.
प्राक्पुष्पा		Calotropis gigantia (Linn) R. Br. ex Ait.
प्राचीनकण्टक		Achyranthes aspera Linn.
प्रियङ्गु	फलवती	Callicarpa macrophylla Vahl.
प्रियाल		Buchanania lanzan. Spreng.
प्लक्ष	प्लक्षोदुम्बर, पिप्परी	Ficus lacor Buch-Ham.
बकुल	वकुल	Mimusops elengi Linn.
बन्धुजीवक	बन्धूक	Pentapetes phoenicea Linn.
बला	सहा, सहमाना, जीवला, वीर्यवती, विषदूषणी, नघारिषा, सहस्वती, अर्जुनपाकी, श्वेतपाकी,	Sida cordifolia Linn.
बल्वज		Pollinidium angustifoium Comb. Nov.
बाह्लिका		
बिम्बी		Coccinia indica W. & A.
बिल्व	श्रीफल	Aegle marmelos Corr.
बुर्बुर		Acacia arabica Willd.
बृहती	बृहत् कण्टकारिका	Solanum indicum Linn.
ब्रह्मसुवर्चला		

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
ब्राह्मी		Bacopa monnieri (Linn) Pennell.
भंङ्ग	भङ्गा	Cannabis sativa Linn.
भव्य		Dillinia indica Linn.
भूर्ज		Betula utilis D. Don.
भृङ्गराज	भृङ्गरक, रामा, अलाका, श्यामा, सरूपंकरणी	Eclipta alba Hassk.
मञ्जिष्ठा		Rubia cordifolia Linn.
मण्डूकपर्णी		Centella asiatica (Linn) Urban.
मदन	मादानक	Randia dumetorum Lam.
मदावती	अग्निखाता	
मदुघ	मधुक, यष्टीमधु, ज्येष्ठीमधु, मधुजाता, मधुयष्टिका, मधुला, मशकजम्भनी, मचकचातनी, मधूलिका, मध्वष्ठीला ऋतजात, ऋतावरी, क्लीतक	Glycyrrhiza glabra Linn.
मधुक्रोडा	वाराही, सूकरवालक	Dioscorea sp.
मधूक	मन्धुक	Madhuca indica J. F. Gmel.
मयूरशिखा	शिखण्डी	elephantopus scaber Linn.
मरिच		Piper nigrum Linn.
मल्लिका	मदयन्ती	Jasminum sambac Ait.
मसूप		
मसूर	मङ्गल्य	Lens culinaris Medic.
महाबला		Sida rhombifolia Linn.
मातुलुङ्ग		Citrus medica Linn.
माष		Phaseolus mungo Linn.
माषपर्णी	खलतुलपर्णी	Teramnus labialis Spreng.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
मुक्तिका		Jasminum sp.
मुद्ग		Phaseolus radiatus Linn.
मूर्वा		Marsdenia tenacissima W. & A.
मूलक		Raphanus sativus Linn.
मेषशृंगी		Gymnema sylvestre R. Br.
यव		Hordeum vulgare Linn.
यवाष		Alhagi camelorum Fisch.
रक्तचन्दन		Pterocerpus santalinus Linn. f.
रजनी	हरिद्रा, पीला	Curcuma longa Linn.
रज्जुदाल	निचुदार	Olax scandens Roxb.
राजमाष		Vigna cylindrica Skeels.
रामठ	हिंगु	Ferula foetida Regel.
रोहिणी		Soymida febrifuga A. Juss.
रोहितक	लोहितवृक्ष	Tecomella undulata (G. Don) Seem.
लकुच		Artocarpus lakoocha Roxb.
लवंग		Syzygium aromaticum (Linn) Merr & M. Perry.
लवणी		Cicca acida (Linn) Merrill.
लशुन		Alliun sativum Linn.
लाक्षा	सिलाची, घृताची, जतु, अरुन्धती	Laccifer lacca (Kerr)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
लिंगा		Bryonopsis laciniosa Linn.
लोध्र		Symplocos racemosa Roxb.
वचा		Acorus calamus Linn.
वञ्जुल	वेतस	Salix caprea Linn.
वन्दना		Loranthus longiflorus Desr.
वंश	वेणु, तेजन, सुषिर, दण्डन	Bambusa arundinacea Willd.
वरण	वराण, शमका, शमुक	Crataeva nurvala Buch-Ham.
वार्त्ताकु	श्वेतवृन्ताक	Solanum melongena Linn.
वास्तूक		Chenopodium album Linn.
विकङ्कत		Flacourtia indica Merr.
विडंग		Embelia ribes Burm. f.
विदारी		Puraria tuberosa DC.
विषाणका	सहस्रचक्षु, इन्द्राक्ष	Saussurea sp.
वीरतर		Dichrostachys cineria W. & A.
वेत्र		Calamus tenuis Roxb.
व्रीहि	शालि, षष्टिक	Oryza sativa Linn.
शण		Crotalaria juncea Linn.
शणफला		C. verrucosa Linn.
शतपुष्पा		Foeniculum vulgare Mill.
शतवार	हिरण्यशृंग, ऋषभ, दुर्णामघातन, शतावरी, बहुपुत्रिका, शतमूला, शतांकुरा	Asparagus racemosus Willd.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
शफक	शृंगाटक	Trapa bispinosa Roxb.
शमी		Prosopis spicigera Linn.
शंशप	शिंशपा	Dalbergia sissoo Roxb.
शर	भद्र मुञ्ज मुञ्ज, अरुस्राण, आस्रावभेष्ज	Saccharum munja Roxb.
शल्मलि	शिम्बल	Bombax ceiba Linn.
शाक		Tectona grandis Linn. f.
शाल	साल	Shorea robusta Gaertn.
शिग्रु		Moringa pterygo-sperma Gaertn.
शितीवार	सितीवार,	Celosea argentea Linn.
शिरीष	शीर्षपर्णी	Albizzia lebbeck Benth.
शीपाल	शेवल, शेवाल, शैवाल, अवका, शोबला, शीतिका	
शेफालिका		Nyctanthes arbor-tristis Linn.
शेलु	श्लेष्मातक	Cordia myxa Roxb.
शैलेय		Parmelia perlata Ach.
श्यामाक		Echinochloa frumentacea Linn.
संदंपुष्पा	सहस्रचक्षु	
सप्तपर्ण		Alstonia scholaris R. Br.
सर्ज	सर्जक, सर्जरस	Vateria indica Linn.
सर्पसुगन्धा		Rauwolfia serpentina Benth ex Kurz.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

	पर्याय	वैज्ञानिक नाम
सल्लकी		Boswella serrata Roxb.
सवंशा		Desmodium gageticum Dc.
सह		Sida sp.
सहदेवी	भेषजेश्वरी, सहस्रवीर्य, सप्तजित	"
सहदेव (वा)	शपथयोपनी, सहमाना, पुनः सरा, अरुन्धती, विश्वरूपा, सुभगा, जीवला	"
सारिवा		Hemidesmus indicus R. Br.
सिद्धेश्वर	सिध्रक	Lagerstroemia parviflora Roxb.
सुगन्धितेजन	सुगन्धिक, तेजनी, तुम्बुर, तुम्बुरु, तीक्ष्णवल्श	Zanthoxylum alatum Roxb.
सुवर्चला	सोवर्चला	
सोम		
स्पृक्का		Delphinium zalil Aitch & Hemsl.
स्योनाक	स्फूर्जक	Oroxylum indicum Vent.
हपुषा		Juniperus communis Linn.
हरिद्रु	हरिद्रव	Adina cordifolia Benth & Hook. f.
हरीतकी	पथ्या, अभया	Terminalia chebula Retz.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट २

ऋग्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ एवं उनके पर्याय

१ अक्ष
२ अतसी
३ अरटु
४ अवघ्नती
५ अश्वत्थ
६ अश्वावती
७ आञ्जन
८ आयती
९ आलक
१० उत्तानपर्णा
११ उदोजस
१२ उर्वारुक
१३ उलप
१४ ऊर्जयन्ती
१५ काकम्बीर
१६ किंशुक
१७ कुशर
१८ क्याम्बू
१९ खदिर
२० घृताची
२१ जलाषभेषज
२२ तेजन
२३ त्रायमाणा
२४ दर्भ
२५ दूर्वा
२६ नड
२७ परायती
२८ पर्ण
२९ पाकदूर्वा
३० पाकवलि
३१ पाठा
३२ पिप्पल
३३ पिंषती
३४ पुष्कर
३५ बल्वज
३६ बिभीतक
३७ बिल्व
३८ भङ्ग
३९ मधुला
४० मुञ्ज
४१ यव
४२ यवस
४३ रोपणाका
४४ लाक्षा
४५ लिबुजा
४६ लोध
४७ वंश
४८ विश्वभेषजी
४९ वीरण
५० वेणु
५१ वेतस
५२ शर
५३ शल्मलि
५४ शाकवलि
५५ शाद्
५६ शिग्रु
५७ शिंशपा
५८ शिलाची
५९ शीतिका
६० शीपाल
६१ सैर्य
६२ सोम
६३ सोमावती
६४ स्पन्दन
६५ स्वधिति
६६ हिरण्यपर्ण
६७ ह्लादिका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट ३

यजुर्वेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अपामार्ग
२ अर्क
३ अर्जुन
४ अलाबू
५ अवका
६ अश्वत्थ
७ अश्ववार
८ अश्वावती
९ आञ्जन
१० आम्ब
११ इक्षु
१२ उदुम्बर
१३ उदोजस
१४ उपवाका
१५ करीर
१६ कर्कन्धु
१७ कार्ष्मर्य
१८ कुवल
१९ कुश
२० कृष्णल
२१ क्रमुक
२२ खदिर
२३ खर्जूर
२४ खल्व
२५ गर्मुत्
२६ गवेधुका
२७ गुग्गुलु
२८ गोधूम
२९ घृताची
३० चणक
३१ चतुष्कोण वनस्पति
३२ जम्बीर
३३ जर्त्तिल
३४ तिल
३५ तिल्वक
३६ दर्भ
३७ दूर्वा
३८ नितत्नी
३९ नीवार
४० न्यग्रोध
४१ पर्ण
४२ पीतुदारु
४३ पुष्कर
४४ पूतद्रु
४५ पूतीक
४६ पियंगु
४७ प्लक्ष
४८ बदर
४९ बल्वज
५० बिभीतक
५१ बिल्व
५२ भूर्ज
५३ मधुला
५४ मध्वष्ठीला
५५ मन्धुक
५६ मसूर
५७ माष
५८ मुञ्ज
५९ मुद्ग
६० यव
६१ यवस
६२ यवाष
६३ रोहितक
६४ वंश
६५ वरण
६६ वर्षाहू
६७ वर्षाह्वा
६८ विकंकत
६९ वृष
७० वेणु
७१ वेतस
७२ व्रीहि
७३ शमी
७४ शर
७५ शल्मलि
७६ श्यामाक
७७ सहमाना
७८ सुगन्धितेजन
७९ सोम
८० सोमावती
८१ स्रेकपर्ण
८२ हिरण्यपर्ण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट ४

अथर्ववेद में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष
२ अघद्विष्टा
३ अजशृंगी
४ अजिर
५ अतसी
६ अतिविद्धभेषजी
७ अदृष्टदहनी
८ अपराजिता
९ अपस्कम्भ
१० अपामार्ग
११ अपाष्ठ
१२ अभिरोरुद
१३ अभ्रिखाता
१४ अमूला
१५ अरटु
१६ अराटकी
१७ अरुन्धती
१८ अरुस्राण
१९ अर्क
२० अर्जुन
२१ अलसाला
२२ अलाबू
२३ अवका
२४ अवालिप्स
२५ अश्मला
२६ अश्वत्थ
२७ अश्ववार
२८ अश्वावती
२९ असिक्नी
३० अस्तृत
३१ आघाट
३२ आञ्जन
३३ आण्डीक
३४ आलक
३५ आवयु
३६ आसुरी
३७ आस्रावभेषज
३८ इट
३९ इन्द्राणी
४० इषीका
४१ ईर्ष्याभेषज
४२ उग्रौषधि
४३ उच्छुष्मा
४४ उत्तानपर्णा
४५ उत्सक्तभेषज
४६ उदुम्बर
४७ उदोजस
४८ उन्नयन्ती
४९ उर्वारुक
५० उलप
५१ उर्जयन्ती
५२ ऋतजात
५३ ऋतावरी
५४ औक्षगन्धि
५५ कंकतदन्ती
५६ कनक्नक
५७ कपित्थक
५८ कब्रू
५९ कमल
६० कम्बला
६१ कर्कटश
६२ कर्कन्धु
६३ कर्करी
६४ कर्शफ
६५ कलमलि
६६ कान्दाविष
६७ किलासनाशन
६८ किलासभेषज
६९ कुमुद
७० कुवल
७१ कुष्ठ
७२ कूदी
७३ कृतव्यधनी
७४ केशदृंहणी
७५ केशवर्धनी
७६ केशी
७७ कोशबिला
७८ क्याम्बू

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

७९ ऋकोष्मा
८० क्लीबकरणी
८१ क्षिप्तभेषजी
८२ क्षुम्प
८३ क्षेत्रियनाशनी
८४ खदिर
८५ खल्व
८६ गुग्गुलु
८७ गोधूम
८८ चतुरंगुल
८९ चित्ति
९० चीपुद्रु (शीपुद्रु)
९१ चेतन्ती
९२ च्युकाकणी
९३ जंगिड
९४ जलाषभेषज
९५ जाल्य
९६ जीवन्त
९७ जीवन्ती
९८ जीवला
९९ तरुणक
१०० तलाश
१०१ तस्तुव
१०२ ताजद्भंग
१०३ ताबुव
१०४ तार्ष्टाघ
१०५ तिल
१०६ तीक्ष्णवल्श
१०७ तीक्ष्णशृंगी
१०८ तृष्टा (ष्टिका)
१०९ तृष्टाघ (घ्न)
११० तेजन
१११ तौदी
११२ तौविलिका
११३ त्रायमाणा
११४ त्रिवृत्
११५ दण्डन
११६ दर्भ
११७ दशवृक्ष
११८ दारुपत्रा
११९ दिप्सौषधि
१२० दुश्च्यवन
१२१ दूर्वा
१२२ देवमुनि
१२३ धव
१२४ नघारिषा
१२५ नड
१२६ नद्य
१२७ नद्यमार
१२८ नद्यारिष
१२९ नराची
१३० नरिष्टा
१३१ नलद
१३२ नलदी
१३३ नानारोगभेषज
१३४ नितत्नी
१३५ नीलागलसाला
१३६ नीविभार्य
१३७ न्यग्रोध
१३८ न्यस्तिका
१३९ परुषवार
१४० परुषाह्व
१४१ पर्ण
१४२ पर्णधि
१४३ पर्णा
१४४ पला
१४५ पलाश
१४६ पाटा
१४७ पिंग
१४८ पिप्पली
१४९ पीला
१५० पीलु
१५१ पुण्डरीक
१५२ पुनर्नवा
१५३ पुरुषभेषज
१५४ पुष्कर
१५५ पुष्कला
१५६ पुष्पा
१५७ पूतद्रु
१५८ पूतिरज्जु
१५९ पृश्निपर्णी
१६० पृषातक
१६१ पैद्व
१६२ प्रतिसर
१६३ प्रबन्धिनी
१६४ प्रमन्दनी
१६५ प्रेणी
१६६ प्लक्ष
१६७ बज
१६८ बभ्रु
१६९ बला
१७० बलासनाशिनी
१७१ बलासभेषज

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१७२ बल्वज	२०३ लिबुजा	२३४ व्याघ्री
१७३ बाह्लिका	२०४ लोहितवृक्ष	२३५ व्यालक
१७४ बिभीतक	२०५ वट	२३६ व्रीहि
१७५ बिम्ब	२०६ वधक	२३७ शंखपुष्पी
१७६ बिल्व	२०७ वंश	२३८ शण
१७७ बिस	२०८ वरण	२३९ शतकाण्ड
१७८ भंगा	२०९ वातीकृतभेषजी	२४० शतपर्वा
१७९ भद्र	२१० वातीकृतनाशनी	२४१ शतवार
१८० मण्डूकपर्णी	२११ वालदुच्छ	२४२ शतशाख
१८१ मदावती	२१२ विकंतक	२४३ शफक
१८२ मदुघ	२१३ वितन्त्री	२४४ शमक (का)
१८३ मधुक	२१४ विबाध	२४५ शमी
१८४ मधुजाता	२१५ विशफ	२४६ शंशप
१८५ मधुमती	२१६ विश्लिष्टभेषज	२४७ शर
१८६ मधुला	२१७ विश्वभेषजी	२४८ शलाज्जाला
१८७ मधूलक	२१८ विषदूषणी	२४९ शाण्डदूर्वा
१८८ मशकजंभनी	२१९ विषा	२५० शालूक
१८९ महावृक्ष	२२० विषाणका	२५१ शिखण्डी
१९० माष	२२१ विषातकी	२५२ शिंशपा
१९१ माषपर्णी	२२२ विस्कन्धदूषण	२५३ शिलाची
१९२ मुञ्ज	२२३ विहल्ह	२५४ शीतिका
१९३ मुलाली	२२४ विह्लल	२५५ शीपाल
१९४ यक्ष्मनाशिनी	२२५ वीरण	२५६ शेपहर्षणी
१९५ यव	२२६ वीरोदीक	२५७ शेव (वा) ल
१९६ रजनी	२२७ वृश्चिकजंभन	२५८ शोचि
१९७ रथबन्धुर	२२८ वृष्ण्यावती	२५९ श्यामा
१९८ रामा	२२९ वेणु	२६० श्यामाक
१९९ रोहिणी	२३० वेतस	२६१ सचीन
२०० रोहितक	२३१ वेदतृण	२६२ सदंफला,
२०१ रोपणाका	२३२ वेष्टन	२६३ समक्तभेषज
२०२ लाक्षा	२३३ व्यल्कशा	२६४ समुष्पला

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२६५ संवननी
२६६ संस्कन्दा
२६७ सरूपंकरणी
२६८ सह
२६९ सहदेवी
२७० सहमाना
२७१ सहस्रकाण्ड
२७२ सहस्रचक्षु
२७३ सहस्रपर्ण
२७४ सहस्रपर्णी
२७५ सहस्वती
२७६ सहसिनी
७७७ सहीयसी
२७८ सहस्य
२७९ साल
२८० सुभगंकरणी
२८१ सोम
२८२ सोमावती
२८३ स्रक्त्य
२८४ स्वधा
२८५ हरितभेषज
२८६ हारिद्रव
२८७ हिरण्यपुष्पी
२८८ ह्लादिका

परिशिष्ट ६

ब्राह्मणग्रन्थों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष
२ अतसी
३ अध्याण्डा
४ अपामार्ग
५ अर्क
६ अर्जुन
७ अवका
८ अश्वगन्धा
९ अश्वत्थ
१० अश्ववार
११ असिक्नी
१२ आञ्जन
१३ आदार
१४ आम्ब
१५ आम्र
१६ इल्य
१७ इषीका
१८ उदुम्बर
१९ उपवाका
२० उर्वारुक
२१ उशाना
२२ ऊतीक
२३ ऊर्जावान्
२४ एरण्ड
२५ करवीर
२६ करीर
२७ कर्कन्धु
२८ कवल
२९ काचकपुष्पी
३० कार्ष्मर्य
३१ काश
३२ कुश
३३ कृष्णल
३४ क्याम्बू
३५ क्रमुक
३६ खदिर
३७ गवेधुका
३८ गोधूम
३९ घृताची
४० चन्दन
४१ जर्त्तिल
४२ तिल
४३ तिल्वक
४४ दर्भ
४५ दूर्वा
४६ नलद
४७ नाकुली
४८ नाम्ब

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४९ निचुदार
५० नीवार
५१ न्यग्रोध
५२ पद्म
५३ पर्ण
५४ पर्वतभेषज
५५ पलाश
५६ पाकदूर्वा
५७ पीतदारु
५८ पुण्डरीक
५९ पुष्कर
६० पूतद्रु
६१ पूतीक
६२ पृश्निपर्णी
६३ प्रतोद
६४ प्रप्रोथ
६५ प्रियंगु
६६ प्लक्ष
६७ फलवती
६८ फाल्गुन
६९ बदर
७० बभ्रुतूल
७१ बल्वजं
७२ बिभीतक
७३ बिल्व
७४ बृहती
७५ ब्राह्मी
७६ भंगा
७७ भस्त्रास
७८ भूमिपाशक
७९ मञ्जिष्ठा
८० मण्डूकपर्णी
८१ मधुक
८२ मधुला
८३ मसूय
८४ महावृक्ष
८५ माष
८६ मुञ्ज
८७ यव
८८ यवस
८९ रजनी
९० रज्जुदाल
९१ रास्ना
९२ रोपणाका
९३ लिबुजा
९४ लोहिततूल
९५ वचा
९६ वंश
९७ वरण
९८ विकंकत
९९ विषा
१०० विष्णुक्रान्ता
१०१ वीरण
१०२ वृष
१०३ वेणु
१०४ वेतस
१०५ व्रीहि
१०६ शण
१०७ शतमूला
१०८ शतांकुरा
१०९ शमी
११० शर
१११ शल्मलि
११२ शात्
११३ शिरीष
११४ शीपाल
११५ शुक्लशात
११६ श्यामाक
११७ श्येनहृत
११८ सचा
११९ सर्पसुगन्धा
१२० सर्षप
१२१ सहदेवा
१२२ सहस्रवल्श
१२३ सुगन्धितेजन
१२४ सोम
१२५ स्थगर
१२६ स्रेकपर्ण
१२७ हरिद्रा
१२८ हरिद्रु
१२९ हिरण्यपर्ण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट ६

उपनिषदों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अक्ष
२ अगरु
३ अणु
४ अतसी
५ अमला
६ अर्क
७ अर्जुन
८ अश्वत्थ
९ असिक्नी
१० आमलक
११ आम्र
१२ उदुम्बर
१३ कुल्माष
१४ कोल
१५ खलकुल
१६ खल्व
१७ गन्धवृक्ष
१८ गोधूम
१९ तिल
२० न्यग्रोध
२१ पलाश
२२ पिप्पल
२३ पुण्डरोक
२४ मसूर
२५ महारजन
२६ मुञ्ज
२७ यव
२८ वरण
२९ व्रीहि
३० श्यामाक
३१ सर्षप

परिशिष्ट ७

कल्पसूत्रों में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ और उनके पर्याय

१ अकर्ण
२ अक्ष
३ अगरु
४ अघद्विष्टा
५ अच्छिद्रपत्र
६ अजशृंगी
७ अजीता
८ अणु
९ अतसी
१० अतिबला
११ अधः पुष्पी
१२ अध्याण्डा
१३ अनन्ता
१४ अन्धपुष्पिका
१५ अपरका
१६ अपराजिता
१७ अपाघा
१८ अपामार्ग
१९ अभया
२० अमक्रि
२१ अमृततृण
२२ अमृता
२३ अम्लिका
२४ अंशुमती
२५ अरणी
२६ अरलु
२७ अरिमेद
२८ अरिष्ट
२९ अर्क
३० अर्जुन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३१ अलषाला
३२ अलाका
३३ अलाबू
३४ अवका
३५ अशोक
३६ अश्मगन्धा
३७ अश्मन्तक
३८ अश्मयोक्त
३९ अश्वगन्धा
४० अश्वत्थ
४१ अश्ववार
४२ असन
४३ असिक्नी
४४ असिपत्र
४५ आकाशफेन
४६ आक्रतिलोष्ठ
४७ आखु
४८ आञ्जन
४९ आटरूष
५० आण्डीक
५१ आदार
५२ आमलक
५३ आम्र
५४ आरग्वध
५५ आलक
५६ आह्व
५७ इक्षु
५८ इङ्गिद
५९ इंगुदी
६० इन्द्रवल्ली
६१ इन्द्रवारुणी
६२ इन्द्राक्ष
६३ इषीका
६४ उच्छुष्मा
६५ उत्पल
६६ उदुम्बर
६७ उद्दालक
६८ उपवाका
६९ उपोदकी
७० उपोलव
७१ उमा
७२ उर्वारुक
७३ उल
७४ उलपं
७५ उशीर
७६ ऊर्ध्वफल
७७ एकक्लीतक
७८ एरका
७९ एरण्ड
८० एला
८१ ओजोमानी
८२ ककुच
८३ ककुभ
८४ कटभ
८५ कड्विन्दु
८६ कण्ट
८७ कण्टकी वृक्ष
८८ कण्टाकी
८९ कण्ट्रक
९० कदम्ब
९१ कदली
९२ कपित्थक
९३ कम्पिल्लक
९४ कम्बू
९५ करञ्ज
९६ करीर
९७ कर्कटिका
९८ कर्कन्धु
९९ कर्ण
१०० कर्णिकार
१०१ कर्पास
१०२ कर्पूर
१०३ कलञ्ज
१०४ कवल
१०५ कशेरुक
१०६ कसाम्बु
५०७ काकजंघा
१०८ काकमाची
१०९ काकातनी
११० काकिणी
१११ काकुत्था
११२ कापोती
११३ काम्पील
११४ कार्ष्मर्य
११५ कालक्लीतक
११६ काला
११७ काश
११८ किंशुक
११९ किरि
१२० कुकुस
१२१ कुङ्कुम
१२२ कुटक
१२३ कुद्रीची
१२४ कुन्द
१२५ कुमारी
१२६ कुमुद
१२७ कुरण्टक
१२८ कुलत्थ
१२९ कुश

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१३० कुषुम्भ
१३१ कुष्ठ
१३२ कूदी
१३३ कूष्माण्ड
१३४ कृतव्यधनी
१३५ कृमुक
१३६ कृष्णक
१३७ कृष्णल
१३८ कृष्णाजाजी
१३९ कृसर
१४० केर
१४१ केरु
१४२ केशानी
१४३ कोद्रव
१४४ कोविदार
१४५ कोशकारी
१४६ कोवीराल
१४७ कोशातकी
१४८ कोहक
१४९ क्याम्बू
१५० क्रमुक
१५१ क्लीतक
१५२ क्वल
१५३ क्षीरिणी
१५४ क्षुम्प
९५५ खर्जूर
२५६ खलकुल
१५७ खलतुलपर्णी
१५८ गर्मुत्
१५९ गर्ह्य
१६० गलावल
१६१ गवेधुका
१६२ गुग्गुलु
१६३ गौरसर्षप
१६४ गोधूम
१६५ गु
१६६ चक्रमर्दक
१६७ चक्राङ्किता
१६८ चणक
१६९ चतुरंगुल
१७० चन्दन
१७१ चम्पक
१७२ चित्ति
१७३ चित्रक
१७४ चुपुणोका
१७५ छत्राक
१७६ जङ्गिड
१७७ जपा
१७८ जम्बू
१७९ जयन्ती
१८० जर्त्तिल
१८१ जलाषभेषज
१८२ जाती
१८३ जातीफल
१४८ जीवन्ती
१८५ जीवी
१८६ ज्येष्ठीमधु
१८७ तगर
१८८ तण्डुलीयक
१८९ तमाल
१९० तलाशा
१९१ ताजद्भंग
१९२ ताम्बूल
१९३ तार्छ
१९४ तार्ष्टाघ
१९५ तिन्दुक
१९६ तिमिरकः
१९७ तिल
१९८ तिलक
१९९ तिल्वक
२०० तीक्ष्णतैल
२०१ तुन्य
२०२ तुम्बर
२०३ तुलसी
२०४ तूर्यन्ती
२०५ तृण
२०६ तृप
२०७ तृष्टा (ष्टिका)
२०८ तृष्टाघ (घ्न)
२०९ तेजनी
२१० त्रपुस
२११ त्रुटि
२१२ दधित्थ
२१३ दर्भ
२१४ दशपत्रा
२१५ दशवृक्ष
२१६ दाडिम
२१७ दारु
२१८ दारुहरिद्रा
२१९ दिविधुवक
२२० दुर्नाम
२२१ दूर्वा
२२२ देवदारु
२२३ देवी
२२४ द्राक्षा
२२५ द्रुघण (द्रुघ्नी)
२२६ धन्वन
२२७ धव
२२८ धूपतृण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२२९ नड
२३० नलद
२३१ नलिन
२३२ नागकेशर
२३३ नार्लिग
२३४ निम्ब
२३५ निर्गुण्डी
२३६ नीप
२३७ नीलिका
२३८ नीली
२३९ नीलोत्पल
२४० नीवार
२४१ न्यग्रोध
२४२ पटेरक
२४३ पथ्या
२४४ पद्म
२४५ पद्मक
२४६ पनस
२४७ परशु
२४८ पराचीन
२४९ परारिका
२५० परिव्याध
२५१ परुषक
२५२ पर्ण
२५३ पलाण्डु
२५४ पवाकस्ति
२५५ पाकदूर्वा
२५६ पाटा
२५७ पारिभद्रिका
२५८ पालक्य
२५९ पालेवत
२६० पाविका
२६१ पाशीमूष
२६२ पिचुमन्द
२६३ पिण्डालुक
२६४ पिण्डीतक
२६५ पिप्पल
२६६ पिप्पली
२६७ पीलु.
२६८ पुण्डरीक
२६९ पुत्रजीवक
२७० पुनर्नवा
२७१ पुन्नाग
२७२ पुष्कर
२७३ पुष्पा
२७४ पूग
२७५ पूतद्रु
२७६ पूतीक
२७७ पूतुदारु
२७८ पृश्निपर्णी
२७९ पृषातक
२८० पैद्व
२८१ प्रतिसर
२८२ प्रमन्दनी
२८३ प्राचीनकण्टक
२८४ प्रान्त
२८५ प्रायश्चित्त
२८६ प्रियंगु
२८७ प्रियाल
२८८ प्लक्षोदुम्बर
२८९ फलवृक्ष
२९० फाल्गुन
२९१ बदर
२९२ बधक
२९३ बन्धुजीवक
२९४ बन्धूक
२९५ बला
२९६ बल्वज
२९७ बहुप (पु) त्रिका
२९८ बाणापर्णी
२९९ बाधक
३०० बाला
३०१ बिभीतक
३०२ बिम्बी
३०३ बिल्व
३०४ बिस
३०५ बृहती
३०६ बृहत्कण्टकारिका
३०७ बृहद्दूर्वा
६०८ ब्रह्मवृक्ष
३०९ ब्रह्मसुवर्चला
३१० ब्राह्मी
६११ भंगा
३१२ भचुण्ड
३१३ भण्डी
३१४ भद्रदारुणा
३१५ भद्रमुञ्ज
३१६ भव्य
३१७ भांगा
३१८ भू
३१९ भूर्ज
३२० भूस्तृण
३२१ भृङ्गरक
३२२ भृंगराज
३२३ मङ्गल्य
३२४ मचकचातनी
३२५ मञ्जिष्ठा
३२६ मण्डूकपर्णी

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३२७ मदन
३२८ मदयन्ती
३२९ मदुघ
३३० मधुक
३३१ मधुक्रोड
३३२ मधूक
३३३ मन्धुक
३३४ मयूरशिखा
३३५ मरिच
३३६ मला
३३७ मशकजंभनी
३३८ मसूर
३३९ मसूस्य
३४० महादेवी
३४१ महाबला
३४२ महारजन
३४३ महावृक्ष
३४४ महाव्रीहि
३४५ महौषध
३४६ मादानक
३४७ मांसी
३४८ मालती
३४९ माष
३५० मुकुन्दक
३५१ मुक्तिका
३५२ मुञ्ज
३५३ मुतव
३५४ मुद्ग
३५५ मुसल
३५६ मुस्ता
३५७ मूर्वा
३५८ मूलक
३५९ मूलशत
३६० मूलोदक
३६१ मृद्वीका
३६२ मेतिका
३६३ मेषश्रृंगी
३६४ मोचक
३६५ यव
३६६ यवस
३६७ रक्तचन्दन
३६८ रक्तशालि
३६९ रजनी
३७० रज्जुदाल
३७१ राजक्षपणी
३७२ राजमाष
३७३ राजवृक्ष
३७४ राजवृक्षपर्णी
३७५ राजिका
३७६ रामठ
३७७ रूप
३७८ रेष्य
३७९ रोहिणी
३८० रोहितक
३८१ रोपणाका
३८२ रौहिण
३८३ लक्ष्मण
३८४ लघुकण्टकारिका
३८५ लशुन
३८६ लाक्षा
३८७ लिंगा
३८८ लिबुजा
३८९ लोकेशी
३९० वंघ्र
३९१ वचा
३९२ वट
३९३ वपा
३९४ वंश
३९५ वरण
३९६ वर्षाभ्रू
३९७ वर्षाहू
३९८ वलीक
३९९ वल्मीक
४०० वसुक
४०१ वाघातक
४०२ वार्त्तांकु
४०३ वाशा
४०४ विकंकत
४०५ विदारी
४०६ विश्वामित्रतृण
४०७ विष्णुक्रान्ता
४०८ विस्रंसिका
४०९ वीरण
४१० वीरतर
४११ वृद्धधपुत्री
४१२ वृष
४१३ वेणु
४१४ वेतस
४१५ वेत्र
४१६ व्याघ्री
४१७ व्याघ्रपत्रक
४१८ व्याघ्रदन्ती
४१९ व्रीहि
४२० शंखपुष्पी
४२१ शण
४२२ शतकाण्ड
४२३ शतपत्र
४२४ शतपत्रा
४२५ शतपुष्पा

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४२६ शतवार
४२७ शतातृण
४२८ शतावरी
४२९ शतिंग
४३० शमक (का)
४३१ शमी
४३२ शमीपत्रिका
४३३ शमुक
४३४ शम्याक
४३५ शर
४३६ शल्मलि
४३७ शाक
४३८ शाम्यवाका
४३९ शार्ङ्गविष
४४० शाल
४४१ शालातृण
४४२ शालि
४४३ शालूक
४४४ शिग्रु
४४५ शितीवार (सितीवार)
४४६ शिम्बल
४४७ शिशपा
४४८ शिरीष
४४९ शीतपाकी
४५० शीतबुघ्न
४५१ शोपाल
४५२ शीर्य
४५३ शीर्षपर्णी
४५४ शुण्ठ (ण्ठी)
४५५ शुक्लपुष्पा
४५६ शूकतृण
४५७ शृंगाटक
४५८ शेवल
४५९ शेवाल
४६० शोप्यन्ती
४६१ श्मशानवृक्ष
४६२ श्यामा
४६३ श्यामाक
४६४ श्येनहृत
४६५ श्रीपर्ण
४६६ श्रीफल
४६७ श्रीवेष्टक
४६८ श्लेष्मातक
४६९ श्वदंष्ट्रा
४७० श्वेतक
४७१ श्वेतगिरिकर्णिका
४७२ श्वेतचन्दन
४७३ श्वेतवृन्ताक
४७४ श्वेता
४७५ सदंपुष्पा
४७६ सदाभद्रा
४७७ सप्तपर्ण (र्णी)
४७८ सर्ज
४७९ सर्जक
४८० सर्जरस
४८१ सर्षप
४८२ सवंशा
४८३ सहदेवी
४८४ सहमाना
४८५ सहस्रवीर्य
४८६ सहस्रातृण
४८७ सहा
४८८ सारिवा
४८९ सास्रस्क
४९० सिद्धार्थक
४९१ सिध्रक
४९२ शिपुन
४९३ सिंही
४९४ सिलृटकक
४९५ सुगन्धितेजन
४९६ सुनिषण्णक
४९७ सुमंगला
४९८ सुर (सूकर) वालक
४९९ सुरसा
५०० सुरेश्वरी
५०१ सुलक्ष्मणा
५०२ सुवर्चला
५०३ सुवर्णपुष्पो
५०४ सुषिर
५०५ सैर्य
५०६ सोम
५०७ सोवर्चल
५०८ स्थगर
५०९ स्फूर्जक
५१० स्यन्दन
५११ स्रक्त्य
५१२ स्रज्
५१३ हरिणी
५१४ हरितपुष्पा
५१५ हरिद्रा
५१६ हिंगु
५१७ हिरण्यपुष्पी
५१८ हिरण्यमूल
५१९ हका

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिशिष्ट ८

पाणिनीय अष्टाध्यायी तथा वार्त्तिक में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१ अक्ष
२ अणु
३ अतसी
४ अन्धंकरणी
५ अमृता
६ अरद्रु
७ अरुष्कर
८ अर्क
९ अर्जुन
१० अर्जुनपाकी
११ अवका
१२ अशोक
१३ अश्वत्थ
१४ आञ्जन
१५ आमलक
१६ आम्र
१७ आर्द्रक
१८ इक्षु
१९ इंगुदी
२० इत्कट
२१ इन्द्रवृक्ष
२२ उत्पल
२३ उदुम्बर
२४ उलप
२५ उशीर
२६ एरका
२७ कक्षतु
२८ कण्टकारिका
२९ कदर
३० कदली
३१ कन्दली
३२ कपित्थक
३३ कमल
३४ करवीर
३५ करीर
३६ कर्कन्धु
३७ कर्पास
३८ काण्डीर
३९ कारस्कर
४० कार्ष्य
४१ काला
४२ काश
४३ किंशुलुक
४४ कुमुद
४५ कुलत्थ
४६ कुश
४७ कुस्तुम्बुरु
४८ कोविदार
४९ कोशातकी
५० खड (डा)
५१ खदिर
५२ खर्जूर
५३ गभीका
५४ गवादनी
५५ जतु
५६ जम्बू
५७ तमाल
५८ ताम्बूल
५९ ताल
६० तिन्तिडीक
६१ तिल
६२ तिलक
६३ दर्भ
६४ दाडिम
६५ द्राक्षा
६६ धातकी
६७ धात्री
६८ नखरञ्जनी
६९ नड
७० नलद
७१ नारंग
७२ नीप
७३ नीली
७४ न्यग्रोध
७५ पनस
७६ पलाश
७७ पलितंकरणी
७८ पाटली
७९ पिचुक
८० पिप्पली
८१ पिप्पलीमूल
८२ पीतुदारु
८३ पीला
८४ पीलु

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

८५	पुण्डरीक	१०८	लाक्षा	१३१	शिंशपा
८६	पूग	१०९	वट	१३२	शिरीष
८७	प्लक्ष	११०	वंश	१३३	शीपाल
८८	बकुल	१११	वरण	१३४	शृंगी
८९	बदर	११२	वर्षाभू	१३५	शेफालिका
९०	बन्धूक	११३	वराण	१३६	शेव (वा) ल
९१	बल्वज	११४	विकंकत	१३७	शैलेय
९२	बिभीतक	११५	विडंग	१३८	शैवाल
९३	बिम्बी	११६	वृष	१३९	श्वेतपाकी
९४	बिल्व	११७	वेणु	१४०	षष्टिक
९५	बिस	११८	वेतस	१४१	सर्षप
९६	भंगा	११९	व्याधिघात	१४२	सल्लकी
९७	मालती	१२०	व्रीहि	१४३	सह
९८	माष	१२१	शण	१४४	सिध्रक
९९	मुञ्ज	१२२	शतपत्र	१४५	सोम
१००	मुद्ग	१२३	शतावरी	१४६	स्थगर
१०१	यव	१२४	शमक (का)	१४७	स्थूलंकरणी
१०२	यवक	१२५	शमी	१४८	स्पन्दक
१०३	यवाष	१२६	शर	१४९	हरिचन्दन
१०४	रजनी	१२७	शाल्मलि	१५०	हरिद्रु
१०५	रोहितक	१२८	शाल	१५१	हरिद्रुपर्णी
१०६	लवंग	१२९	शालि	१५२	हरीतकी
१०७	लवणी	१३०	शिग्रु		

विशेष रूप से वार्त्तिक में निर्दिष्ट

१	अजिनफला	६	एरका	११	जतु
२	अलाबू	७	कच्छुरा	१२	ताल
३	उमा	८	कन्दली	१३	तिल
४	ऋद्धि	९	काण्डपुष्पा	१४	नीली
५	एकपुष्पा	१०	गुग्गुलु	१५	न्यग्रो

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१६	पिण्डफला	२२	भस्त्रफला	२८	शणफला
१७	पिप्पली	२३	महारजन	२९	शतपुष्पा
१८	प्रत्यक्पुष्पा	२४	माष	३०	हरिद्रा
१९	प्राक्पुष्पा	२५	मिरिका	३१	हरीतकी
२०	प्रान्तपुष्पा	२६	यव		
२१	भंगा	२७	व्रीहि		

परिशिष्ट-९

पातञ्जल महाभाष्य में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१	अक्ष	२१	कर्पास	४१	चम्पक
२	अलाबू	२२	कलाय	४२	जतु
३	अशोक	२३	कशेरुक	४३	जम्बू
४	अश्वत्थ	२४	काकिणी	४४	तिमिरक
५	असिक्नी	२५	काण्डपुष्पा	४५	तिल
६	आमलक	२६	काण्डीर	४६	तुम्बुरु
७	आम्ब	२७	कारस्कर	४७	तेजन
८	आम्र	२८	काश	४८	त्रपुस
९	इक्षु	२९	किंशुक	४९	त्रिवृत्
१०	इंगुदी	३०	कुद्रीची	५०	दाडिम
११	इरिका	३१	कुमुद	५१	दूर्वा
१२	उत्पल	३२	कुरर	५२	दृन्भु
१३	उदुम्बर	३३	कुवल	५२	देवदारु
१४	उमा	३४	कुश	५३	द्राक्षा
१५	कक्षतु	३५	कोविदार	५४	दर्भ
१६	कंक	३६	कोशातकी	५५	दाडिम
१७	कदली	३७	खदिर	५६	नाम्ब
१८	कपित्थक	३८	गर्मुत्	५७	निष्पाव
१९	करवीर	३९	गवेधुका	५८	नीप
२०	कर्कन्धु	४०	चन्दन	५९	नील

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

६० न्यग्रोध
६१ पनस
६२ पळाण्डु
६३ पलाश
६४ पाटली
६५ पिप्पली
६६ पीलु
६७ पुष्कर
६८ पूतीक
६९ प्रियंगु
७० प्लक्ष
७१ बदर
७२ बल्वज
७३ बिभीतक
७४ बिम्बी
७५ बिल्व
७६ बिस
७७ बुर्बुर
७८ बृहती
७९ ब्राह्मी
८० मधुक
८१ मरिच
८२ मल्लिका
८३ माष
८४ मुञ्ज
८५ मुद्ग
८६ मूलक
८७ यव
८८ राजमाष
८९ वंश
९० वर्षाभू
९१ वेणु
९२ वेतस
९३ व्रीहि
९४ शण
९५ शमी
९६ शर
९७ शाक
९८ शाल
९९ शालि
१०० शिंशपा
१०१ शिरीष
१०२ शीर्य
१०३ शृंगवेर
१०४ शेफालिका
१०५ श्वेतफला
१०६ सप्तपर्ण
१०७ सरल
१०८ सर्षप
१०९ सुवर्चला

परिशिष्ट-१०

यास्ककृत निरुक्त में निर्दिष्ट वनस्पतियाँ

१ अक्ष
२ अपामार्ग
३ अरणी
४ अर्क
५ अर्जुन
६ असिक्नी
७ अहिच्छत्रक
८ उदुम्बर
९ उशीर
१० किंशुक
११ क्षुम्प
१२ चन्दन
१३ पुष्कर
१४ पृश्निपर्णी
१५ विभीतक
१६ बिल्व
१७ मुञ्ज
१८ यव
१९ लिबुजा
२० वंश
२१ वेतस
२२ शर
२३ शल्मलि
२४ शातु
२५ सोम
२६ हिरण्यपर्ण

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुण का इतिहास

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

द्रव्यगुण

मानवजीवन के लिए द्रव्य सर्वाधिक महत्व का पदार्थ है। द्रव्य में ही गुण और कर्म समवाय सम्बन्ध से स्थित होते हैं तथा सामान्य-विशेष के क्रम से इसका उपयोग किया जाता है। इस प्रकार षट्पदार्थ द्रव्य को ही केन्द्र बना कर स्थित हैं। जीवन के लिए हितकर-अहितकर द्रव्यों का ज्ञान प्रदान करना आयुर्वेद का एक विशिष्ट प्रयोजन है[1] क्योंकि आहार एवं औषध के रूप में प्रयुक्त होकर ये स्वास्थ्यरक्षण एवं विकारप्रशमन का कार्य करते हैं। चिकित्सा के चतुष्पाद में भी द्रव्य का विशिष्ट स्थान है[2] क्योंकि ज्ञानवान् एवं कुशल योद्धा जिस प्रकार अस्त्र-शस्त्र के बिना लक्ष्यवेध नहीं कर सकता उसी प्रकार दक्ष चिकित्सक भी बिना साधनभूत द्रव्य के अकिञ्चित्कर होता है। अतएव प्राचीन काल से द्रव्य, उसके गुणकर्म तथा विविध प्रयोगों के सम्बन्ध में अध्ययन-अनुसन्धान होता रहा है।

मौलिक सिद्धान्त

आधार—सृष्टि के अन्य पदार्थों की भाँति शरीर पाञ्चभौतिक है, द्रव्यों के आहरण तथा परिहार से क्रमशः शरीर की वृद्धि और ह्रास होता है अतः स्वभावतः यह अनुमान किया गया कि द्रव्य भी पाञ्चभौतिक हैं और इनमें जो गुण हैं वही शरीर में भी हैं। अतः प्रकृति-साधर्म्य के कारण विभिन्न द्रव्यों के प्रयोग से शरीर का साम्य, वृद्धि और क्षय होता है।[3]

पञ्चमहाभूतों के ही जैविक प्रतिनिधि हैं त्रिदोष जिनके द्वारा विविध शारीर व्यापारों का संचालन होता है। अतः उपर्युक्त गुणों के कारण ये त्रिदोष को भी प्रभावित करते हैं। रसों का संघटन महाभूतों के द्वन्द्व से होता है। विपाक भी महाभूतों के न्यूनाधिक्य का परिणाम है। वीर्य की भी वही स्थिति है चाहे उसे गुणात्मक मानें या द्रव्यात्मक। इस प्रकार आयुर्वेदीय द्रव्यगुणशास्त्र मूलतः पञ्चमहाभूतवाद पर अवलम्बित है।

---

१. च० सू० ३०।२१
२. च० सू० ९।३
३. सु० सू० ४१।१४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निर्धारण—रस, गुण, वीर्य, विपाक, प्रभाव का निर्धारण प्रत्यक्ष तथा अनुमान के द्वारा किया गया है। द्रव्यस्थित रस का परिज्ञान रसनेन्द्रिय से साक्षात् संपर्क के द्वारा करने का उपदेश है। इससे स्पष्ट है कि किसी द्रव्य को जीभ से चखकर विविध उत्पन्न लक्षणों के आधार पर रस का निर्धारण किया जाता था। आहारद्रव्यों में सर्वप्रथम छः रसों का निर्धारण हुआ होगा तथा तत्तद् रसों के सेवन से शरीर-मन पर जो प्रभाव दृष्टिगोचर हुआ उस आधार पर रसों के गुणकर्म निर्धारित किये गये।

विपाक का निर्धारण प्रकृति-पर्यवेक्षण तथा कर्म-परीक्षण के आधार पर किया गया। प्रकृति में यह देखा जाता है कि अग्नि (ताप) के कारण द्रव्य के रस एवं गुण में परिवर्त्तन हो जाता है। उदाहरणार्थ, आम का फल बाल्यकाल में कषाय, तारुण्य में अम्ल, प्रौढ़ता में मधुराम्ल तथा पक्व होनेपर मधुर हो जाता है। इसी प्रकार चावल पकाने पर उसका माधुर्य अतिशयित एवं अभिव्यक्त हो जाता है। इन बाह्य प्राकृतिक पदार्थगत प्रक्रियाओं को देखने से अनुमान किया गया कि मानव-शरीर में भी आहृत द्रव्यों का रस जाठराग्नि के द्वारा पक्व होने पर परिवर्तित या अभिव्यक्त हो जाता है। इसी परिणाम को विपाक कहा गया। अस्थायी त्रिविध अवस्थापाक (प्रपाक) से पार्थक्य प्रदर्शिति करने के लिए, इसे 'विपाक' संज्ञा दी गई क्योंकि इसका स्वरूप अन्तिम एवं स्थायी होता है जिससे शरीर के दोष-धातु-मल प्रभावित होते हैं। ऐसा लगता है कि सुश्रुत सम्भवतः विपाक से जाठराग्निजन्य पाक का भी ग्रहण करते थे।[1] रस के समान विपाक का ज्ञान भी आहारद्रव्यों से ही प्रारम्भ हुआ होगा। इसके अतिरिक्त, शारीरिक प्रभाव को देखकर भी विपाक का निर्धारण किया गया। उदाहरण के लिए, पिप्पली का रस कटु है किन्तु यह वृष्य एवं रसायन कर्म करती है। इस आधार पर यह विमर्श किया गया कि कटुरस तो अवृष्य और धातुक्षपण है किन्तु इसके विपरीत कर्म को देखने से ऐसा अनुमान होता है कि उसका रस अवश्य ही (जाठराग्नि द्वारा) परिवर्त्तित होकर मधुर हो जाता है जिससे ये कर्म होते हैं। अतएव पिप्पली का विपाक मधुर निर्धारित किया गया। चरक ने विपाक त्रिविध (मधुर, अम्ल और कटु) कहा किन्तु द्रव्य के सभी कर्मों का पर्यवसान बृंहण या लंधन में होने के कारण विपाक भी दो (गुरु और लघु) माने गये जैसा कि सुश्रुत का कथन है। चरक ने 'विपाकः कर्मनिष्ठया' (च० सू० २६।६३) के द्वारा तथा सुश्रुत ने विपाक-प्राधान्यनिरूपण (सु० सू० ४०।८) के प्रसंग में यद्यपि विपाक के स्वरूप का संकेतमात्र किया है तथापि वाग्भट ने ही सर्वप्रथम विपाक का लक्षण निर्धारित किया जो अद्यावधि प्रचलित है[2]।

---

१. प्रियव्रतशर्मा : विपाक का स्वरूप, सचित्र आयुर्वेद, १९६९   २. अ०हृ०सू० ९।२०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषधद्रव्यों का प्रयोग करने पर शरीर-मन पर स्पष्टतः उनका कर्म दृष्टिगोचर होता है। इस कर्म के लिए कारणभूत जो शक्ति द्रव्य में निहित होती है उसे 'वीर्य' संज्ञा दी गई। यह निष्कर्ष अन्वय-व्यतिरेक के आधार पर निकाला गया।[1] ऐसा देखा गया कि इस शक्ति के रहने पर ही कर्म होता है और इसके नष्ट हो जाने पर कर्म नहीं होता। द्रव्य के किसी विशिष्ट अंग में वह शक्ति निहित होने से उसीका प्रयोग होता है तथा द्रव्य जीर्ण होने पर या सड़-गल जाने पर निर्वीर्य होने के कारण निष्क्रिय हो जाता है।

शक्तिरूप वीर्य का स्वरूप गुणात्मक है, यह द्रव्य के सारभाग में रहता है और विविध कर्मों का सम्पादन करता है। इस आधार पर यद्यपि वीर्य के गुणात्मक, द्रव्यात्मक और कर्मात्मक स्वरूप का प्रतिपादन किया गया है तथापि वस्तुतः यह गुणात्मक ही है। बीस गुर्वादि गुणों में जो शक्तिसम्पन्न और कार्मुक होते हैं वही वीर्य की कोटि में पहुँच पाते हैं। इन बीस गुणों में आठ गुण इस प्रकार के माने गये हैं जिन्हें वीर्य कहा गया है। सुश्रुत और नागार्जुन ने आगे चलकर कर्मण्य गुणों की संख्या दस कर दी। इन सबका समाहार कर शीत और उष्ण दो वीर्य माने गये जो ब्राह्मणकालीन अग्नीषोमीय सिद्धान्त पर आधारित हैं। त्रिदोषवाद की दृष्टि से अग्नि पित्त तथा सोम कफ का प्रतिनिधि है (वायु योगवाह होने के कारण दोनों का गुण अवस्थानुसार धारण करता है)। चरक ने यद्यपि शक्तिमात्र को वीर्य कहा तथापि अष्टविध तथा द्विविध वीर्य का वर्णन कर उनको भी स्वीकृत किया। इसके अतिरिक्त चरक ने षट्कर्म (च० सू० २२।४) तथा रससंख्या-विमर्श (च० सू० २६।८) के सन्दर्भ में गुरु-लघु, शीत-उष्ण, तथा स्निग्ध-रूक्ष इन छः वीर्यों की स्थापना कर षड्विधवीर्यवाद का भी संकेत किया है जिसका स्पष्ट उल्लेख वाग्भट ने अष्टांग-संग्रह (सू० १७।९-१०) में किया है।

चरक के शक्तिमात्रवीर्यवाद का मीमांसकों के शक्तिवाद से घनिष्ठ सम्बन्ध है। यह स्मरणीय है कि मीमांसा शक्ति को एक पृथक् पदार्थ के रूप में मान्यता देती है।

जिन कर्मों की व्याख्या न की जा सकी उनमें प्रभाव को आधार बनाया गया। चिन्त्य शक्ति को वीर्य तथा अचिन्त्य शक्ति को प्रभाव कहा गया। शारीरज्ञान एवं विकृतिविज्ञान विशद न होने के कारण विशिष्ट व्याधियों में द्रव्यों की कर्मप्रक्रिया की व्याख्या न की जा सकी। ऐसे द्रव्यों को व्याधिप्रत्यनीक कहा गया और ऐसा कर्म प्रभावजन्य माना गया यथा अर्जुन की हृद्यता, शिरीष की विषघ्नता, खदिर की कुष्ठघ्नता आदि। जैसे दो पुरुषों में कर्मसादृश्य होने पर भी फलविशेष की उपलब्धि

१. च० सू० २६।६२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

होने पर अदृष्ट पुनर्भव की कल्पना की गई वैसे ही दो समान द्रव्यों में कर्म का अन्तर दृष्टिगत होने पर विशिष्ट द्रव्य में स्थित अचिन्त्य कर्म प्रभावजन्य माना गया यद्यपि 'द्रव्यस्वभाव' के रूप में प्रभाव द्रव्य के स्वाभाविक संघटनवैशिष्ट्य का भी बोधक हो सकता है। उस काल में रसायनशास्त्र का विकास न होने के कारण द्रव्य के कार्यकारी अंश का परिज्ञान न होना स्वाभाविक भी था। चरक ने प्रभाव को अचिन्त्य (प्रभावोऽचिन्त्य उच्यते—च० सू० २६।६७) कह कर अपनी सीमा स्पष्ट रूप से व्यक्त कर दी किन्तु सुश्रुत ने हेतु से विरत होकर शास्त्र एवं परम्परा में अन्ध श्रद्धा रखने का जो उपदेश किया वह भविष्य के लिए अतीव हानिकर सिद्ध हुआ यद्यपि परवर्त्ती कुछ आचार्यों ने ऐसे तथ्यों की व्याख्या का प्रयत्न किया है। यह स्मरणीय है कि सुश्रुत ने प्रभाव का पृथक् वर्णन न कर वीर्य के अन्तर्गत ही प्रभावजन्य कर्मों का भी उल्लेख किया है[1]। वस्तुतः वैज्ञानिक दृष्टि से वीर्य और प्रभाव में चिन्त्य-अचिन्त्य का भेद न होकर सामान्य-विशिष्ट का भेद है। सामान्य कर्म वीर्यजन्य तथा विशिष्ट कर्म प्रभावजन्य है। इस प्रकार प्रभाव में अचिन्त्यता पर जोर न देकर विशिष्टता को महत्त्व देना चाहिये। चरक का यह वैज्ञानिक दृष्टिकोण 'यत्कर्म विशिष्टं तत्प्रभावजम्' के द्वारा स्पष्टतः उद्घोषित है। यह सही है कि विशिष्ट कर्म की प्रक्रिया अचिन्त्य रही है किन्तु मध्यकालीन टीकाकारों ने विशिष्टता को दबा कर अचिन्त्यता को ही अधिक उछाला। 'शक्तिर्द्विविधा चिन्त्याचिन्त्यभेदेन, चिन्त्या शक्तिः वीर्यम्, अचिन्त्या शक्तिः प्रभावः' के बदले 'शक्तिर्द्विविधा सामान्यविशिष्टभेदेन, सामान्या शक्तिः वीर्यम्, विशिष्टा शक्तिः प्रभावः' कहना आर्ष विचारधारा के अधिक निकट होगा।

कर्म के प्रसंग में 'संयोगे च विभागे च कारणं' (च० सू० १।५२) तथा 'कर्म चेष्टितमुच्यते' (च० सू० १।४९) ये दो लक्षण कर्म के दिये गये हैं। पहला लक्षण द्रव्यक्रिया (Drug action) तथा दूसरा लक्षण धातु-प्रतिक्रिया (Tissue response) का द्योतक है। ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं।

मनुष्य ने पार्श्ववर्ती पशु-पक्षियों द्वारा औषधों का ज्ञान प्राप्त किया। अनेक वनस्पतियों के पत्र, कन्द, मूल फल आदि का तो वह आहाररूप में स्वयं ग्रहण कर अनुभव करता था, साथ-साथ पशु जिन वनस्पतियों का ग्रहण करते थे उनके प्रभाव का भी पर्यवेक्षण किया जाता था। रुग्ण होने पर पशु-पक्षी एक विशेष प्रकार की वनस्पति खाकर नीरोग हो जाते थे। ऐसे द्रव्यों का मनुष्य भी अपने ऊपर प्रयोग करने लगा होगा। चरक ने जिन स्तन्यजनन ओषधियों की गणना की है वे पशु और मनुष्य दोनों में समान रूप से कार्यकर हैं। सम्भवतः इन तृणों का पशुओं में

१. प्रियव्रतशर्माः प्रभाव की अचिन्त्यता चिन्तनीय, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

स्तन्यजनन कर्म देखकर मनुष्यों में प्रयोग प्रारम्भ हुआ होगा इसमें तनिक भी सन्देह नहीं।[1] अथर्ववेद में यह लिखा है कि जितनी ओषधियां चर कर गायें, भेंड़े और बकरियां स्वस्थ रहती हैं वे सभी तुम्हारा कल्याण करें। इसके अतिरिक्त, अनेक ओषधियों के नाम पशु-पक्षियों के आधार पर रक्खे गये हैं। इस प्रायोगिक कार्य में रूपसाधर्म्य का सिद्धान्त भी सहायक हुआ होगा यथा लाक्षा का रक्तस्राव में, हरिद्रा का कामला में इत्यादि। वैदिक काल में अनेक ओषधीय कर्मों का निर्धारण प्रयोग के द्वारा हो चुका था। अथर्ववेद में ऐसे अनेक कर्मों और प्रयोगों का उल्लेख मिलता है।[2]

प्रकृति का कार्यकलाप स्वतः होता रहता है वह किसी पूर्वनिर्धारित नियम की प्रतीक्षा नहीं करता। नियमों का निर्धारण बाद में इन कर्मों की व्याख्या के लिए होता है। पके हुए फल न जाने कब से पेड़ से टपकते रहे हैं किन्तु न्यूटन ने गुरुत्वाकर्षण का नियम बाद में ही निर्धारित किया। प्रयोग पहले होते हैं, सिद्धान्त बाद में बनते हैं यही स्वाभाविक प्रक्रिया है। इसी प्रकार ओषधों का प्रयोग परम्परा से चला आ रहा होगा जिसकी व्याख्या के लिए रस-गुण-वीर्य-विपाक का सिद्धान्त निर्धारित हुआ।

षट् या सात पदार्थ, पञ्चमहाभूत, रस, गुण, शक्ति, विपाक, स्वभाव आदि का भारतीय दर्शनों में भी पर्याप्त विवेचन किया गया है। ऐसा प्रतीत होता है कि वैद्यों और दार्शनिकों के पारस्परिक सहयोग से एक ओर आयुर्वेद के मौलिक सिद्धांतों का विकास हुआ और दूसरी ओर दर्शनों की सैद्धान्तिक विचारधारा की सम्पुष्टि व्यावहारिक धरातल पर हुई। आयुर्वेद प्रत्यक्षसाध्यता के कारण जैसे वेद के प्रामाण्य में सहायक बना सम्भवतः उसी प्रकार समस्त दर्शनों का भी। इस प्रकार आयुर्वेद दर्शनों पर आश्रित न होकर दोनों अन्योन्याश्रित हैं किंवा वैदिक एवं दार्शनिक सिद्धातों की स्थापना एवं विकास में आयुर्वेद ने सबल अवलम्ब प्रदान किया।

द्रव्यों का यातायात

आयुष्य और अनायुष्य द्रव्यों के परिज्ञान से आयुर्वेद का आरम्भ होता है अतः द्रव्यों का कालनिर्णय एक कठिन कार्य है। संभवतः यह आयुर्वेद ही के समान अनादि है। किन्तु व्यावहारिक अनुभव के द्वारा नये-नये द्रव्यों का परिज्ञान होता गया जिसके कारण क्रमशः उपयोगी द्रव्यों की संख्या में वृद्धि होती गई। इसके

---

१. वीरणशालिषष्टिकेक्षुवालिकादर्भकुशकाशगुन्द्रेत्कटकत्तृणमूलानीति दशेमानि स्तन्यजननानि भवन्ति—च. सू. ४।२०

२. देखें प्रथम अध्याय, पृ. ३१–३६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अतिरिक्त, पारस्परिक संपर्क के कारण एक देश से दूसरे देश में द्रव्यों का आयात-निर्यात होता रहा है जिससे अन्य देशों में होने वाली ओषधियों का प्रवेश अन्यत्र हुआ जो कालक्रम से आत्मसात् कर ली गईं। भारत का संपर्क अन्य देशों से अत्यन्त प्राचीन काल से रहा है। असीरिया, बैबिलोन (बाबुल), मिस्र आदि देशों के साथ इसका व्यापारिक संपर्क चिरकाल से रहा है जिसके माध्यम से द्रव्यों का आदान-प्रदान होता रहा है। सुमेर और हड़प्पा का सीधा संपर्क २३०० ई० पू० से कहा जाता है। सिन्ध का बना सूती कपड़ा समुद्री मार्ग से बाबुल पहुँचता था। अथर्ववेद के 'तैमात, अलगी-विलगी, उरुगूला और ताबुव' शब्द भी बाबुली भाषा के कहे जाते हैं।[1] बावेरुजातक (३३५) से भी इसकी पुष्टि होती है। स्थल और जलमार्गों से द्रव्य एक देश से दूसरे देशों में जाते रहे हैं। मधुक और मरिच स्थलपथ से आते थे (काशिका ५।१।७७)। सुप्पारकजातक (४६३) से पता चलता है कि प्राचीन भारतीय नाविकों को एक ओर सुवर्णद्वीप। (मलयेशिया), रत्नद्वीप (लंका) और दूसरी ओर फारस की खाड़ी, लालसागर और भूमध्यसागर का पता था। अतः द्रव्यों के इतिहास के अध्ययन के लिए देश की प्राकृतिक संपदा के अतिरिक्त अन्य देशों के साथ संपर्क, वाणिज्य के केन्द्र एवं मार्ग, समय-समय पर विदेशियों का आक्रमण एवं प्रभुत्व आदि बातों पर भी विचार करना आवश्यक होता है। वाङ्मय इस ज्ञान का प्रमुख स्रोत है। इसमें सांस्कृतिक वाङ्मय, यात्रा-विवरण, राजाओं का रोजनामचा (जहाँगीरनामा आदि), राजवृत्त (आईन-ए-अकबरी आदि), अन्य देशों का इतिहास, वाणिज्यवृत्त, राजनीतिक इतिहास आदि प्रमुख हैं।

भारत में प्राचीनकाल में यूनानियों तथा शक-कुषाणों का संपर्क हुआ। गुप्तकाल में रोम के साथ व्यापार बढ़ा। मध्यकाल में अरब के व्यापारी सर्वत्र छा गये; उनके माध्यम से द्रव्य एक देश से दूसरे देश में जाने लगे। यह स्मरणीय है कि उनका संबन्ध एक ओर युरोप और अफ्रीका तथा दूसरी ओर चीन और भारत से था। कुस्तुनतुनिया एक समय में विश्व का प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब, चीन, मध्य एशिया और भारत के व्यापारी परस्पर मिलते थे और द्रव्यों का विनिमय करते थे। प्राचीनकाल में बाल्हीक भी ऐसा ही केन्द्र था।

मध्यकाल में तुर्कों, अफगानों और मंगोलों का भारत पर आधिपत्य भी एक महत्त्वपूर्ण घटना है। इनके साथ अनेक ऐसे द्रव्य यहाँ प्रसिद्ध हुये जो पहले अज्ञात थे। वे अपने साथ अरब के देशों से हकीम भी लाये जिनके संपर्क से तत्कालीन चिकित्साविधियाँ भी प्रभावित हुईं। यह स्वाभाविक है कि विजेता जिन द्रव्यों का

---

१. मोतीचन्द्र : सार्थवाह, पृ० ३१, ४३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यवहार करते हैं उनकी प्रजा भी उनका अनुसरण करने लगते हैं। जो पद्धति राजा को प्रिय होती है उसका प्रचार आसानी से हो जाता है। उसी प्रकार आधुनिक काल में पुर्तगाली, फ्रांसीसी, डच और अंगरेजों का आगमन एक विशिष्ट घटना है। इसी समय कोलम्बस ने अमेरिका की खोज की और इसके बाद वहाँ के अनेक द्रव्य जो अब तक बाहर अज्ञात थे, प्रविष्ट हो गये।

बौद्ध जातकों के अनुसार पश्चिमी समुद्रतट पर भरुकच्छ, सुप्पारक तथा सोवीर और पूर्वी समुद्रतट पर करम्बिय, गंभीर और सेरिव मुख्य बन्दरगाह थे जहाँ से जलमार्ग द्वारा वस्तुओं का आयात-निर्यात होता था। अन्तर्देशीय और विदेशी व्यापार में चन्दन का विशिष्ट स्थान था। अगुरु, तगर तथा कालीयक की भी माँग थी। सिंहल और दूसरे देशों से नानाविध रत्न आते थे यथा नीलम, ज्योतिरस, सूर्यकांत, चन्द्रकांत, माणिक्य, वैडूर्य, हीरक और यशब आदि। हाथीदाँत भी प्रचलित था। महाभारत (२।२७।२५-२६) के अनुसार दक्षिणसागर के द्वीपों से चन्दन अगुरु, रत्नमुक्ता, स्वर्ण, रजत, हीरक और प्रवाल आते थे। इनमें से चन्दन, अगुरु, स्वर्ण और रजत तो संभवतः वर्मा और मध्य एशिया से आते थे; मोती और रत्न सिंहल से (सिंहल रत्नद्वीप कहा गया है) और प्रवाल भूमध्यसागर से। हीरक, शायद बोर्नियों से आते थे। कपिश (काबुल) से शराब आती थी। उत्तरापथ का व्यापारिक मार्ग हैमवत मार्ग और दक्षिणापथ का दक्षिणपथ है। हैमवत मार्ग बलख से हिन्दुकुश होकर भारत आता था और दक्षिणपथ कौशाम्बी, उज्जयिनी और प्रतिष्ठान को जोड़ता था। दक्षिणापथ शंख, हीरक, रत्न, मोती और सोने के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था।

कौटिल्य अर्थशास्त्र में व्यापारिक वस्तुओं पर शुल्क का विधान है। इस प्रसंग में शंख, हीरक, मुक्ता, प्रवाल, रत्न, हरताल, मनःशिला, सिन्दूर, धातुएँ, चन्दन, अगुरु, कटुक, मद्य, हाथीदाँत, कपास, गंधद्रव्य, औषध, लवण, क्षार, तैल आदि का उल्लेख है जिससे इनके प्रचलित व्यापार का बोध होता है। कौटिल्य के अनुसार मौर्यकाल में रत्नों का व्यापार खूब चलता था। अनेक रत्न-उपरत्न देश के कोने-कोने से तथा अनेक विदेशों से आते थे। कीमती रत्न बलूचिस्तान के मूला दर्रा और सिंहल से आते थे। बिल्लौर विन्ध्यपर्वत और मलाबार से आता था। नीलम और जमुनिया लंका से आते थे। हीरे बरार, मध्यप्रदेश, अश्मक (गोलकुण्डा) और कलिंग से आते थे। अलसन्दक नामक प्रवाल सिकन्दरिया से आता था। मौर्य-युग में गन्धद्रव्यों की भी बड़ी माँग थी। चन्दन के अनेक प्रकार दक्षिण भारत, जावा, सुमात्रा, तिमोर और मलयएशिया (सुवर्णद्वीप) तथा आसाम से आते थे। अगुरु आसाम, मलयएशिया, हिन्दचीन और जावा से आता था।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कनिष्क का साम्राज्य उत्तर में पेशावर से लेकर बुखारा, समरकन्द और ताशकन्द तक फैला था। मर्व से खोतान और सारनाथ तक उसकी सीमा थी तथा वह सीर-दरिया से ओमान के समुद्र तक फैला था। उस युग में कुषाणों और रोमन-साम्राज्य का संबन्ध काफी दृढ़ हुआ। इस काल में हाथीदाँत, रेशमी कपड़े, रत्न, जड़ी-बूटियाँ, मसाले आदि रोम को जाने लगे और वहाँ से सोना भारत में आने लगा। दक्षिण भारत में कोलकइ, कावेरीपट्टनम्, मुचिरि आदि प्रमुख व्यापारिक केन्द्र थे जहाँ से समुद्री मार्ग खुलते थे। रोम में भारतीय मोती की बड़ी माँग थी। काली मिर्च, जटामांसी, दालचीनी, कूठ और इलायची अधिकतर अरब यात्री स्थलमार्ग से लाते थे। औषधद्रव्यों में इनके अतिरिक्त सोंठ, गुग्गुल, लवंग, हींग, अगुरु का स्थान था। नील, शक्कर और तिल का तेल भी जाता था। भारतीय नींबू, केले, आड़ू और जर्दालु खाने तथा औषध के काम में आते थे। हीरा, अकीक, स्फटिक, जमुनिया, वैडूर्य, नीलम, माणिक्य, पेरोजा आदि रत्नों की माँग रोम में बहुत थी। रोमन व्यापारी मालो से मुरा और लोहबान का निर्यात करते थे। अदन और मोजा लोहबान के व्यापार के बड़े केन्द्र थे। लोहबान यहाँ हद्रमौत (लोहबान का देश) से आता था। यहाँ तुरुष्क का व्यापार भी होता था। मोजा अरब व्यापारियों का मुख्य अड्डा था जहाँ से बोल आदि बाहर भेजे जाते थे। रोमन व्यापारी भारतीय माल के लिए अदन या सकोतरा जाते थे, जहाँ यूनानी, अरबी और भारतीय व्यापारियों से उनकी भेंट होती थी। फारस की खाड़ी के बन्दरगाहों में भारत से ताँबा, चन्दन, सागवान तथा शीशम की लकड़ियाँ आती थीं। भारतीय व्यापारी लालसागर होकर सिकन्दरिया तक पहुँचते थे और रोम साम्राज्य के यूनानी व्यापारी क्रमशः सीधे भारत तक आने लगे। बार्बरिकोम के बन्दरगाह से कुष्ठ, गुग्गुल, दारुहरिद्रा, जटामांसी, पिरोजा, लाजवर्द, नील आदि बाहर भेजे जाते थे।

भड़ोच (भृगुकच्छ) के बन्दरगाह से निर्यात होने वाले द्रव्यों में जटामांसी, कुष्ठ, गुग्गुलु, हाथीदाँत, अकीक, दारुहरिद्रा (रसाञ्जन), पीपल आदि प्रमुख थे। आयातित द्रव्यों में ताँबा, राँगा, सीसा, प्रवाल, पुखराज, तुरुष्क, संखिया, अञ्जन आदि मुख्य थे। भड़ोच सातवाहनों की राजधानी पैठन (प्रतिष्ठान) और दक्षिणापथ के प्रसिद्ध नगर तेर (तगर) से संबद्ध था जहाँ से दक्षिण का माल वहाँ पहुँचता था। सुपारा के अतिरिक्त, कल्याण का बन्दरगाह भी काम में आने लगा था। दक्षिण में केरल का बन्दरगाह मुजिरिस अत्यन्त प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। यहाँ रोमन और अरब जहाज लगे रहते थे। यहाँ से काली मिर्च, तेजपात, मोती, हाथीदाँत, जटामांसी, रत्न, कछुए की खोपड़ियाँ आदि बाहर जाती थीं और बाहर से सिंगरिफ़

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि आता था। कोयम्बटूर में वैडूर्य की खानें थीं। संभवतः चेरों (केरलीयों) के हाथ में काली मिर्च के व्यापार का एकाधिकार था, पाण्ड्यों के हाथ में मोती का और चोलों के हाथ में वैडूर्य का। पाण्ड्यों के राज्य में समुद्रतट पर एलानकोट (क्विलोन) और कोलकोई दो बन्दरगाह थे। रोमन और यूनानी व्यापारी पूर्वी समुद्रतट पर भी जाते थे जहाँ पाण्डिचेरी, कावेरीपट्टनम्, मसुलीपट्टन आदि बन्दरगाह थे। कलिंग में भी हीरे मिलते थे और वहाँ से तेजपात, जटामांसी और मोती आदि बाहर भेजे जाते थे। संभवतः यूनानी व्यापारी वहाँ जाते थे। टॉलिमी ने उन्नीस नगरों का नाम दिया है जिनमें तामलुक (ताम्रलिप्ति) और पाटलिपुत्र प्रमुख हैं। अरबों ने भारत से कपूर, हरड़, बहेड़ा, जायफल, नारियल, इमली, देवदारु-निर्यास, पान-सुपारी, शीतलचीनी, कालीयक शादि का भी निर्यात करना प्रारंभ कर दिया था। द्रवतुरुष्क, अंजन, मैनसिल और संखिया का आयात होता था। मूँगा भूमध्यसागर से, सीसा स्पेन से, ताँबा साइप्रस से, राँगा लुसिटानिया और गलेशिया से आता था। तक्कोल या कक्कोल (मलय प्रायद्वीप के पश्चिमी तट का एक स्थान) से बड़ी इलायची, लवंग और अगुरु का निर्यात होता था। तक्कोलम् नामक एक गाँव मद्रास के पास भी है जिससे 'श्रीकाकुलम्' बना है। सबसे अच्छा चन्दन मैकासार और तिमोर से और सर्वोत्तम अगुरु चम्पा और अनाम से आता था। गोशीर्षचन्दन मैकासिरी चन्दन है।

जैन वाङ्मय में व्यापार की वस्तुओं में केशर, अगर, चोआ, कस्तूरी, इङ्गुर शंख और नमक का मुख्यतः उल्लेख है। जैन साधु यात्रा में कुछ आहार-द्रव्य, औषधियाँ, मलहम-पट्टी साथ लेकर चलते थे। उस काल में चम्पा से ताम्रलिप्ति और वहाँ से सुवर्णद्वीप और कालियद्वीप (जंजीबार) तक जहाज बराबर चला करते थे। अनेक सुगन्धित द्रव्य, रत्न और सुवर्ण यहाँ आते थे और यहाँ से दालचीनी, मुरा, जटामांसी, अगर, तगर, नख, कस्तूरी, जायफल, जावित्री, कूठ आदि द्रव्य बाहर भेजे जाते थे। ईरान से भी व्यापारिक संबन्ध था। वहाँ शंख, चन्दन, अगर और रत्न भारत से जाते थे और ईरान मंजीठ, चाँदी, सोना, मोती और मूंगे भेजता था।

गुप्तयुग में चीन और भारत का संबन्ध और निकटतर हुआ जो सन् ६१ ई० में हान राजा मिंग के काल में स्थापित हुआ था। अधिक संख्या में भारतीय मलय-एशिया और हिन्दचीन भी जाने लगे। इस काल में भी भृगुकच्छ, सुपारा, कल्याण और ताम्रलिप्ति मुख्य बन्दरगाह थे। कॉसमस (छठी शती) लिखता है कि सिंहल उस समय व्यापार का प्रमुख केन्द्र था और समुद्री मार्ग में वह चीन और भारत की-

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मध्यस्थता करता था। कल्याण का बन्दरगाह तांबा, तीसी और एरण्ड के व्यापार के लिए प्रसिद्ध था तो सिन्ध के बन्दरगाह में कस्तूरी, एरण्ड और जटामांसी का व्यापार प्रमुख था। कॉसमस ने लवंगप्रदेश और चीन का भी उल्लेख किया है।

७वीं शती में चीन ने अपना समुद्री व्यापार बढ़ाया। इधर अरबों का भी प्रभुत्व बढ़ा, उन्होंने फारस की खाड़ी पर अधिकार कर लिया और भारत में भड़ोच तथा थाने पर धावा भी बोल दिया। नवीं शती तक अरब इतने प्रबल हो गये कि १४वीं शती तक लाल सागर से लेकर दक्षिण चीन के समुद्र तक इन्हीं का बोलबाला रहा। अरबी व्यापारी चीन तथा पूर्वी द्वीप समूह के स्थानों से सामान भारत के बन्दरगाहों पर लाते थे और वहाँ से पुनः युरोप आदि देशों में भेजते थे। सिन्ध पर अधिकार होने के बाद अरबों का व्यापार और बढ़ा। बसरा भारतीय व्यापार का केन्द्र बन गया। यहाँ से अरब जानेवाले द्रव्यों में प्रमुख थे—कपूर, लवंग, जायफल, बकम, चन्दन, कस्तूरी, कबाबचीनी, नारियल, हाथीदाँत, रत्न, कालीमिर्च, अगुरु, शंख, कुलंजन, दालचीनी, हर्रे, तूतिया, बेंता, सुपारी तथा अन्य जड़ी बूटियाँ और गन्धद्रव्य। बसरा से खजूर आता था। तांकिन में अगर, सीप, नमक, लोहा, सोना, चाँदी, इंगुर आदि; अनाम में कपूर, कस्तूरी, चन्दन, सीसा, रांगा आदि; कम्बुज में हाथी दांत, विविध अगुरु, डामर, सोंठ; मलयप्रायद्वीप में इलायची, अगर, विजयसार की गोंद; पूर्वी सुमात्रा में कच्छपपृष्ठ, कर्पूर, अगुरु, लवंग, चन्दन और इलायची; बोर्नियो में चार तरह के कपूर, कछुए की खोपड़ी; जावा में हाथीदाँत, मोती, कपूर, सौंफ, लवंग, इलायची, पीपल, मिर्च, सुपारी, गंधक, केसर; सिंहल में रत्न का व्यापार प्रमुख था। भारत में मलाबार के समुद्रतटीय व्यापार में निर्यात की सामग्री रत्न, शीशा, इलायची आदि अन्य गन्धद्रव्य तथा आयात के द्रव्यों में चन्दन, लवंग, कपूर रेवन्दचीनी, इलायची और अगुरु प्रमुख थे। गुजरात से नील, विजयसार की गोंद, हुरड़ अरब देशों को जाती थी। चोलमंडल से मोती, हाथीदाँत, मूँगा, शीशा, इलायची आदि द्रव्य बाहर जाते थे।[1]

१३वीं शती में वेनिस नगर विश्व का एक प्रधान व्यापारिक केन्द्र था। वहाँ का एक व्यापारी मार्को पोलो ने मध्य एशिया के राजा किबलई खाँ के आमन्त्रण पर मध्य एशिया, चीन और भारत के कुछ भागों का भ्रमण किया और १२९५ ई० में उसके एक मित्र ने उसके वृत्तान्त को लिपिबद्ध किया।[2] इस यात्राविवरण से तत्कालीन

१. मोतीचन्द्र : सार्थवाह (बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९५३) पृ० ६७-२११

२. The Travels of Morco Polo (The arion Press, New york)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

व्यापारिक स्थिति पर अच्छा प्रकाश पड़ता है अतः उसके कुछ संबद्ध अंश उद्धृत किये जा रहे हैं।

१. ऑर्मस (फारस) के बन्दरगाह पर भारत के सभी भागों से व्यापारी पहुँचते थे जो मसाले, औषधियाँ, रत्न, मोती, हाथियाँ आदि लाते थे। (पृ० ४१)

२. बसरा में संसार भर में सबसे अच्छे खजूर होते थे। भारत से जो मोती यूरोप को जाता था वह बसरा में बेधा जाता था। (पृ० २६)

३. सपर्गन में सर्वोत्तम खरबूजे होते थे। (पृ० ५२)

४. कैकन में सैन्धव लवण की पहाड़ियाँ हैं जो विश्वभर में सर्वोत्तम मानी जाती हैं। (पृ० ५३)

५. सक्खर से रेवन्दचीनी संसार के सभी भागों में भेजी जाती है। (पृ० ७६)

६. कनवलु (मध्य एशिया) नामक स्थान विश्व का एक प्रसिद्ध व्यापारिक केन्द्र था। (पृ० १५३)

७. कचानफु में अदरख, कुलिंजन और अनेक औषधियाँ होती हैं जो विश्व के अन्य भागों में अज्ञात हैं। (पृ० १७८)

८. तिब्बत में कस्तूरी और अनेक औषधियाँ होती हैं। (पृ० १८५)

९. कन-गिड नगर के बाद कपूर के जंगल हैं (पृ० २५२)

१०. चीन के समुद्र में अनेक द्वीप हैं जहाँ सुगन्धित वृक्ष, मसाले, औषधियाँ, अगुरु तथा पीपल और काली मिर्च होती हैं। (पृ० २६६)

११. जावा में पीपल, जायफल, कुलंजन, पालक, कबाबचीनी, लवंग, मसाले, और औषधद्रव्य होते हैं। (पृ० २७०)

१२. निकोबार द्वीप—श्वेत और रक्तचन्दन, नारियल, लवंग, बकम और औषधियाँ (पृ० २८०)

१३. सिंहल—सर्वोत्तम बकम, रत्न (पृ० २८२)

१४. मलाबार—पीपल, सोंठ, नारियल, कबाबचीनी (पृ० ३०५)

१५. गुजरात—नील, पीपल, सोंठ, कपास (पृ० ३०६)

१६. सकोतरा—अम्बर (पृ० ३११)

१७. मडागास्कर—अम्बर, लालचन्दन, हाथीदाँत (पृ० ३१२)

१८. जंजीबार—हाथीदाँत (पृ० ३१५)

मध्यकाल में अरब की बढ़ती शक्ति के कारण सिकन्दरिया पर यूरोपवासियों का प्रभुत्व प्रायः समाप्त हो गया और इसके विकल्प में कुस्तुनतुनिया चीनी और भारतीय मालों की मण्डी के रूप में उभरा। कुस्तुनतुनिया के पतन के बाद वेनिस व्यापारिक उत्कर्ष पर आया और वेनिस के व्यापारी विश्व भर में छा गये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मलाबार प्राचीन काल से एक प्रमुख बन्दरगाह रहा है। विशेषतः कालीकट मसालों, पीपल, सोंठ और अन्य भारतीय सामानों के व्यापार के लिए प्रसिद्ध रहा। पुर्तगाल से वास्को डि गामा नामक नाविक १४९८ ई० में कालीकट पहुँचा। वहाँ के राजा ने उपहारस्वरूप उसे बहुत-सा लोहबान और ५० थैलियाँ कस्तूरी की दीं। १५०५ ई० में इन लोगों ने कालीकट में एक किला बना लिया। भारत में फिरंगियों का यह प्रथम केन्द्र बना। धीरे-धीरे सैनिक शक्ति के सहारे पुर्तगालियों ने अरब व्यापारियों को वहाँ से खदेड़ दिया और समस्त व्यापार अपने हाथों में कर लिया। १५०६ ई० में इन लोगों ने सिंहल, मडागास्कर और सकोतरा की खोज की। इसके पूर्व १४९४ ई० में कोलम्बस अमेरिका की खोज कर चुका था जिससे अनेक नये द्रव्य विश्व भर में प्रचलित हुये। १५०० ई० में ब्राजिल की खोज हुई जहाँ से बकम (ब्राजिल वुड) यूरोप को भेजा जाने लगा। इसके पूर्व यह भारत से जाता था। १५१० ई० में पुर्तगालियों ने अपनी राजधानी गोवा में स्थापित कर ली। १५११ ई० में मलक्का पर आक्रमण किया और १५१५ ई० में वे चीन पहुँचे। १५६४ ई० में मोलक्कस पर अधिकार कर लिया। इस प्रकार सारा समुद्री व्यापार पुर्तगालियों के अधिकार में आ गया। वेस्पुच्ची का कथन है जब पुर्त्तगाली कालीकट पहुँचे उस समय वहाँ प्रभूत मात्रा में पीपल, दालचीनी, अदरख, सोंठ, लवंग, जायफल, जावित्री, कस्तूरी, जवाद, तुरुष्क, लोबान, सनाय, मस्तकी, धूप, बोल, सफेद और लालचन्दन, अगुरु, कपूर, अम्बर, लाह, अफीम, मुसब्बर और अनेक जड़ी बूटियाँ एकत्रित थीं। रत्नों में हीरा, माणिक्य और मुक्ता प्रमुख थे।

पुर्तगालियों की सफलता से प्रेरित होकर १५९४ ई० में डचों का आगमन हुआ। १५८० ई० में अंग्रेजों की योजना प्रारम्भ हुई। १६३३ ई० में फ्रांसीसी बेड़ा भी पहुँचा। अपनी कूटनीति से अंगरेजों ने अन्ततः भारत पर आधिपत्य स्थापित कर लिया।[1]

द्रव्यों का कालनिर्णय

द्रव्यों के कालनिर्धारण का आधार निम्नांकित रूप में व्यवस्थित किया जा सकता है :—

१. ऋग्वेद—ऋग्वेद में उल्लिखित द्रव्य[2] प्राचीनतम हैं। इनका अस्तित्व लगभग ४००० ई० पू० से है—यथा सोम आदि।

---

१. F. C. Danverse : The Portuguese in India (London, 1874)

२. पृ० ३७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२. **अथर्ववेद**—अथर्वविद में जिन द्रव्यों[1] का निर्देश है वे १००० ई० पू० से हैं—यथा अपराजिता आदि ।

३. **चरकसंहिता**—चरकसंहिता में निर्दिष्ट द्रव्य ई० पू० के हैं—यथा प्रियंगु आदि ।

४. **दृढबल तथा वाग्भट**—चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश तथा अष्टांगहृदय में निर्दिष्ट द्रव्य छठीं शती के पूर्व के हैं। विराहमिहिर की रचना (बृहत्संहिता) में निर्दिष्ट द्रव्य निश्चित रूप से इसकी पुष्टि करते हैं—यथा तुरुष्क आदि[2] ।

५. **वृन्दमाधव**—मध्यकाल का यह प्रथम चिकित्साग्रन्थ है। इसमें निर्दिष्ट द्रव्यों का अस्तित्व ९ वीं शती के पूर्व से होगा—यथा पारसीक यवानी आदि ।

६. **सोढल और शार्ङ्गधर**—१२-१३वीं शती के इनके ग्रन्थ मध्यकाल की प्रतिनिधि रचनायें हैं। मुसलमानों के साथ जो द्रव्य भारत में आये उनका उल्लेख इसमें हुआ है—यथा अहिफेन, आकारकरभ आदि ।

७. **भावप्रकाश**—१६वीं शती में मुगलों के उत्कर्ष के साथ-साथ युरोपवासियों का संपर्क भी हो चुका था। अतः इसमें निर्दिष्ट विशिष्ट द्रव्यों का संबन्ध इससे जोड़ना चाहिए—यथा चोपचीनी।

८. **योगरत्नाकर एवं शालिग्रामनिघण्टु**—१७वीं से १९वीं शती तक अंगरेज इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे अतः युरोपवासियों के साथ जो द्रव्य यहाँ आये वे पूर्णतः प्रचलित होकर निघण्टुओं में समाविष्ट हो गये—यथा तमाखु, पपीता आदि ।

कतिपय विशिष्ट द्रव्य

भारतवर्ष एक प्राचीनतम देश है जिसकी सीमा अद्यतन सीमा से बड़ी थी; आज के पड़ोसी देश कभी भारत के ही अङ्ग थे। इसके अतिरिक्त जल एवं स्थल मार्गों के द्वारा इसका संपर्क सुदूर देशों से था। प्राचीनकाल में मिस्र, असीरिया, बैबिलोन आदि जो सभ्यतासंपन्न देश थे उनसे भारत का व्यापारिक संपर्क था। अनेक भारतीय उन देशों में जाकर बस भी गये थे जिनके द्वारा इस देश के अनेक द्रव्य वहाँ प्रचलित हुये। तत्तद् भाषाओं में उनके नाम इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं।[3] इस संपर्क के माध्यम से अनेक द्रव्य अन्य देशों से यहाँ आयातित हुये।

---

१. पृ० ३८

2. P. V. Sharma : Common Plants of the 6th Cent. A. D. As Described in the Bṛhat Saṁhitā of Varāha Mihira (505–587 A. D.), Bulletin of Indian Institute of History of Medicine, Vol. VI, No. 1., PP. 8–27, January, 1976.

३. पूना से प्रकाशित शिवकोष की भूमिका में अनेक आयुर्वेदीय द्रव्यों के असीरियन नाम दिये गये हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विनिमय का यह क्रम स्वाभाविक, उपयोगी एवं आवश्यक होने के कारण निरन्तर चलता रहा जिसके फलस्वरूप अनेक भारतीय द्रव्य विदेशों में प्रविष्ट हुये और अनेक विदेशी द्रव्य भारत में आकर यहाँ की मिट्टी में घुल मिल गये। यहाँ तक कि आज यदि ऐसे द्रव्यों को विदेशी कहा जाय तो लोगों को आश्चर्य ही होगा। ऐतिहासिक दृष्टि से ऐसे अध्ययन का महत्त्व है अतः यहाँ कुछ महत्त्वपूर्ण द्रव्यों की चर्चा की जायगी।

वानस्पतिक द्रव्य

औषधवर्ग

१. **अकरकरा** (Anacyclus pyrethrum DC.—यह पौधा उत्तरी अफ्रीका का मूल निवासी है जहाँ से दक्षिणी युरोप में प्रविष्ट हुआ। मुख्यतः अलजीरिया में इसके मूलों का संग्रह कर बाहर भेजा जाता है।[1] भारत में यह मुसमलानों के साथ पहुँचा। मध्यकालीन ग्रन्थ सोढलकृत गदनिग्रह में 'आकल्लक' नाम से इसका प्रयोग सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है।[2] भावप्रकाश में इसका वर्णन 'आकारकरभ' नाम से दिया गया है। किसी ने 'आकुलकरा' भी लिखा है।

२. **अजमोदा** (Apium graveolens Linn.)—इसका उल्लेख चरक, सुश्रुत और वाग्भट तीनों ही संहिताओं में मिलता है। वाट के मत में इसके नाम पर संप्रति जो द्रव्य प्रचलित है वह युरोप का निवासी है और युरोपवासियों के साथ यहाँ आया। उन्हीं के उपयोग के लिए यह बागों में लगाया जाता रहा।[3] कण्डोल ने बलूचिस्तान तथा भारत के पार्वत्य प्रदेशों में भी इसका मूल स्थान माना है।[4] बृहत्त्रयी में उल्लेख होने से यह द्रव्य प्राचीन प्रतीत होता है।

३. **अयापान**—(Eupatorium ayapana Vent.)—यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। 'अयापान' ब्राजिल में प्रचलित संज्ञा है जो भारत में अपनाई गई।[5] संभवतः युरोपवासियों के साथ यह द्रव्य यहाँ आया। बंगाल में इसका विशेष प्रचलन था। वहाँ के कविराज और डॉक्टर इसका प्रयोग करते रहे। १९ वीं शती के आयुर्वेदविज्ञानम् (द्रव्यस्थान, आर्त्तवसंग्राहिवर्ग) में विशल्यकरणी नाम से इसका वर्णन है।

---

१. George Watt : A Dictionary of The Economic Products of India, Vol. I, P. 237
२. भाग १, पृ० २०८, ४९५ (चौखम्बा संस्करण, १९६८)
३. वाट : वही पृ० २७१
४. A. D. Candolle : Origin of Cultivated Plants, P. 89
५. वाट : भाग ३, पृ० २९३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४. **अहिफेन** (Papaver somniferum Linn.)—'अहिफेन' शब्द अरबी 'अफ्यून' का संस्कृत रूपान्तर है। १२ वीं शती के सोढलकृत गदनिग्रह (भाग १, पृ० २०८) में सर्वप्रथम दृष्टिगोचर होता है। निघण्टुओं में सर्वप्रथम धन्वन्तरिनिघण्टु में 'अफूक' नाम से इसका वर्णन किया गया है। संभवतः इसी समय मुसलमानों के साथ यह इस देश में आया और इसकी गुणकारिता के कारण वैद्यसमाज ने इसे पूर्णतः अपना लिया। वेदनास्थापन, निद्राजनन, स्तंभन आदि कर्मों में इसका विशेष प्रयोग होने लगा। यह भूमध्यसागर के निकटवर्ती प्रदेशों—स्पेन, अलजीरिया, सिसिली, ग्रीस और साइप्रस में स्वतः उत्पन्न होता है। इसकी खेती संभवतः युरोप या उत्तरी अमेरिका में प्रारंभ हुई होगी। ऐसा प्रतीत होता है कि पौधा पहले से ज्ञात था जो शाक के रूप में प्रयुक्त होता था और उसके फलनिर्यास (अहिफेन) का ज्ञान बाद में हुआ। प्रारम्भिक ग्रीक तथा रोमन वाङ्मय में पौधे का उल्लेख मिलता है। ग्रीक विद्वान थियोफ्रेस्टस (३ री शती ई० पू०) ने फलनिर्यास की जानकारी प्राप्त की जिसका अनुसरण परवर्ती विद्वानों ने किया। इस प्रकार अहिफेन की खोज का श्रेय ग्रीक विद्वानों को है। प्राचीन मिस्र में इसके अस्तित्व का कोई संकेत नहीं मिलता। प्लिनी (प्रथम शती) ने सर्वप्रथम मिस्री अहिफेन का उल्लेख किया है। डायस्कोरिडस (२ री शती) के काल में एशिया माइनर का प्रमुख उद्योग अहिफेन का उत्पादन था। यद्यपि इसकी खोज का श्रेय ग्रीकों को है तथापि इसका सुदूर पूर्वी देशों में प्रसार अरबों द्वारा हुआ। फारस होते हुए भारत और चीन में इसका प्रवेश हुआ। भारत के समान चीन में भी इसका प्रवेश लगभग १२ वीं शती के प्रारम्भ में हुआ। उस काल के लिन हुंग नामक विद्वान की रचना में सर्वप्रथम इसका उल्लेख मिलता है। अरब व्यापारी भारत के कालीकट नामक बन्दरगाह पर अफीम लेकर आते थे। वे व्यापारी मलक्का पहुँच कर चीनी वस्तुओं से अफीम का विनिमय करते थे। १५ वीं शती में भारत में मुसलमानों ने काम्बे तथा मालवा में इसकी खेती प्रारंभ की जिस पर राज्य का नियंत्रण था। अकबर के काल में इसके अतिरिक्त, फतेहपुर, इलाहाबाद और गाजीपुर में भी इसकी खेती होने लगी थी जिसका उल्लेख अबुल फजल ने किया है।[1]

५ **इसबगोल** (Plantago ovata Forsk.)—यह फारस और पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। इसका विशेष प्रयोग मुसलमान हकीम करते रहे। यही कारण है कि आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं है। हाल के निघण्टुओं में नामा-

---

१. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २१-२६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

न्तर से इसका वर्णन किया गया है यथा शीतबीज (आयुर्वेदविज्ञान), ईषद्गोल (शालिग्रामनिघण्टु), ईश्वरबोल (सिद्धभेषजमणिमाला)। ये संस्कृत रूपान्तर ध्वनिपरक हैं, वस्तुतः फारसी 'अस्पगोल' शब्द का अर्थ है अश्वकर्ण क्योंकि इसके बीज तदाकार होते हैं।

६. **उच्चटा**—चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश (सिद्धि० १२।४५,४६,५४) में उच्चटा का उल्लेख एवं वृष्य बस्तियों में प्रयोग हुआ है। आगे सुश्रुत तथा वाग्भट ने भी इसका प्रयोग किया है। वात्स्यायनकृत कामसूत्र में भी इसका उल्लेख है। ऐसा प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इस द्रव्य का वाजीकरणार्थ प्रयोग प्रारंभ हुआ। बाद में भी यद्यपि यह नाम चलता रहा किन्तु मूल द्रव्य अज्ञात होकर इसके स्थान पर मध्यकाल में गुञ्जा और आधुनिक काल में उटंगन लिया जाने लगा। अष्टांगनिघण्टु, धन्वन्तरिनिघण्टु आदि निघण्टुओं में इसका वर्णन किया गया है।[1]

६. **कङ्कोल** (Piper Cubeba Linn. f.)—मूलतः यह जावा का निवासी कहा जाता है किन्तु अत्यन्त प्राचीन काल में ही इसका प्रवेश और प्रसार समस्त भारत में हुआ होगा क्योंकि इसका उल्लेख चरक आदि प्राचीन संहिताओं में है।

७. **करवीर** (Nerium odorum Soland)—मदनपाल और धन्वन्तरि निघण्टुओं में श्वेत और रक्त द्विविध करवीर का वर्णन है। पीतकरवीर (Thevetia neriifolia Juss) मूलतः अमेरिका और पश्चिमी द्वीपसमूह का वासी है।[2] सम्भवतः १५वीं शती के लगभग इसका प्रवेश भारत में हुआ कैयदेवनिघण्टु और राजनिघण्टु ने पीतकरवीर का वर्णन किया है।[3]

८. **कर्पूर**—यह एक प्राचीन द्रव्य है जिसका बृहत्त्रयी में उल्लेख है। भारत में इसके वृक्ष नहीं होते; सुमात्रा, बोर्नियो, मलाया, आदि द्वीपों में होते हैं। कपूर इसी वृक्ष (Dryobalanops camphora Colbr.) का निर्यास है। चरक ने कर्पूर-निर्यास का उल्लेख किया है। यह बरास (सुमात्रा के तन्नामक नगर के आधार पर), बोर्निओ या मलयकर्पूर कहा जाता है, लोकभाषा में इसे भीमसेनी कर्पूर कहते हैं। बाद में चीन और जापान के एक वृक्ष (Cinnamomum camphora Nees-Eberm.) की शाखाओं को उबाल कर जो कर्पूर निकाला जाता है वह भारत में प्रविष्ट हुआ, इसे निघण्टुकारों ने पक्व कर्पूर की संज्ञा दी। धन्वन्तरिनिघण्टु में एक ही

१. देखें—उच्चटा: भृगुनाथसिंह एवं प्रियव्रतशर्मा, सचित्र आयुर्वेद, अक्टूबर, ७१
२. वाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ४३
३. पीतकरवीरकोऽन्यः पीतप्रसव : सुगन्धिपुष्पश्च—करवीरादिवर्ग, ७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कपूर का उल्लेख है, पक्क कपूर का नहीं। सोढलनिघण्टु (१२वीं शती) में कर्पूरत्रितय (पक्व, अपक्व और चीनक) का वर्णन है। 'चीनक' संज्ञा विशेषतः चीन से आनेवाले कर्पूर के लिए प्रयुक्त हुई। ऐसा प्रतीत होता है कि ११वीं शती के आसपास पक्क कर्पूर का समावेश भारत में हुआ। इसके अतिरिक्त कुकरौंधा, तुलसी, तमाखु, बन अजवाइन आदि से भी कर्पूर निकाला जाता था। यह स्मरणीय है कि राजनिघण्टु में अनेक प्रकार के कर्पूरों का उल्लेख है। यह भी ध्यातव्य है कि प्रारम्भ में कर्पूर का प्रयोग वाह्य रूप में नस्य, लेप, मुखशुद्धि आदि में तथा तैल को सुवासित करने के लिए होता था। बाद में क्रमशः इसका प्रयोगक्षेत्र बढ़ा और कर्पूरवटी, कर्पूरासव आदि का आभ्यन्तर व्यवहार होने लगा।

यद्यपि भारत में इसका प्राचीन काल से उपयोग हो रहा था तथापि ग्रीक और रोमन चिकित्सकों को इसका ज्ञान न था। छठीं शती में इसका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है। १३वीं शती में मार्को पोलो ने कर्पूर के वृक्षों का जंगल देखा और १५६३ ई० में गार्सिया डी ओर्टा ने बतलाया कि यूरोप के कर्पूर का स्रोत चीन है और यह कि कर्पूर दो प्रकार का होता है।[1]

९. **कलम्बा**—'कलम्बक इति लोके' करके भावप्रकाशनिघण्टु में पीतचन्दन का वर्णन किया गया है और कालेयक पर्याय दिया है। कालेयक चरक में निर्वापण लेप में प्रयुक्त हुआ है, अतः यह प्राचीन द्रव्य है किन्तु 'कलम्बक' (Jateorhiza palmata Miers.) भारत में यूरोपवासियों के आगमन के बाद प्रचलित हुआ और तब शायद कालेयक से सीलोन या नकली कलम्बा (Coscinium fenestratum (Gaertn.) Colbr.) का इसके अभाव में ग्रहण किया जाने लगा।

१०. **कुपीलु** (Strychnos nuxvomica Linn.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है अतः इसका प्रवेश उसके बाद ही हुआ होगा। धन्वन्तरिनिघण्टु में काकपीलु और कुपीलु शब्द तिन्दुक के प्रसंग में आये हैं। 'विषतिन्दुक' शब्द भी तिन्दुक के एक भेद के लिए प्रयुक्त हुआ। बाद में विषतिन्दुक के नाम से कुचला का वर्णन सोढलनिघण्टु में तथा कारस्कर नाम से राजनिघण्टु में किया गया है। भावप्रकाश में कुपीलु मर्कटतिन्दुक तथा कुचला दोनों के लिए है। कहीं विषमुष्टि या क्षुद्रमुष्टि भी कहा गया है। मुसलमानों ने भारत से इसका ज्ञान प्राप्त किया। १६ वीं शती के मध्य में इसकी जानकारी युरोप में हुई।[2] सम्भवतः रसाचार्यों द्वारा इसका विशेष प्रचार-प्रसार हुआ।

---

२. वाट : भाग २, पृ० ८४-८७

१. वाट : भाग १, खण्ड ३, पृ० ३८०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

११. कुमारी (Aloe Sp.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं मिलता इससे स्पष्ट है कि बाद में इसका प्रवेश हुआ। सर्वप्रथम अष्टांगनिघण्टु और उसके बाद भोजकृत राजमार्त्तण्ड में (केवल बाह्य प्रयोग) यह द्रव्य दृष्टिगोचर होता है। आभ्यन्तर प्रयोग के लिए इसका प्रचलित योग कुमार्यासव सोढलकृत गदनिग्रह (१२वीं शती) में वर्णित है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका उल्लेख नहीं है। हेमचन्द्रकृत निघण्टुशेष में भी नहीं है। सम्भवतः १०वीं शती के लगभग भारत में इसका आयात हुआ; ११वीं शती में बाह्य प्रयोग प्रारम्भ हुआ और पूर्ण परिज्ञात होनेपर १२वीं शती में इसके अन्य औषधयोगों का निर्माण होने लगा और आभ्यन्तर प्रयोग भी प्रचलित हुआ।[1]

यह द्रव्य मूलतः अफ्रीका के पार्श्ववर्त्ती द्वीपों का निवासी है। पूर्वपार्श्व में स्थित सकोतरा और पश्चिम पार्श्व के कनारी[2] द्वीपसमूह में प्रचुरता से पाया जाता है जहाँ इसके जंगल हैं। सिकन्दर के नेतृत्व में यूनानी जब सकोतरा द्वीप के स्वामी बने तब इसका ज्ञान उन्हें हुआ। यूनानी चिकित्सकों ने इसका प्रयोग आरम्भ किया और तदनन्तर अरबी चिकित्सकों ने इसे अपनाया किन्तु ब्रिटेन तथा भारत में १०वीं शती तक इसका पता नहीं था। जब अमेरिका का पता लगा तब देखा गया कि जमायका, बारबेडोस आदि द्वीपों में भी यह बहुत होता है। सम्भवतः कनारी द्वीपसमूह से इसका निर्यात वहाँ हुआ।[3]

१२. कुलिंजन—प्राचीन ग्रन्थों में इसका वर्णन नहीं है। चीनी भाषा का लियांग-कियांग और अरबी का खलञ्जान हिन्दी में कुलञ्जन बना। अंगरेजी में यही गलङ्गल हुआ। यह दो प्रकार का होता है बड़ा और छोटा। बड़ा कुलञ्जन (Alpinia galanga willd) जावा और सुमात्रा मे होता है; इसका फल भी इलायची के समान व्यवहृत होता है। छोटा कुलञ्जन (Alpinia officinarum Hance) चीन का बासी है और वहाँ से युरोप और भारत में भेजा जाता है। छोटा कुलंजन अधिक कार्यकर होता है। परवर्त्ती ग्रीक चिकित्सकों तथा अरबी हकीमों ने इसका व्यवहार प्रारम्भ किया। १२ वीं शती में यह उत्तरी युरोप पहुंचा। उस काल में यह भारत में भी था क्योंकि सोढलकृत गदनिग्रह में इसका योग 'कुलिञ्जनाद्यावलेह' वर्णित है (भाग १, पृ० ३४४)। १३ वीं शती में पूर्वी मसालों

---

१. रसार्णव में कुमारी का उल्लेख होने से यह १०वीं शती से पूर्व का नहीं हो सकता।

२. इस द्रव्य की 'कुमारी' संज्ञा का सम्बन्ध सम्भवतः इसके मूलस्थान 'कनारी' से है। संभवतः 'कन्या' शब्द का सम्बन्ध भी देशवाचक 'केनिया' से है।

३. वाट : भाग १, पृ० १९९-१८०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

के साथ-साथ यह अदन, लालसागर और मिस्र होते सीरिया पहुँचता था जहाँ से भूमध्यसागर के क्षेत्रों में वितरित होता था। १६ वीं शती में गोवा में पुर्त्तगाली वायसराय के चिकित्सक गार्सिया डी ओर्टा ने इसके उपर्युक्त दो भेदों का परिज्ञान किया।[1] इसी काल में लिखे गये भावप्रकाशनिघण्टु में भी कुलञ्जन के दो भेदों का वर्णन किया गया है एक महाभरी वचा के नाम से और दूसरा स्थूलग्रंथि के नाम से। पहली उग्रगन्धा और दूसरी सुगन्धा है। स्पष्टतः पहला भेद चीनी (छोटा) कुलञ्जन है और दूसरा जावा (बड़ा) कुलञ्जन। राजनिघण्टु ने कुलञ्जन के नाम से इसका वर्णन किया है। धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन नहीं मिलता। यह संभव है कि जावा कुलञ्जन का चिरकाल से दक्षिणभारत में एलापर्णी (रास्ना) के नाम से प्रयोग होता रहा हो और चीनी कुलञ्जन मध्यकाल में अरबी व्यापारियों के द्वारा आया हो।

१३. कृष्णबीज—(Ipomoea hederacea Linn. Jacq.)—यद्यपि यह भारत में होता है तथापि इसका प्रयोग बहुत बाद में प्रारंभ हुआ क्योंकि इसका वर्णन प्राचीन निघण्टुओं में उपलब्ध नहीं होता। 'श्यामा' नाम से यह लिया जाता हो यह बात अलग है। राजनिघण्टु में कालाञ्जनी नाम से इसका वर्णन है। सिद्धभेषजमणि-माला में यही नाम (कालाञ्जनिका) दिबा है। आयुर्वेदविज्ञान में श्यामबीज नाम से है।

१४. केशर (कुङ्कुम) (Crocus sativus Linn.)—बाह्लीकदेश (बल्ख) से आने के कारण इसका एक पर्याय बाह्लीक है। यह ज्ञातव्य है कि बाह्लीक उस काल में विश्व का एक महत्वपूर्ण व्यापारिक केन्द्र था जहाँ युरोप, अरब, मध्य एशिया, चीन आदि के व्यापारी इकट्ठे होकर द्रव्यविनियम करते थे। चरक और सुश्रुत में काश्मीरज पर्याय इसके लिए नहीं आया है। संभवतः तबतक काश्मीर में इसकी खेती प्रारम्भ नहीं हुई हो। सर्वप्रथम उत्तरगुप्तकाल में वाग्भटकृत अष्टांग-हृदय में 'काश्मीरज' शब्द कुङ्कुम के लिए प्रयुक्त हुआ। उसके बाद धन्वन्तरि निघण्टु तथा अमरकोश में भी 'काश्मीरज' और 'काश्मीरजन्मा' शब्दों का प्रयोग कुङ्कुम के लिए हुआ है। जहाँगीर ने पाम्पुर और किश्तवार में केशर की खेती का

---

१. वाट, भाग १, पृ० १९२-१९६
इसका 'अल्पीनिया' नाम इटालियन वनस्पतिशास्त्री प्रॉस्पर अल्पिनस के नाम पर पड़ा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वर्णन किया है। वह लिखता है कि विश्व में सबसे अधिक केशर पाम्पुर में होता है और इससे भी अच्छा केशर किश्तवार का है।[1]

१५. **क्षीरचम्पक (गुलाचीन)** (Plumeria acutifolia Poirel.)—यह अमेरिका का निवासी पौधा है जो संभवतः युरोप से संपर्क होने पर आधुनिक काल में इस देश में प्रविष्ट हुआ। मन्दिरों के आसपास अधिक होने से इसे मन्दिरपुष्प (Temple flower) भी कहते हैं।

१६. **चन्द्रशूर** (Lepidium sativum Linn.)—यह फारस देश का पौधा है जो मुसलमानों के साथ यहाँ आया और उन्हीं के द्वारा सीरिया, ग्रीस, मिस्र और अबीसीनिया में फैला[2]। संभवतः भावप्रकाशनिघण्टु के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं इसका वर्णन नहीं मिलता। हिन्दी में इसे चनसुर और हालिम तथा फारसी में सिपंदान या तुख्म इस्पंदान कहते हैं। 'चनसुर' से ही भावमिश्र ने संस्कृत 'चन्द्रशूर' बनाया।

१७. **चव्य** (Piper chaba Hunter.)—मूलतः मोलक्कस द्वीप का वासी पौधा है।[3] बृहत्त्रयी में इसका प्रयोग होने से स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में भारत में इसका प्रचार-प्रसार हो गया था।

१८. **चोपचीनी** (Smilax china Linn.)—यह चीन जापान में होने वाला पौधा है। फिरंग-रोग के औषध के रूप में चीन से इसका आयात भारत में १६वीं शती में हुआ। युरोप में भी इसी काल में यह ज्ञात हुआ।[4] भावमिश्र ने फिरंगरोग के साथ-साथ अपने निघण्टु में चोपचीनी का वर्णन द्वीपान्तरवचा के नाम से किया है। यह विशेषतः 'फिरंगामयनाशनी' कही गई है।

१९. **चौहार** (Artemisia maritima Linn.)—यद्यपि हिमालय प्रदेश में यह वनस्पति उत्पन्न होती है तथापि बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरि निघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यह एक उत्तम क्रिमिघ्न द्रव्य है। इससे सैण्टोनिन निकाला जाता है जो केंचुए के लिए रामबाण है।

२०. **जयपाल** (Croton tiglium Linn.)—यह जमालगोटा के नाम से

---

१. तुज़ुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ९२-९३; भाग २, पृ० १३८

२. वाट, भाग ४, पृ० ६२८;   कण्डोल, पृ० ८६-८७

३. वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५६

४. वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५३-२५४
   जॉली : इण्डियन मेडिसिन, पृ० १५५-१५६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रसिद्ध है। इसका छोटा वृक्ष मलक्का, बर्मा और लंका में विशेष होता है।[1] प्राचीन-काल में संभवतः भारत में सर्वत्र मिलने वाली वनस्पति 'दन्ती' (Baliospermum montanum Muell. Arg.) के मूल का प्रयोग रेचनकर्म के लिए होता था। बाद में बीजों का भी प्रयोग होने लगा। जयपाल के बीज दन्तीबीज की अपेक्षा अधिक तीक्ष्ण एवं कार्यकर होते हैं। चीन के माध्यम से जयपाल अरब और फारस होता हुआ मुसलमानों के साथ भारत पहुँचा। इसका फारसी नाम 'दन्दचीनी' यह बतलाता है कि यह चीन देश का दन्तीबीज है। मध्यकाल के पूर्व यह नाम नहीं मिलता। धन्वन्तरिनिघंटु में दन्ती के प्रकरण में 'रेचक' शीर्षक से जयपाल का वर्णन है। क्षिप्रकार्यकारी रसौषधों में इसका प्रयोग प्रचलित हुआ। रसरत्नसमुच्चय में जयपाल के योग मिलते हैं। यह भी संभव है कि प्राचीन काल में द्रवन्ती नाम से जमालगोटा का प्रयोग होता हो और बाद में 'द्रवन्ती' के बदले 'जयपाल' शब्द प्रचलित हो गया। इसके बाद व्यवहार में द्रवन्ती का प्रयोग प्रायः बन्द हो गया यह भी इस पक्ष में एक प्रमाण है।

२१. **जातीफल** (Myristica fragrans Houtt.)—चरक, सुश्रुत और वाग्भट में मुखशुद्धि आदि के लिए जातीफल का प्रयोग विहित है। प्रीतिकर गन्ध होने के कारण इसका नाम 'जाती' है और फल (बीज) का प्रयोग होने से यह द्रव्य जातीफल (जायफल) नाम से प्रचलित हुआ। इसके वृक्ष मोलक्कस द्वीप के मूल निवासी हैं, वहीं से इनका प्रवेश प्राचीन काल में ही भारत में हुआ। ऐसा प्रतीत होता है कि सामान्य प्रयोग होने के बावजूद भी इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल के पूर्व प्रारंभ नहीं हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह (१२ वीं शती) में सर्वप्रथम कास में जातीफलादि चूर्ण का विधान है। इसके बाद दीपन-पाचन, ग्राही तथा शुक्रस्तम्भन के रूप में शार्ङ्गधर (१३ वीं शती) में इसका प्रयोग हुआ। भोजकृत राजमार्त्तण्ड में जातीफल के बाह्यत्वक् का लेप व्यङ्गरोग में विहित है। संभवतः उस समय बीज के साथ-साथ संपूर्ण फल या त्वक् भी आता हो क्योंकि शुष्क बीज का बाह्यत्वक् पृथक् करना कठिन है या जातीत्वक् से जावित्री का अभिप्राय हो। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा अमरकोश में जातीफल का वर्णन मिलता है।

२२. **तमाखु** (Nicotiana tabacum Linn.)—इसका पौधा मूलतः मध्य या दक्षिण अमेरिका का वासी है। इसकी जाति का नामकरण (Nicotiana) जीन

---

१. वाट : भाग २, पृ० ६१८
भारत में इसके वृक्ष बंगाल, आसाम, दक्षिण भारत में होते हैं। 'जयपाल' नाम बंगाली कविराजों ने ही सम्भवतः प्रचलित किया क्योंकि बंगला में इसे जयपाल ही कहते हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निकॉट ऑफ निस्मस के सम्मान में किया गया जिसने इस पौधे का प्रवेश फ्रांस में कराया था। स्पेन के व्यापारी जो फिलिपाइन द्वीप समूह में बसे थे अपने साथ तमाखु वहाँ लेते गये थे क्योंकि अमेरिका से उनका घनिष्ठ सम्बन्ध था। वहाँ से व्यापारियों द्वारा मनीला होते यह १६२० ई० में चीन पहुँचा। भारत में यह पुर्त्तगालियों के माध्यम से १६ वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। १६०५ ई० में इसका प्रथम उल्लेख मिलता है[1]। आयुर्वेद में सर्वप्रथम इसका वर्णन १७ वीं शती के ग्रन्थ योगरत्नाकर में मिलता है।

२३. **ताम्बूल** (Piper betle Linn.)—धन्वन्तरिनिघण्टु में 'बहुला' शीर्षक से इसका वर्णन है; नागवल्ली इसका एक प्रमुख पर्याय कहा गया है। प्राचीन संहिताओं में केवल मुखशुद्धि आदि के लिए इसका स्वल्प उल्लेख है। इसका पौधा जावा का आदिवासी है।[2] उन द्वीपों में सर्प अधिक होते हैं अतः संभवतः उद्भव-स्थान के आधार पर इसका नाम 'नागवल्ली' हुआ। वहाँ से संभवतः दक्षिण भारत में आया। 'ताम्बूल' शब्द दक्षिण भारतीय भाषा से निष्पन्न प्रतीत होता है। इसके अन्य दक्षिण भारतीय नाम भी द्रष्टव्य है। मध्यकाल में इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ, पारद के संस्कारों में भी इसका उपयोग होने लगा। राजनिघण्टु में अनेक प्रकार के ताम्बूल कहे गये हैं। बाद में 'पर्ण' से 'पान' शब्द विशेष प्रचलित हुआ। पर्णखण्डेश्वर रस प्रसिद्ध है (भैषज्यरत्नावली, ज्वराधिकार)।

२४. **ताल** (Borassus flabellifer Linn.)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है।[3] प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर उल्लेख होने से स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रवेश अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ होगा। ताल की एक जाति 'हिन्ताल' का उल्लेख केवल एक ही स्थल (च० क० १।८) पर दृढ़बल ने किया है।

२५. **तुरुष्क** (Styrax officinale Linn.)—चरक के दृढ़बलकृत अंश में केवल एक ही स्थल (चि० २८।१८३) पर गन्धद्रव्यों में इसका पाठ है। सुश्रुत ने एलादि गण में इसे समाविष्ट कर लिया है। तुरुष्क (Solid storax) उपर्युक्त वृक्ष का

---

१. कण्डोल : पृ० ११९-१४३
वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २३-३६; भाग ५, पृ० ३५१-३५२
पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ४१०-४३८

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० २४८
गोडे : वही, पृ० ११३-१६८

३. वाट : भाग ५, पृ० ४३२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निर्यास है। यह वृक्ष एशिया माइनर के आसपास होता है। हैनबरी ने यह सिद्ध किया है कि प्राचीन तुरुष्क ठोस होता था और बहुत थोड़ा निकलने के कारण कीमती था[1] अतः क्रमशः बाद में तरल शिलारस (Liquid storax) इसके स्थान पर प्रचलित हुआ। प्रथम शती तक लालसागर द्वारा भारत में तुरुष्क के आने का प्रमाण मिलता है। शिलारस (सिल्हक) एक भिन्न वृक्ष (Liquidamber orientalis Miller) का तरल निर्यास है जो एशिया माइनर में होता है[2]।

धन्वन्तरिनिघण्टु में तुरुष्क का वर्णन है। यह 'यावन' (यवनदेशोत्पन्न), कल्क और पिण्डक (ठोस) कहा गया है। सिल्हक भी इसका एक पर्याय है। सोढलनिघण्टु में तुरुष्क से पृथक् सिल्हक का पाठ है। भावप्रकाश में 'कपितैल' शब्द इसकी तरलता का द्योतक है। इससे स्पष्ट है कि प्रारंभ में तुरुष्क और सिल्हक भिन्न होते हुए भी बाद में पर्यायवाची बन गये यहाँ तक कि संस्कृत 'तुरुष्क' शब्द का अरबी रूपान्तर 'उस्तुरक' शिलारस के लिए प्रचलित हुआ।

२६. **तुवरक** (Hydnocarpus wightiana Blume.)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत ने इसका प्रभूत उपयोग किया है। इसके वृक्ष पश्चिमार्णवभूमि (पश्चिमी घाट) के जंगलों में होते हैं। इसके बीजों के तैल का उपयोग कुष्ठ और प्रमेह में किया गया है। आश्चर्य है कि निघण्टुओं में भी इसका वर्णन नहीं मिलता केवल आयुर्वेदविज्ञान में 'कुष्ठवैरी' नाम से वर्णित है। यह तथ्य सुश्रुत का दक्षिण-भारत से विशेष सम्पर्क सूचित करता है। गदनिग्रह में सुश्रुत के अनुसार ही तुवरक-कल्प का विधान है।

२७. **धत्तूर** (Datura metel Linn.)—चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सुश्रुत में केवल दो प्रयोग बीज के हैं एक बाह्य, नाडीव्रण में उपयोगी तैल में और दूसरा आभ्यन्तर अलर्कविष में। अष्टांगहृदय में अलर्कविष वाले प्रयोग के अतिरिक्त, धत्तूरपत्रस्वरस का उपयोग खालित्यरोग में किया गया है। राजमार्तण्ड में सर्पविष में भी धत्तूर का प्रयोग है। चक्रदत्त में धत्तूरमूल की खीर बनाकर उन्माद में प्रयोग करने का विधान है। रसरत्नसमुच्चय में ज्वर, यक्ष्मा, ग्रहणी, शूल आदि में धत्तूर का प्रचुर उपयोग है। गदनिग्रह में धत्तूरमद के प्रतीकार का विधान है जिससे प्रतीत होता है कि मादक द्रव्य के रूप में भी सम्भवतः उपयोग होता था। धन्वन्तरिनिघण्टु, सोढलनिघण्टु तथा राजनिघण्टु में यह रक्तदोषहर, व्रणघ्न एवं

---

१. इत्सिंग (७वीं शती) ने अपने यात्रा-विवरण में सीरिया से आने वाले सम्भवतः इसी बहुमूल्य गोंद का निर्देश किया है।

२. वाट : भाग ५, पृ० ७८-७९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ज्वरघ्न कहा गया है। उपविषों में इसकी गणना है। इन सब तथ्यों से स्पष्ट है कि मध्यकाल में इसका प्रयोगक्षेत्र विशेषतः रसशास्त्रीय आचार्यों के निर्देशन में अधिक विकसित हुआ।

२८. **धूम्रपत्रा** (Aristolochia bracteata Retz.)—इसे कीड़ामारी भी कहते हैं। कृमिघ्नी के नाम से सोढलनिघण्टु तथा धूम्रपत्रा के नाम से राजनिघण्टु में इसका वर्णन है। संभवतः मध्यकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ। डल्हण ने इसे 'कीटमारिणी' कहा है। अतः उस काल (१२ वीं शती) में इसका प्रयोग प्रचलित था।

२९. **पर्णबीज** (Bryophyllum calycinum Salisb.)—व्रणरोपण होने से इसे जख्मेहयात कहते हैं। यह मोलक्कस का मूलतः निवासी पोधा है। अंगरेजों के द्वारा भारत में लाया गया है। कहते हैं, श्रीमती क्लाइव इसे १७९९ ई० में लायीं और तभी यह कलकत्ता के वानस्पतिक उद्यान में लगाया गया[१]।

३०. **पर्णयवानी** (Coleus aromaticus Benth.)—यह मोलक्कस का मूल निवासी है। वहाँ से आधुनिक काल में यहाँ लाया गया और आजकल बागों और गमलों में लगाया मिलता है। पाषाणभेद के प्रतिनिधि द्रव्य के रूप में भी लोग इसका ग्रहण करते हैं और लोकभाषा में इसे पथरचूर कहते भी हैं।

३१. **पारसीकयवानी** (Hyoscyamus niger Linn.)—यह युरोप और मध्य एशिया का मूल निवासी है। भारत में अरबी एवं फारसी ग्रन्थों में पहले देखा जाता है[२]। भारतीय चिकित्सा में लगभग ९वीं शती में प्रविष्ट हुआ। वृन्दमाधव में कृमिघ्न के रूप में इसका सर्वप्रथम उल्लेख है। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवानीविशेष के रूप में इसका वर्णन है। यावनी, तुरुष्का आदि पर्याय तथा इसका लोकनाम 'खुरासानी अजवायन' इसका सम्बन्ध यवन या तुरुष्कदेश से बतलाते हैं। सम्भवतः अरब-वासियों के सम्पर्क से यह यहाँ पहुँचा।

३२. **पिपरमिण्ट** (Mentha piperata Linn.)—यह युरोप, उत्तरी अमेरिका तथा एशिया के कुछ भागों में वन्य रूप में पाया जाता है। भारत में संभवतः आधुनिक काल में व्यवहृत होने लगा।

---

१. वाट : भाग १, पृ० ५४३
२. वही, भाग, पृ० ३१९-३२१
३. वाट : भाग ५, पृ० २२९-२२१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुदीना इसीकी एक जाति है जो मूलतः पश्चिमी हिमालय, तिब्बत, अफगानिस्तान, युरोप तथा पश्चिमी और मध्य एशिया का निवासी है[3]। इसका प्रयोग भी यहाँ आधुनिक काल से प्रारंभ हुआ।

मध्यकालीन निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता। आधुनिककालीन शालिग्रामनिघण्टु (कर्पूरादिवर्ग) में पुदीना के गुणकर्म का उल्लेख है। सिद्धभेषजमणिमाला (शाकवर्ग) में भी 'पोदीनक' नाम से पठित है।

३३. **पूग** (Areca catechu Linn.)—मूलतः यह कोचीन-चीन और मलाया का निवासी है वहींसे सर्वत्र फैला। लैटिन नाम (Areca) मलयभाषा के नाम का ही रूपान्तर है[1]। सर्वप्रथम यह दक्षिण भारत, उसके बाद बंगाल-आसाम में प्रचलित हुआ। संस्कृत भाषा में इसके सभी नाम लोकभाषीय नामों के रूपान्तर हैं यथा गुवा (बंगाली-आसामी) से गुवाक; कमुगु (तामिल) से क्रमुक तथा पोकवक्क (तेलुगु) से पूग शब्द निष्पन्न है। वृहत्त्रयी में चरक और अष्टांगहृदय में केवल एक ही स्थल पर पूग का उल्लेख है किन्तु सुश्रुत में अनेक स्थलों पर इसका पाठ है। इससे पता चलता है कि या तो सुश्रुत दक्षिण भारत से संबद्ध हों या उनका अस्तित्व ऐसे परवर्ती काल में हो जब पूग का प्रचुर प्रचार सर्वत्र हो चुका हो। धन्वन्तरिनिघण्टु में पूग का वर्णन है; राजनिघण्टु में दक्षिणभारतीय अनेक प्रदेशों के अनुसार इसके भेदों का वर्णन किया गया है। चरकसंहिता में उपलब्ध होने से स्पष्ट है कि प्राचीन काल से ही भारत में पूग प्रचलित है।

३४. **गन्धप्रियंगु** (Prunus mahaleb Linn.)—मराठी भाषा में यह गहुला के नाम से प्रसिद्ध है। गन्धद्रव्य के रूप में बम्बई के बाजार में बिकता है। करांची में स्त्रियाँ इसकी माला बनाकर पहनती थीं। गहुला का वृक्ष मध्य एशिया तथा यूरोप का मूल निवासी है; बलुचिस्तान और सिन्ध में इसके पेड़ लगाये गये हैं।[2] महर्षि चरक का सम्बन्ध विशेषतः पश्चिमोत्तर प्रदेश से था अतः संभवतः उनका गन्धप्रियंगु यही हो।

३५. **बब्बूल** (Acacia arabica Willd.)—बृहत्त्रयी में बब्बूल का उल्लेख नहीं है इससे स्पष्ट है कि प्राचीनकाल में इसका औषधीय प्रयोग नहीं था[3] यद्यपि यह ज्ञात था (महाभाष्य १।१।४५)। सोढल निघण्टु में सर्वप्रथम बब्बूल और उसके फल

---

१. वही, भाग १, पृ० २९०

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३४७

३. यद्यपि यह वृक्ष ज्ञात था। देखें पातञ्जल महाभाष्य १।१।७।४५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का गुण निर्दिष्ट है। राजनिघण्टु में बर्बुर नाम से है। गदनिग्रह में बब्बूलपल्लव (अतिसार) तथा बब्बूलासव (राजयक्ष्मा) का विधान है। सोढलनिघण्टु में 'गुन्द्र' शब्द से अनेक गोंदों का उल्लेख हुआ है जिनमें संभवतः बब्बूल की गोंद भी अन्तर्भूत होगी। इस प्रकार लगभग ११वीं या १२वीं शती में मुसलमानों के संपर्क से इसका औषधीय प्रयोग प्रारम्भ हुआ। अरबी चिकित्सकों ने इसे मिस्रदेश से सीखा था जहाँ ईसा से १७०० वर्ष पूर्व से इसका प्रयोग होता रहा था। यूरोप में बबूल की गोंद मिस्र और तुर्किस्तान से इटालियन व्यापारियों के द्वारा सर्वप्रथम १३४० ई० में पहुँची। इसके बाद १४४९ ई० से अफ्रीका के पश्चिमी तट से इसका नियमित व्यापार पुर्तगालियों द्वारा संचालित होने लगा।[1]

३६. बर्बरी (Ocimum basilicum Linn.)—यह पौधा मध्य एशिया और पश्चिमोत्तर प्रदेश का मूल निवासी है।[2] बृहत्त्रयी में बर्बरी का उल्लेख नहीं है और न धन्वन्तरिनिघण्टु में। सर्वप्रथम संभवतः मदनपालनिघण्टु में बर्बरीत्रितय का वर्णन है। राजनिघण्टु में बर्बर नाम से संभवतः इसीका वर्णन है। अष्टांगहृदय में भी बर्बर है (उत्तर० ३।६०); दोनों यदि एक ही हैं तो वाग्भट के काल से ही इसका प्रयोग मानना होगा किन्तु इस विषय पर निघण्टुओं के मौनधारण से सन्देह होता है। अधिक संभावना है कि १२वीं शती के बाद ही 'बर्बरी' का विशेष प्रचार हुआ यद्यपि यह अन्य नाम से प्राचीन ग्रन्थों में निर्दिष्ट हो सकती है।

३७. बोल (Balsamodendrom myrrha Nees.)—बोल उपर्युक्त वृक्ष का निर्यास है। यह वृक्ष अरब तथा लालसागर के किनारे-किनारे अफ्रीका में मूलतः होता है।[3] 'रस' शब्द से चरक के दृढबलकृत अंश (चि० २८।१५०) में इसका उल्लेख है। पुनः अष्टांगहृदय में रस, जातीरस आदि शब्दों से इसका अभिधान है। इससे स्पष्ट है कि गुप्तकाल में आयुर्वेदीय क्षेत्र में उसका प्रवेश हुआ। धन्वन्तरिनिघण्टु में बोल का वर्णन है।

३८. मधुयष्टी (Glycyrrhiza glabra Linn.)—यह पौधा दक्षिण यूरोप, एशिया माइनर, आर्मीनिया, साइबेरिया, फारस, तुर्किस्तान और अफगानिस्तान का मूल निवासी है। इसकी खेती इटली, फ्रांस, रूस, जर्मनी, स्पेन और चीन में होती है। भारत में भी इसका प्रयास किया गया है किन्तु अभी भी मध्य एशिया, फारस

---

१. वाट : भाग १, पृ० ५८

२. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ७, पृ० ७९

३. वाट, भाग १, पृ० ३६७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आदि देशों से इसका आयात होता है।[1] चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में इसका प्रचुर प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीन काल से भारत के वैद्य इसका व्यवहार कर रहे हैं। बाहर से खरीद कर आयातित करने के कारण संभवतः इसका पर्याय 'क्लीतक' हुआ हो। उद्भवभेद से यह दो प्रकार की मानी गई है—शुष्क प्रदेश में होने वाली स्थलज और सजल प्रदेश में होने वाली जलज। फारस की नदियों की घाटी में होने वाली मधुपष्टी ही संभवतः जलज कही गई है। डल्हण के अनुसार मधुयष्टी के समान ही कोई मधुरमूल 'प्रपौण्डरीक' कहलाता था। संभव है, यह भी मधुयष्टी का ही कोई भेद हो।

३९. **मस्तगी** (Plstacia lentischus Linn.)—इसे रूमी मस्तगी कहते हैं क्योंकि यह भूमध्यसागरवर्ती प्रदेशों में बहुलता से होता है।[2] यह उपर्युक्त वृक्ष की गोंद है। यूनानी हकीम लोग इसका विशेष व्यवहार करते रहे उनके माध्यम से ही यह भारत में प्रविष्ट हुआ। सोढलकृत गदनिग्रह[3] (१२वीं शती) में सर्वप्रथम इसका प्रयोग मिलता है। सिद्धभेषजमणिमाला (सुगन्धिवर्ग) में भी इसका वर्णन है।

४० **महानिम्ब** (Melia azedarach Linn.)—प्राचीन काल में इस शब्द से 'अरलु' (Ailanthus excelsa Roxb.) का ग्रहण करते थे। मध्यकाल में इससे बकायन लेने लगे और अरलु श्योनाक का पर्याय हो गया। बकायन चिरकाल से अरब और फारस में व्यवहृत होता रहा। भारत में यह मुसलमानी हकीमों द्वारा संभवतः सर्वप्रथम दक्षिणी अञ्चल में प्रविष्ट हुआ। फारसी में इसे आजाद दरख्त कहते हैं[4]। इसी आधार पर इसका हिन्दी-संस्कृत नाम (द्रेक, द्रेकी, द्रेक्का) तथा लैटिन नाम पड़ा है। धन्वन्तरिनिघण्टु में निम्बविशेष करके महानिम्ब (बकायन) का वर्णन है। डल्हण ने भी इसका महानिम्ब, पर्वतनिम्ब, विषमुष्टि आदि नामों से उल्लेख किया है[5]।

४१. **माजूफल** (Quercus infectoria oliver.)—'माजू' यह फारसी नाम

---

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ४, पृ० १५१
   वाट : भाग ३, पृ० ५१३
२. वही, भाग ६, खण्ड १. पृ० २७०
३. भाग १, पृ० ३८५ (आवर्त्तकाद्यासव)
४. वाट : भाग ५, पृ० २२१-२२२
५. देखें 'महानिम्ब' शीर्षक मेरा लेख धन्वन्तरि, संदिग्ध-वनौषधि विशेषांक, १९७५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। यह वृक्ष ग्रीस, एशिया माइनर, सीरिया और फारस का मूल निवासी है।[१] इसकी शाखाओं पर उत्पन्न कीटगृह फलाकार होने से माजूफल कहते हैं। इसी का संस्कृतीकरण 'मायाफल' हुआ। भोजकृत राजमार्तण्ड (स्त्रीरोगाधिकार, ४४) में योनिशैथिल्यहर योग में मायाफल का प्रयोग है। गदनिग्रह में भी इसका उल्लेख है। राजनिघण्टु में मायाफल का वर्णन है। अरबी हकीमों के सम्पर्क से इसका प्रयोग प्रारंभ हुआ। इस वृक्ष के दक्षिणभारतीय नाम 'माचिकाई' होने के कारण यह भी सन्देह होता है कि प्राचीनों की 'माचिका' यही हो।

४२. **मेंहदी** (Lawsonia alba Lam.)—अरबी और फारसी में इसे हिना कहते हैं। यह फारस के आसपास मूलतः होती है, वहाँ से अफ्रीका और भारत में इसका प्रसार हुआ[२]। संभवतः मुसलमानों के साथ यह भारत में आया। मिस्र में २००० ई० पूर्व इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है।

सुश्रुत (चि० २५।४२) में मदयन्तिका के पत्रों का विधान अंगराग में किया है। डल्हण ने इसका अर्थ 'मेंहदी' किया है—'मदयन्तिका मेंहदी इति लोके, यस्याः पिष्टैः पत्रैर्नखानां रागं स्त्रिय उत्पादयन्ति'। निघण्टुकारों ने मदयन्तिका मल्लिका के पर्यायों में लिखा है। सुश्रुत का अभिप्राय चाहे जो हो, डल्हण द्वारा 'मेंहदी' का स्पष्ट उल्लेख होने से यह सिद्ध है कि १२वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो चुका था।

राजमार्तण्ड में मदयन्तिका, अश्वगन्धा और मोचरस के क्वाथ से योनिप्रक्षालन का विधान है (योनिसंकोचनार्थ स्त्रीरोगाधिकार, ४५)। यहाँ 'मदयन्तिका' संभवतः मेंहदी है। यही योग गदनिग्रह में भी उद्धृत है। रसरत्नाकर (वादिखण्ड, अ० ६) में मेंहदीपत्रस्वरस से भावना देने का विधान है। किसी निघण्टु में इसका वर्णन उपलब्ध नहीं होता। संभवतः कोई विशेष औषधीय प्रयोग न होने से वैद्यों ने इस ओर ध्यान नहीं दिया। आधुनिक ग्रन्थों में नखरञ्जक (शालिग्रामनिघण्टु), गुच्छीपुष्प (सिद्धभेषजमणिमाला) नाम से इसका वर्णन है। २०वीं शती में लिखे गये द्रव्यगुण के ग्रंथों में मदयन्तिका नाम से ही इसका वर्णन है।[३]

---

१. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ३७६

२. वही, भाग ४, पृ० ५९७

गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २४७-२५६

३. यादवजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, उत्तरार्ध, खण्ड २, पृ० २०९

प्रियव्रत शर्मा : द्रव्यगुणविज्ञान, भाग २, पृ० १७३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४३. **यवासशर्करा** (Manna)—फारस और अरब देशों में यवासा के पौधों से एक प्रकार की शर्करा निकलती है उसे इकट्ठा कर तुरञ्जबीन नाम से बाहर भेजते हैं[1] यही यवासशर्करा है। चरक में इसका उल्लेख नहीं है किन्तु सुश्रुत और अष्टांगहृदय में है। ऐसा लगता है कि संभवतः पूर्वगुप्तकाल में भारत में इसका प्रचार हुआ। धन्वन्तरिनिघण्टु में यवासशर्करा और राजनिघण्टु में तवराजशर्करा के नाम से इसका वर्णन है।

अरब और फारस में मदार से भी एक प्रकार की शर्करा निकाली जाती थी।

४४. **युकेलिप्टस** (Eucalyptus sp.)—यह आस्ट्रेलिया का मूल निवासी है। अंगरेजों द्वारा नीलगिरि में १८६३ ई० में इसे लगाया गया।[2]

४५. **रामबाँस** (Agave)—यह मध्य अमेरिका विशेषतः मेक्सिको का मूल निवासी है। १६वीं शती में पुर्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ।[3] इसके रेशों से रस्सी बनाने के कारण मगध में इसे मुरब्बा (मूर्वा ?) कहते हैं।

४६. **रेवन्दचीनी** (Rheum emodi Wall.)—अरबी और फारसी में यह रेवन्द कहलाता है, चीन से आने के कारण 'चीनी' शब्द इसमें जुट गया। यद्यपि यह भारत में उत्पन्न होता है तथापि चीनी द्रव्य भारतीय द्रव्य की अपेक्षा उत्तम माना जाता है। अत एव इसी का प्रयोग अधिक होने के कारण 'रेवन्दचीनी' नाम ही प्रचलित हो गया। राजनिघण्टु में वर्णित 'हिमावली' संभवतः रेवन्द ही है। हिमावली सर, तिक्त, कुष्ठघ्न, उदररोगहर कही गई है। इसका एक नाम हृद्धात्री भी है। ग्रन्थिक, रंगकुष्ठक आदि इसके पर्याय सार्थक हैं। आयुर्वेदविज्ञान और शालिग्रामनिघण्टु में 'पीतमूली' तथा सिद्धभेषजमणिमाला में 'रेवतिका' नाम से इसका वर्णन है।

४७. **लवंग** (Syzygium aromaticum (Linn) Merr and M. Perry) यह मोलक्कस का मूल निवासी है।[4] चरक, सुश्रुत, वाग्भट में इसका प्रयोग होने से यह स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचार प्राचीन काल से ही है यद्यपि यह द्वीपान्तर[5] से ही आता रहा है। गन्धद्रव्यों में इसका प्रमुख स्थान रहा है। प्रारंभ

---

१. वाट : भाग ५, पृ० १६५-१६६
२. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० २०३
वाट : भाग ३, पृ० २८०
३. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग १, पृ० ३८
४. कण्डोल : पृ० १६२
५. द्वीपान्तरानीतलवंगपुष्पैः—रघु० ५।५७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में मुखशुद्धि के लिए तथा तैलों को सुगन्धित करने के लिए प्रयुक्त होता था। बाद में इसके अन्य औषधीय प्रयोगों का प्रारंभ हुआ।

४८. **वत्सनाभ** (Aconitum chasmanthum Stapf. ex Holmes) चरकसंहिता के दृढ़बलकृत अंश (चि० २३।११) में केवल एक स्थल पर मूलज स्थावर विषों में वत्सनाभ की गणना है। सुश्रुत में भी केवल कल्पस्थान में विषप्रकरण में इसका उल्लेख है। अष्टांगसंग्रह में विषोपयोग नाम एक स्वतंत्र अध्याय है। इससे प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में विषों का चिकित्सा में उपयोग प्रारम्भ हुआ जिनमें वत्सनाभ प्रमुख था। क्रमशः तान्त्रिक संप्रदाय में रसशास्त्र के साथ-साथ विषों का भी चिकित्सोपयोग बढ़ता गया। रसरत्नसमुच्चय में विस्तार से विषकल्प का वर्णन है।

४९. **विजया**—(Cannabis sativa Linn.) 'भंग' शब्द ऋग्वेद (९-६१-१३) में अभिषववाचक है। अथर्ववेद (११-८-१५) तथा कौशिकसूत्र (१४।२८, १६।१६; २२।१४, २५।२८, ४७।३८) में भी उपलब्ध है यद्यपि कौशिकसूत्र में यह केवल सूत्र के निमित्त प्रयुक्त है। कात्यायन ने भी पाणिनिसूत्र (५।२।२९) पर अपने वार्त्तिक में इसका विधान किया है। यह लगभग १००० ई० पू० चीनी सम्राट् शेन नाङ् के भेषज-संग्रह में भी निर्दिष्ट है। यह समस्त विश्व में सूत्रों एवं बीजों के लिए उगाया जाता रहा है। ऐसा लगता है कि प्रारम्भ में इसकी उपयोगिता केवल सूत्रों तक ही सीमित थी जो कोशों में इसके पर्याय 'शण' से द्योतित होता है।[1] बाद में भंगा मादक द्रव्य के रूप में प्रयुक्त होने लगी और तब 'मातुलानी' कहलाने लगी।[2] पर्यायरत्नमाला विजया से शिवा (हरीतकी) और जयन्ती (तर्कारी) लेता है, भंगा नहीं। धन्वन्तरिनिघण्टु अष्टवर्ग के अन्तर्गत मेदाविशेष के रूप में विजया का वर्णन करता है। यह सब इसके विकासक्रम में संक्रान्तिकाल का बोधक है। भंगा के औषधीय प्रयोग सोढलकृत गदनिग्रह से प्रारम्भ हुए हैं और उसके बाद क्रमशः बढ़ते गये हैं। भंगा के संबन्ध में यह विचित्र तथ्य है कि यद्यपि इसका अस्तित्व वैदिक काल से है तथापि इसका औषधीय प्रयोग मध्यकाल में तान्त्रिकों या अरबी चिकित्सकों के माध्यम से प्रारम्भ हुआ। यह मध्य एशिया का मूल निवासी माना जाता है।[3]

---

१. त्रिकाण्डशेष, ३।६५; निघण्टुशेष, ३९७; भानुजीदीक्षितव्याख्या, अमरकोश २।९।२०

२. अमरकोश २।९।२०; निघण्टुशेष ३९७

३. वाट : भाग २, पृ० १०३-१०८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५०. शल्लकी (Boswellia serrata Roxb.)—शल्लकी का उल्लेख बृहत्त्रयी के तीनों ग्रन्थों में है किन्तु इसके निर्यास (कुन्दरु) का उल्लेख अपेक्षाकृत स्वल्प है। चरक में केवल दृढबलकृत अंश (चि० २६।६४; २८।१५१) में है; सुश्रुत में केवल एक स्थल पर है और अष्टांगहृदय में दो स्थलों पर है। यह स्मरणीय है कि निर्यासों का अधिक प्रयोग यूनानी हकीमों ने प्रचलित किया; कुन्दरु का भी विशेष प्रयोग बाद में उन्हीं के द्वारा हुआ।

५१. सनाय (Cassia angustifolia Vahl.)—मूलतः दक्षिणी अरब तथा सोमाली तट पर यह होता है।[1] अरबी चिकित्सकों ने लगभग ९वीं शती में इसका प्रयोग प्रारम्भ किया। भारत में मुसलमानों के संपर्क से आया। निघण्टुओं में इसका स्पष्ट वर्णन नहीं मिलता। राजनिघण्टु में भूम्याहुल्य को मार्कण्डीय, महौषध, कुष्ठकेतु आदि पर्यायों से कहा है। यह तिक्तरस है तथा ज्वर, कुष्ठ आदि में उपयोगी है। इसीको आगे निघण्टुकारों ने मार्कण्डिका करके वर्णन किया है[2] जो सनाय से भिन्न प्रतीत होता है क्योंकि मार्कण्डिका वमन-विरेचन दोनों है तथा अत्यधिक तिक्त है जबकि सनाय केवल विरेचन है और उतना तिक्त भी नहीं है। मार्कण्डिका देवदाली की कोई जाति है। परवर्त्ती निघण्टुकारों ने मार्कण्डिका से पृथक् स्वर्णपत्री नाम से सनाय का वर्णन किया है।[3] भावप्रकाश में स्वर्णपत्री नहीं है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'सनायकी' नाम से वर्णित है।[4] इससे संकेत मिलता है कि आधुनिक काल में ही इसका अधिक प्रचार हुआ।

५२. सर्पगन्धा—इसका उल्लेख सुश्रुतसंहिता (क० ५।८४) में है। 'सर्पसुगन्धा' शब्द भी आया है (अ० हृ० चि० १४।१०४)। भारत में 'पागल की जड़ी' के नाम से चिरकाल से इसका प्रयोग परंपरा में होता रहा है। १७ वीं शती में युरोपीय विद्वानों को इसकी जानकारी हुई। फ्रेंच वनस्पतिविद् प्लुमियर ने १७०३ ई० में डॉ रॉवुल्फ के नाम पर इसका लैटिन नाम 'राबुल्फिया सरपेण्टिना' रखा। आयुर्वेदिक एवं तिब्बी कालेज, दिल्ली के डा० सलीमुज्जमा सिद्दीकी एवं रफत हुसेन सिद्दीकी ने सर्वप्रथम १९३१ ई० सर्पगन्धामूल से सक्रिय तत्त्वों को पृथक् कर इण्डियन केमिकल सोसाइटी के जर्नल में इसका विवरण प्रकाशित किया था। सर्पगन्धा-

---

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग २, पृ० ९३-९४
   वाट : भाग २, पृ० २१२-२१४

२. भावप्रकाशनिघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग, २८९-२९०

३. शालिग्रामनिघण्टु, गुडूच्यादि वर्ग; आयुर्वेदविज्ञान, विरेचनीय वर्ग

४. द्वितीय गुच्छ, हरीतक्यादि वर्ग, श्लो० ६३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मूल पटना के बाजार में मँगाये गये थे ।[1] आज यह विश्वविख्यात औषध है । चिकित्साजगत् में विश्व के लिए भारत की यह ऐतिहासिक देन है ।

५३. **सिन्दूरी** (Bixa orellana Linn.)—यह अमेरिका का मूल निवासी है[2] । मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है । इससे प्रतीत होता है कि १४वीं शती के पूर्व भारत में इसका प्रसार हो गया था ।

५४. **सिनकोना** (Cinchona succirubra pavon)—यह वृक्ष दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है । पेरु के स्पेनी वाइसराय की पत्नी, काउण्टेस ऑफ सिनकोन (Countess of Cinchon) ने इसके द्वारा रोगमुक्त होने के बाद १६३९ ई० में युरोप में इसे प्रविष्ट कराया था । पादरी लोग इसकी छाल का उपयोग अधिक करते थे अतः यह पेरुबियन बार्क, जेसुइट बार्क और काउण्टेस पाउडर के नाम से विदित था । १७४२ ई० में लिनियस ने 'सिनकोना' प्रजाति की स्थापना की[3] । अंगरेजों ने इसे भारत में भी लगाना शुरु किया । दक्षिणभारत (नीलगिरि) और उसके बाद बंगाल (दार्जिलिंग) में बड़े पैमाने पर इसका रोपण किया गया । १८२० ई० में पेलिटियर और कैवेण्टो (Pellitier and Caventow) ने सिनकोना छाल से क्विनीन को पृथक् किया[4] जो विषमज्वर के लिए रामबाण सिद्ध हुआ । आयुर्वेद के निघण्टुओं में सम्भवतः आयुर्वेदविज्ञान में 'शाखिमूल' करके इसी का वर्णन है । आचार्य यादव जी ने अपने द्रव्यगुणविज्ञान में इसे स्थान दिया है किन्तु निघण्टुकार इसे पूर्णतः आत्मसात् नहीं कर सके ।

५५. **सोम**—यह ऋग्वेदकालीन अतिप्राचीन द्रव्य है । ऋग्वेद में इसका विधान विस्तार से वर्णित है जिससे स्पष्ट होता है कि उस समय इसका प्रचार पर्याप्त था । सम्भवतः इसकी उपलब्धि सर्वत्र न होने के कारण ब्राह्मणकाल में इसके अभाव में प्रतिनिधि-द्रव्यों का विधान किया । सम्प्रति तो यह द्रव्य पूर्णतः सन्दिग्ध हो गया है[5] ।

५४. **हिङ्गु** (Ferula foetida Regel)—इसके पौधे दक्षिणी तुर्किस्तान, पूर्वी

---

१. The Rauwolfia Story—CiBA Pharma, Bombay. 1945
२. वेल्थ आफ इंडिया, भाग १, पृ० १९६
३. वाट : भाग २, पृ० २९०
४. R. Ghosh's Pharmacology, Calcutta, 1969, P. 752
५. इस संबन्ध में देखें—आर० गॉर्डन वासन का लेख, जर्नल ऑफ अमेरिकन ओरियण्टल सोसाइटी, भाग ९१, सं० २, अप्रिल-जून, १९७१, पृ० १६९–१८७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फारस की बालुकामय मरुस्थली और पहाड़ियाँ, खोरासान, अफगानिस्तान तथा कैस्पियन सागर और अराल सागर के बीच मध्य एशिया के प्रदेश में होते हैं[1]। संस्कृत में इसके 'बाल्हीक' और 'रामठ' पर्याय देशवाचक ही हैं। चरक आदि संहिताओं में प्रचुर उपयोग होने से यह स्पष्ट है कि अत्यन्त प्राचीनकाल में ही हिंगु का प्रचार यहाँ हो गया था।

पुष्पवर्ग

१. **गुलाब** (Rosa centifolia Linn.)—यह काकेसस तथा असीरिया का मूल निवासी है[2]। संस्कृत में इसके लिए 'शतपत्री' शब्द व्यवहृत हो रहा है। धन्वन्तरिनिघण्टु में शतपत्री का वर्णन तरुणी से पृथक् है। इससे स्पष्ट है कि ये दो भिन्न द्रव्य हैं। चरक और सुश्रुत में तरुणी है, शतपत्री नहीं। आधुनिककालीन निघण्टुओं ने भी 'शतपत्री' नाम से ही इसका वर्णन किया है[3]। कुछ ग्रन्थों में तरुणी और शतपत्री दोनों गुलाब के वाचक हैं। 'शतपत्री' शब्द 'सेण्टीफोलिया' का संस्कृत रूप है। यद्यपि २००० ई० पू० से गुलाब के संकेत मिलते हैं तथापि प्लिनी (पहली शती) ने सर्वप्रथम इसका वानस्पतिक विवरण स्पष्ट रूप से दिया। गुलाबजल निकालने का कार्य फारस से प्रारम्भ हुआ। खलीफा मामून (८१०-८१७ ई०) के राज्यकाल में इसका निर्माण प्रचुरमात्रा में होता था जो चीन, भारत, मिस्र, स्पेन, मोरक्को आदि देशों में भेजा जाता था। अकबर के राज्यकाल में फारस से गुलाब के पौधे लाकर भारत में लगाये गये। १६१२ ई० में नूरजहाँ की माँ ने गुलाब के अतर का आविष्कार किया।[4] फिर भी जहाँगीर के समय देश में बहुत ज्यादा गुलाब नहीं थे[5]।

२. **गुलब्बास** (Mirabilis jalapa Linn.)—यह पौधा पेरु (दक्षिण अमेरिका) का आदिम वासी है। अतः इसे 'पेरु का चमत्कार' (Marvel of Peru) भी कहते है।[6] बागों में शोभा के लिए लगाते हैं। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है।

---

१. वाट : भाग ३, पृ० ३३५

२. वाट : भाग ६, खण्ड १, पृ० ५६०

३. देखें आयुर्वेदविज्ञान, शालिग्रामनिघण्टु, सिद्धभेषजमणिमाला

४. गोडे: स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १५-४२

५. तुजुक-ए-जहांगीरी, भाग १, पृ० ४३५

६. वाट : भाग ५, पृ० २५३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. **गेंदा** (Tagetes erecta Linn.)—यह अफ्रीका और फ्रांस का मूल निवासी है।[१] 'क्षण्डू' नाम से राजनिघण्टु तथा शालिग्रामनिघण्टु में वर्णित है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'सहस्रा' (हजारा) नाम से है।

४. **चम्पक** (Michelia campaca Linn.)—चरकसंहिता में चम्पक का उल्लेख नहीं है। वाग्भट में केवल चम्पकाह्वय अगद में चम्पक का नाम मात्र है। सुश्रुत में ४-५ स्थलों पर उल्लेख है। इससे पता चलता है कि गुप्तकाल में चम्पक का प्रचार हुआ। अमरकोष और धन्वन्तरिनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। बृहत्संहिता में चम्पकगन्धि तैल का वर्णन है।[२]

५. **जपा** (Hibiscus rosa-sinensis Linn.) बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी इसका उल्लेख नहीं है। अमरकोश, पर्यायरत्नमाला और राजनिघण्टु आदि में है। यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है।[३] संभवतः गुप्तकाल में यह भारत में आ चुका था क्योंकि कालिदास ने मेघदूत में जपापुष्प का उल्लेख किया है।[४]

६. **सूर्यमुखी** (Helianthus annuus Linn.)—यह मेक्सिको और पेरु का आदिम निवासी है। युरोप में १६वीं शती के अन्त में प्रविष्ट हुआ। भारत में १६वीं शती के पूर्व ही इसका प्रचार हो चुका था क्योंकि आईन-ए-अकबरी में आफताबी' नाम से इसका उल्लेख है।[५] निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

७. **स्थलकमल** (Hibiscus mutabilis Linn.)—यह मूलतः चीन का निवासी है[६] संप्रति भारत में सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। धन्वन्तरिनिघण्टु में पद्मचारणी नाम से इसका वर्णन है। भावप्रकाश में इसका स्पष्ठ वर्णन है।

फलवर्ग

१. **अंजीर** (Ficus carica Linn.)—यह अफगानिस्तान, फारस तथा सीरिया से लेकर काकेसस तक के मूमध्यसागरवर्ती भूभाग में मूलतः होता है।[७]

---

१. वही, भाग ६, खण्ड ३, पृ० ४०२

२. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ५७-६७

३. वाट, भाग ४, पृ० २४०

४. सान्ध्यं तेजः प्रतिनवजपापुष्परक्तं दधानः—मेघदूत, पूर्व० ३८

५. वाट : भाग ४, पृ० २१०

६. वही, पृ० २४२

७. वाट : भाग ३, पृ० ३४७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संहिताओं में फलवर्ग में तथा चरक में श्रमहर गण में जो फल्गु है वह अंजीर ही है। मगधसम्राट् बिन्दुसार (३री शती ई० पू०) ने सीरिया के राजा अन्तियोकस से अंजीर मँगवाये थे। सुश्रुत की भद्रोदुम्बरी भी यही है। मलयू और काकोदुम्बरिका नाम से कथित द्रव्य इससे भिन्न (कठगूलर) है जो चरक के तिक्तस्कन्ध में पठित है। मध्यकालीन निघण्टुओं में दोनों एक कर दिये गये हैं। आगे चलकर दोनों पुनः पृथक् हो गये। पी० के० गोडे ने गुणकर्म की दृष्टि से विचार नहीं किया अतः भ्रान्त हो गये।[1] फल्गु बृंहण है जबकि काकोदुम्बर कषाय-तिक्त और लेखन है। यह सही है कि अच्छे अंजीर उपर्युक्त प्रदेशों से आते थे किन्तु यहाँ भी अंजीर बुरे नहीं थे।[2]

२. **अनानास** (Ananas sativa Linn.)—यह दक्षिण अमेरिका (ब्राजिल) का मूल निवासी है। वहाँ यह नानस कहा जाता है इसीका लैटिन रूपान्तर 'अनानास' है। इसका प्रवेश यूरोप में १५१३ ई० तथा भारत में १५९४ ई० में हुआ। यहाँ पुर्तगालियों द्वारा सर्वप्रथम बंगाल में प्रचलित हुआ। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी[3] और जहाँगीरनामा[4] में मिलता है। शालिग्रामनिघण्टु में अनानास का वर्णन किया गया है।

३. **अमरुद** (Psidium guyava Linn.)—यह मूलतः अमेरिका का निवासी है। भारत में यूरोपवासियों द्वारा आधुनिक काल में प्रविष्ट हुआ। 'पेरुक' नाम से शालिग्रामनिघण्टु में इसका वर्णन है। 'पेरुक' शब्द इसके मूल निवासस्थान (पेरू) का बोधक है। निघण्टुरत्नाकर में 'अमरुफल' नाम से है। 'अमरुद' वस्तुतः नासपाती का फारसी नाम है, तदाकार होने में सम्भवतः वही नाम इसका पड़ गया। बाबरनामा (पृ० ५०३-५१४) में अमरुदफल (अमृतफल ?) संभवतः नासपाती है।

४. **आरुक** (Prunus sp.)—आड़ू चीन का आदिवासी है। वहाँ से ग्रीस, रोम होते हुए अतिप्राचीन काल में ही भारत पहुँचा। चरकसंहिता में इसका उल्लेख है। धन्वन्तरिनिघण्टु में आरुक चतुर्विध कहा गया है।

---

१. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २९५-३११

२. जहाँगीर अहमदाबाद के अंजीर तारीफ करता है—देखें तुजुक-ए-जहाँगीरी भाग १, पृ० ४१३, ४२७

सबसे बड़ा अंजीर ७½ तो० का था—वही, पृ० ४३५

३. पृ० ७०

४. 'फलों में अनानास, जो फिरङ्गी बन्दरगाहों पर होता है, सुगन्धि एवं सुस्वादु है। हजारों की संख्या में प्रतिवर्ष आगरा के गुल-अफ्शां में होते हैं।'

—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० ५०६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जहाँगीर लिखता है कि उसके पिता (अकबर) के पूर्व भारत में शाह-आलू नहीं थे[1], वे काबुल से मँगाकर कश्मीर में लगाये गये। उस समय १०-१५ पेड़ फल से लदे थे। इसके अतिरिक्त, उसने कश्मीर में जर्दालु, नासपाती, सेव, अमरूद, अंगूर, अनार, तरबूज और खर्बूज के फलों का उल्लेख किया है (वही, भाग २, पृ० १४६)। बर्नियर लिखता है कि 'सेव, नासपाती, अंगूर और खर्बूजे के ताजे फल तथा सूखे फल, आलूबुखारा, जर्दालु, किशमिश, मुनक्का (काला और सफेद) मुख्यतः उजबेक से दिल्ली आते थे (यात्राविवरण, पृ० ११८-११९)। इसके अतिरिक्त, फारस, बल्ख, बुखारा और समरकन्द से भी आते थे (वही, पृ० २४९)।

५. **कर्मरंग** (Averrhoa carambola Linn.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु तथा पर्यायरत्नमाला में भी नहीं है। मदनपालनिघण्टु, राजनिघण्टु, भावप्रकाश आदि में है। चक्रपाणि (च० सू० २६।१३१) ने इसका उल्लेख किया है। इससे स्पष्ट है कि लगभग १०वीं शती में इसका प्रचलन भारत में हुआ। यह भी संभव है कि किसी अन्य नाम से प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख हो।

६. **काजू** (Anacardium occidentale Linn.)—यह अमेरिका का मूल निवासी है। यूरोपवासियों द्वारा भारत में इसका प्रचलन हुआ। निघण्टुरत्नाकर तथा सिद्धभेषजमणिमाला में काजूतक नाम से इसका उल्लेख है।

७. **खर्बूज** (Cucumis melo Linn.)—यह पश्चिमोत्तरप्रदेश, बलूचिस्तान और पश्चिमी अफ्रीका का मूल निवासी है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है (संभव है, किसी अन्य नाम से हो)। मदनपालनिघण्टु और उसके बाद भावप्रकाश-निघण्टु में इसका वर्णन है। इससे प्रतीत होता है कि मुसलमानी काल में लगभग १२वीं-१३वीं शती में इसका भारत में प्रचार हुआ। ख्वारिज्म (खुरासान) के खर्बूजे बहुत प्रसिद्ध थे। उसके टुकड़े सुखाकर भारत और चीन भेजे जाते थे।[2]

८. **खर्जूर** (Phoenix dactylifera Linn.)—बृहत्त्रयी में खर्जूर का प्रचुर

---

१. बुखारा से आलू का निर्यात भारत और चीन को होता है—इब्नबतूता, भाग ३, पृ० ५५० (इसी कारण उसका नाम 'आलूबुखारा' पड़ गया)।

२. वही, पृ० ५४७

जहाँगीर लिखता है—'फारस के व्यापारी यज्द के अनार और करीज के खर्बूजे लाते थे। ऐसे फल मेरे पिता के समय नहीं आते थे। उस समय जहाँगीरी इत्र (इत्र गुलाब) भी नहीं था। जहाँगीर करीज के खर्बूजों की तारीफ करते नहीं अघाता।—तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग १, पृ० २७०, ४२२.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रयोग है। इससे स्पष्ट है कि इसका भारत में प्रचलन प्राचीन काल में ही हो गया था। यों इसका मूल निवास अफ्रीका, मिस्र, सीरिया और अरब है। पिण्डखर्जूरिका का उल्लेख धन्वन्तरिनिघण्टु में खर्जूरीविशेष करके है। भावप्रकाश में खर्जूर पिण्डखर्जूर और छोहारा तीनों का वर्णन है। सोढलकृत गदनिग्रह में छोहाराद्य चूर्ण (कृमिरोग) है। 'खर्जूर' शब्द संभवतः अरबी-फारसी (खुर्मा) से निष्पन्न है। यह निश्चित है कि 'पिण्डखर्जूर' शब्द उत्तम जाति के खर्जूर के लिए है जो बाहर से आता था। मार्को पोलो लिखता है कि बगदाद के पास बसरा में संसार का सर्वोत्तम खर्जूर होता है (यात्राविवरण, पृ० २६)।

९. **चिलगोजा** (Pinus gerardiana Wall.)—यह निकोचक है जिसका अपभ्रंश 'निवजा' पहाड़ी नाम है। बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह प्राचीनकाल से ही प्रचलित है। यह विशेषतः ईरान, अफगानिस्तान में होता है और उन्हीं प्रदेशों से भारत में आता रहा है। टीकाकारों ने इसे उत्तरापथ में उत्पन्न और वहीं प्रसिद्ध कहा है।[1]

१०. **तरबूज** (Citrulus vulgaris Schrad.)—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। चरकसंहिता में नहीं है। सुश्रुतसंहिता में कालिन्द नाम से तथा अष्टांगहृदय में कालिंग नाम से है। कैयदेवनिघण्टु तथा भावप्रकाशनिघण्टु में इसका वर्णन मिलता है। संभवतः गुप्तकाल के आसपास इसका प्रवेश यहाँ हुआ और क्रमशः इसका प्रचलन बढ़ता गया।

११. **नारिकेल** (Cocos nucifera Linn.)—यह मलयद्वीप तथा इण्डोनेशिया का मूल निवासी है किन्तु अत्यन्त प्राचीनकाल में ही दक्षिणभारत तथा बंगाल में इसका प्रवेश हुआ। बृहत्त्रयी में इसके प्रयोग उपलब्ध हैं। नारिकेलोदक चरक में नहीं है, सुश्रुत और वाग्भट में है। सम्भवतः गुप्तकाल में इसका प्रचार बढ़ा। अरब और फारस में भारत के माध्यम से ही नारिकेल गया; अरबी नारगील और फारसी नारगील शब्द नारिकेल से ही निष्पन्न हैं।

१२. **नासपाती** (Pyrus communis Linn.)—चरक और सुश्रुत में 'टंक' शब्द से उल्लेख है। यह मदनपाल तथा भावप्रकाश निघण्टुओं में 'अमृतफल' कहा गया है। नासपाती को फारसी में अमरूद कहते हैं, संभवतः इसी का संस्कृत रूपान्तर अमृतफल[2] है। इसका स्थान पश्चिमी एशिया है। प्राचीन संहिताओं में उल्लेख होने से यह ज्ञात होता है कि इसका प्रचार प्राचीनकाल से था।

---

१. चक्र० च० सू० २७।१५७, डल्हण, सु० सू० ४६।१८७

२. बाबरनामा (पृ० ५०३-५१४) में भी 'अमरदफल' है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१३. नारंग (Citrus reticulata Blanc.)—यह सुश्रुत में 'नारंग' नाम से तथा चरक में 'नागरंग' नाम से है। कुछ लोग इसे चीन और कोचीन-चीन का मूल निवासी मानते हैं और भारत में वहाँ से आयातित बतलाते हैं किन्तु कुछ लोग इसे मूलतः भारतीय मानते हैं। जो भी हो, संहितोक्त होने से यह प्राचीन द्रव्य है इसमें कोई सन्देह नहीं।[1]

१४ पपीता (Carica papaya Linn.)—यह मेक्सिको तथा पश्चिमी भारतीय द्वीपसमूह का मूल निवासी है। अमेरिका में इसे 'पपाया' कहते हैं उसी से 'पपीता' शब्द निष्पन्न हुआ है। आधुनिक काल में इसका प्रवेश यूरोपवासियों के माध्यम से हुआ है। केवल शालिग्रामनिघण्टु में 'एरण्डचिर्भट' नाम से इसका वर्णन हुआ है।

१५. पिश्ता (Pistacia vera Linn.)—यह मुख्यतः सीरिया में होता है। इसके अतिरिक्त, दमस्कस, मेसोपोटामिया तथा खुरासान में होता है। कुछ लोग 'अभिषुक' और कुछ लोग 'मुकूलक' शब्द से पिश्ता का ग्रहण करते हैं। दोनों शब्द प्राचीन संहिताओं में मिलते हैं अतः प्राचीनकाल से ही भारत में इसका प्रचलन रहा है[2]।

१६. राजबदर (उन्नाव) (Zizyphus vulgaris Linn.)—यह चीन का मूल निवासी कहा जाता है। चरक में इसका उल्लेख नहीं है। सम्भवतः उसके बाद ईरान और फिर सिन्ध में इसका प्रवेश हुआ। 'सौवीर' (सुवीरदेशोत्पन्न) शब्द से सुश्रुत और अष्टांगहृदय में इसका वर्णन है। राजनिघण्टु में राजबदर शब्द भी है।

१७. बादाम (Prunus amygdalus Baill.)—फारस और उसके पश्चिम एशिया माइनर, सीरिया और अलजीरिया में यह मूलतः होता है। 'वाताम' शब्द से बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख है अतः यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। वाताम आदि कुछ फलों को टीकाकारों ने औत्तरापथिक–उत्तरापथ में उत्पन्न तथा वहीं प्रसिद्ध कहा है।[3] इब्नबतूता (१३२५-१३५४ ई०) जब इस देश में पहुँचा तब मुलतान के गवर्नर को किशमिश और बादाम भेंट किया। इस सम्बन्ध में उसकी टिप्पणी है कि ये द्रव्य भारत में नहीं होते और खुरासान से आयातित होते हैं अतः भारतवासियों के लिए ये सर्वोत्तम उपहार हैं।[4] जहाँगीर के समय बादाम के

1. Ranjit Singh : Fruits, National Book Trust, 1969, P. 65.
२. यह औत्तरापथिक फलों में परिगणित है और फारस आदि देशों से आता था। मार्को पोलो ने खुरासान में पिश्ता और बादाम के पेड़ देखे थे। इब्नबतूता ने हेरात में इसके पेड़ों का उल्लेख किया है।
३. चक्र० च. सू. २७।१५७; डल्हण, सु. सू. ४६।१८६
४. गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३५७-३६४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कुछ पेड़ भारत में (कश्मीर में और उसके बाहर भी) थे। वह लिखता है कि कश्मीर के पेड़ १० मार्च को और बाहर के पेड़ १० फरवरी को फूलते हैं।[1] मार्को-पोलो ने खुरासान में थैकन की पहाड़ियों में बादाम और पिश्ता के पेड़ देखे थे[2]।

१८. **बिही** (Cydonia vulgaris Pers.)—फारस के उत्तर में कास्पियन सागर के निकट, काकेसस के दक्षिण और आनातोलिया में यह स्वतः उगता है और वन्य रूप में पाया जाता है। उधर से ही सम्भवतः मुसलमानों के साथ भारत में आया। किसी निघण्टु ने इसका वर्णन नहीं किया है।

१९. **बीजपूर** (Citrus medica Linn.)—चरक, सुश्रुत आदि प्राचीन संहिताओं में वर्णित है। यह मूलतः भारतीय है और यहीं से मेसोपोटामिया, मीडिया और वहाँ से यूरोप में फैला।[3]

२०. **मधुकर्कटी** (Citrus decumana Linn.)—यह मलय द्वीपसमूह की मूल निवासिनी कही जाती है। भारत में इसका प्रवेश जावा से हुआ।[4] बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख नहीं है, धन्वन्तरिनिघण्टु तथा परवर्ती मदनपाल, कैयदेव तथा भावप्रकाशनिघण्टुओं में वर्णित है। सम्भवतः भारत में इसका प्रवेश ८वीं-९वीं शती में हुआ।

२१. **रसभरी** (Physalis pnruviana Linn.)—यह अमेरिका की मूल निवासी है। आधुनिक काल में पुर्त्तगालियों द्वारा भारत में इसका प्रवेश हुआ। सिद्धभेषज-मणिमाला में चिरपोटिका नाम से इसका वर्णन है। अन्य निघण्टुओं में इसका वर्णन नहीं मिलता।

२२. **लवली**—संहिताओं में इसका फल, कटु, तिक्त और सुगन्धि कहा गया है। आजकल जो द्रव्य लिया जाता है उसका फल कच्चा होने पर कषायाम्ल और पकने पर मधुराम्ल हो जाता है। इसे लोक में हरफारेवड़ी (Cicca acida (Linn.) Merrill) कहते हैं। इसका स्पष्ट वर्णन भावप्रकाश के पूर्व नहीं मिलता अतः वह उत्तर मध्यकाल में प्रचलित हुआ प्रतीत होता है। बंगाल में इसे हरिफल कहते हैं। बिहार आदि में प्रचलित 'हरफारेवड़ी' शब्द 'हरिफल + लवली का संयुक्त रूप है। लवली के स्थान पर इसका प्रचार होने पर ही यह शब्द बना होगा।

---

१. तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० १४४
२. यात्रा-विवरण, पृ० ५३
३. वाट : भाग २, पृ० ३४९
४. Ranjit singh : Fruits, P. 65, National Book Trust, 1969,

१७ द्र० च०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२३. **लीची** (Nephelium litchi Camb.) यह दक्षिणी चीन का मूल निवासी है। सर्वप्रथम बंगाल में यह १८वीं शती के अन्त में आयातित हुआ। वहाँ से देश में अन्यत्र फैला। अभी भी मुजफ्फरपुर (संप्रति विहार में किन्तु पहले बंगाल का भाग) लीची का प्रमुख केन्द्र है। सिद्धभेषजमणिमाला में 'एलचीफल' के नाम से इसका वर्णन है।

२४. **लोकाट** (Eriobotrya japonica Lindl.) यह जापान का मूल निवासी है। वहीं से भारत में प्रचलित हुआ।[1]

२५. **सीताफल** (Anona squamosa Linn.) यह क्यूबा, जमायका आदि पश्चिम भारतीय द्वीपों का मूल निवासी है। धन्वन्तरिनिघन्टु आदि में इसका उल्लेख नहीं है केवल १९वीं शती के निघण्टुओं में 'गण्डगात्र' नाम से वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में युरोपवासियों के माध्यम से हुआ।

२६. **सेव** (Pyrus malus Linn.)—यह मूलतः यूरोप, अनातोलिया, काकेसस का दक्षिणी अञ्चल तथा गिलन (फारसी भूभाग) में होता है। यद्यपि कुछ लोग चरक-सुश्रुतोक्त 'सिम्बितिका' से इसका ग्रहण करते हैं तथापि स्पष्ट रूप से सेव का वर्णन सर्वप्रथम भावप्रकाश में मिलता है। संभवतः यह युरोपवासियों के माध्यम से भारत में आया।

शाकवर्ग

१. **अलाबु** (Lagenaria siceraria standl.)—कुछ लोग इसे अमेरिका[2] और कुछ लोग अफ्रीका या एशिया[3] का मूलनिवासी कहते हैं। जो भी हो यह भारत में प्राचीन काल से प्रचलित है क्योंकि प्राचीन संहिताओं में इसका वर्णन उपलब्ध है।

२. **अश्वबला** (Medicago sativa Linn.)—इसे अरबी में फिसफिसत और फारसी में इस्फिशत कहते हैं। इसीसे 'हिस्पिस्थ' शब्द यहाँ भी प्रचलित हुआ[4]। इसका मूलस्थान काकेसस के दक्षिण अनातोलिया, फारस, अफगानिस्तान, बलूचिस्तान आदि है। संभवतः एशिया माइनर से इसका विशेष रूप से प्रारम्भ हुआ यद्यपि भारत में भी पश्चिमोत्तर प्रदेश में होता है। ग्रीक इसे मेडिकाई और रोमन

---

१. वेल्थ ऑफ इण्डिया, भाग ३, पृ० १८६

२. वाट : भाग ४, पृ० ४७२-४७४

३. Wealth of India, Vol. VI, P. 16-18.

४. अश्वबला तुरुष्कदेशे बृहत्पत्रा मेथिकाभेद एव हिस्फिस्थ इति लोके

—डल्हण, सु. सू. ४६, शाकवर्ग, ४६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माडका कहते थे क्योंकि यह उस समय मीडिया से लाया गया था। चूंकि चरकसंहिता में इसका उल्लेख केवल एक स्थान पर दिव्य ओषधियों के प्रकरण में हुआ है (च० चि० १।४।७) इससे प्रतीत होता है कि यद्यपि उस काल में यह ओषधि ज्ञात थी तथापि यह सुलभ न थी। संभवतः इसका कारण इसका सुदूर देश या देश में भी दुर्गम स्थान में होना था। सुश्रुत में तीन स्थलों पर इसका उल्लेख है[1], दो स्थलों पर चिकित्सा के प्रसंग में और एक स्थल शाकवर्ग में है जहाँ अश्वबला के शाक का विधान है। इससे उस काल में इसके विकसित प्रचार की सूचना मिलती है। संभवतः इस देश में इसका प्रचार-प्रसार मध्यकाल के प्रारम्भिक भाग में हुआ क्योंकि सुश्रुत के टीकाकार ब्रह्मदेव (११वीं शती) और डल्हण (१२वीं शती) ने इसे तुरुष्कदेश में होनेवाला लिखा है।[2]

४. **आलू** (Solanum tuberosum Linn.)—यह चिली (अमेरिका) का आदिनिवासी है। चिरकाल से वहाँ चिली से जिराण्डा तक इसकी खेती की जाती थी। अमेरिका की खोज के बाद वहाँ से युरोप में सर्वप्रथम स्पेन में १५८० और १५८५ के बीच पहुँचा। भारत में यह पुर्त्तगालियों द्वारा १६वीं या १७वीं शती में आया।[3] शालिग्रामनिघण्टु और सिद्धभेषजमणिमाला में 'अल्लुक' नाम से इसका वर्णन है। इसका अंगरेजी नाम 'पोटैटो' भ्रम के कारण इसे 'बटाटा' (शकरकन्द) समझ कर दिया गया। शकरकन्द का अमेरिकी नाम 'बटाटास' है। बम्बई में अभी भी आलू को बटाटा कहते हैं।

५. **कोहड़ा** (काशीफल या पीतकूष्माण्ड) (Cucurbita maxima Duchesne)—रोमन और मध्ययुग में इसका प्रयोग युरोप में होता था। कैण्डोल इसे अमेरिका का मूलनिवासी मानते हैं। भारत में संभवतः आधुनिक काल में इसका प्रवेश हुआ। शालिग्रामनिघण्टु ने पीतकूष्माण्ड का वर्णन किया है।

६. **गाजर** (Daucus carrota var. Sativa DC.)—यूनानी हकीम इसे 'डुकुस' कहते थे और 'कैरो' का अर्थ होता है मांस। इसीसे इसका लैटिन नाम निष्पन्न

---

१. अश्वबला हिस्फिरथो मेथिकाभेदः—ड० (सु० चि० ६।५)

२. 'ब्रह्मदेवस्तु अश्वबला यवनभूमौ मेथिकाकारबीजा भवतीत्याह'

—ड० (सु० चि० ११।८३)

देखें—गोडे : स्टडीज इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १. पृ० ३८४-४०९

वैद्य बापालाल : अश्वबला और मेथी, यादव-स्मृतिग्रन्थ, उत्तरार्ध, पृ० १०८-११४

३. जॉर्ज वाट, भाग ६, खण्ड ३, पृ० २६६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हुआ है। यह युरोप, अबीसीनिया, उत्तरी अफ्रीका, अरब और साइबेरिया का मूल निवासी कहा जाता है यद्यपि हूकर इसे कश्मीर और पश्चिमी हिमालय का मानते हैं। सम्भवतः मुसलमानों के साथ मध्यकाल में इसका प्रवेश भारत में हुआ क्योंकि आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों में इसका उल्लेख नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में 'गृञ्जर' नाम से वर्णन है।[1] भावप्रकाश ने गृञ्जन (गाजर) नाम से वर्णन किया है।

७. **गोभी** (Bassica oleracea Linn.)—यह युरोप का मूलनिवासी है और युरोपवासियों के साथ १६वीं १७वीं शती में भारत में आया।[2] फ्रेञ्च भाषा में इसे 'कैंबस' कहते हैं जिससे क्रैबेज, कोबी आदि शब्द निष्पन्न है। शिर (कैपुट) के समान आकृति होने के कारण संभवतः यह नाम पड़ा। शालिग्रामनिघण्टु में पुष्पगोभी, पत्रगोभी, ग्रन्थिगोभी नाम से इसके विभिन्न प्रकारों का वर्णन किया है।

८. **टमाटर** (Lycopersicum esculentum Mill.)—यह पेरू (अमेरिका) का मूलनिवासी है। अमेरिका की खोज के बाद यूरोप में इसका प्रसार हुआ और वहाँ से भारत में लगभग १७वीं शती में आया।

९. **पालक** (Spinach oleracea Linn.)—युरोपियन विद्वान् इसे फारस का मूल निवासी मानते हैं। कैण्डोल का कथन है कि इसका कोई संस्कृत नाम नहीं है किन्तु चरक और सुश्रुत में पालङ्क्य या पालङ्की शब्द से इसका उल्लेख हुआ है। भारत में यह प्राचीन काल से व्यवहृत हो रहा है।

१०. **बैंगन** (Solanum melongana Linn.)—इसे कुछ लोग भारत[3] और कुछ अरब का मूलनिवासी है। अरबी में इसे बादंगन और फारसी में बादिंगान कहते हैं। इसीसे 'बैंगन' शब्द निष्पन्न है। प्राचीन आयुर्वेदीय निघण्टुओं में वृन्ताक नाम से और परवर्त्ती निघण्टुओं में 'वातिंगन' नाम से इसका वर्णन है। अरबवासियों के संपर्क से इस देश में 'बैंगन' नाम का प्रचार-प्रसार हुआ। डल्हण ने 'बंइगण' इति लोके, लिखा है। (सु० सू० ४६।२६२)।

११. **भिण्डी** (Abelmoschus esculentes (L.) Moench.—यह अफ्रीका का मूल निवासी है। मिस्र में १२१६ ई० में उपलब्ध था। संभवतः मध्य काल में इसका प्रचार भारत में हुआ। केवल शालिग्रामनिघण्टु में भिण्डा नाम से

---

१. करवीरादिवर्ग, ६९–७०। इससे अनुमान होता है कि १०वीं शती के पहले इसका प्रचार हो चुका था।

२. देखें आइन-ए-अकबरी, पृ० ६६

३. B. Chaudhary : Vegetables, P. 50, National Book Trust, 1967; वाट : भाग ६, खण्ड ३, पृ० २५८-२५९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

इसका वर्णन मिलता है। इसकी एक अन्य जाति ढेड़स (Hibiscus ficulnens Linn.) का वर्णन संभवतः डिण्डिश नाम से है। बंगाल में भिण्डी को ही ढेडस कहते हैं।

१२. **मूँगफली** (Arachis hypogaea Linn.)—मूलतः यह दक्षिण अमेरिका का निवासी है। वहाँ से भारत में १६वीं शती के बाद ही इसका आगमन हुआ होगा। इसका उल्लेख निघण्टु में नहीं मिलता।

१३. **शकरकन्द** (Ipomoea batatas Poir.)—यह दक्षिण अमेरिका का मूल निवासी है। 'बटाटास' इसका अमेरिकन मूल नाम है। इसीके साहश्य के कारण आलू को भी 'बटाटा' और अंगरेजी में 'पोटैटो' कहा जाने लगा। यह संभवतः पुर्त्तगालियों द्वारा यहाँ लाया गया तथा १७वीं या १८वीं शती से इसकी खेती होने लगी! निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं है। डल्हणोक्त 'सकलकन्द' भिन्न है (सु० सू० ४६।३०६)।

अन्न-पान

१. **कुट्टू** (Fagopyrum esculentum Moench.)—इसके आटे का आजकल लोग फलाहार में प्रयोग करते हैं। यह मूलतः मध्यएशिया-मन्चुरिया और साइबेरिया का निवासी है। ग्रीक और रोमन लोगों को यह अज्ञात था। युरोप में मध्यकाल में रूसी और तातारी लोगों के द्वारा पहुँचा। संभवतः तातारियों के माध्यम से यह भारत में पहुँचा। इसकी एक दूसरी जाति (F. emarginatum Meissner.) चीन तथा पूर्वोत्तर भारत में ऊँचे पार्वत्य प्रदेश में होती है।[1]

२. **चणक** (Cicar arientinum Linn.)—यह मूलतः काकेसस पर्वत के दक्षिण और फारस के उत्तरवाले भूभाग का निवासी है। फारस से ग्रीस तक के क्षेत्र में यह फैला था। ग्रीस में इसका प्रचार बहुत था, वे इसकी खेती भी करते थे। ग्रीक भाषा में इसे 'एरिबेन्थस' (Erebinthos) और क्रिओस (Krios) तथा लैटिन में साइसर कहते थे।[2] कहा जाता है, संस्कृत का 'हरिमन्थ' शब्द संभवतः ग्रीक एरिबेन्थस का रूपान्तर है।[3] चरक के काल (ई० पू० २री शती) में यह भारत में पूर्णतः प्रचलित था इसमें सन्देह नहीं।

---

१. कण्डोल : पृ० ३४८-३५०

२. वही, पृ० ३२३-३२५

३. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० १९३-२४०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

३. **चीनक** (Panicum miliacum Linn.)—बृहत्त्रयी में इसका उल्लेख होने से यह अत्यन्त प्राचीन काल से भारत में प्रचलित है। यह मूलतः मिस्र और अरब का निवासी माना जाता है।[१] इसके नाम से प्रतीत होता है कि इसका संबन्ध चीन से भी हो।

४. **ज्वार** (Hordeus sorghum Linn.)—मिस्र देश में २२०० ई० पू० में इसके अस्तित्व का प्रमाण मिलता है। प्राचीन संहिताओं में जूर्ण शब्द से तथा मध्यकालीन एवं आधुनिक ग्रन्थों में 'यावनाल' शब्द से इसका उल्लेख किया गया है।[२] इससे सिद्ध है कि भारत में यह प्राचीन काल से प्रचलित है। संभवतः मिस्र देश से अत्यन्त प्राचीन काल में इसका प्रवेश भारत में हुआ। मगध के प्रदेश में 'मसुरिया जिनोर' इसकी संज्ञा इसके मिस्रदेशीय स्रोत का स्मारक है।

५. **तवक्षीर** (Curcuma angustifolia Roxb.)—इसे लोकभाषा में तिखुर कहते हैं। यह विलायती अरारोट (Maranta arundinacea Linn.) का भारतीय प्रतिनिधि द्रव्य है। दक्षिण भारत में विशेषतः आन्ध्र और मलाबार में प्रचुरता से होता है। चरक और सुश्रुत में यह नहीं मिलता। वाग्भट में सर्वप्रथम मिलता है[३]। संभवतः वंशलोचन की अनुपलब्धि के कारण उसके स्थान पर इसका प्रयोग प्रारम्भ हुआ। 'वंशरोचनानुकारि पार्थिवं द्रव्यम्' करके मध्यकालीन टीकाकारों ने इसका उल्लेख किया है[४]।

६. **त्रिपुट** (Lathyrus sativus Linn.)—इस नाम से इसका उल्लेख सुश्रुत (सू० ४६।२७) में तथा खण्डिका नाम से चरक (सू० २७।२७) में है। लोकभाषा में इसे 'खेसारी' कहते हैं। यह सतीन (बड़ी मटर) तथा कलाय (छोटी मटर) से भिन्न द्रव्य हैं। वाग्भट ने 'कलाय' से ही त्रिपुटक का ग्रहण किया और मटर के लिए 'सतीन' शब्द रक्खा। कलाय (त्रिपुट) के अतिसेवन से उत्पन्न खञ्जरोग 'कलायखञ्ज' कहा जाने लगा। इसका क्षेत्र मूलतः काकेसस पर्वत का दक्षिण अंचल तथा भारत का उत्तरी भाग है।[५]

---

१. कण्डोल : पृ० २७८

२. वही, पृ० ३८३

P. K. Gode : studies in Indian Cultural History, Vol. I, P. 577-282

३. अ० सं० सू० १२-२९
अ० हृ० सू० ३०।५१

४. चक्र० च० चि० २।१।३०

५. वाट ; भाग ४, पृ० ५९१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

८. **मक्का** (Zey mays Linn.)—इसका वर्णन प्राचीन ग्रन्थों में नहीं मिलता। यह अमेरिका का मूलनिवासी है। पेरू और मेक्सिकों में चिरकाल से इसकी खेती होती थी[1]। अमेरिका की खोज के बाद इसका प्रसार सर्वत्र हुआ। भारत में सम्भवतः १६ वीं शती में पुर्तगालियों के साथ आया। रघुनाथ गणेश नवहस्त (१५७५-१७०० ई०) कृत भोजनकुतूहल तथा लोलिम्बराजकृत वैद्यावतंस में इसका उल्लेख है। कतोभट्ट ने अपने निघण्टुसंग्रह (जूनागढ़, १८९३) में इसका नाम 'महाकाय' दिया है[2]।

९. **अतियव** (Avena orientalis Schreber.)—यह पूर्वी समशीतोष्ण युरोप तथा मध्य एशिया का मूलनिवासी है। प्राचीनकाल से इटली और ग्रीस में इसकी खेती होती थी[3]। चरक में इसका उल्लेख नहीं है, सुश्रुतसंहिता में है।

१०. **राजमाष**(Vigna sinensis Savi)—चरक और वाग्भट में 'राजमाष' तथा सुश्रुत में 'अलसान्द्र' शब्द से इसका उल्लेख हुआ है। 'अलसन्द' शब्द प्राचीन ग्रन्थों में अलेक्जेण्ड्रिया के लिए प्रयुक्त हुआ है अतः इसका 'अलसान्द्र' पर्याय उस स्थान से इसका सम्बन्ध सूचित करता है।[4] सम्भवतः सिकन्दर के आक्रमणकाल के बाद इसका प्रवेश भारत में हुआ। इसकी मुख्यतः तीन जातियां होती हैं। भावप्रकाश ने भी तीन जातियों का उल्लेख किया है।

११. **साबूदाना** (Manihot utilissima Pohl.)—इसके वृक्ष अमेरिका के मूलनिवासी है। यह ब्राजिल से लेकर पश्चिमी द्वीपसमूह तक प्रचुर पाया जाता है।[5] इसके तने के स्टार्च से दाने बनाकर बाजार में बिकते हैं। पथ्य और फलाहार में इसका प्रयोग होता है। युरोपवासियों के साथ यह भारत में आया। सिद्धभेषजमणि-माला में[6] इसका उल्लेख मिलता है।

१२. **सोयाबीन** (Dolichos soja Linn.)—इसका मूल क्षेत्र कोचीन-चीन से लेकर जापान और जावा तक है। प्राचीन काल से इसकी खेती चीन और जापान

---

१. वाट : भाग ६, खण्ड ४, पृ० ३२८

२. पी० के० गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० २८३–२९४ मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित (१९६७) वैद्यावतंस में यह अंश उपलब्ध नहीं है।

३. कण्डोल, पृ० ३७३–३७६

४. प्रियव्रत शर्मा : चरकचिन्तन, पृ० ६५

५. कण्डोल, पृ० ५९

६. २।१७९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

में होती रही है। सर्वप्रथम मोलक्कस से इसका पौधा कलकत्ता बोटानिकल गार्डेन में लाया गया था।[1] सम्प्रति पौष्टिक आहार के सम्बन्ध में इसका महत्त्वपूर्ण स्थान हो गया है। आयुर्वेदीय निघण्टुओं में इसका उल्लेख नहीं मिलता।

१३. **कॉफी** (Coffea arabica Linn.)—यह अबीसिनिया, सूडान, गिनी तथा मोजाम्बिक में मूलतः होता है। मिस्र देश में प्राचीन काल से इसका व्यवहार होता था। वहां इसे 'कवे' कहते थे जिससे फ्रांसीसी 'काफे' और बाद में 'कोफी' शब्द निष्पन्न हुआ। ग्रेट ब्रिटेन में कोफी की पहली दूकान १६५२ ई० में खुली। भारत में यह किसी मुसलमान द्वारा १८वीं शती में सर्वप्रथम मैसूर में लाया गया। इसकी खेती १८३० ई० में प्रारंभ हुई[2]।

१४. **चाय** (Thea sinensis Linn.)—इसका मूल स्थान चीन तथा भारत (आसाम, मणिपुर) माना जाता है किन्तु चीन में इसका प्रचार अत्यन्त प्राचीन काल से है जब कि भारत में इसका प्रचलन आधुनिक काल में हुआ। चीन में पेंटसो (२७०० ई० पू०) तथा राई (३०० ई० पू०) ने चाय का उल्लेख किया है। चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) भी भारतयात्रा में चाय साथ लाया था और उसका सेवन करता था। भारत में ईस्ट इण्डिया कम्पनी ने चाय की खेती प्रारम्भ की। १६६४ ई० में उसने तत्कालीन इंगलैण्ड के सम्राट् को चाय का एक डब्बा उपहारस्वरूप भेजा था।[3] आयुर्वेदविज्ञान में 'श्यामपर्णी' तथा शालिग्रामनिघण्टु में 'चाय' नाम से इसका वर्णन है।

जान्तव द्रव्य

जन्तुओं के अवयवों—शृंग, खुर, नख, पित्त आदि–तथा उनसे प्राप्त अन्य द्रव्यों का प्रयोग[4] चिरकाल से चिकित्सक करते आ रहे हैं किन्तु यह क्षेत्र भी सीमित नहीं रहा। इसमें भी नये द्रव्यों का समावेश होकर उनकी संख्या बढ़ती रही। यहां कुछ विशिष्ट द्रव्यों का ही वर्णन किया जायगा।

---

१. कण्डोल, पृ० ३३०-३३२

२. वाट : भाग २, पृ० ४६१-४६५

३. वही, भाग २, पृ० ७५-७७
कण्डोल, पृ० ११७-११९
गोडे : स्टडीज इन इण्डियन कल्चरल हिस्ट्री, भाग १, पृ० ३७०-३७३

४. च० सू० ११६९-७०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. अम्बर (Ambergris)—'अम्बिजार' शब्द से इसका वर्णन धन्वन्तरिनिघण्टु (६।२१-२२) में मिलता है किन्तु संहिताग्रन्थों में नहीं मिलता। अतः स्पष्ट है कि संहिताकाल के बाद मध्ययुग में इसका समावेश आयुर्वेद में किया गया। अन्य निघण्टुओं में भी इसका वर्णन प्रायः नहीं मिलता। रसरत्नसमुच्चय में साधारण रसों में इसका वर्णन है। इससे स्पष्ट है कि वैद्य इसका प्रयोग कम ही करते थे, इसका विशेष प्रयोग यूनानी हकीम करते रहे। यह मुसलमानों के साथ १० वीं शती के कुछ पूर्व भारत में प्रविष्ट हुआ। 'अम्बर' शब्द अरबी 'अनवर' का रूपान्तर है। अनेक कोषों ने सुगन्धित द्रव्य करके इसका उल्लेख किया है। अमरकोष में यह नहीं है।[1] मैडागास्कर, मोजाम्बिक, सोकोतरा, निकोबार आदि द्वीपों में यह समुद्र से एकत्रित किया जाता रहा है।

२. कस्तूरी (Musk)—प्राचीन संहिताओं में इसका उल्लेख नहीं है इससे प्रतीत होता है कि चिकित्सा में इसका प्रयोग मध्यकाल में प्रचलित हुआ। लेप में भी पहले शीतकाल में कुङ्कुम और अगुरु तथा उष्णकाल में चन्दन का लेप करते थे।[2] बाद में उष्णलेप में कस्तूरी का प्रयोग होने लगा।[3] यह एक उत्तम गंधद्रव्य है जिसकी माँग सारे संसार में रही। औषध में भी इसका प्रयोग प्रायः सभी चिकित्सापद्धतियों में उत्तेजक के रूप में हुआ। यह स्पष्ट है कि पहले लेप के रूप में इसका बाह्य प्रयोग और उसके बाद औषधीय आभ्यन्तर प्रयोग प्रारम्भ हुआ। तिब्बत, नेपाल, आसाम, कश्मीर आदि प्रदेशों में कस्तूरीमृगों से यह प्राप्त होता था। भारत के व्यापारिक द्रव्यों में यह प्रमुख था। १४४८ ई० में जब वास्को डि गामा कालीकट पहुँचा तो वहाँ के राजा ने भेंटस्वरूप कस्तूरी की ५० थैलियाँ उसे दीं।[4] अफजल खाँ ने बिहार से जहाँगीर को अगुरु और चन्दन आदि के साथ कस्तूरी का कोष भेंट किया था।[5]

३. नख (Helix aspera)—यह एक गन्धद्रव्य है। बृहत्संहिता में उल्लेख होने से प्रतीत होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग होता था। सुश्रुतसंहिता के एलादिगण के

---

१. P. K. Gode : History of Ambergris in India, Studies in Indian Cultural History, Vol. 1, PP. 9–18
२. देखें ऋतुचर्याप्रकरण च० सू० ६, अ० हृ० सू० ३
३. बृहत्संहिता और हर्षचरित आदि में कस्तूरी का उल्लेख और प्रयोग है जिससे सूचित होता है कि गुप्तकाल में इसका प्रयोग प्रारम्भ हो गया था।
४. Danverse : The Portuguese in India, P. 56
५. तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृ० २०६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गंधद्रव्यों में व्याघ्रनख और शुक्ति (नख) दोनों हैं किन्तु चरक में इसका उल्लेख नहीं है। इससे प्रतीत होता है कि चरकोत्तर काल में इसका प्रचलन हुआ।

४. **पूति** (Civet)—गन्धमार्जार की वृषणवत् ग्रन्थि से एक सुगन्धित पदार्थ निकलता है यही पूति या गन्धमार्जारवीर्य के नाम से वर्णित है। प्राचीन संहिताओं में यह उपलब्ध नहीं होता[1]। गन्धद्रव्य के रूप में बृहत्संहिता के गन्धयुक्ति-प्रकरण में भी नहीं है। धन्वन्तरिनिघण्टु में लोमशबिडाल, भावप्रकाश में गंधमार्जार-वीर्य तथा राजनिघण्टु में 'जवादि' नाम से इसका वर्णन है। सोमेश्वरकृत मानसोल्लास में विलेपन तथा धूपद्रव्यों में इसका उल्लेख है (१।३।९९६; १९।३।१६९७-९९)। इससे अनुमान है कि १० वीं शती के लगभग इसका व्यवहार प्रारम्भ हुआ। भारत में यह मालाबार प्रान्त में होता है; अफ्रीका और दक्षिण एशिया में अधिक है। इसका ओषधीय प्रयोग मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ। इसकी ग्रन्थि सुखाकर 'खट्टाशी' नाम से बेचते थे, इसमें भी कुछ गन्ध होती है अतः तैल को सुवासित करने के लिए इसका व्यवहार होता था। हकीम लोग इसका व्यवहार करते थे। भारत में गन्धद्रव्यों का जो व्यापार था उसमें इसका प्रमुख स्थान था।

बर्नियर ने अपनी यात्रा (१६५६-१६६८ ई०) के क्रम में इसका वर्णन किया है।[2] इथिओपिया का राजदूत जब औरंगजेब के दरबार में आया तब उसे राजा की ओर से एक बड़े (आधा फुट व्यास) वृषशृंग में भरकर जबाद भेंट किया गया (वही, पृ० १३५)।

५. **प्रवाल-मुक्ता आदि**—समुद्र से प्राप्त प्रबाल, मुक्ता और शंख, का प्रयोग ई० पू० से हो रहा है क्योंकि चरकसंहिता में इसका उल्लेख और प्रयोग है। हिन्दमहासागर से ये द्रव्य प्राप्त कर विदेशों में भी भेजे जाते थे। रोमन स्त्रियाँ भारतीय मोती बड़े चाव से पहनती थीं। मध्यकाल में बसरा में भारतीय मोतियों का वेधन होकर तब युरोप भेजा जाता था। भूमध्यसागर से भी प्रवाल भारत में

---

१. सुश्रुतसंहिता (सूत्र० ४६।७६) में 'पूतिघास' का उल्लेख पर्णमृगों में है। डल्हण ने इसकी व्याख्या में लिखा है—'पूतिघासो वृत्तबिडालः सुगन्धिवृषणः 'कर्पूरक' इति लोके'। सुश्रुत का क्या अभिप्राय है कहना कठिन है किन्तु डल्हण ने स्पष्टतः 'पूति' का ही यहाँ वर्णन किया है।

२. बंगाल का वर्णन करते हुए लिखा है—यहाँ सर्वोत्तम लाह, अफीम, जबाद, पीपल, और अनेक औषधियाँ होती हैं।
एफ० बर्नियर : ट्रैवल्स इन दी मुगल इम्पायर (ए० डी० १६५६-१६६८), दिल्ली (द्वि० सं०, १९६८) पृ० ४३७-४४०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आता था। इन समुद्री पदार्थों का व्यापार दक्षिण भारत से विशेष होता रहा। चरककाल में इनके चूर्ण का प्रयोग था, बाद में रसशास्त्र के आविर्भाव के बाद इनकी भस्म बनने लगी। हकीमों के संपर्क से गुलाबजल से घोंटकर मुक्ता और प्रवाल की पिष्टि बनाई जाने लगी।

चरक में प्रवाल का प्रयोग तो है (१।१।५८ आदि) किन्तु मुक्ता का प्रयोग एक ही स्थल (चि० १७।१२५) पर केवल दृढ़बलकृत अंश में है। इससे अनुमान होता है कि प्रवाल का प्रयोग पहले प्रारम्भ हुआ और मुक्ता का औषधीय प्रयोग गुप्तकाल में प्रचलित हुआ। शंख का प्रयोग भी चरक में है। शुक्ति का प्रयोग वाग्भट से प्रारम्भ होता है (अ० हृ० सू० १५।४३, ३०।१८ आदि)। वराटक और शम्बूक का प्रयोग संभवतः मध्यकाल में प्रारम्भ हुआ।

६. **शरीरधातु**—रक्त, मांस, मेद, शुक्र आदि का चिकित्सार्थ प्रयोग चरककाल से ही होता रहा।[1] अत्यधिक रक्तस्राव होने पर अजा का रक्त पीने का विधान है। क्षय-शोष के मांसाहारी प्राणियों का मांसाहार विहित है। चतुःस्नेहों में मेद और मज्जा समाविष्ट हैं। शुक्रक्षय में अनेक प्राणियों के शुक्र और अण्ड का सेवन करने का विधान है। मांसवर्ग में विभिन्न जन्तुओं के मांस का गुणधर्म बतलाया गया है। इससे स्पष्ट है कि उनका औषधीय प्रयोग अवश्य था और लोग आहार में भी उसका सेवन करते थे। बौद्धधर्म के प्रभाव से मांसाहार सीमित हो गया। सम्राट् अशोक ने अपनी पाकशाला में मांस प्रायः वर्जित कर दिया था। धर्मशास्त्रों में भी मांसाहार को निकृष्ट माना गया। तब भी मांसाहार अब तक चला ही आ रहा है।

७. **शारीरमल**—विभिन्न प्राणियों के मूत्र का प्रयोग चिकित्सा में चिरकाल से होता रहा है।[2] मध्यदेश में गौ की बहुलता के कारण गोमूत्र का ही प्रयोग विशेष हुआ। मरुप्रदेश में विशेषतः ऊँट, बकरी और भेंड़ के मूत्र का प्रयोग होता रहा। पुरीष में गोबर (गोमय) का प्रयोग पञ्चगव्य के रूप में हुआ है। अश्वशकृत् का भी प्रयोग क्रिमिघ्नरूप में विहित है।[3] अजा-शकृत् का यक्ष्मा[4] और नेत्ररोगों में प्रयोग है। नरमूत्र का भी प्रयोग विष आदि में हैं।

८. **स्तन्य**—नारी तथा अनेक पशुओं के स्तन्य का प्रयोग भी चरकसंहिता (सू० १।१०७) में विहित है अतः ई० पू० से इसका प्रचलन है। मध्य एशिया

१. च० शा० ६।९
२. च० सू० १।९५
३. च० वि० ७।२४
४. सु० उ० ४१।५४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा मरुप्रदेशों में ऊँट का दूध व्यवहृत है। गुजरात में बकरी का दूध अधिक प्रयुक्त होता है।[1]

द्रव्यगुण का वाङ्मय

प्राचीन काल

वैदिक निघण्टु—वैदिक वाङ्मय द्रव्यगुण का प्राचीनतम स्रोत है। ऋग्वेद में भारत की प्राचीनतम वनस्पतियों का उल्लेख मिलता है। अथर्ववेद में इनकी संख्या और भी अधिक हो गई।[2] भारत जैसे विशाल देश में यह स्वाभाविक ही था कि जैसे-जैसे वनस्पतियों का परिचय तथा उनके गुणकर्मों का ज्ञान होता गया वैसे-वैसे ग्रन्थों में उन्हें स्थान मिलता गया। वैदिक वाङ्मय में भी निघण्टु से द्रव्यगुण का घनिष्ठ सम्बन्ध है जिसके कारण आज भी द्रव्यगुण के ग्रन्थ 'निघण्टु' नाम से प्रचलित हैं। निघण्टु एक प्रकार के शब्दकोष हैं जो पर्यायों के द्वारा वस्तु के स्वरूप का ज्ञान कराते हैं। इन्हीं की व्याख्या निरुक्त है जो छः वेदांगों में अन्यतम है। पर्यायों के माध्यम से द्रव्यों के सम्बन्ध में जानकारी देने की परम्परा आगे भी चलती रही। कुछ काल बाद द्रव्यों के गुणकर्म भी उसमें समाविष्ट किये जाने लगे और निघण्टुओं की दूसरी धारा प्रवाहित हुई। इस प्रकार द्रव्यगुण का वाङ्मय दो रूपों में उपलब्ध होता

---

१. जहाँगीर को श्वासकष्ट और हृच्छूल हुआ तब हकीम रूहुल्ला के निर्देशानुसार उसने ऊँटनी और बकरी का दूध लेना शुरु किया। तुजुक-ए-जहाँगीरी, भाग २, पृ० २२२। जहाँगीर ने लिखा है—'एक हिरनी दुहने पर चार सेर दूध देती थी जो गाय या भैंस के दूध के समान ही लगता था। लोग कहते हैं, यह श्वास-रोग में लाभकर हैं।—वही, भा० १, पृ० १४८
हकीम अली ने ऊँटनी का दूध बतलाया जो लाभकर हुआ।
—वही, भाग २, पृ० ४६

२. देखें—इसी ग्रन्थ का पूर्वखण्ड
G. P. Mazumdar : Vedic Plants, B. C. Law Vol. Pt. I P. P. 645-666
Jyotir Mitra : Medicinal Plants of Vedic Antiquity, Nagarjuna, Vol. XIII, No. 12; Vol, XIV, Nos. 1–3, August—November. 1970
दिनेशचन्द्र शर्मा : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र (आयुर्वेद विश्वविद्यालय, जामनगर, १९६८-६९ ई०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है एक जिनमें केवल द्रव्यों के पर्याय होते हैं, गुणकर्म नहीं होते यथा पर्यायरत्नमाला और दूसरे जिनमें पर्याय के साथ गुणकर्म भी होते हैं यथा मदनपालनिघण्टु। वाग्भटकृत अष्टांगसंग्रह से ही औषधद्रव्यों के गुणकथन की विधिवत् परंपरा प्रारम्भ होती है यद्यपि चरक और सुश्रुत में भी इनके गुणकर्म छिटपुट वर्णित हैं।

संहितोत्तरनिघण्टु—काश्यपसंहिता के उपोद्घात में पं० हेमराज शर्मा ने यह सूचना दी है कि उनके पास सुश्रुतसंहिता की कोई हस्तलिखित प्रति है जिसके अन्त में लिखा है 'अतः निघण्टुर्भविष्यति' और फिर इसके अन्त में 'इति सौश्रुत्यां संहितायां महोत्तरायां निघण्टुः समाप्तः' है। यद्यपि इस ग्रन्थ के स्वरूप, विषयवस्तु आदि के सम्बन्ध में कोई सूचना इस प्रसंग में नहीं दी गई तथापि इससे यह अनुमान किया जा सकता है कि प्राचीन संहिताओं के पीछे परिशिष्ट में निघण्टुभाग जोड़ने की परम्परा रही हो और सम्भवतः इसी कारण ग्रन्थ के मुख्य कलेवर में द्रव्यगुण का वर्णन पृथक् से नहीं किया गया। सिद्धसारसंहिता के उत्तर भाग में निहित निघण्टु से भी इस तथ्य की संपुष्टि होती है।

रसवैशेषिक—सम्भवतः सुश्रुतप्रतिसंस्कर्त्ता नागार्जुनद्वारा इसकी रचना पांचवीं शती में की गई (देखें पृ० ५५)। यह नरसिंहकृतभाष्य के साथ त्रिवेन्द्रम् से १९२८ में प्रकाशित हुआ है। चिकित्सिकलिका-व्याख्या में चन्द्रट ने रसवैशेषिक को अनेक बार (पृ० १७, १८, २२) उद्धृत किया है किन्तु यह सम्भवतः उससे भिन्न कोई चिकित्सा-ग्रन्थ प्रतीत होता है।

मध्यकाल

अष्टांगनिघण्टु—वाहटाचार्यकृत अष्टांगनिघण्टु या अष्टांगहृदयनिघण्टु की पाण्डुलिपियाँ दक्षिणभारत के पुस्तकालयों में हैं। इनके आधार पर प्रस्तुत लेखक द्वारा सम्पादित होकर यह हाल ही में प्रकाश में आया है।[1] इसमें अष्टांगहृदय में कथित गणों के द्रव्यों का पर्यायशैली से वर्णन है। इसके बाद कुछ प्रकीर्ण द्रव्यों का भी वर्णन किया गया है।

इसके प्रणेता वाहटाचार्य अष्टांगहृदयकर्ता वाग्भट से भिन्न व्यक्ति हैं। कुछ द्रव्य इसमें ऐसे भी हैं जो अष्टांगसंग्रह और अष्टांगहृदय दोनों में नहीं है यथा पूति।[2] जेज्जट, पर्यायरत्नमाला (दोनों ९वीं शती), चक्रपाणि (११वीं शती) आदि

---

१. कुप्पुस्वामी शास्त्री शोध-संस्थान, मद्रास, १९७३

२. इसके अतिरिक्त अन्य ऐसे तथ्य हैं जो भिन्नता प्रदर्शित करते हैं। देखें—उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका, पृ० २२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ने इस निघण्टु का उपयोग किया है[1] अतः यह उनसे पूर्व ८वीं शती का है।

पर्यायरत्नमाला—यह शिलाह्लदनिवासी इन्द्रकरसूनु माधव की रचना है। अनेक विद्वान् इसे इन्दुकर मान तदात्मज माधव को रुग्विनिश्चय (माधवनिदान) कर्ता के रूप में ग्रहण करते हैं किन्तु, जैसा पिछले अध्यायों में दिखाया गया है, अनेक माधवों के मध्य कम से कम तीन माधव स्पष्ट रूप से पृथक्-पृथक् उभरते हैं—

१. रुग्विनिश्चयकर्त्ता माधव (चन्द्रकरात्मज)
२. पर्यायरत्नमालाकार माधव (इन्द्रकरसूनु)
३. द्रव्यगुणकर्ता माधव

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला के रचयिता माधव उपर्युक्त दोनों माधवों से भिन्न हैं। इनके पिता का नाम इन्द्रकर था और निवासस्थान शिलाह्लद था। शिलाह्लद भागलपुर के पास पुरातन विक्रमशिला विश्वविद्यालय का अधिष्ठान पथरघट्टा नामक स्थान है। संभव है, माधव इस विश्वविद्यालय में अध्यापक रूप से संबद्ध हों।[2]

तारापद चौधरी ने इन्हें रुग्विनिश्चयकर्ता मानकर इनका काल ७वीं शती निर्धारित किया है[3] किन्तु वस्तुतः दोनों भिन्न होने के कारण इसे स्वीकृत नहीं किया जा सकता। रुग्विनिश्चय सर्वप्रथम वृन्द (९वीं शती) द्वारा उद्धृत ही नहीं अपितु अनुसृत है जबकि पर्यायरत्नमाला को सर्वानन्द[4] (१२वीं शती) के पूर्व किसी ने उद्धृत नहीं किया। आभ्यन्तर साक्ष्यों के आधार पर यह धन्वन्तरिनिघण्टु के पूर्व ठहरता है क्योंकि धन्वन्तरिनिघण्टु में अहिफेन, भंगा और यशद का वर्णन है तथा रसरत्नसमुच्चय के वचन भी उसमें मिलते हैं[5] जब कि पर्यायरत्नमाला में इनका अभाव है। यह स्मरणीय है कि पर्यायरत्नमाला में 'विजया' शब्द हरीतकी और तर्कारी के लिए आया है,[6] भंगा के लिए नहीं। पर्यायरत्नमाला में वार्त्तिक के

---

१. अमरकोशव्याख्याकार सर्वानन्द (१२ वीं शती) ने भी वाहट (निघण्टु) को उद्धृत किया है—
'मत्स्यण्डिकाखण्डसिताः क्रमेण गुरुवत्तराः इति तु वाहटः'—वैश्यवर्ग ९।४३
२. भिषजा माधवेनैषा शिलाह्लदनिवासिना। यत्नेन रचिता रत्नमालेन्द्रकरसूनुना॥
३. पर्यायरत्नमाला—तारापदचौधरीसंपादित, पटना युनिवर्सिटी जर्नल, भाग २, १९४६, भूमिका, पृ० १–२
४. अमरकोश—भाग २, पृ० ९१; ८१ भाग ३, पृ० २३९, २४५, २८२ आदि। 'माधव'; 'रत्नमाला', 'वैद्यकरत्नमाला' नामों से इसके उद्धरण हैं।
५. धन्वन्तरिनिघण्टु ६।४,२७,२८
६. शिवाजयन्त्योर्विजया।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लिए 'वातिंगन' शब्द आया है जो फारसी 'वार्दिगान' से निष्पन्न है। इसमें पारद, गंधक, अभ्रक आदि का वर्णन है जो रसशास्त्र की विकसित स्थिति का द्योतक है जब कि माधवचिकित्सित में कोई रसयोग नहीं है। ब्रध्नरोग का बर्णन माधवनिदान में नहीं है जब कि वृन्दमाधव में है; पर्यायरत्नमाला में भी यह शब्द आया है। यह सब तथ्य पर्यायरत्नमालाकार को ८वीं शती के बाद ले जाते हैं। इसके अतिरिक्त, इस ग्रंथ का उपसंहारपद्य 'सुरूपा सुपदन्यासा सत्कुलोत्था सुभाषिणी' महाकवि माघ के एक पद्य[1] की अनुकृति है। माघ ७वीं या ८वीं शती के थे।

इस प्रकार पर्यायरत्नमाला का काल धन्वन्तरिनिघन्टु (१० वीं शती) के कुछ पूर्व तथा ८ वीं शती के बाद अर्थात् ९वीं शती सिद्ध होता है।

सिद्धसारनिघण्टु—बोद्ध आचार्य दुर्गगुप्तात्मज रविगुप्तकृत सिद्धसार के उत्तरभाग में निघण्टु है। यह 'सारोत्तरनिघण्टु' के नाम से भी विदित है। इसमें कुल १९३ अनुष्टुप् पद्य हैं और अन्त में द्रव्यावली है। मुख्य ग्रन्थ सिद्धसार के द्वितीय अध्याय में द्रव्यगणों का विवरण है।

इस निघण्टु में अनेक विशेषतायें हैं जिनसे द्रव्यों पर नया प्रकाश पड़ता है। सालसारादिगण को इसमें शालादिगण नाम दिया है। वाग्भट ने अष्टांगहृदय में इसे असनादि कहा है और इसमें 'त्रिहिम' का पाठ किया है जब कि इसमें 'चन्दनद्वय' है। लघुपञ्चमूल में गोक्षुर के स्थान पर एरण्ड है। महाश्यामा को कण्ठकाढ्या कहा है। यह अभी तक अप्रकाशित है।

चन्द्रट (१० वीं शती) ने अपनी रचनाओं—योगरत्नसमुच्चय तथा चिकित्साकलिका-व्याख्या—मे सिद्धसार को उद्धृत किया है। चन्द्रनन्दन ने भी पदार्थचन्द्रिका में इसे उद्धृत किया है। अतः इसका काल ९वीं शती होना चाहिए। आगे चलकर अरुणदत्त, विजयरक्षित, निश्चलकर, आढमल्ल तथा शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है जिससे स्पष्ट है कि १५वीं शती तक इसका प्रचार विद्वत्समाज में था।[2]

---

१. अनुत्सूत्रपदन्यासा सद्वृत्तिः सन्निबन्धना।
शब्दविद्येव नो भाति राजनीतिरपस्पशा॥—शिशुपालवध २।११२

२. देखें प्रोफेसर आर. इ. इमेरिक के निम्नांकित लेख :—

I. The Sanskrit Text of Siddhasāra—Bulletin of The school of oriental and African studies, London, Vol. XXXIV, Ptrt 1, 1971, pp. 91–112.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टु—चक्रपाणि ने दो स्थलों पर निघण्टु के वचन उद्धृत किये हैं।[1] इससे स्पष्ट है कि यह निघण्टु चक्रपाणि (११ वीं शती) के पूर्व का होगा। यह इतना प्रचलित रहा होगा कि केवल 'निघण्टु' कहने से उसीका बोध होता होगा जैसे निदान कहने से माधवनिदान का। अमरकोश के व्याख्याकार क्षीरस्वामी[2] (११ वीं शती) और सर्वानन्द[3] (१२ वीं शती) ने भी अनेक स्थलों पर निघण्टु को उद्धृत किया है। श्रीकण्ठदत्त ने वृन्दमाधव की व्याख्या में 'निघण्टु' (३९।६) और 'निघण्टुकार' (११२०१) का उल्लेख किया है। आढमल्ल की शार्ङ्गधरसंहिता-व्याख्या में भी निघण्टु उद्धृत है (खण्ड २, ६।९-११)। शिवदाससेन (१५ वीं शती) ने भी उसे उद्धृत किया हैं।[4]

धन्वन्तरिनिघण्टु[5]—अब तक यह प्राचीनतम निघण्टु माना जाता रहा। कुछ विद्वान् कहते हैं कि अमरकोष का वनौषधिवर्ग धन्वन्तरिनिघण्टु पर आधारित है[6] अतः उसका काल अमरकोष (५ वीं या ६ठीं शती) के बहुत पूर्व होगा जबकि कुछ

II. On Ravigupta's Gaṇas—B. S. O. A. S., London, Vol. XXXIV, Part 2, 1971, pp. 363–75.

III. New light on the Siddhasāra—B. S. O. A. S., London, Vol. XXXVII, Part 3, 1974, pp. 628–54.

१. पिण्याकः तिलकल्कः, निघण्टुकारस्त्वाह—पिण्याको हरितशिगुः।
—च० सू० २७।४

'लेलीतकः पाषाणभेदः औत्तरापथिकः, उच्यते हि निघण्टौ—
आसीद् दैत्यो महाबाहुर्लेलिहानो महासुरः।
योजनानां त्रयस्त्रिंशत् कायेनाच्छाद्य तिष्ठति॥
विष्णुचक्रेण संछिन्नः पपात धरणीतले।
वसा तस्य समाख्याता लेलीतक इति क्षितौ॥'—च० चि० ७।७०

२. अमरकोश (क्षीरस्वामी तथा सर्वानन्द की व्याख्याओं के सहित), त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज, १९१५ (भाग २), १९१७ (भाग ३), भाग २, पृ० २,१००, २९२; भाग ३ पृ० २१६, २४३।

३. वही, भाग ४ (१९१७)—पृ० ११३

४. चक्रदत्त (कलकत्ता संस्करण), पृ० ७०, ११७

५. आनन्दाश्रम पूना, १९२५

६. Amarakosa, Oriental Book Agency, Poona, 1941, Introduction, PP. VII-VIII

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लोग अमरकोष को ही १० वीं शती में मानते हैं[1]। अस्तु, किसी निर्णय पर पहुँचने के पूर्व विभिन्न साक्ष्यों पर विचार करना चाहिए।

बाह्य साक्ष्य—१. हेमाद्रि एवं अरुणदत्त (१३ वीं शती) ने इसे उद्धृत किया है अतः १३ वीं शती के बाद का नहीं हो सकता।

२. हेमचन्द्र (१२ वीं शती) ने अभिधानचिन्तामणि की व्याख्या में तथा वर्धमान (१२ वीं शती) ने गणरत्नमहोदधि में इसे उद्धृत किया है अतः यह १२ वीं शती के पूर्व का है। मंख (१२ वीं शती) ने भी अपने पूर्ववर्ती कोशों में इसका उल्लेख किया है।[2]

३. अमरकोष के व्याख्याकार क्षीरस्वामी (११ वीं शती) ने इसे उद्धृत किया अतः यह ११ वीं शती के पूर्व का है।

आभ्यन्तर साक्ष्य—१. ग्रन्थकर्त्ता के प्राक्कथन से पता चलता है कि इनके पूर्व कई निघण्टुओं की रचना हो चुकी थी जिनका सार लेकर यह निघण्टु बनाया गया है।[3] इससे सिद्ध हैं कि धन्वन्तरिनिघण्टु आद्य निघण्टु नहीं है बल्कि अनेक निघण्टुओं की अनुगामिनी रचना है।

२. ग्रन्थ के प्रारम्भ में धन्वन्तरि को नमस्कार किया गया है तथा ग्रन्थ को धन्वन्तरि के मुख से प्रादुर्भूत कहा गया है[4]। इसके अतिरिक्त धन्वन्तरि के कर्त्तृत्व का कोई सम्बन्ध नहीं है जिससे इसकी प्राचीनता प्रमाणित हो। ऐसा आख्यान अपनी कृति का महत्त्व स्थापित करने के उद्देश्य से किसी परवर्ती लेखक द्वारा जोड़ा गया होगा।

३. इसके विपरीत, इसमें अफिहेन[5], जयपाल[6], अग्निजार[7], विजया[8] आदि ऐसे द्रव्यों का वर्णन मिलता है जो मध्यकाल में मुसलमानों के सम्पर्क से यहाँ

१. त्रिकाण्डशेष, प्रस्तावना, पृ० ७

२. भागुरिकात्यहलायुधदुर्गासरसिंहशाश्वतादिकृतान्।
कोशान्निरीक्ष्य निपुणं धन्वन्तरिनिर्मितं निघण्टुञ्च॥

३. तथा निघण्टाम्बुनिधेरनन्ताद् गृह्णाम्यहं किञ्चिदिहैकदेशम्।

४. उपक्रम-पद्य, १, गुडूच्यादि वर्ग, १; गणद्रव्यावली ४।१६

५. ६।१२०–१२१;

६. १।२२७-२२८; ७।१३१-१३२

७. ६।२१-२२

८. १।३०-३१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रचलित हुए। 'म्लेच्छ'[1] और 'यवन'[2] शब्द संभवतः इन्हीं के लिए व्यवहृत हुआ है।

४. पारद के संस्कारों[3] का वर्णन रसशास्त्र की विकसित अवस्था का बोधक है जो लगभग १३ वीं शती में थी। तत्कालीन प्रमुख ग्रन्थ रसरत्नसमुच्चय के कुछ पद्य[4] इसमें मिलते भी हैं।

रसरत्नसमुच्चय का काल १२५० ई० है अतः १३वीं शती के अन्त के पूर्व धन्वन्तरिनिघण्टु को नहीं रख सकते।

संप्रति जो धन्वन्तरिनिघण्टु प्रचलित है उसमें द्रव्यावलि नामक ग्रन्थ भी मिला हुआ है। वस्तुतः आद्य भाग द्रव्यावलि ही है जैसा कि उपक्रम एवं उपसंहार के पद्यों से स्पष्ट होता है।[5] सातों वर्गों की औषधियों की गणना कर चुकने पर ग्रन्थकार ने कहा कि अब द्रव्यों का पर्यायकथन से वर्णन करेंगे किन्तु ऐसा न होकर पुनः धन्वन्तरि की वन्दना के पश्चात् द्रव्यों के गुणकर्म का निरूपण होने लगता है। इस सहसा क्रमभंग से पता चलता है कि द्रव्यावलि नामक मूल ग्रन्थ का उद्देश्य पर्यायशैली में द्रव्यवर्णन का था न कि गुणकर्मशैली से। इससे भिन्न इतर ग्रन्थ द्रव्यों के गुणकर्म का विवरण था। धन्वन्तरिनिघण्टु इन दोनों ग्रन्थों का संयुक्त रूप है जिसमें संभवतः पर्याय तो हैं द्रव्यावलि के और गुणकर्म हैं इतर ग्रन्थ के। यह संभव है कि इतर ग्रन्थ की संज्ञा धन्वन्तरिनिघण्टु ही हो जो गुणकर्म-वर्णन के कारण प्रमुख होकर द्रव्यावलि को अपने में समाविष्ट किये हैं। यदि पूरा ग्रन्थ एक होता तो पुनः बीच में नमस्कारात्मक मंगल की भी आवश्यकता न होती। ऐसा भी स्पष्ट होता है कि द्रव्यावलि पूर्ववर्त्ती रचना है और धन्वन्तरिनिघण्टु परवर्त्ती।

---

१. ४।६६; ६।९,४०,९७

२. ४।७१

३. ६।३७-३९; ३।१०९-११३

४. ६।१,५

५. द्रव्यावलिं विना वैद्यास्ते वैद्याः हास्यभाजनम्।
द्रव्यावल्यभिधानानां तृतीयमपि लोचनम्॥
द्रव्यावलिनिविष्टानां द्रव्याणां नामनिर्णयम्।
लोकप्रसिद्धं वक्ष्यामि यथागमपरिस्फुटम्॥ १५-१६
'शतत्रयं च द्रव्याणां त्रिसहस्त्यधिकोत्तरम्।
हिताय वैद्यविदुषां द्रव्यावल्यां प्रकाशितम्॥ उपक्रम ७,४
द्रव्यावलि की पांडुलिपियाँ मिथिला शोधसंस्थान, दरभंगा में है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आभ्यन्तर साक्ष्य में जो तथ्य ऊपर दिये गये हैं उनमें कोई भी द्रव्यावलि में नहीं मिलता। यह सम्भव है कि क्षीरस्वामी ने द्रव्यावलि भाग को दृष्टि में रखकर लिखा हो क्योंकि अमरकोष में पर्यायों का ही प्रसंग था, गुणकर्म का नहीं। अरुणदत्त के काल तक धन्वन्तरिनिघण्टु का रूप पूर्ण हो चुका होगा यद्यपि कुछ तथ्य बाद में भी समाविष्ट हुये। यशद का प्रसंग इसी प्रकार का है। यशद द्रव्यतः 'खर्परसत्व', रीतिहेतु आदि शब्दों के द्वारा ज्ञात था तथापि 'यशद' शब्द फारसी 'जस्त' का संस्कृत रूपान्तर है जो सर्वप्रथम आढमल्ल (१४वीं शती) की टीका में मिलता है। उसके पूर्व किसी ग्रन्थ में नहीं मिलता। भावप्रकाश (१६वीं शती) के पूर्व उसे सप्तधातुओं में भी स्थान नहीं मिला। यदि यशद का उल्लेख करनेवाला प्रथम ग्रन्थ धन्वन्तरिनिघंटु को ही मानें तब भी इसे १३वीं शती से पूर्व रखना कठिन है।

इस प्रकार आद्य भाग और उत्तर भाग दोनों को मिलाकर देखने से धन्वन्तरिनिघण्टु का काल १०वीं से १३वीं शती होता है।

जैसा पहले कहा गया हैं, धन्वन्तरि इस ग्रन्थ के कर्त्ता नहीं हैं। पूना की अनेक पाण्डुलिपियों में इसका कर्त्ता स्थानेश्वरनिवासी कृष्णभोगिक का पुत्र महेन्द्रभोगिक लिखा है।[1] सम्भव है, ग्रन्थ को वर्तमान रूप इसी ने दिया हो।

धन्वन्तरिनिघंटु की विषयवस्तु सात वर्गों में विभाजित है—

१. गुडूच्यादि	२. शतपुष्पादि
३. चन्दनादि	४. करवीरादि
५. आम्रादि	६. सुवर्णादि
	७. मिश्रकादि[2]

इन्दुनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने इन्दुनिघण्टु के अनेक उद्धरण दिये हैं*

'कृष्णभोगिकपुत्रेण स्थानेश्वरनिवासिना।
महेन्द्रभोगिकेनेयं कृता द्रव्यावली शुभा॥'

१. Descriptive Catalogue of Sanskrit Mss., B, O. R. I., Vol. XVI, Pt. I, Serials 105–111

२. देखें—P. V. Sharma : The date of Dhanwantari Nighantu, I. J. H. S., Vol. 5, No. 2. 1970, PP, 364.370

* १. उदुम्बरस्तु यज्ञांगः सुचक्षुः श्वेतवल्कलः।
हेमदुग्धः कृमिफलः क्षीरवृक्षः सकाञ्चनः॥

२. तुंगः पुष्पकसंज्ञः स्यात् पुंनामा रक्तकेसरः।
पुंनागः पुरुषाह्वश्च केषांचित् पद्मकेसरः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जिससे प्रतीत होता है कि यह उस काल में प्रचलित निघण्टु रहा होगा। अष्टांगसंग्रह

---

३. त्रिष्वर्थेषु नादेयी तर्कारी जलेवतसी भूमिजम्बूश्च।
चतुर्ष्वर्थेषु अक्षीवः समुद्रलवणं नीली महानिम्बः सौभाञ्जनश्च॥

४. रोध्रः कषायकृद् वल्कश्चित्रलको मधुपुष्पकः।
व्रणौषधं कालहीनो हिमपुष्पोऽक्षिभेषजम्॥
उत्सादनो घनत्वक्कस्तरः शबरपादपः।
रोध्रः शाबरकः श्वेतत्वगतीसारभेषजम्॥
द्वितीयः पट्टिकारोध्रो बृहत्पत्रस्तिरीटकः।
उत्तालकस्तिलकश्च पट्टी लाक्षाप्रसादनः॥

५. शेलुः श्लेष्मातकः शीतो वसन्तकुसुमस्तथा।
उद्दालकः कुर्बुरटः शेलुको भूतवृक्षकः॥
पिच्छिलः शापितः शेलुस्तथासद्बीजकुत्सितः। लेसवाटो बहुवारः—

६. ककुभस्त्वर्जुनः पार्थो नदीसर्जो धनंजयः।
अश्रीफलश्चित्रयोगी वीरो वीरान्तकस्तथा॥
ऽयर्थे-इन्द्रद्रुः कुटजोऽर्जुनश्च।

७. वन्दनी पुष्पशोभना। गंधप्रियंगुः कारम्भालता, गौर्वणंभेदिनी॥

८. आहार्यं बहुवीर्यं च तुमुलं च विभेदकम्।

९. अग्निमन्थोऽग्निमथनस्तर्कार्यरणिको जयः।
अरणिः कणिका सैव तपनो वैजयन्तिकः॥

१०. संज्ञेया हेमनामभिः

११. स्निग्धच्छदा मधुश्रेणी पृथुस्त्वगुरसवाहिनी।
स्वश्रेणी मधुमती मुरुंगी द्विजमेखला॥
आलोलनी योगवहा मोरटा च मधुस्रवा।
सुपोषिता स्निग्धपर्णी गोकर्णी सा मधूलिका॥
पीलुपर्णी कर्मकरी प्रमथा मधुमतीति च।

१२. ऋष्भप्रोक्ता स्वयंगुप्ता कपिकच्छूश्च कण्डुरा।
आत्मगुप्ता दुरालम्भा जंगलिर्दुरभिग्रहा॥
अभ्यङ्गा वृषभी गुप्ता कण्डुरा शूकशिम्बिका।
कपिरोमफला चैव समाना प्रावृषायणी॥
ज्ञेया जांगलिका चैव साजहा प्रावृषायणी।

१३. ब्रह्मरीतिस्तथा स्पृक्का भार्ङ्गी च ब्राह्मणी मता।

१४. विकसा कालमेषी तु कालमेष्टी च झिंगिका।
रक्ता आभीरिका चेति—

१५. पिप्पली तण्डुलफला वैदेही कृष्णतण्डुला।

१६. कोकदलं बदरीपत्राख्यया ज्वकम्।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तथा अष्टांगहृदय का टीकाकार इंदु इससे भिन्न व्यक्ति हैं क्योंकि हेमाद्रि (१३वीं शती) के पूर्व किसी ने उसे उद्धृत नहीं किया। शिवकोष में भी इन्दुनिघण्टु के तीन उद्धरण मिलते हैं[1] अतः १७वीं शती में यह उपलब्ध रहा होगा। सम्प्रति इसका कोई पता नहीं चलता।

चन्द्रनन्दननिघंटु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत* होने के कारण उसके पूर्व का है। संभवतः अष्टांगहृदय के व्याख्याकार चन्द्रनन्दन की ही यह रचना है।

---

१७. स्पृक्का माला पंकमुष्टिर्नीला देवी लतागुरुः।
देवपुत्री च लंकोपी शीता पंकजमुष्टिका॥
स्रग्मारुता कोटिवर्षा निर्माल्याशावधूः स्मृता।
१८. कर्कशाख्यः करंजःस्यात् स काम्पिल्यः पटोलकः।
१९. चक्रमर्दः स्मृतश्चक्री प्रपुन्नाडश्च नामतः।
एकरेतो दद्रुहरो मेषाक्षैडगजश्च सः।
२०. अवदत्तं रणप्रियम्।
२१. त्रिपुटेतीन्दुः (एला)
२२. बदरी स्निग्धपत्रा च राष्ट्रवृद्धिकरी तथा।
फलं तस्याः स्मृतं कोलं कोकिलं फेनिलं कुहम्॥
लोलं सूचमफलं तत्तु ज्ञेयं कर्कन्धु कन्दुकम्।
स्वादुः कटुः सिंचितिका तच्च कोलं फलं मतम्॥
कोलिफलत्वात् कोलिकमिति सभ्यः पाठः, कोकिलमिति तु वैद्याः।

१. पूतीकरञ्जः सुमनास्तथा कलहनाशन इतीन्दुः—शिवकोष, पूना संस्करण (१९५२), पृ० १६४। शेष दो क्षीरस्वामी द्वारा निर्दिष्ट उद्धरणों में से ही हैं।

१. अग्निमन्थोऽग्निमथनस्तर्कारी वैजयन्तिका।
वह्निमन्थोऽरणिः केतुर्जयः पावकमन्थनः॥
तर्कार्यां वैजयन्ती च वह्निनिर्मथनी जया।
अरणिका जयन्ती च विजया च जयावहा॥
२. कुर्यकस्तरणिर्वल्ली कुमार्यलिकुलप्रिया।
३, 'ऽप्यर्थे सहा मुद्गपर्णी बला तरणी च'
४. चव्या कोला च चविका श्रेयसी गजपिप्पली।
यवना कोलवल्ली तु चव्यं कुञ्जरपिप्पली॥
५. बला भद्रौदनी हृषा तथा वाट्यालकः स्मृतः।
६. चण्डा धनहरी चौरी चोरपुष्पा च तस्करी।
तथा निशाचरी च स्यात् केशिनी ग्रन्थिकेश्यपि॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चन्द्रनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने चन्द्र* और चन्द्रनन्दन दोनों निघण्टुओं के पृथक् उद्धरण किये हैं जिससे ये दोनों भिन्न प्रतीत होते हैं। ११वीं शती में उद्धृत होने के कारण यह उसके पूर्व का ही है।

निमिनिघण्टु—क्षीरस्वामी (११वीं शती) ने निमि के कुछ वचन उद्धृत किये हैं[1] जिनके आधार पर अनुमान होता है कि निमि का भी कोई निघण्टु था।

हरमेखलानिघण्टु—यह क्षीरस्वामी (११वीं शती) द्वारा उद्धृत है[2] अतः उसके पूर्व १०वीं शती का है। निश्चलकर और शिवदाससेन ने भी इसे उद्धृत किया है। यह त्रिवेन्द्रम से प्रकाशित हुआ था।

द्रव्यगुणसंग्रह—यह चक्रपाणिदत्त (११वीं शती) की द्रव्यगुणसम्बन्धी कृति है। इसमें आहारद्रव्यों का प्रतिपादन मुख्यतः किया गया है। चक्रपाणिदत्त ने अनेक

---

* १. पलाशः किंशुकः पर्णो यज्ञियो रक्तपुष्पकः।
वारश्रेष्ठो वातपोथो ब्रह्मवृक्षः समिद्वरः॥
२. वेतसो विदुलो नम्रो वञ्जुलो दीर्घपत्रकः।
नादेयी गंधपत्रश्च जलौकाः सम्मृतस्तथा॥
नदीकूलप्रियस्त्वन्यः सुशीतो घनपुष्पकः।
जलजातस्तोयकामो विदुलो जलवेतसः॥
निचुलो वेतसादन्यो वक्ष्यते स्थलवेतसः।
३. अरिष्टस्तु सुमंगल्यः कृष्णबीजोऽर्थसाधनः।
रक्षाबीजः शीतफेनः फेनिलो गर्भपातनः॥
४. बदरी गोपघोण्टा च घोण्टा घुण्टाथ कोंकिला।
स्निग्धच्छदा कोलफला राष्ट्रवृद्धिकरी तथा॥
५. अम्लिका चुक्रिका चुक्रा साम्ला शुक्राथ शुक्तिका।
अम्लिका चाम्लिका चिञ्चा तिन्तिडीकं च तिन्तिडी॥
६. रोहितको रोचनकः प्लीहघ्नो रक्तपुष्पकः।
रक्तघ्नो रोहितो रक्तो रोही दाडिमपुष्पकः॥
७. शिवाऽन्यथा पूतनेति।

१. 'पाटली कृष्णवृन्तेति निमिः'—भाग २. ११० (त्रिवेन्द्रम संस्करण)
'माक्षिकं तैलवर्णं स्याद् घृतवर्णं तु पौत्तिकम्।
भ्रामरं तु भवेच्छुक्लं क्षौद्रं तु कपिलं भवेत्॥—वही पृ० २४२

२. अमरकोष, क्षीरस्वामी-व्याख्यासहित, पूना संस्करण, १९४१, पृ० १०१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तन्त्रों का सार लेकर इसमें संकलित किया है।[1] इसकी विषयवस्तु १५ वर्गों में विभाजित है यथा—धान्यवर्ग, मांसवर्ग, शाकवर्ग, लवणादिवर्ग, फलवर्ग, पानीयवर्ग, क्षीरवर्ग, तैलवर्ग, इक्ष्वादिवर्ग, मद्यादिवर्ग, कृतान्नवर्ग, भक्ष्यवर्ग, आहारविधि, अनुपान-विधि, मिश्रक। धान्यवर्ग के प्रारम्भ में रसगुणवीर्यविपाक के लक्षण दिये हैं।[2]

अरुणदत्तनिघण्टु—वर्धमान ने गणरत्नमहोदधि (पृ० २७७) में अरुणदत्त के अनुसार रसोन के गुणकर्म किये हैं।[3] इससे स्पष्ट है कि अरुणदत्त का कोई निघण्टु भी था जिसमें द्रव्यों के गुणकर्म वर्णित थे। यह अरुणदत्त कोशकार था या अष्टांग-हृदय का व्याख्याकार यह कहना कठिन है। यदि गणरत्नमहोदधि का रचनाकाल ११४० ई० स्वीकृत किया गया तो यह निघंटु अवश्य ही १०वीं या ११वीं शती का होगा। अधिक सम्भावना है कि कोशकार अरुण ने ही आयुर्वेद का भी कोई निघण्टु लिखा हो जैसे हेमचन्द्र ने अभिधानचिन्तामणि के अतिरिक्त निघण्टुशेष की रचना की।

वाष्पचन्द्रनिघण्टु—वोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या में वाष्पचन्द्रकृत निघण्टु के अनेक श्लोक उद्धृत किये हैं।[4] इससे पता चलता है कि व्याख्याकार के

---

१. तन्त्राणां सारमाकृष्य द्रव्याणां गुणसंग्रहः। भिषजामुपकाराय रचितश्चक्रपाणिना॥

२. द्रव्यगुणसंग्रह के दो प्रकाशन उपलब्ध हैं—एक पं० ज्वालाप्रसादमिश्रकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित (१९२५), और दूसरा कलकत्ता से प्रकाशित।
चक्रपाणिदत्त का परिचय एवं कालसंबन्धी 'विचार मेरे 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' (पृ० २१०) में देखें।

३. 'रसोनः स्निग्धश्चोष्णश्च लशुनः कटुको गुरुः।'
अरुणदत्ताभिप्रायेणैते दर्शिताः।—गणरत्नमहोदधि, पृ० २७७

४. अश्लिकाकन्दः—'अश्लिका स्वल्पविटपा सुकुमाराऽम्लनालिका। प्रायेण कामरूपादौ तत्कन्दश्चार्शसे हितः॥ इति वाष्पचन्द्रोक्तः।
'शामठं काण्डीरभेदः—यदाह वाष्पचन्द्रः'—हरितो द्विविधः प्रोक्तः काण्डीरस्तत्त्व-दर्शिभिः। कटुकः कच्छदेशादौ भवत्यन्स्वाममेव तु। द्वितीयस्तूदकोद्भुतः शामठ इति गीयते॥'
'गृञ्जनः पलांडुभेदः, तथा च वाष्पचन्द्रः'—गन्धाकृतिरसैस्तुल्यो गृञ्जनस्तु पलांडुना। दीर्घनालाग्रपत्रत्वाद् भिद्यतेऽसौ पलांडुतः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

साथ-साथ वाष्पचन्द्र निघण्टुकार भी थे। वाष्पचन्द्र का काल १२वीं शती है (देखें 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास', पृ० २१३)।

निघण्टुशेष—यह जैन आचार्य हेमचन्द्र की रचना है।[1] यह पर्यायशैली पर आधारित निघण्टुग्रन्थ है। इसमें छः काण्ठ हैं—वृक्षकाण्ड, गुल्मकाण्ड, लताकाण्ड, शाककाण्ड, तृणकाण्ड और धान्यकाण्ड। हेमचन्द्र का काल १२ वीं शती है। इसके अतिरिक्त, अभिधानचिन्तामणि, अनेकार्थसंग्रह और देशीनाममाला उनकी रचनायें हैं। रुद्राक्ष, पुत्रंजीव, चाणक्यमूलक, यावनाल आदि का वर्णन द्रष्टव्य है।

सोढलनिघण्टु

यह अभी तक अप्रकाशित है।[2] इसकी एक पांडुलिपि[3] में 'गुणसंग्रह' और दूसरी[4] में 'नामसंग्रह' नाम है। संभवतः ये दोनों एक दूसरे के पूरक हैं और दोनों मिलकर 'नामगुणसंग्रह' सोढलनिघण्टु का पूर्णरूप हो।[5]

सोढल रायकवालवंशीय भास्कर के पुत्र और गुजरात के निवासी थे। इनके पुत्र शार्ङ्गदेव संगीतरत्नाकर के रचयिता के रूप में प्रसिद्ध हैं। सोढल आयुर्वेद के अतिरिक्त, साहित्य, व्याकरण और ज्योतिष के प्रौढ विद्वान तथा एक सुकवि थे। प्रारंभिक मंगलाचरण से वह सूर्यभक्त प्रतीत होते हैं।

विषयवस्तु—सोढलनिघण्टु ने धन्वन्तरिनिघण्टु का अनुसरण किया है। द्रव्यावलि प्रायः समान—ही हैं, लक्ष्मणादि वर्ग सोढलनिघण्टु में विशिष्ट है। इसमें निम्नांकित २७ वर्ग हैं—

---

१. भारतीय संस्कृति विद्यामन्दिर, अहमदाबाद द्वारा प्रकाशित (१९६८)। इसमें वल्लभगणि की टीका भी है। टीका में धन्वन्तरिनिघण्टु, इन्दुनिघण्टु, मदनपाल, चन्द्रनन्दन, चन्द्र, चामुंड, वोपदेव आदि के उद्धरण हैं।

२. बड़ौदा प्राच्य शोधसंस्थान द्वारा प्रकाशनाधीन। इसका सम्पादन प्रस्तुत लेखक ने किया है।

३. पा. सं. ३४९।१८८०-८१, भंडारकर संस्थान, पूना; लिपिकाल १४१२ ई०

४. पा. सं. ९२७।१८८४-८७, ,, ,, ,, १६५५ ई०

५. नामगुणसारसंग्रह की पांडुलिपियां यत्र तत्र मिलती हैं—देखें. पा० सं० ९१५। १८८४-८७, पूना। पुष्पिकाओं में इसका नाम कहीं नामसंग्रह और कहीं नामगुणसंग्रह मिलता है—'इति नामगुणसंग्रहाभिधाने गुडूच्यादिः प्रथमो वर्गः समाप्तः', 'निघण्टुसारसर्वस्वे धन्वन्तरिमतोद्धृते। चन्दनादिरयं वर्गस्तृतीयो नामसंग्रहे॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१. गुडूच्यादि	१०. क्षीर	१९. मूत्र
२. शतपुष्पादि	११. दधि	२०. शूकधान्य
३. चन्दनादि	१२. तक्र	२१. जूर्णा
४. करवीरादि	१३. नवनीत	२२. तृणधान्य
५. आम्रादि	१४. घृत	२३. शिम्बाधान्य
६. सुवर्णादि	१५. तैल	२४. कृतान्न
७. लक्ष्मणादि	१६. मधु	२५. अनुपान
८. पानीयादि	१९. इक्षु	२६. मांस
९ पानीय	१८. मद्य	२७. मिश्रकाध्याय

इसके बाद अष्टांगहृदय आदि के आधार पर रसगुणवीर्यविपाक आदि का वर्णन है।

द्रव्यों के प्रमुख गुणकर्म व्यावहारिक आधार पर दिये गये हैं। अधिकांश द्रव्यों का गुणकर्म एक ही पंक्ति में कह दिया गया है यथा 'वासकः क्षयकासघ्नो रक्तपित्तकफापहः'। इस प्रकार सूत्ररूप में यह चिकित्सकों के लिए अतीव उपयोगी है। द्रव्यों के प्रकारभेदों का भी निरूपण किया गया है यथा कर्पूरत्रितय, पाठाद्वय, खदिरद्वय आदि। चन्दन आठ प्रकार का कहा गया है। अरलु, मेथिका, तवक्षीर, श्वेतमरिच, पारसीकयवानी, वेतसाम्ल, बोल, कुन्दुरु, सिल्हक, कंकुष्ठ, धत्तूर, विषतिन्दुक, तुवरक, गृञ्जन, वाताम, खर्जूर, मानक, कुमारी, बब्बूली आदि द्रव्य महत्त्वपूर्ण हैं। धातुओं में यशद का वर्णन नहीं है।

काल—धन्वन्तरिनिघण्टु (१० वीं शती) का अनुसरण करने के कारण इसका काल उसके बाद का ही है। शार्ङ्गधर (१३ वीं शती) और मदनपाल (१४वीं शती) ने सोढल का अनुसरण किया है। शार्ङ्गदेव ने संगीतरत्नाकर में जो परिचय दिया है वह इसके कालनिर्णय में सर्वाधिक सहायक है। उसमें सोढल का सम्पर्क देवगिरि के यादव राजाओं—भिल्लम, जैत्र और सिंघण—इन तीनों से बतलाया गया है। सिंघण के नाम से दो योग भी गदनिग्रह में दिये गये हैं। संभव है, लेखक ने स्वयं बना कर राजा के सम्मान में उसका नाम रख दिया हो। यह स्मरणीय है कि सिंघण एक उदार विद्याप्रेमी और आयुर्वेदभक्त था जिसके आसपास चिकित्सकों का एक विशाल वर्ग विद्यमान था। सोढल सम्भवतः इस समाज का शिरोमणि था। इस प्रकार सोढल के जीवन का अधिकांश भाग १२ वीं शती में बीता और सिंघण के राज्यकाल (१२१२-१२४७ ई०) में उसका देहावसान हुआ[१]। यह स्मरणीय है कि

१. और देखें चतुर्थ अध्याय में गदनिग्रह का प्रकरण (पृ० २८८)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सोढल के पिता भास्कर, सिद्धमन्त्रकर्त्ता केशव के आयुर्वेद-गुरु थे। अतः सोढल और केशव प्रायः समकालीन ही थे। (देखें 'आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास' पृ० २९१-२९३)।

संभवतः सोढलनिघण्टु की रचना गदनिग्रह के पूर्व हुई क्योंकि गदनिग्रह में अहिफेन और भंगा आदि का प्रयोग है किन्तु निघण्टु में उसका वर्णन नहीं है। यह भी संभव है कि मुसलमानों के संपर्क से हाल ही में इन द्रव्यों का प्रयोग प्रारम्भ हुआ हो और तब तक इन द्रव्यों के गुणकर्म पूर्णतः निर्धारित न हुये हों।[1]

माधवद्रव्यगुण[2]—कई पाण्डुलिपियों में इसका नाम 'भावस्वभाववाद'[3] भी दिया है किन्तु पुष्पिका में 'माधव-द्रव्यगुण' है। माधव अनेक हैं जिनकी चर्चा अन्यत्र की गई है। द्रव्यगुण के रचयिता माधव रुग्विनिश्चयकार तथा पर्यायरत्नमालाकार दोनों से भिन्न हैं। यह माधवकवि[4] संभवतः द्रव्यगुणकर्त्ता पुरुषोत्तम के पिता तथा श्रीकण्ठदत्त के पौत्र थे। यह वंशपरम्परा इस प्रकार है—

श्रीकण्ठदत्त (विजयरक्षित-शिष्य)
|
चक्रदत्त
|
माधव
|
पुरुषोत्तम

काल—शिवकोष (१७वीं शती), शिवदाससेन (१५वीं शती), आढमल्ल (१४वीं शती) तथा वोपदेव ने सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या (१३वीं शती) में

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—P. V. Sharma : Nigthaṇṭu of Sodhala, A. B. O. R. I. Vol, LII., poona, 1972

२. यह ग्रन्थ प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९७३ ई० में प्रकाशित हुआ है।

३. उपक्रमपद्य इस प्रकार है :—
'रसवीर्यविपाकाद्यैः सिद्धः सद्वैद्यपूजितः।
भावस्वभाववादोऽयमार्षः संह्रियते मया॥

४. सुश्रुतचरकपराशरवाग्भटहरिचन्द्रभेडवैदेहैः।
हारीताद्यैरपरैरुक्तं यद् यत्र् महामुनिभिः॥
आकृष्य सर्वशास्त्राण्युपयुक्तसमस्तवस्तुगुणदोषः।
माधवकविना रचितः सुखहेतोः सर्वसत्वानाम्॥—उपसंहारपद्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माधवद्रव्यगुण को उद्धृत किया है। चक्रपाणि (११वीं शती) ने इसे उद्धृत नहीं किया है तथा माधव ने सोढल (१२वीं शती) का अनुसरण किया है।[1] टोडरानन्द (१६वीं शती) ने द्रव्यगुण-प्रकरण में समस्त माधवद्रव्यगुण को समाहित कर लिया है केवल लेखक का नाम हटा दिया है। अतः इसका काल १२५० ई० के लगभग निर्धारित किया गया है।

विषयवस्तु—माधव-द्रव्यगुण में २९ वर्ग है जिनमें प्रथम (विविधौषधिवर्ग) और अन्तिम (प्रकीर्णवर्ग) सबसे बड़े हैं ग्रन्थ में कुल लगभग ९०० श्लोक हैं। इसमें जयपाल, विजया तथा अहिफेन का वर्णन है।

सिद्धमन्त्र—जैसे किसी सिद्ध मन्त्र का उच्चारण करते ही अभीष्ट फल की प्राप्ति होती है वैसे ही इसके अभ्यास से यथेष्ट ओषधियाँ समक्ष उपस्थित हो जाती हैं और चिकित्सा में सफलता प्राप्त होती है। सिद्ध मन्त्र अल्पाक्षर होने पर भी प्रभूत फल देनेवाला होता है वैसे ही यह ग्रन्थ लघुकाय होने पर भी द्रव्यों का ज्ञान शीघ्र कराता है।[2]

इस ग्रन्थ के कर्त्ता वैद्याचार्य केशव महादेव के पुत्र और प्रसिद्ध विद्वान वैद्य वोपदेव के पिता हैं। यह वरदा नदी के तटपर स्थित वेदपद नगर के निवासी थे जो दण्डक क्षेत्र के राजा सिंहराज (सिंघण) की राजधानी थी। केशव सिंहराज के राजवैद्य थे। आयुर्वेद की शिक्षा इन्होंने भास्कर से प्राप्त की थी।[3] भास्कर शार्ङ्गदेव के पितामह और सोढल के पिता थे।

काल—सिंघण का काल १२०० ई० से १२४७ ई० है, इस प्रकार केशव का काल १३वीं शती का पूर्वार्ध होगा। यह इस तथ्य से भी संपुष्ट होता है कि इनके पुत्र वोपदेव महादेव (१२६०-१२७१ ई०) और रामचन्द्र (१२७१-१३०९ ई०) के प्रधानामात्य हेमाद्रि के समकालीन थे।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें उपर्युक्त ग्रन्थ की भूमिका।

२. येनोच्चारणमात्रेण पुरः स्फुरति भेषजम्।
सोऽयं चिकित्सकप्रीत्यै सिद्धमन्त्रः प्रकाश्यते॥
ग्रन्थः संग्रथ्यतेऽयत्नयः सिद्धमन्त्राह्वयो मया।
वैद्याः सुखेन द्राग् द्रव्यशक्तितत्त्वं विदन्त्विति॥
मदनपाल के 'अतिलघु' निघण्टु का अभिप्रायः सम्भवतः इसी से है।

३. लेभे जन्म महादेवादायुर्वेदं च भास्करात्।
संमानं सिंहराजाद्यः केशवः कारकोऽस्य सः॥—उपसंहारपद्य

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विषयवस्तु—सिद्धमन्त्र[1] का विषय दोषप्रभाव के अनुसार आठ वर्गों में व्यवस्थित है :—

१. वातघ्न वर्ग
२. पितघ्न वर्ग
३. कफघ्न वर्ग
४. वातपितघ्न वर्ग
५, कफवात्तघ्न वर्ग
६. कफपित्तघ्न वर्ग
७. दोषघ्न वर्ग
८. दोषल वर्ग

दोषों की अंशांशकल्पना के अनुसार उन पर द्रव्यों के प्रभाव को दृष्टि में रखते हुए ५७ वर्ग निर्धारित किये गये हैं। एक 'उदासीन' वर्ग भी रखा गया है यथा वातोदासीन, पित्तोदासीन, कफोदासीन। वातोदासीन द्रव्य न वातघ्न है और न वातकर है। जिन द्रव्यों के सम्बन्ध में आचार्यों का मतभेद है उसके समाधान में भी इसी मध्यम मार्ग का अवलम्बन किया गया है।

विषयवस्तु की स्थापना का आधार नितान्त मौलिक है। सामान्यतः रसगुण-वीर्यविपाक के आधार पर द्रव्यों के दोषप्रभाव की व्याख्या की जाती है किन्तु इस ग्रन्थ में विपरीत शैली अपनाई गई है—यहाँ दोषप्रभाव का वर्णन किया गया है और उसके आधार पर रसगुणवीर्यविपाक की कल्पना का निर्देश किया गया है।

निदानपञ्चक जैसे माधवनिदान का महत्त्वपूर्ण है वैसे ही नवश्लोकी (प्रारम्भिक नौ-श्लोकों) में मौलिक सिद्धान्तों का विवरण है। मधुकोशव्याख्या के समान इस स्थलपर वोपदेवकृत प्रकाशव्याख्या भी मननीय है।

वाताम, मृगलेण्डिक, शुकनाश, मांसरोहा, फर्कास, हिस्पत्थ, मेथिका आदि द्रव्य अवलोकनीय हैं।

---

१. यह ग्रन्थ १८९७ ई० में वैद्य शंकरदाजी शास्त्री पदे द्वारा संपादित होकर ज्ञानसागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ था। इसकी फोटो कापी प्रस्तुत लेखक ने इण्डिया आफिस. लन्दन से प्राप्त की। अब यह पुनः प्रस्तुत लेखक द्वारा संपादित होकर बोपदेवकृत प्रकाशव्याख्या के साथ चौखम्बा अमर भारती, वाराणसी से प्रकाशित हो रहा है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रकाशव्याख्या—केशवपुत्र वोपदेव ने सिद्धमन्त्र पर विद्वत्तापूर्ण प्रकाश-व्याख्या लिखी है।[1]

हृदयदीपक—यह वैद्याचार्य केशव के पुत्र वोपदेव की रचना है। वह तत्स्थानीय धनेश्वर के शिष्य थे।[2] वोपदेव देवगिरि के यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१) के पण्डित थे और उसके प्रधानामात्य हेमाद्रि के घनिष्ठ एवं संमानार्ह सखा थे। वोपदेव न हेमाद्रि की तुष्टि के लिए 'हरिलीला' तथा उसके जीवनचरित की रचना की तो हेमाद्रि ने भी वोपदेव के ग्रन्थों—हरिलीला और मुक्ताफल—पर टीका लिखी। इस प्रकार दोनों ने सखाधर्म अच्छी तरह निभाया। वोपदेव संभवतः हेमाद्रि से आयु में बड़े थे।

वोपदेव आयुर्वेद के अतिरिक्त, ज्योतिष, साहित्य और धर्मशास्त्र के प्रकाण्ड पंडित थे। आयुर्वेद में उनकी रचनायें निम्नांकित हैं—

१. शतश्लोकी चन्द्रकलाव्याख्यासहित
२. हृदयदीपकनिघण्टु
३. सिद्धमन्त्र की प्रकाशव्याख्या
४. शार्ङ्गधरसंहिता पर गूढार्थदीपिका व्याख्या[3]

विषयवस्तु—यह ग्रन्थ हृदय (अष्टांगहृदय) में पठित द्रव्यों पर प्रकाश डालने के लिए बनाया गया है अतएव इसकी संज्ञा 'हृदयदीपक' है। यह शुद्ध पर्यायशैली

---

१. देखें—P. V. Sharma : Son's Commentary on Father's Work. J. R. I. M., Vol. VI, No. 3, 1971,

२. हृदयदीपक, शतश्लोकी तथा सिद्धमन्त्रव्याख्या में ग्रन्थकार ने अपना परिचय दिया है। सरस्वतीभवन, वाराणसी की पाण्डुलिपि (सं० ४५१०५) में संक्षेप में सुन्दर परिचय दिया है :—
विद्वद्धनेश्वरच्छात्रो भिषक्केशवनन्दनः। वोपदेवश्चकारेदं विप्रो वेदपदास्पदम्॥"
उनकी माता का नाम आरोग्य (लक्ष्मी) था और पिता को वह वैद्यनाथ (वैद्याचार्य ?) कहते थे—'आरोग्यवैद्यनाथभ्यां नमः सर्वादिसद्मने। मातापितृभ्यां दातृभ्यामायुः सुखहितामितम्॥—प्रकाशव्याख्या। हृदयदीपक के मंगलाचरण में भी 'श्रीवैद्यनाथ' से अङ्गया अपने पिता का ही स्मरण किया है।

३. Weber's Catalogue of Berlin, 1853 (Jolly)
अन्य रचनाओं के लिए देखें—
प्रियव्रत शर्मा : वोपदेवरचित हृदयदीपकः, भूमिका पृ २,
J. R. I. M., Vol. 3, No. 2, 1969

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पर है, इसमें द्रव्यों के गुणकर्म नहीं हैं। यह आठ वर्गों में विभाजित है—

१. चतुष्पाद वर्ग	५. द्विनाम वर्ग
२. त्रिपाद वर्ग	६. एकनाम वर्ग
३. द्विपाद वर्ग	७. नानार्थ वर्ग
४. एकपाद वर्ग	८. मिश्रक वर्ग

अनेक पुस्तकालयों में उपलब्ध इसकी पाण्डुलिपियों की अत्यधिक संख्या से प्रतीत होता है कि यह उस समय का एक लोकप्रिय ग्रन्थ था[1]।

काल—यादव राजा महादेव (१२६०-१२७१ ई०) का राजपण्डित होने के कारण वोपदेव का काल १३वीं शती का उत्तरार्ध है।

सिद्धमन्त्र की प्रकाश-व्याख्या में अष्टांगनिघण्टु, चक्रपाणि और डल्हण के वचनों को अनाम्ना उद्धृत करने के अतिरिक्त, निम्नांकित आचार्यों को उद्धृत किया है—

१. चरक	१०. माधव
२. सुश्रुत	११. वाप्पचन्द्र
३. अष्टांगसंग्रह	१२. असंकर
४. वाग्भट	१३. सूदशास्त्र
५ अष्टांगहृदय	१४. नल
६. हरिश्चन्द्र	१५. रुद्रट
७. खारनादि	१६. कार्त्तिकेयपुराण
८. जेज्जट	१७. राघव
९. हारीत	१८. अमर

वाप्पचन्द्र के अनेक द्रव्य-सम्बन्धी[2] श्लोक उद्धृत किये हैं जिससे पता चलता है कि वाप्पचन्द्र का कोई निघण्टु भी उस समय प्रचलित था।

आयुर्वेदमहोदधि (सुषेणवैद्यक)—यह वस्तुतः द्रव्यगुण का ही ग्रन्थ है। यह अन्नपानविधि[2] के नाम से भी प्रसिद्ध है क्योंकि आहारद्रव्यों का ही इसमें विशेष वर्णन है। जलवर्ग, दुग्धवर्ग आदि के सामान्य वर्णन के अतिरिक्त, जलाधिवास, ताम्बूलविधि, अनुलेपनवर्ग, वस्त्रवर्ग, मुखवास, धूप, वाजीकरण का विशिष्ट

---

१. वोपदेवकृत हृदयदीपक चौखम्बा अमरभारती, वाराणसी द्वारा प्रकाशित हो रहा है।

२. नत्वा धन्वन्तरिं देवं गणाध्यक्षं दिवौकसाम्।
अन्नपानविधिं वक्ष्ये समस्तमुनिसंमतम्॥
यह ग्रन्थ रविदत्तवैद्यकृत भाषाटीकासहित गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से १९४० ई० में प्रकाशित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

विवरण है। इससे स्पष्ट है कि किसी राजवैद्य द्वारा राजा के प्रीत्यर्थ[1] यह लिखा गया। ऋतुहरीतकी के समान मातुलुंग का विधान दिया है[2]।

पिण्डखर्जूर, सुवर्णकदली आदि का वर्णन है तथा शिखरिणी (रसाला) बनाने की अनेक विधियाँ हैं। वाजीकरण में धत्तूर का प्रयोग है किन्तु अफीम का नहीं। पूना की एक पाण्डुलिपि (सं० २३) में सिंहणचूर्ण का उल्लेख है इससे ११वीं शती के बाद का यह ग्रन्थ है। इसकी एक पाण्डुलिपि[3] सं० १७३९ (१६८२ ई०) की है। कैयदेवनिघण्टु ने इसके अनेक पद्य उद्धृत किये हैं। इसके कुछ पद्य मदनपाल निघण्टु में भी मिलते हैं। दीपचन्दवाचककृत लंघनपथ्यनिर्णय तथा हंसराजनिदान में सुषेण का नाम आया है। इस प्रकार इसका काल १४ वीं शती का पूर्वार्ध है।

इसके कर्त्ता का नाम कहीं केवल सुषेण, कहीं सुषेणदेव और कहीं सुषेणपण्डित दिया है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में एक निघण्टु की पाण्डुलिपि (सं० बी० २०२४) है जो सुषेणकृत प्रतीत होता है। इसमें अहिफेन तथा अभ्रक आदि का वर्णन है, यशद नहीं है। संभवत: सुषेण ने अन्नपानविधि के अतिरिक्त अन्य द्रव्यों का वर्णन किसी अन्य निघण्टु में किया हो।

सुषेणवैद्यक पर दामोदरकृत आरोग्यचिन्तामणि व्याख्या है। यह दामोदर विदर्भवासी तथा विष्णुभट्ट का पुत्र था।

मदनविनोद

यह मदनपालनिघण्टु के नाम से प्रसिद्ध है। इसके कर्त्ता मदनपाल काष्ठा नगर के टीका (या टाका) वंश के राजा थे। ग्रन्थ के अन्त में उनकी वंशावली इस प्रकार दी गई है—

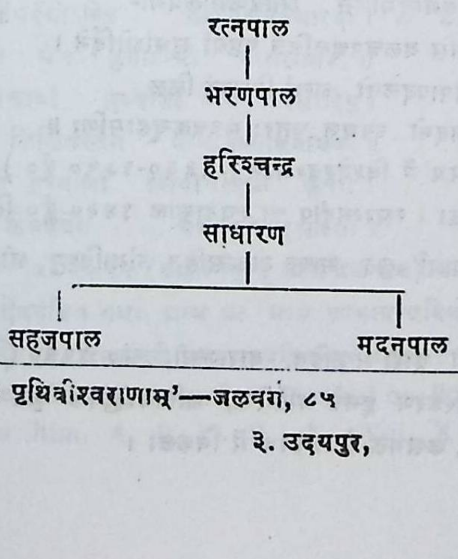

१. 'जलाधिवासः पृथिवीश्वराणाम्'—जलवर्ग, ८५

२. फलवर्ग, ८

३. उदयपुर,

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसरत्नदीप (का० हि० वि०, सी ३७७३) के कर्त्ता रामराज ने निम्नांकित प्रकार से दी है—हरिश्चन्द्र→ साधारण ↓

लक्षणसिंह सहजपाल मदनपाल

काल—इस ग्रन्थ के कालनिर्णय में कोई कठिनाई नहीं है क्योंकि लेखक ने ग्रन्थ के अन्त में ग्रन्थ रचनाकाल दे दिया है। यह ग्रंथ सं० १४३१ (१३७४ ई०) माघ शुक्ल षष्ठी, सोमवार को पूर्ण हुआ।[1]

विषयवस्तु—यह निघण्टु अभयादि, शुण्ठ्यादि, कर्पूरादि, सुवर्णादि, वटादि, द्राक्षादि, शाक, द्रव, मधुर, धान्य, कृतान्न, मांस और मिश्रक इन १२ वर्गों में विभाजित है। इसमें अहिफेन का वर्णन है किन्तु यशद नहीं है। बम्बई वाले संस्करण[2] में गलती से किसी ने यशद का वर्णन प्रक्षिप्त कर दिया है। मैंने लगभग एक दर्जन पाण्डुलिपियों का परीक्षण किया, किसी में यशद नहीं मिला। वाराणसी वाले संस्करण[3] में भी नहीं है। इसके अतिरिक्त भंगा, कंकुष्ठ, जयपाल, पारसीकयवानी, चोहार, मार्जारी, सिन्दूरी, सिलेमानी, खर्जुर, खर्बुज, अमृतफल, बादाम, अंजीर, मधुकर्कटी, गृञ्जन, यावनाल, कुण्डलिका आदि द्रव्य द्रष्टव्य हैं।

प्रारम्भ नें लिखा है कि कुछ निघण्टु अतिलघु, कुछ महान्, कुछ दुर्गम नामक, और कुछ द्रव्यगुण से रहित थे। अतः लेखक ने नातिलघु, नातिविपुल, ख्यातनाम सहित तथा द्रव्यगुणसमन्वित यह ग्रन्थ लिखा।

---

१. अब्दे ब्रह्मजगद्युगेन्दुगणिते श्रीविक्रमार्कप्रभो-
र्माघे मासि वलक्षपक्षकलिते षष्ठ्यां सुधांशोर्दिने।
दीनानां परितापपापदलनो ग्रन्थं निघण्टुं किल
श्रीदः श्रीमदनो व्यधत्त चतुरः सच्चक्रचूडामणिः॥

मदनपाल के आश्रय में विश्वेश्वरभट्ट (१३६०-१३९० ई०) ने मदनपारिजात नामक ग्रन्थ लिखा। रसरत्नदीप का रचनाकाल १४२० ई० दिया है।

२. पं० रामप्रसाद शर्मा कृत भाषा टीकासहित, गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास बम्बई, १९५४।

३. नन्दकिशोर शास्त्री द्वारा संपादित, वाराणसी, सं० १९९० (तृतीय संस्करण) इसका १२ वां संस्करण इनके अतिरिक्त, शक्तिधरशुक्ल कृत अनुवाद के साथ नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से १९१७ में निकला।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कैयदेवनिघण्टु

इस ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक है । इसके कर्त्ता कैयदेव पण्डित भारद्वाजगोत्रीय पद्मनाभ के पौत्र तथा सारङ्ग या शार्ङ्ग के पुत्र थे जैसा कि उन्होंने स्वयं ग्रन्थ के प्रारम्भ में लिखा है । इस ग्रन्थ के अतिरिक्त नामरत्नाकर नामक ग्रन्थ उन्होंने लिखा था जिसमें संभवतः वस्तुओं के पर्यायमात्र होंगे । उन्हींके गुणकर्म के विवरण के लिए इस ग्रन्थ की रचना की ।[1] ग्रन्थ के अन्तिम श्लोक में भी इस बात का संकेत है ।[2]

काल गोडे ने इसका काल १४५० ई० के पूर्व निर्धारित किया है । इसका प्रमुख आधार यह है कि राघवभट्ट ने शारदातिलक (लक्ष्मणदेशिकेन्द्रकृत) की टीका में कैयदेवनिघण्टु को उद्धृत किया है । राघवभट्ट ने उपर्युक्त ग्रन्थ पर पदार्थादर्श-व्याख्या काशी में १४९३ ई० में लिखी । अतः कैयदेव १४५० ई० के बाद के नहीं हो सकते ।[3] किन्तु अब यह विचारना है कि उसके पूर्व की सीमा क्या होगी ? अफीम, भाँग, यशद का ग्रहण यद्यपि चिकित्साग्रन्थों में १२वीं शती में ही हो गया था किन्तु निघण्टुओं में १३वीं शती के पूर्व नहीं आया । मदनपालनिघण्टु (१३७४ ई०) में अफीम और भांग दोनों का वर्णन है किन्तु कैयदेवनिघण्टु में

---

१. भारद्वाजपवित्रगोत्रतिलकः श्रीपद्मनाभोऽभवत्,
वेदव्याकृतिनाटकागमकथालंकारपारंगतः ॥
तत्पुत्रो गुणभूषितः समभवत् सारङ्गनामा द्विजो,
येन प्राणिगदोऽगदंरपह्नतोऽसौ सर्वविद्यालयः ॥
तत्पुत्रः कैयदेवोऽस्ति वैद्यविद्याविशारदः ।
नामरत्नाकरो येन कृतोऽन्यो नामसागरः ॥
नामरत्नाकरोक्तानां द्रव्याणां च रसादिषु ।
ग्रन्थोऽयं लिखितस्तेन पथ्यापथ्यविबोधकः ॥

२. छिन्नादिकानां द्रव्याणां रसवीर्यादयः कृताः ।
सूरिणा कैयदेवेन यथाशास्त्रानुसारतः ॥
पाण्डुलिपि सं० बी २०९२ (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) की पुष्पिकाओं में लेखक का नाम कैयदेवपंडित तथा ग्रन्थ का नाम पथ्यापथ्यविबोधक दिया है यथा 'इति श्रीवैद्यकैयदेवपंडितरचिते पथ्यापथ्यविबोधके मांसवर्गः' ।

३. P. K. Gode : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary ascribed to him, A. B. O. R. I., Vol XIX, (1938-39), pp. 188-190

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अफीम का वर्णन नहीं है। भाँग का वर्णन भी प्रारम्भिक रूप में है क्योंकि वह धान्यवर्ग (शणरूप में) तथा ओषधिवर्ग दोनों में है। यह ज्ञातव्य है कि भाँग का प्रारम्भिक प्रयोग सूत्रों के लिए होता था और बाद में मादक द्रव्य के रूप में। शीतलिका, सोमरोग आदि रोग १२वीं शती के गदनिग्रह, वंगसेन आदि ग्रन्थों में मिलते हैं इसके पूर्व नहीं मिलते। कैयदेवनिघण्टु के विहारवर्ग में इन दोनों का उल्लेख है। अतः यह १२वीं शती के बाद का ही है। मदनपालनिघण्टु से इसके वर्णन मिलते-जुलते हैं। यद्यपि इसमें अहिफेन नहीं है तथापि इसमें पीतकरवीर का वर्णन है जो अवश्य ही बाद का है। मदनपालनिघण्टु में करवीरद्वय में श्वेत और रक्त दो ही का वर्णन है। धन्वन्तरिनिघण्टु में भी ऐसा ही है। अतः कैयदेव-निघण्टु को मदनपालनिघण्टु के बाद ही रखना चाहिए। इस प्रकार इसका काल १५वीं शती (लगभग १४२५ ई०) ठहरता है।

कैयदेव गुजरात के निवासी प्रतीत होते हैं। इन्होंने झूले (आन्दोलिका श्रमहरा) का वर्णन लिखा है। गुजराती लोग झूले के प्रेमी हैं। तिलपर्णी, वेल्लन्तर आदि द्रव्य तथा द्रव्यों के कुछ नाम भी उसी तरह के हैं।

विषयवस्तु—कैयदेवनिघण्टु की विषयवस्तु ८ वर्गों में व्यवस्थित है यथा—ओषधिवर्ग, धातुवर्ग, धान्यवर्ग, द्रववर्ग, पक्वान्नवर्ग, मांसवर्ग, विहारवर्ग और मिश्रकवर्ग। १९२८ ई० में आचार्य सुरेन्द्रमोहन ने विवेचनात्मक टिप्पणी के साथ इसका प्रथम भाग मेहरचन्द लक्ष्मणदास लाहौर से प्रकाशित कराया था जिसमें केवल ओषधिवर्ग है। इसके संपादन में उन्होंने तीन पाण्डुलिपियों का आधार लिया था। बम्बई की पाण्डुलिपि के संबंध में वह लिखते हैं कि वह सर्वोत्तम और सम्पूर्ण था किन्तु वह कहाँ तक था यह पता नहीं। मेरे देखने में अभी तक जो पाण्डुलिपियाँ आई हैं[1] उनमें अन्तिमवर्ग (नानार्थवर्ग) उपलब्ध नहीं हो सका है। आचार्य जी का संकल्प द्वितीय भाग में इसे पूर्ण कर देने का था किन्तु यह पूरा न हो सका।

ओषधिवर्ग में मधुकर्कटी, पिण्डखर्जूर, कण्टकरंज, बब्बूल, सिन्दूरी, मार्कण्डी आदि का वर्णन है। गृञ्जन से गाजर तथा पलाण्डुभेद दोनों का ग्रहण किया गया है। बालचतुष्टय, कस्तूरी आदि के प्रकरण भावप्रकाश से मिलते-जुलते हैं। संभवतः

---

१. पाण्डुलिपि संख्या बी २०९२ तथा बी ३०९१, काशी हिन्दूविश्वविद्यालय। दोनों का लिपिकाल क्रमशः १५७१ सं० और १७८५ सं० है। इनके अतिरिक्त, सरस्वतीभवन, वाराणसी की पाण्डुलिपि सं० १।१५७।८७०६३।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भावमिश्र ने कैयदेवनिघण्टु का अनुसरण किया। महानिम्ब से बकायन का ग्रहण किया है। अम्लवेतस का एक पर्याय 'शाखाम्ल' है जिससे प्रतीत होता है कि उस समय अम्लवेतस के नाम पर रेवन्दचीनी की शाखावत् डंठलें प्रचलित हो गई थीं।

आधुनिक काल

भावप्रकाशनिघण्टु

भावप्रकाश[1] का निघण्टुभाग सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण है क्योंकि इसका प्रभाव पिछले चार सौ वर्षों से अभी तक अक्षुण्ण बना हुआ है। इसने अनेक लोकोपयोगी देशी-विदेशी द्रव्योंको एक साथ मिलाकर निघण्टु को व्यावहारिक रूप दिया। इसका उदार एवं व्यावहारिक दृष्टिकोण ही इसकी सफलता का कारण है।

इसके रचयिता लटकनमिश्रतनय भावमिश्र हैं। ग्रन्थ के प्रारम्भ में इन्होंने विष्णुपद की वन्दना की है। इससे प्रतीत होता है कि वह मगध में गया के निवासी थे जहाँ विष्णुपद का मन्दिर अभी भी विख्यात है। कदली के चम्पक, स्वर्ण आदि जो भेद उन्होंने किये हैं वह बिहार में हाजीपुर के क्षेत्र में होते हैं। इससे भी उनका बिहार प्रान्त में निवास सूचित होता है।[2] क्षेत्रीय नाम भी बिहार के दिये हैं।

मदनपाल ने भावमिश्र के लिए पथ प्रशस्त कर दिया था। उसका अनुसरण करते हुए इन्होंने आकारकरभ, द्वीपान्तरवचा (चोपचीनी), पुदीना, छोहाड़ा, कलम्बक, चन्द्रशूर, कुलिंजन, गंधकोकिला, चर्मकारालुक[3] मखान्न[4], कुमुदबीज[5] आदि विशिष्ट द्रव्यों का वर्णन किया है। यशद का सप्तधातुओं में वर्णन किया है।

इसका काल १६वीं शती (उत्तरार्ध) निर्धारित किया गया है। भावमिश्र मुगलसम्राट् अकबर के समकालीन या कुछ ही बाद हुये होंगे।

---

१. देखें, आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० १८७-१९५

२. प्रायः समकालीन जहाँगीर ने लिखा है :—'इब्राहिम खाँ ने बिहार से ४९ हाथी और कुछ सोनाकेला मेरे लिए भेजे। मैंने ऐसे स्वादिष्ट केले पहले कभी नहीं खाये थे। वे अंगुलि के बराबर हैं किन्तु अत्यन्त मधुर और सुगन्धि'।

—तुजुक-ए-जहाँगीरी, पृ० ३९७-३९८

३. सुथनी के नाम से बिहार में प्रचलित है।

४. मखाना बिहार के तिरहुत क्षेत्र में होता है।

५. कुमुदबीज का प्रयोग 'भेंट का लावा' के नाम से ज्वर के बाद पथ्य में बिहार के वैद्य देते थे।

आईन-ए-अकबरी में मखाना और कमलगट्टा का उल्लेख है (पृ० ७०,८७)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टुभाग निम्नांकित २३ वर्गों में विभाजित है—

१. हरीतक्यादि	९. शाकवर्ग	१७. घृतवर्ग
२. कर्पूरादि	१०. मांसवर्ग	१८. मूत्रवर्ग
३. गुडूच्यादि	११. कृतान्नवर्ग	१९. तैलवर्ग
४. पुष्पवर्ग	१२. वारिवर्ग	२०. सन्धानवर्ग
५. वटादि	१३. दुग्धवर्ग	२१. मधुवर्ग
६. आम्रादि	१४. दधिवर्ग	२२. इक्षुवर्ग
७. धात्वादि	१५. तक्रवर्ग	२३. अनेकार्थनामवर्ग
८. धान्यवर्ग	१६. नवनीतवर्ग	

निघण्टुभाग पर शिवशर्मा, विश्वनाथद्विवेदी (१९४१), कृष्णचन्द्रचुनेकर (चतुर्थ सं० १९६९) आदि की टीकायें हैं। चुनेकर की टीका सम्प्रति लोकप्रिय है। इसमें वानस्पतिक विवरण विस्तृत एवं स्पष्ट है। कृष्णचन्द्र चुनेकर काशी के प्रसिद्ध वैद्य स्व० पं० श्रीनिवासशास्त्री के सुपुत्र हैं और सम्प्रति काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में द्रव्यगुण के अध्यापक हैं। वानस्पतिक अनुसंधान-दर्शिका (चौखम्बा, १९६९) उनकी अन्य रचना है। 'ग्लासरी' के निर्माण में भी यह बलवन्त सिंह के सहयोगी हैं।

राजनिघण्टु

इसका नाम निघण्टुराज या अभिधानचूड़ामणि भी है। काश्मीरी नरहरि पण्डित ने इसकी रचना की है। यह काश्मीर की आद्यवंशीय आचार्यपरम्परा में प्रसूत श्री ईश्वरसूरि के पुत्र थे। यह शैव तथा सभी शास्त्रों में पारंगत थे[1]। ग्रन्थ के प्रारंभ में गणेश, शंकर, सरस्वती आदि की वन्दना कर अश्विनी, आत्रेय, धन्वन्तरि, चरक, सुश्रुत आदि आयुर्वेदाचार्यों का स्मरण किया है। कर्नाटक, महाराष्ट्र, आन्ध्र, लाट आदि भाषाओं का प्रयोग किया है जिससे प्रतीत होता है कि यह उन प्रदेशों में चिरकाल तक रहे होंगे या वहाँ यात्रायें की होंगी।

काल—ग्रन्थकार ने ग्रन्थ की प्रस्तावना में स्वयं लिखा है कि उसने धन्वन्तरि, मदन, हलायुध, विश्वप्रकाश, अमरकोश, शेष (त्रिकाण्डशेष), राजकोश आदि निघंटुओं एवं कोशों को देखकर इसकी रचना की है। विशेषतः धन्वन्तरिनिघण्टु का आधार लिया है[2]। मदनपालनिघण्टु का रचनाकाल १३७४ ई० है अतः राजनिघण्टु

१. यह सूचना ग्रन्थ के उपक्रम-पद्यों तथा पुष्पिकाओं से मिलती है।

२. धन्वन्तरीयमदनादिहलायुधादीन् विश्वप्रकाशयमरकोशसशेषराजौ।
आलोच्य लोकविदितांश्च विचिन्त्य शब्दान् द्रव्याभिधानगणसंग्रह एष सृष्टः॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

का काल १४वीं के बाद ही होगा। इसे भावप्रकाश के पूर्व रखना चाहिए या पश्चात् यह विचारणीय है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह भावप्रकाश के कुछ बाद ही होगा इसके निम्नांकित कारण हैं—

१. भावप्रकाश ने करवीर के श्वेत और रक्त दो ही भेद किये हैं, किन्तु राजनिघण्टु में पीतकरवीर का भी वर्णन किया है जो बाद में इस देश में बाहर से आया। आईन-ए-अकबरी (पृ० ८२) में श्वेत और रक्त दो ही करवीरों का उल्लेख है। बाबरनामा (पृ० ५९३-५१४) में भी यही है। तुजुक-ए-जहाँगीरी (भाग १, पृ० ९७) में कनेर के फूलों का जो वर्णन है उससे प्रतीत होता है कि उस काल में पीतकरवीर का प्रवेश हो गया था। यह स्मरणीय है कि तब तक युरोपीय जन इस देश में प्रतिष्ठित हो चुके थे।

२. कर्पूरतैल, तैलपिपीलिका, कालाञ्जनो (कृष्णबीज), कामवृद्धि, सर्वक्षार आदि राजनिघण्टु के द्रव्य भावप्रकाश में नहीं हैं।

३. कुलञ्जन का स्पष्ट उल्लेख है जब कि भावप्रकाश में महाभरी वचा करके दिया है।

४. राजनिघण्टु में झण्डू (गेंदा फूल) का वर्णन है जो भावप्रकाश में नहीं है। यह विदेशी पुष्प १६ वीं शती के अन्त में भारत में आया। इसका उल्लेख आईन-ए-अकबरी में नहीं है।

इस प्रकार राजनिघण्टु का काल १७ वीं शती ठहरता है।

धन्वन्तरिनिघण्टु सहित इसका प्रकाशन आनन्दाश्रम, पूना से हुआ है (१९२५)। कलकत्ता से इसका स्वतंत्र संस्करण भी निकला है (द्वि० सं०, १९३३)।

विषयवस्तु—प्रस्तुत निघण्टु में नामों पर विशेष रूप से विचार किया गया है जिसमें संस्कृत, प्राकृत, अपभ्रंश तथा क्षेत्रीय नामों को दृष्टि में रक्खा गया है। नामों के विषय में कहा है कि ये रूढि, प्रभाव, देश्योक्ति, आकृति, उपमा, वीर्य तथा उत्पत्तिस्थान इन सात आधारों पर निर्धारित होते हैं। इसमें अनूपादि, भूम्यादि, गुडूच्यादि, शताह्वादि, पर्पटादि, पिप्पल्यादि, मूलकादि, शाल्मल्यादि, प्रभद्रादि, करवीरादि, आम्रादि, चन्दनादि, सुवर्णादि, पानीयादि, क्षीरादि, शाल्यादि, मांस, मनुष्यादि, सिंहादि, रोगादि, सत्वादि, मिश्रकादि, एकार्थादि इन २३ वर्गों में विषयवस्तु व्यवस्थित है।

आयुःश्रुतीनामुपकारकं यन्नानाग्रन्थमतानुसारकम्।
आचक्ष्महे लक्षणलक्ष्यधारकं नामोच्चयं सर्वरुजापहारकम् ॥

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भूमि के विभाग वर्णानुसार ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र तथा महाभूतानुसार पार्थिव, आप्य, तैजस, वायव्य और आन्तरिक्ष ये पाँच किये गये हैं। विभिन्न वर्णों की भूमि में उत्पन्न ओषधियाँ उन्हीं वर्णों के रोगियों को दी जानी चाहिए ऐसा उल्लेख है। स्थावरद्रव्यों के पाँच विभाग किये गये हैं—वनस्पति, वानस्पत्य, क्षुप, वल्ली और ओषधि। पुं-स्त्री-नपुंसक भेद से ये तीन प्रकार के होते हैं जिनका प्रयोग रोगी के लिंगानुसार करना चाहिए। यों पुंलिंग द्रव्य सभी में प्रयोज्य होता है। वनस्पतियों में चेतना तथा पाञ्चभौतिकता की सिद्धि सयुक्तिक की गई है। लिंगिनी, सोमवल्ली, कैवर्तिका, कट्वी, अमृतस्रवा, धूम्रपत्रा, रुदन्ती, हस्तिशुण्डी, दुग्धफेनी, झण्डू, कुलञ्जन, मायाफल, कारस्कर आदि का वर्णन द्रष्टव्य है। राजनिघण्टुकार ने द्रव्यगुण को अष्टांग में समाविष्ट ही नहीं किया अपितु आद्य स्थान दिया[1] इससे द्रव्यगुण के उत्कर्ष का बोध होता है।

वैद्यावतंस

कविराज लोलिम्बराज द्वारा विरचित यह लघु निघण्टुग्रन्थ[2] है जिनमें प्रसिद्ध आहारद्रव्यों का ७ वर्गों में संक्षिप्त सरस वर्णन है।

इसमें निम्नांकित वर्ग हैं :—

१. फलवर्ग
२. फलशाकवर्ग
३. पत्रशाकवर्ग
४. कन्दशाकवर्ग
५. धान्यवर्ग
६. मांसवर्ग
७. दुग्धवर्ग

पत्रशाकों में अश्वबला का वर्णन किया है। कुल ५७ श्लोकों में ग्रन्थ पूर्ण है।

लोलिम्बराज दिवाकरभट्ट के पुत्र थे तथा पूना जिले में जुन्नार नामक स्थान के निवासी थे। किसी सूबेदार कीं कन्या मुरासा से इनका विवाह हुआ था।

लोलिम्बराज का काल १७वीं शती का प्रथम चरण है।

द्रव्यगुणशतक

द्रव्यगुणशतक या द्रव्यगुणशतश्लोकी योगतरंगिणीकर्त्ता त्रिमल्लभट्ट की प्रसिद्ध रचना है। इसमें मुख्यतः आहारद्रव्यों का वर्णन है। प्रथम मंगल-श्लोक में शिव-पार्वती और गणेश की वन्दना की गई है। दूसरे श्लोक में छः

---

१. द्रव्याभिधानगदनिश्चयकायसौख्यं, शल्यादिभूतविषनिग्रहबालवैद्यम्।
विद्याद् रसायनवरं दृढदेहहेतुमायुःश्रुतेर्द्विचतुरङ्गमिहाह शम्भुः ॥ २०।४२
द्रव्यगुण, निदान, कायचिकित्सा, शल्य, शालाक्य, भूतविद्या, अगदतंत्र, कौमार-भृत्य ये आयुर्वेद के आठ अङ्ग हैं।

२. यह ब्रह्मानन्दत्रिपाठीकृत हिन्दीव्याख्यासहित मोतीलाल बनारसीदास, वाराणसी द्वारा १९६७ में प्रकाशित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

रसों का दोषों पर प्रभाव वर्णित है। शेष श्लोकों का विभाजन इस प्रकार है :—

		श्लोकसंख्या
१.	जलवर्ग	३–१०
२.	दुग्धवर्ग	११–२१
३.	धान्यवर्ग	२२–२६
४.	मांसवर्ग	२७–३८
५.	शाकवर्ग	३९–४९
६.	इक्षु-मधुवर्ग	५०–५२
७.	तैलवर्ग	५३–५५
८.	फलवर्ग	५६–६७
९.	शुण्ठ्यादिवर्ग	६८–७३
१०.	कृतान्नवर्ग	७४–८९
११.	संधानवर्ग	९०
१२.	मद्यवर्ग	९१
१३.	अभ्यंगादिवर्ग	९२
१४.	ताम्बूलादिवर्ग	९३–९५
१५.	सुवर्णादिवर्ग	९६–१००

एक उपसंहारपद्य है। इस प्रकार कुल १०२ पद्यों में ग्रंथ पूर्ण हुआ है।

सुवर्णादिवर्ग में धातुओं के प्रकरण में सुवर्ण, रजत, ताम्र, वंग, अभ्रक और लोह हैं, नाग और यशद नहीं हैं। दुग्ध-प्रकरण में गो, महिषी और अजा इन्हीं तीन का उल्लेख है जिससे इनके दुग्ध का ही प्रचलन सूचित होता है। अन्य वर्णनों में मदनपालनिघण्टु का अनुसरण किया गया है। गाजर के लिए गृञ्जन से पृथक् गर्जर शब्द दिया गया है। खाद्यान्नों के कुछ नये शब्द मिलते हैं यथा पुष्पवटी (फुलौड़ी), कचवती (कचौड़ी), जलवलिवलय (जलेबी) आदि। जलेबी के लिए अधिकांश ग्रन्थकारों ने कुण्डलिनी शब्द दिया है।[1]

त्रिमल्लभट्ट काशीवासी तैलंगब्राह्मण सिंगण्णभट्ट के पौत्र थे। आयुर्वेद के अतिरिक्त आप अनेक शास्त्रों के विद्वान तथा उत्तम कवि थे।[2]

---

१. देखें—P. V. Sharma : Trimalla Bhatta : His Date and works with special Reference to his Materia Medica in one hundred Verses, I. J. H. S., Vol. 6, No. 1, 1971

२. द्रव्यगुणशतक का संस्करण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से सं० १९५३ में शालिग्रामवैश्यकृत भाषाटीकासहित प्रकाशित है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शिवकोष के कर्त्ता शिवदत्त के पुत्र कृष्णदत्त ने द्रव्यगुणशतक पर द्रव्यदीपिका व्याख्या लिखी है।

शिवकोष

यह शिवदत्तमिश्र की रचना है जो पर्यायशैली पर आधारित है। पण्डित शिवदत्तमिश्र कर्पूरीय (कपूरिया) कुल के अवतंस थे। यह आयुर्वेद के विद्वानों का कुल था। इनके पिता का नाम चतुर्भुज था जो स्वयं आयुर्वेद तथा अनेक शास्त्रों में पारंगत थे। पण्डित शिवदत्तमिश्र ने अपने पिता से ही आयुर्वेद की शिक्षा ग्रहण की थी। इसका निर्देश उन्होंने अपनी एक रचना 'संज्ञासमुच्चय' में की है—

संज्ञासमुच्चयममुं लघुवाग्भटादिग्रन्थप्रकाशनपरं विषमस्थलेषु।
तातादधीतविधिवद्वरवैद्यविद्यः चक्रे चतुर्भुजसुतः शिवदत्तमिश्रः ।।

इसी प्रकार दूसरी रचना 'शिवकोष' के अन्तिम पद्य तथा शिवकोष-व्याख्या की पुष्पिका में भी इसका उल्लेख किया गया। आफ्रेक्ट ने अपनी प्रसिद्ध विवरणिका में चतुर्भुजमिश्र के नाम पर रसकल्पद्रुम नामक ग्रन्थ तथा गोविन्द भगवत्पाद विरचित रसहृदय की व्याख्या का उल्लेख किया है। स्टीन की कश्मीर-सूची के अनुसार चतुर्भुज ने संवत् १७०५ (१६४९ ई०) में रसकल्पद्रुम की रचना की। जहाँ तक रसहृदय की व्याख्या का प्रश्न है, यह कुरलवंशीय महेश मिश्र के पुत्र चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित है अतः यह कहना कठिन है कि यह वही चतुर्भुज हैं क्योंकि उन्होंने अपने को कर्पूरीयकुलीय लिखा है। रसहृदयतन्त्र का संस्करण जो मोतीलाल बनारसीदास द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९२७ ई०) उसमें चतुर्भुज मिश्र द्वारा रचित मुग्धावबोधिनी व्याख्या भी सम्मिलित है। इसकी भूमिका में त्र्यम्बकनाथ गुरुनाथ काले ने लिखा है—

'रसहृदयटीकाकारः श्रीचतुर्भुजमिश्रः खण्डेवालब्राह्मणजातीयः कुरलसंज्ञककुलोत्पन्नः, हरिहरमिश्रस्य पौत्रः, महेशमिश्रस्य च पुत्र आसीदिति तेन ग्रंथारम्भ एवोक्तादात्मवृत्तान्तात्प्रतीयते। खण्डेवालब्राह्मणानां वसतिः जयपुर-सीकर-बीकानेर-प्रभृतिषु स्थलेषु विशेषत उपलभ्यते, अतश्चतुर्भुजमिश्रोऽपि तेषामन्यतमस्थलनिवासो भवेदित्यनुमीयते।'

इस प्रकार कुल, पितृपरम्परा तथा देश की भिन्नता के कारण यह कोई अन्य चतुर्भुज प्रतीत होते हैं।

जैसा कि कहा गया है, पं० शिवदत्त मिश्र पं० चतुर्भुज मिश्र के पुत्र थे। उन्होंने अपने पिता से आयुर्वेद का ज्ञान प्राप्त किया था यह उनकी विभिन्न रचनाओं में प्रदत्त सूचनाओं से ज्ञात होता है। इनकी तीन रचनाओं का पता चलता है—

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

संज्ञासमुच्चय—यह निदान, चिकित्सा तथा द्रव्यगुणसम्बन्धी विषम स्थलों के स्पष्टीकरण के लिए लिखा गया है। आफ्रेक्ट ने इसका उल्लेख किया है। राजेन्द्रलाल मित्र ने अपनी संस्कृत पांडुलिपियों की सूची में इसकी एक पाण्डुलिपि का उल्लेख किया है जिसका लिपिकाल शक १६४१ (१७१९ ई०) है।

शिवकोष—यह आयुर्वेदीय निघण्टु का ग्रन्थ है जो ५४० श्लोकों में पूर्ण है। इसमें औषध-द्रव्यों के पर्याय-पदों का अकारादिक्रम से वर्णन है। लेखक ने इसे नानार्थौषधकोष कहा है। यह तत्कालीन अनेक कोषों का आधार लेकर लिखा गया है जिनमें मुख्य हैं—शब्दार्णव, अजय, अमर, वोपालित, सिंह, मेदिनी, विश्व, हारावली, हलायुध, शाश्वत, हेम तथा त्रिकाण्डशेष।

'शब्दार्णवाजयामरवोपालितसिंहमेदिनीविश्वान् ।
हारावलीहलायुधशाश्वतहेमत्रिकाण्डशेषांश्च ॥
प्रीत्यै विविच्य भिषजो विविधौषधनामसंदिहामस्य ।
नानार्थौषधकोशो विरच्यते लिंगभेदेन ॥'

लेखक ने शिवकोष के अन्त में इसका रचनाकाल शक १५९९ (१६७७ ई०) दिया है।

'नवग्रहतिथिप्राप्ते हायने हाल्भूभुजः ।
चक्रे चातुर्भुजिः कोषं शिवदत्तः शिवाभिधम् ॥'

ग्रंथ की पुष्पिका में ग्रंथकार तथा उसके कुल का निर्देश है—

'इति कर्पूरीयशिवदत्तकृतः शिवकोषः पूर्णः ।'

यह ग्रंथ श्री आर० जी० हर्षे द्वारा सम्पादित तथा डेक्कन कालेज पूना से प्रकाशित है (१९५२) जो पूना तथा आक्सफार्ड की दो पाण्डुलिपियों पर आधारित है।

शिवप्रकाश (शिवकोष-व्याख्या)—लेखक ने यह व्याख्या अपने कोष के विशदीकरण के लिए लिखी है। इसमें शताधिक कोशों, टीकाओं तथा ग्रन्थों के उद्धरण दिये गये हैं जिससे लेखक के व्यापक पाण्डित्य का तो पता चलता ही है, उसके काल तथा तत्कालीन आचार्यों के सम्बन्ध में भी महत्त्वपूर्ण सूचना मिलती है। इन उद्धृत रचनाओं तथा आचार्यों में इन्दु, कैयदेव, केशव, गुणरत्नमाला, डल्हण, धन्वन्तरि, वोपदेव, मदनविनोद, रसरत्नसमुच्चय, राजनिघण्टु, रामाश्रम, लोलिम्बराज और हेमाद्रि प्रमुख हैं। व्याख्या के प्रारम्भिक पद्य में यह कहा गया है कि वाग्भट के ग्रंथों, टीकाओं तथा कोषों का मनन कर यह व्याख्या लिखी गयी है। संज्ञासमुच्चय में भी वाग्भट का संकेत है। इससे उस काल में वाग्भट विशेषतः स्वल्पवाग्भट

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(अष्टांगहृदय) की लोकप्रियता का पता चलता है। व्याख्या के अन्त में पुष्पिका है—'इति श्रीकर्पूरीयचतुर्भुजात्मजशिवदत्तकृतः शिवप्रकाशः पूर्णः।'

उपर्युक्त ग्रन्थों की जो पाण्डुलिपियां उपलब्ध हैं उनमें संज्ञासमुच्चय की पाण्डुलिपि प्राचीनतम है। इस आधार पर यह ग्रन्थ उनकी आद्य रचना मानी जाता है।

शिवदत्तमिश्र काशीनिवासी थे। कवीन्द्राचार्य सरस्वती की प्रशस्ति करनेवाले काशीस्थ पण्डितों में इनका भी नाम है। ये प्रशस्तियां कवीन्द्रचन्द्रोदय नामक ग्रंथ में संगृहीत हैं जो पूना से १९३९ में प्रकाशित हुआ है। कवीन्द्राचार्य ने मुगल बादशाह शाहजहां (१६२८–१६५८ ई०) से अनुरोध कर काशी में यात्री-कर को निरस्त करने में सफलता प्राप्त की थी।

शिवकोष की रचना का काल १६७७ ई० लेखक ने स्वयं लिखा है। डाक्टर पी० के० गोडे शिवदत्त मिश्र का काल १६२५–१७०० ई० मानते हैं। शिवकोष की व्याख्या में लेखक ने 'रामाश्रमाः' शब्द से अमरकोश की व्याख्या-सुधा के रचयिता तथा भट्टोजिदीक्षित के पुत्र भानुजीदीक्षित को उद्धृत किया है। भानुजीदीक्षित का काल १६००–१६५० ई० है। अतः शिवदत्तमिश्र उसके परवर्ती सिद्ध होते हैं। इन सब तथ्यों से भी प्रतीत होता है कि शिवदत्त मिश्र कवीन्द्राचार्य के कनीय समकालीन हों और उनकी प्रशस्ति में सम्मिलित हुए हों।[1]

कृष्णदत्त मिश्र

पण्डित कृष्णदत्त मिश्र, पण्डित शिवदत्त मिश्र के पुत्र थे। इन्होंने त्रिमल्लभट्ट-विरचित द्रव्यगुणशतश्लोकी (द्रव्यगुणशतक) पर द्रव्यदीपिका नामक टीका की है। यह स्मरणीय है कि त्रिमल्लभट्ट काशीवासी तैलंग ब्राह्मण थे। अतः काशीस्थ पण्डित कृष्णदत्तमिश्र द्वारा इसकी टीका की रचना अत्यन्त स्वाभाविक है। संभव है, कुछ विद्या का भी सम्बन्ध हो। प्रो० एच० डी वेलंकर त्रिमल्लभट्ट का काल १३८३-१४४९ ई० मानते हैं किन्तु अन्तरंग साक्ष्यों के आधार पर इसका काल सत्रहवीं शताब्दी ठहरता है। पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या का प्रारम्भ और अन्त क्रमशः इस प्रकार किया है—

त्रिमल्लभट्टरचितो यो द्रव्यगुणसंग्रहः।
कृष्णदत्तेन तट्टीका क्रियते द्रव्यदीपिका।
विश्ववन्दितचतुर्भुजतातावाप्तविद्यशिवदत्तसुतस्य ।
कृष्णदत्तकृतिनः कृतिरेषा, जायतामखिललोकहिताय।

---

१. P. K. Gode : Karpuriya Sivadatta and his medical treatises, Poona Orientalist, Vol. VII, Nos. 1-2

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पण्डित कृष्णदत्त ने अपनी व्याख्या में द्रव्यगुण के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक पक्षों पर महत्वपूर्ण प्रकाश डाला है। द्रव्यस्थित पाँच धर्मों—रस, गुण, वीर्य, विपाक और प्रभाव का उल्लेख करते हुए उन्होंने इनका संक्षिप्त एवं साधु लक्षण दिया है यथा 'रसनेन्द्रियग्राह्यो रसः। द्रव्याश्रयो गुणः, कायाग्निपाकजो विशिष्टो गुणो वीर्यम्, जठराग्निद्रव्यपाकोत्तरभावी रसो विपाकः, द्रव्यस्यात्मा प्रभावः।' विवेचन के प्रसंग में लेखक ने निम्नांकित आचार्यों तथा रचनाओं को उद्धृत किया है—

अग्निवेशशास्त्र, अभिधानचूडामणि, अमर, अरुणदत्त, कैयदेव, खारणादि, गयदास, चक्रपाणि, चरक, जैज्जट, डल्हण, त्रिकाण्डशेष, त्रिविक्रम, त्रिशतीटीका, धन्वन्तरिनिघण्टु, निघण्टु, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, भावमिश्र, माधवकार (द्रव्यगुण), मिताक्षरा, मुनि, मेदिनी, लोचन, वाग्भट, वाग्भटीय संग्रहबोध, वाप्यचन्द्र, व्याडि, शब्दार्णव, संग्रह, संग्रहबोध, सारसंग्रह, सिद्धमन्त्रप्रकाश, सिंह, सुश्रुत, हारीत, हेमाद्रि। इनमें अग्निवेशशास्त्र, अरुणदत्त, खारणादि, गयदास, चरक, त्रिविक्रम, त्रिशतीटीका, नैरुक्त, ब्रह्मदेव, मुनि, वाग्भटीयसंग्रहबोध, सारसंग्रह तथा हारीत शिवदत्तकी अपेक्षा इसमें अधिक है।

द्रव्यों का वर्णन भी कृष्णदत्त ने बड़ी सूक्ष्मता से किया है। कुछ उदाहरण यहाँ दिये जा रहे हैं—

१—गोधूम (गेहूँ) तीन प्रकार का बताया गया है—महागोधूम, मधूली और नन्दीमुखी।

२—मुद्ग (मूंग) दो प्रकार का हैं—क्षेत्रमुद्ग और वनमुद्ग।

३—मसूर दो प्रकार का है—कृष्ण और पाण्डुर, कृष्णवर्ण को मसूर तथा पाण्डुवर्ग को मंगल्य कहा है।

४—कलाय दो प्रकार का कहा गया है—त्रिपुट और वर्त्तुल। त्रिपुट खञ्जनक है।

५—शण दो प्रकार का है—शण और पटशण।

६—कोद्रव दो प्रकार का है—कोद्रव और वनकोद्रव। वनकोद्रव को ही उद्दालक या यावनाल (ज्वार) कहते हैं।

७—श्यामाक त्रिविध कहा है—तोयश्यामाक, उष्ट्रश्यामाक और हस्तिश्यामाक।

८—द्राक्षा तीन प्रकार की है—मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

९—दाडिम तीन प्रकार का है—मधुर, मधुराम्ल और अम्ल।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

१०—लवण आठ प्रकार का कहा गया है—सैंधव, सोवर्चल, बिड, सामुद्र, औद्भिद, कृष्ण, रोमक, पांशुज।

पाठ का निर्णय अपने पूर्ववर्ती व्याख्याकारों के आधार पर किया है यथा 'अनार्षोऽयं पाठः जेज्जटोपेक्षितत्वात्'। प्राचीन आचार्यों के आपातविरोध के परिहार का भी यत्र-तत्र प्रयत्न किया है, किन्तु युक्तियाँ हृदयग्राही नहीं हैं। यथा शालि के वाग्भटोक्त मधुरपाक तथा सुश्रुतोक्त कटुपाक के विरोध का परिहार करते हुए लिखा कि रस के समान इसमें अविरोध है। जिस प्रकार एक द्रव्य में अनेक रस स्थित होते हैं, उसी प्रकार अनेक विपाक भी हो सकते हैं क्योंकि विपाक वस्तुतः रसविशेष ही है, किन्तु ऐसा मानने से अनवस्था की स्थिति उत्पन्न हो जायगी। यही युक्ति तिल के प्रसंग में भी दी गयी है। मधु के गुण के विषय में एक रोचक शास्त्रार्थ दिया गया है। चरक मधु को गुरु एवं सुश्रुत लघु मानते हैं। इसका समाधान यह किया गया है कि चरक ने केवल गुण की दृष्टि से विचार किया है, जब कि सुश्रुत ने पाक की दृष्टि से भी देखा है। सुश्रुत के मत में जो देर से पचता है, मूत्र-पुरीष के उत्सर्ग में सहायक होता है तथा कफ की वृद्धि करता है वह गुरु है। इसके विपरीत, जो शीघ्र पच जाय, मूत्र-पुरीषका विबन्ध करे और वात की वृद्धि करे वह लघु है। कुछ लोग पुराण और नवीन की दृष्टि से इसका परिहार करते हैं यथा चरक ने मधु का सामान्य गुण गुरु बतलाया जब कि सुश्रुत ने मधु की पुराणता को ध्यान में रखते हुए उसे लघु कहा। इसी प्रकार अतसी को वाग्भट ने कफकरी तथा खारणादि ने कफहरी लिखा है। लेखक ने इसका परिहार विषयभेद से किया है और इसके लिए सुश्रुत का भी आधार किया है। बदर (बैर) को वाग्भट ने भेदन तथा खारणादि ने ग्राही लिखा है इसका सामाधान यह किया गया है कि बैर का ताजा पका फल ग्राही तथा सूखा फल सर होता है।

द्रव्यों के परिचय के सम्बन्ध में अनवधानता एवं भ्रान्ति मध्यकाल से ही चली आ रही है जो सर्वविदित है। डल्हण (१२ वीं शती) के काल में अनेक द्रव्य सन्दिग्ध हो गये थे यह उनके उद्धरणों से ज्ञात होता है। पण्डित कृष्णदत्त भी इसके अपवाद नहीं थे। इसका एक ही उदाहरण पर्याप्त होगा। तुवरी (तोरी) एक प्रसिद्ध तैलयोनि द्रव्य है। इसे तुवरक समझकर इन्होंने परिचय दिया है—'पश्चिमार्णवतीरजो वृक्षः'।

पण्डित कृष्णदत्त आयुर्वेद के अतिरिक्त व्याकरण के भी प्रौढ पण्डित थे। यह स्थान-स्थान पर प्रकृति-प्रत्यय, समास आदि का निरूपण करने से पता चलता है। एक स्थल पर परिभाषेन्दुशेखर की एक परिभाषा भी दी गयी है—'तैलशब्देन

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तिलोद्भवः स्नेह एव मुख्यत्वेन गृह्यते नतु पत्रकांडादि, गौणमुख्ययोः मुख्ये कार्य-संप्रत्यय इति न्यायात् ।' यह साहित्यशास्त्र में भी निष्णात एक उच्चकोटि के कवि थे । ग्रन्थ में आये छन्दों का भी विवेचन इन्होंने किया है ।

'लाभपुर' शब्द संभवतः लाहौर के लिए है । जांबण आदि शब्द भी पंजाबी शैली के हैं । कपूरिया परिवार सारस्वत ब्राह्मणों का है जो पंजाब में अधिकांश होते हैं । ऐसा प्रतीत होता है कि पण्डित कृष्णदत्त का पंजाब से घनिष्ठ सम्बन्ध था ।

राजवल्लभनिघण्टु

यह राजवल्लभ वैद्य द्वारा निर्मित तथा नारायणदास द्वारा प्रतिसंस्कृत है ।[१] यह छः परिच्छेदों में विभाजित है यथा—प्राभातिक, पौर्वाह्णिक, मध्याह्निक, अपराह्णिक, निशाभव और औषधीय । स्पष्टतः यह दिनचर्या में व्यवहृत होने वाले द्रव्यों के गुणकर्मों को प्रमुखता देता है

राजवल्लभ का काल स्पष्ट नहीं है किन्तु इसने मदनपालनिघण्टु[२] तथा भाव-प्रकाश[३] के पद्यों को उद्धृत किया है अतः १७ वीं शती के पूर्व का नहीं हो सकता इसके प्रतिसंस्कर्त्ता नारायणदास का काल १७६० ई० कहा जाता है ।[४] इस प्रकार वर्त्तमान ग्रन्थ १८ वीं शती का है ।

शालिग्रामवैश्यकृत टीका के साथ वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से सं० १९५२ में तथा रामप्रसादवैद्यकृत टीका के साथ सं० १९६८ में प्रकाशित हुआ ।

हिकमतप्रकाश

यह नृसिंहदेवात्मज बालकृष्ण के पुत्र महादेव की विचित्र रचना है जिसमें उन्होंने फारसी हिकमत (यूनानी) को संस्कृत छन्दों में बाँध कर उपस्थित किया है ।[५] इसमें तीन खण्ड हैं । प्रथम खण्ड में दोष, वीर्य, मूत्रपरीक्षा, नाडीपरीक्षा आदि का वर्णन है । द्वितीय खण्ड में वर्णानुक्रम से द्रव्यों के गुणकर्म और प्रयोग वर्णित हैं । तृतीय खण्ड में ओषधयोग हैं । यह ग्रन्थ सं० १८३० (१७७३ ई०) में पूर्ण

---

१. राजवल्लभवैद्येन निर्मितो राजवल्लभः ।
द्रव्याणां गुणख्यातित्वाद् भिषजां हि सुखावहः ।।
और देखें उमेशचन्द्रगुप्तकृत वैद्यकशब्दसिन्धु की भूमिका ।

२. हरीतकी की निरुक्ति आदि ।

३. षड्विध शाक आदि ।

४. वैद्यकशब्दसिन्धु, भूमिका ।

५. नृसिंहदेवात्मजबालकृष्णदेवात्मभूभेषजकर्मदक्षः ।
देवो महादेव उदारकीर्त्यै हिकमतप्रकाशं तनुते विचित्रम् ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हुआ ।[१] खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से यह सं० १९७० में प्रकाशित हुआ है। मौक्तिककृत वैद्यमुक्तावली में हिकमतप्रकाश तथा हिकमतप्रदीप दोनों के उद्धरण हैं।

निघण्टुरत्नाकर

विष्णु वासुदेव गोडबोलेकृत तथा पं० कृष्णशास्त्री नवरे द्वारा संपादित यह ग्रन्थ १९३६ ई० में दो खण्डों में निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित हुआ। मूल ग्रन्थ सं० १८६७ ई० में प्रकाशित हुआ था। संस्कृत पद्यों का मराठी भाषान्तर भी है। इसके प्रारम्भिक गुणदोष-प्रकरण में (१९४ पृ० तक) द्रव्यगुण का वर्णन है। इसके बाद शारीर, अष्टस्थानपरीक्षा, मान-परिभाषा, रसशास्त्र, अर्कप्रकाश, अजीर्ण-मञ्जरी आदि है। द्वितीय खण्ड में निदान-चिकित्सा है।

इसमें अकरकरा, अमरुद, अंजीर, पीतकरवीर, काजूतक, कुलञ्जन, कंकुष्ठ (मुर्दासिंग), अग्निजार, तुवरक, तमाखु, कर्पूरतैल, पुदीना, मखाना, रक्तरंगा (मेंहदी), रसकर्पूर, रुदन्ती, सीताफल, सर्वक्षार, नवसादर आदि का वर्णन है।

निघण्टुसंग्रह

इसके रचयिता रघुनाथजी इन्द्रजी उर्फ कतोभट्ट हैं। इनके पितामह मुरारि पोरबन्दर में रहते थे किन्तु पिता इन्द्रजी जूनागढ़ चले आये। इन्द्रजी के यह मध्यम पुत्र थे। कनिष्ठ पुत्र प्रसिद्ध पुरातत्त्ववेत्ता भगवानलाल इन्द्रजी थे। ये प्रश्नोरा नागर ब्राह्मण थे जो आयुर्वेद और भागवत पुराण के विद्वान् माने जाते थे[२]।

निघण्टुसंग्रह की रचना १९ मार्च १८९३ को पूर्ण हुई। इसमें कुल ६०७ द्रव्यों का वर्णन है जिनमें ५७८ औद्भिद द्रव्य हैं और शेष जान्तव और खनिज हैं। इस

---

१. वियदब्रह्मद्भानुकरीन्दुसंख्ये श्रीविक्रमादित्यनृपेन्द्रवर्षे।
पूर्त्तिं तपः कृष्णशिवे हरौ च यातोऽद्भुतो वैद्यकसारबन्धः॥
'इति चिकित्सानिबन्धे पारसीप्रतिबिम्बो हिकमतप्रकाशाभिधानो ग्रन्थः संपूर्णः।'

२. लेखक ने ग्रन्थ में अपना परिचय इस प्रकार दिया है—
आसीद्दैवज्ञचूडामणिरमृतरसस्यंदिसूक्तिप्रणेता।
मीमांसापूर्वभागे निपुणतरमतिः श्रीमुरारिर्द्विजाग्र्यः॥
श्रीमत्सौदामपुर्यां विरचितवसतिः तस्य पुत्रास्त्रयोऽस्मिन्।
लोके ख्याता बभूवुः हरिचरणरताः शास्त्रनैपुण्यभाजः॥
इन्द्रजित् गणकश्रेष्ठो ज्येष्ठस्तस्याभवत् सुतः।
यो जीर्णदुर्गे न्यवसन्नागरैः सतताहतः॥
ज्येष्ठस्तस्यात्मजोऽभूत् फणिभणितिपटुः पाठशालाधिकारी।
वेदान्तार्थैकनिष्ठः सकरुणहृदयो वत्सलः शिष्यवर्गे।
पुत्रे तु स्वानुरूपे गृहधुरमखिलां संनिवेश्यातिहर्षात्।
निश्चिन्तो निर्विशेषं शमसुखमनिशं सेवमानो बभूव॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नघण्टु में अनेक नवीन द्रव्यों का समावेश किया गया है। सम्प्रति यह अत्युपयोगी ग्रन्थ उपलब्ध नहीं है।

मुरादाबाद (उत्तरप्रदेश) के लाला शालिग्रामवैश्य द्वारा विरचित शालिग्राम-निघण्टुभूषण खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई द्वारा प्रकाशित बृहन्निघण्टुरत्नाकर का ७-८ वाँ भाग है। यह ग्रन्थ १८९६ ई० में पूर्ण हुआ। इस प्रकार १९वीं शती का यह अन्तिम निघण्टु है। चूँकि २०वीं शती में अभी तक प्राचीन शैली पर कोई निघण्टु लिखा नहीं गया अतः अभी भी इसीको लोग अन्तिम निघण्टु मानते हैं।

शालिग्रामनिघण्टु

ग्रन्थकार ने अपनी वंशावली इस प्रकार दी है—

बालमुकुन्द
|
गोवर्धनदास
|
हरियशराम
|
गोपालदास
|
पुरुषोत्तमदास
|
मोतीराम
|
घनश्यामदास
|
सीताराम
|
दिलेराम | रामजीदास | आनन्दरूप (खुसालराम)
|
शालिग्राम

कनिष्ठस्तत्सुतः समजनि यशःपूरितधरो।
यूरोपियैर्विद्वन्मणिभिरपि मान्यो गुणनिधिः॥
प्रसिद्धोऽस्मिन्नाम्ना जगति भगवल्लाल इति यः।
चिरन्ता……………भवत् पंडितवरः॥
मध्यमस्तस्य तनुजो रघुनाथाभिधः सुधीः।
निघण्टुसंग्रहो येन रचितो विदुषां मुदे॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यह ग्रंथ पूर्वार्ध और उत्तरार्ध दो खण्डों में विभक्त है। पूर्वार्ध में निम्नांकित २३ वर्ग हैं—

१. कर्पूरादि	१३. दधिवर्ग
२. हरीतक्यादि	१४. तक्रवर्ग
३. गुडूच्यादि	१५. नवनीतवर्ग
४. पुष्पवर्ग	१६. घृतवर्ग
५. फलवर्ग	१७. मूत्रवर्ग
६. वटादि	१८. तैलवर्ग
७. धातूपधातु	१९. अर्कवर्ग
८. विषवर्ग	२०. मधुवर्ग
९. धान्यवर्ग	२१. इक्षुवर्ग
१०. शाकवर्ग	२२. संधानवर्ग
११. वारिवर्ग	२३. संख्यावर्ग
१२. दुग्धवर्ग	

उत्तरार्ध में दो वर्ग हैं—अनूपादि और मिश्रवर्ग। अन्त में परिशिष्ट भाग है।

१९ वीं शती तक विदेशियों के माध्यम से अनेक नवीन द्रव्यों का प्रचलन इस देश में हो गया था। इन द्रव्यों का यथासंभव समावेश इस ग्रन्थ में किया गया है।

शालिग्रामौषधशब्दसागर भी आपके द्वारा विरचित है जो १९२५ में खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई से प्रकाशित है। इसके अतिरिक्त अनेक ग्रन्थों की टीका आपने की है। आयुर्वेद-वाङ्मय की श्रीवृद्धि में आपका महत्वपूर्ण योगदान है।

शंकरदाजी शास्त्री पदे

'वनौषधि-गुणादर्श' सात भागों में आपने बनाया जिसका तृतीय संस्करण १९०९-१९१३ ई० में प्रकाशित हुआ। केशवकृत सिद्धमन्त्र का भी संपादन कर १८९८ ई० में प्रकाशित कराया था। आपका जन्म ३० मार्च १८६७ ई० को बम्बई में हुआ। संस्कृत व्याकरण, दर्शन आदि की शिक्षा के बाद भानुवैद्य कुलकर्णी से आयुर्वेद पढ़ा और कर्माभ्यास सीखा। संगठन कार्य में आपकी बड़ी लगन थी। १९०७ में आपने नि० भा० वैद्यसम्मेलन की स्थापना नासिक में की। फिर १९०९ में प्रयाग आकर पं० जगन्नाथप्रसाद शुक्ल को भार सौंप कर स्वर्गस्थ हो गये। सं० १९६६ रामनवमी को आपका स्वर्गवास हुआ। सङ्गठन के अतिरिक्त, आयुर्वेद की शिक्षा के लिए आप विद्यालय का संचालन भी करते थे। बम्बई में वैद्य प्रभुराम जी के सहयोग से एक आयुर्वेद विद्यालय स्थापित कराया। पुनः नासिक में एक विद्यालय स्थापित कर उसका संचालनभार पं० लक्ष्मणराव फणशीकर को सौंपा।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आयुर्वेदप्रचार के निमित्त राजवैद्य, आर्यभिषक्, सद्वैद्यकौस्तुभ आदि पत्र चलाये। आयुर्वेद के अतिरिक्त, सनातनधर्म, राष्ट्रभाषा और जनसेवा के कार्यों में भी आपकी रुचि थी। नि० भा० आयुर्वेद महासम्मेलन और विद्यापीठ आपका सर्वोत्तम स्मारक है। इनके शिष्य आयुर्वेदपञ्चानन पं० जगन्नाथ प्रसाद शुक्ल (१८७९-१९६७) का निघण्टुशिरोमणि सुधानिधि प्रेस प्रयाग से १९१४ में निकला।

आचार्य यादवजी त्रिकमजी

आचार्य जी का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ल प्रतिपदा सं० १९३८ (१८८१ ई०) को पोरबन्दर में हुआ। आपके पिता वैद्य त्रिकम जी मोरधन जी थे और माता माणक बाई थी। आपका प्रारम्भिक अध्ययन पोरबन्दर की राजकीय संस्कृत पाठशाला में पं० हरिहर कालिदास शास्त्री के सान्निध्य में हुआ। १८८१ ई० में आपके पिता वैद्यक-व्यवसाय के प्रसंग में बम्बई चले आये तब आपका अध्ययन बम्बई के श्री देवकर्णे नानजी संस्कृत पाठशाला में हुआ और वहाँ अनेक धुरंधर विद्वानों से व्याकरण, साहित्य आदि का ज्ञान आपने प्राप्त किया। तदनन्तर आयुर्वेद का अध्ययन अपने पिता के चरणों में किया। राजस्थान के पं० गौरीशंकर शास्त्री से आर्ष ग्रन्थों का अध्ययन किया। हकीम रामनारायण जी से उर्दू भाषा का ज्ञान प्राप्त कर यूनानी चिकित्सा का भी पूर्ण अध्ययन किया। इस सन्दर्भ में मराठी, बंगला आदि भाषाओं का भी ज्ञान प्राप्त कर तत्तद् भाषाओं में लिपिबद्ध ग्रन्थों का अध्ययन किया। आप जब अठारह वर्ष के थे, आपके पिता दिवंगत हो गये। २-३ वर्षों तक अपने पितृव्य के संरक्षण में रहने के बाद आपने कार्यक्षेत्र में पदार्पण किया और तब से ७५ वर्ष की आयु तक निरन्तर कार्य करते रहे। चिकित्सा के साथ-साथ आपका शास्त्राभ्यास और लेखनकार्य भी द्रुत गति से बढ़ने लगा। प्राचीन ग्रन्थों के पुनरुद्धार का अपूर्व कार्य आपने किया जिससे आपके अध्यवसाय एवं वैदुष्य का पता चलता है। मधुकोषव्याख्यासहित माधवनिदान आपके द्वारा संपादित होकर १९०१ ई० में निर्णयसागर बम्बई से प्रकाशित हुआ। 'आयुर्वेदीय ग्रन्थमाला' के अन्तर्गत रसप्रकाशसुधाकर, गदनिग्रह, राजमार्त्तण्ड, नाडीपरीक्षा, वैद्यमनोरमा, धारापद्धति, आयुर्वेदप्रकाश, रसायनखण्ड, रसपद्धति, लोहसर्वस्व, रससार, रससंकेतकलिका, रसकामधेनु, क्षेमकुतहूल प्रकाशित किया। चरकसंहिता और सुश्रुतसंहिता का संपादन कर निर्णयसागर, बम्बई से प्रकाशित कराया जो अद्यावधि सर्वोत्तम संस्करण है।

अनेक आयुर्वेदीय पाण्डुलिपियों का संकलन आपने किया था जिनमें कुछ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का प्रकाशन आपने किया और कुछ अन्य प्रकाशकों और विद्वानों को प्रकाशनार्थ दिये।

डा० वामन गणेश देसाई द्वारा विरचित मराठी भाषा के ग्रंथों-औषधिसंग्रह और भारतीय रसशास्त्र—को स्वयं प्रकाशित किया। शशिभूषणसेन विरचित कर्मक्षेत्र तथा गणनाथसेनकृत प्रत्यक्षशारीर का गुजराती अनुवाद प्रकाशित कराया।

द्रव्यगुण के क्षेत्र में आपकी निम्नांकित कृतियां हैं:

१. द्रव्यगुणविज्ञान (पूर्वार्ध)—वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, तृ० सं०, १९५३

२. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड)—निर्णयसागर, द्वि० सं० १९४७

३. ,, ,, (,, द्वितीय खण्ड) ,, ,, १९५०

आचार्य यादवजी ने आधुनिक युग में द्रव्यगुण को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने में महत्त्वपूर्ण योगदान किया है।[1]

इसके अतिरिक्त, आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान (खंड १-२, १९५४-५६) तथा रसामृतम्, (१९५१) आपकी उल्लेखनीय रचनायें हैं।

आचार्यजी ने संभाषापरिषदों के माध्यम से आयुर्वेद की सैद्धान्तिक पृष्ठभूमि को वैज्ञानिक धरातल पर बोधगम्य बनाने का स्तुत्य प्रयास किया। इसका द्वितीय अधिवेशन हरिद्वार में २०—२७ मई १९५३ ई० में आपकी अध्यक्षता में हुआ जिसमें द्रव्यगुण के मौलिक सिद्धान्तों पर विचार हुआ[2]।

कविराज बिरजाचरण गुप्त

इनकी प्रसिद्ध रचना वनोषधिदर्पण है। यह ग्रन्थ कूचविहार के राजा के संरक्षण में लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि लेखक राजा द्वारा सम्मानित थे। वनोषधिदर्पण का प्रथम भाग १९०८ ई० तथा द्वितीय भाग १९०९ ई० में प्रकाशित हुआ। इसकी प्रस्तावना कलकत्ता के विख्यात कविराज विजयरत्न सेन ने लिखी है। अकारादिक्रम से अ से द तक प्रथम भाग में तथा शेष द्वितीय भाग में है। प्रथम भाग में इसके अतिरिक्त १ से ५४ पृष्ठ तक वैद्यकग्रन्थों का विवरण तथा उसके बाद ६४ पृष्ठों तक निघण्टुओं का विवरण दिया है। इसमें

---

१. विशेष विवरण के लिये देखें—यादवस्मृति-ग्रन्थ, वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९६१

२. इसका पूर्ण विवरण देखें—सचित्र आयुर्वेद, जुलाई-अगस्त, १९५३
इस परिषद् के लिए स्वीकृत निबन्धों का एक संग्रह-ग्रन्थ भी वैद्यनाथ आयुर्वेद-भवन की ओर से प्रकाशित है (१९५३)।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

महत्वपूर्ण ऐतिहासिक सामग्री है द्वितीग भाग में पारिभाषिक शब्दों के लक्षण तथा रसवीर्यविपाकादि का स्पष्टीकरण प्रारंभ के २४ पृष्ठों में है। द्रव्यों के संस्कृत नाम, बंगला नाम तथा कूचविहार के नाम दिये गये हैं। द्रव्यों के लैटिन नाम तथा रोगानुसारिणी सूची भी है। परिशिष्ट में अनानास, ईषद्गोल, ओलटकंबल, कोफी, कालादाना, गञ्जा, गण्डगात्र, चा, ताम्रकूट (तम्बाकू), पपीता, पेयारा, मेंहदी, लंकामरिच आदि द्रव्यों का वर्णन किया है। लंकामरिच और गन्धाबिरोजा के सम्बन्ध में आत्रेयसंहिता के उद्धरण हैं। संभवतः ये श्लोक लेखक द्वारा रचित हैं। चोपचीनी के सम्बन्ध में शिवनिघण्टु का यह श्लोक उद्धृत है—

अश्वगंधासमं पत्रमोषधिः ग्रन्थिसंयुता।
वर्णतः पाटलाभा च दृढा च मधुरा रसे॥

इसके अतिरिक्त, लेखक ने निघण्टुसंग्रह, वैद्यामृत, निघण्टुरत्नाकर तथा आयुर्वेद-विज्ञान को उद्धृत किया है।

जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकर

इनका जन्म कच्छ के एक गिरनावा ब्राह्मण परिवार में हुआ। डा० सखाराम अर्जुन से उन्होंने वनस्पतिशास्त्र का ज्ञान प्राप्त किया। क्रमशः वह इस शास्त्र के कुशल वेत्ता हो गये और जब कभी कोई विदेशी किसी वनस्पतिवेत्ता की तलाश में होता तो यही बुलाये जाते। उन्होंने इस प्रकार अनेक विदेशी विद्वानों की सहायता की जिनकी सिफारिश पर वह पोरबन्दर वनविभाग के संरक्षक (कञ्जर्वेटर) हो गये। 'इण्डियन मेडिसिनल प्लॉण्ट्स' के रचयिता श्रीकीर्त्तिकर को भी इनसे प्रर्याप्त सहायता इस कार्य में मिली थी जिसके कारण वह इन्हें गुरुवत् मानने लगे थे। वैद्य बापालाल ने भी उनके पास महीनों रहकर वनस्पतियों का ज्ञान प्राप्त किया। निरन्तर साहचर्य से उनमें ऐसी सूक्ष्म अन्तर्दृष्टि विकसित हो गई थी कि केवल काच की सहायता से ही वनस्पतियों की पहचान कर लेते थे। देशभर के लोग संदिग्ध वनस्पतियों की पहचान के लिए उनके पास पहुँचते थे।

उनकी दो प्रसिद्ध रचनायें गुजराती में हैं—

१. वनस्पतिशास्त्र (बरडा डूंगरानी जड़ीबुटीओ) (१९१० ई०)
२. कच्छसंस्थानानी जड़ीबुटीओ (१९२६ ई०)

वैद्य बापालाल ग० शाह

गुजरात के पंचमहाल जिले में सणसोली गाँव में ता० १७-१-१८९६ के दिन श्री बापालाल भाई का जन्म हुआ। भड़ौंच से लगभग चार मील दूर झाड़ेश्वर नामक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गाँव में एक धर्मार्थ आयुर्वेदिक औषधालय में वैद्य के रूप में श्री अमृतलाल प्राणशंकर पट्टणी नाम के एक पारंगत वैद्य कार्य करते थे। बापालालजी ने आयुर्वेद का अध्ययन उनसे किया।

बिरजाचरण गुप्त का 'वनौषधिदर्पण' नामक बंगला भाषा में लिखा निघण्टु गुरुजी ने इन्हें पढ़ाना शुरू किया। बापालाल भाई कुछ दिनों में ही बंगला भाषा सीख गये और भलीभाँति बंगला समझने लगे। उसी समय से इनको आवश्यक प्रतीत हुआ कि गुजराती भाषा में भी ऐसा समृद्ध निघण्टु होना चाहिए। अमृतलाल भाई (गुरुजी) को वनस्पतियों का उत्तम परिचय था। संदिग्ध द्रव्य-सम्बन्धी ऊहापोह वे गुजरात के वैद्यक मासिक पत्रों में समय-समय पर लेखों द्वारा किया करते थे। बापालाल भाई पर इन संस्कारों की गहरी छाप पड़ी। आयुर्वेदीय ग्रन्थों के अतिरिक्त संस्कृत-साहित्य के ग्रन्थ भी वे गुरुजी के पास से सीखते थे। इस प्रकार बापालाल भाई ने आयुर्वेद-वाङ्मय एवं संस्कृत-साहित्य दोनों में ही श्रेष्ठ पथ-प्रदर्शन प्राप्त किया।

श्री बापालाल भाई गुजरात के प्रखर वनस्पति-शास्त्री जयकृष्ण इन्द्रजी के पास अन्य वनस्पतियों के ज्ञान के लिए पोरबन्दर गये। पोरबन्दर में श्री जयकृष्ण भाई के साथ आप आस-पास के पर्वतों एवं जंगलों में खूब घूमे। इस परिभ्रमण में उन्होंने अनेक नवीन वनस्पतियों का परिचय प्राप्त किया। और यहीं उन्होंने 'वनस्पतिशास्त्र' का श्रीगणेश किया।

१९४६ में आप भड़ौंच छोड़ कर सूरत आ गये और प्राचार्य के रूप में वहाँ आयुर्वेद महाविद्यालय का प्रारंभ किया जो आपके निर्देशन में क्रमशः विकसित होकर गुजरात का एक प्रमुख आयुर्वेद संस्थान बना।

श्री बापालाल भाई बम्बई राज्य की आयुर्वेद फैकल्टी के और बोर्ड के सभ्य रूप में नियुक्त थे। राज्य सरकार तथा केन्द्र सरकार की अनेक समितियों तथा कमेटियों के चेयरमैन के रूप में आप कार्य करते रहे।

आपने अपने संपादकत्व में 'भिषक् भारती' नामक मासिक पत्र १०-११ वर्षों तक चलाया भारत के वैद्यकीय मासिक पत्रों में जिसका स्थान उच्चतर रहा।

वनस्पतिपरिचय एवं संदिग्ध-औषधनिर्णय के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा है। आप भारत सरकार द्वारा नियुक्त संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के अध्यक्ष रहे हैं। गुजरात आयुर्वेदमण्डल के भी आप अध्यक्ष रह चुके हैं।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आपकी निम्नांकित रचनायें प्रकाशित हैं:—

१. निघण्टु आदर्श (पूर्वार्ध एवं उत्तरार्ध)
प्रथम संस्करण (१९२८)
द्वितीय संस्करण (संशोधित एवं परिवर्धित) (१९६६)
पूर्वार्ध (हिन्दी) चौखम्बा संस्कृत सीरिज वाराणसी द्वारा प्रकाशित (१९६८)
२. बृद्धत्रयीनी वनस्पतिओं (वैंद्यमंडल, अहमदावाद, ११३१)
३. दिनचर्या
४. धरगथ्थु वैद्यक
५ अभिनव कामशास्त्र
६. संस्कृत साहित्य मा वनस्पतियों (१९५३)
७. भारतीय रसशास्त्र
८ वनस्पति-वर्णन प्रवेश
९. गुजरात नी वनस्पतियों
१०. आयुर्वेद-व्याख्यानमाला
११. आयुर्वेद-विहंगावलोकन
१२. आयुर्वेद-वैज्ञानिक विचारणा
१३. खोराकनां तत्त्वो
१४. आपणो खोराक
१५. आयुर्वेद-पाठावली
१६, दिनचर्या (समाजशिक्षण तरफथी)
१७. दम
१८. मधुप्रमेह
१९. मानवी आरोग्य
२०. द्रव्यगुणशास्त्र
२१. नस्यचिकित्सा
२२. चरक नो स्वाध्याय, भाग १ (प्राच्यविद्यामन्दिर, बड़ौदा, (१९७३)।

आपकी अध्यक्षता में बम्बई सरकार ने प्रामाणिक औषधियों के सम्बन्ध में एक समिति नियुक्त की थी। उसके प्रतिवेदन में आपने महत्त्वपूर्ण सामग्री दी है जो द्रव्यगुण के अध्येताओं के लिए अवलोकनीय है।[1]

1. Report of the Committee for Standard and genuine Ayurvedic Herbs and Drugs, 1955

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

'कन्ट्रोवर्शियल ड्रग्स इन इण्डियन मेडिसिन' लेखमाला आयुर्वेद अनुसन्धान-पत्रिका (काशी हिन्दू विश्वविद्यालय) में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो चुका है।[1]

आप १९२१ से ही लिखते आ रहे हैं और यदि आपके समस्त लेखों को कोई एकत्र कर सके तो उनकी संख्या एक सहस्र से कुछ ही कम होगी।

अभी भी ८० वर्ष की आयु में आप अपने जीवन का एक-एक क्षण स्वाध्याय और लेखन में लगा रहे हैं।

वैद्य बापालाल द्रव्यगुण की गुजरात-परंपरा के देदीप्यमान रत्न हैं जिन्होंने आयुर्वेदीय औषधि-शास्त्र को वैज्ञानिक धरातल पर प्रतिष्ठित करने का श्रेय प्राप्त किया।

गंगाधर शास्त्री गुणे

पं० गंगाधर गोपाल शास्त्री गुणे अहमदनगर आयुर्वेदाश्रम फार्मेसी के संचालक, आयुर्वेदमहाविद्यालय के अध्यक्ष तथा 'भिषग्विलास' पत्र के संपादक थे। आप निखिल भारतवर्षीय वैद्यसम्मेलन के २७ वें अधिवेशन (नागपुर) के अध्यक्ष हुये थे।

आपके द्वारा विरचित 'आयुर्वेदीय औषधिगुणधर्मशास्त्र (१-४ खण्ड) मराठी-भाषा में अहमदनगर से प्रकाशित हुआ है। कुछ खण्डों का हिन्दी अनुवाद भी हुआ हैं। द्रव्यगुण का यह एक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन है।

पुरुषोत्तम शास्त्री हिर्लेकर—'आयुर्वेदीय ओषधिविज्ञान' आपकी प्रसिद्ध रचना है।

पु० वि० धामणकर—आपकी रचना 'आयुर्वेदीय औषधिसंशोधन' आयुर्वेद सेवासंघ, नासिक से प्रकाशित हुआ है (१९५१, पंचम संस्करण)।

हिरामणिजी मोतीरामजी जंगले—आपके द्वारा विरचित 'सचित्र वनस्पति-गुणादर्श' के दो भाग बाघली (महाराष्ट्र) से प्रकाशित हुये हैं।

आचार्य सुरेन्द्रमोहन—आप दयानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय, लाहौर के प्राचार्य थे। आपने कैयदेवनिघण्टु का सम्पादन कर विवेचनात्मक हिन्दी टीका के साथ उसे प्रकाशित किया। आपकी इच्छा दो खण्डों में उसे पूरा करने की थी किन्तु औषधिवर्ग तक एक ही खण्ड प्रकाशित हो सका। तथापि भूमिका एवं टीका में जो मौलिक विचार तथा द्रव्यों के सम्बन्ध में जो विमर्श आपने दिया है उससे आपके वैदुष्य का बोध होता है।

---

१. J. R. I. M., Vol. V, No. 1, Vi, No 1–2, VII, No 1–3. IX. No. 2, X. No. 3, 4

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चन्द्रराज भण्डारी—आपने बड़े परिश्रम से 'वनोषधिचन्द्रोदय' नामक विशाल ग्रन्थ को दस भागों में पूरा किया[1] जिसमें द्रव्यों के संबन्ध अनेक आवश्यक जानकारी संकलित है।

शंकरनिघण्टु—जबलपुर के वैद्यराज हरप्रसाद गौड़ के पुत्र शंकरदत्त गौड़ की यह रचना वनोषधिभंडार, जबलपुर मे १९३५ में प्रकाशित हुई है। इसमें अनेक यूनानी द्रव्यों का भी वर्णन है। प्रथम और द्वितीय भागों में द्रव्यों का विवरण तथा तृतीय भाग में शोधन-मारण, आसव-अरिष्ट, माजून-मुरब्बा आदि कल्पों का वर्णन है।

अभिनव निघण्टु—यह दत्तरामचौबेकृत अभिनव निघण्टुग्रन्थ है।

आयुर्वेदचिन्तामणि—सुखानन्दमिश्रात्मज बलदेवप्रसादमिश्रकृत यह निघण्टु-ग्रन्थ गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई से १९३७ ई० में प्रकाशित हुआ। यह मुख्यतः भावप्रकाश पर आधारित है। उसमें आतृप्य (शरीफा) और बहुनेत्र (अनानास) का भी वर्णन है।

शिवदत्तनिघण्टु—इस निघण्टु के कुछ श्लोक वनस्पतिपरिचय-सम्बन्धी यत्र-तत्र उद्धृत मिलते हैं।

रूपलाल वैश्य

आप छपरा (बिहार) के निवासी थे और रेलवे में क्लर्क की नौकरी करते थे। बदल कर वाराणसी आये और इंगलिशिया लाइनमें रहने लगे। वहीं उनका बूटीप्रचारक कार्यालय था। नौकरी के अतिरिक्त सारा समय आप वनोषधि-अन्वेषण और उसका विवरण लिखने में लगाते थे। लाहौर से प्रकाशित 'बूटीदर्पण' पत्र के आप स० संपादक भी थे। वैद्यसम्मेलन के मंच से जो वनोषधियों पर संभाषा होती थी उसमें भी आप सक्रिय भाग लेते थे। आपकी रचना 'सन्दिग्ध बूटी चित्रावली' (लाहौर, १९२७) से पता चलता है कि आपने वनोषधियों पर जो 'रूपनिघण्टु' नाम से रचना की थी उसकी पाण्डुलिपि काशी नागरी प्रचारिणी सभा को प्रकाशनार्थ दे दी थी। इसका कुछ अंश सभा से १९३४ में प्रकाशित हुआ। पुनः १९४० में आपका 'अभिनब बूटीदर्पण' दो भागों में चौखम्बा से प्रकाशित हुआ।

आपकी उपर्युक्त रचना से पता चलता है कि पं० ठाकुरदत्त शर्मा (अमृतधारा, लाहौर) साल में एक बार वनोषधियात्रा करते थे और अपने पत्र देशोपकारक में

---

१. भानपुरा (इन्दौर स्टेट) द्वारा प्रकाशित। इसका द्वितीय संस्करण, १९४५-४६ ई० में प्रकाशित हुआ।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उसका विवरण प्रकाशित करते थे। वास्तविक मूर्वा पर सर्वप्रथम इन्होंने ही प्रकाश डाला था इनके अतिरिक्त, चन्द्रशेखरधर मिश्र[1] (चम्पारन, बिहार), महन्त सुखरामदास,[2] (रतलाम निवासी) प्रभृति वनौषधियों के अध्ययन में विशेष रुचि रखते थे।

पं० भगीरथ स्वामी

स्वामीजी आयुर्वेदमहामहोपाध्याय कहे जाते थे। सन्दिग्धनिर्णय (वनौषधशास्त्र) आपकी महत्त्वपूर्ण कृति है जिसमें द्रव्यों का विवेचन कर सप्रमाण सन्दिग्धता-निवारण का प्रयास किया गया है। इस क्षेत्र में यह ऐतिहासिक कार्य है। ग्रन्थ में अनेक चित्र भी दिये गये हैं। यह कलकत्ता से १९३६ ई० में प्रकाशित हुआ था। 'आत्मसर्वस्व' भी आपकी रचना है (कलकत्ता, सं० १९८६)।

ग्रन्थ में जो परिचय दिया है उसके अनुसार इनके पिता हनुमान और गुरु नृसिंह, जयदेव आदि थे।[3] स्वामी जी ने अनेक प्रदेशों का भ्रमण कर वनौषधियों का प्रत्यक्ष ज्ञान किया था और निघण्टुओं का भी सूक्ष्म अध्ययन किया था। आप्तोपदेश और प्रत्यक्ष का अद्भुत संयोग आपके वैदुष्य की विशेषता थी।

भगीरथ स्वामी का जन्म सं० १९३३ में जयपुर जिले के मामोद ग्राम में हुआ। कानपुर में आपका अध्ययन हुआ। कलकत्ते के विशुद्धानन्द आयुर्वेद महाविद्यालय में अध्यापक और बागला अस्पताल में प्रधान चिकित्सक अनेक वर्षों तक रहे।

उपर्युक्त ग्रन्थों के अतिरिक्त, लघु आयुर्वेदविज्ञान तथा सिद्धौषधमणिमाला भी आपने लिखी।

कविराज विश्वनाथ द्विवेदी

आपका जन्म बलिया जनपद के ओझवलिया ग्राम में सन् १९१० ई० में एक ब्राह्मणपरिवार में हुआ। आप के पिता पं० राजकिशोर द्विवेदी थे। आप की प्रारम्भिक शिक्षा समीप के प्राइमरी स्कूल में हुई। बाद में आप काशी चले आए और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से आपने आयुर्वेदशास्त्राचार्य उपाधि प्राप्त की।

आपका कार्यक्षेत्र सर्वप्रथम ललित हरि आयुर्वेद महाविद्यालय पीलीभीत के प्रधानाचार्य पद से आरम्भ हुआ जहाँ बीस वर्षों तक आपने कार्य किया।

---

१. 'गूलरगुणविकास' के रचयिता।

२. 'बूटीप्रचार' के रचयिता।

३. हेरम्बं निजपितरं हनुमन्तं श्रीगुरुं नृसिंहञ्च।
धन्वन्तरिं तथान्यान् जयदेवादीन् गुरून् नमस्कृत्य॥

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उत्तर प्रदेश-शासन ने जब लखनऊ विश्वविद्यालय के किंग जार्ज मेडिकल कालेज में आयुर्वेद के पाठ्यक्रम का श्रीगणेश १९५२ ई० में किया, तब आप उसमें प्रविष्ट हुये। पुनः राजकीय आयुर्वेद कालेज बनने पर उसके उपप्राचार्य, तत्सम्बन्धित आतुरालय के उपाधीक्षक एवं कायचिकित्सा के प्राध्यापक पदों पर कार्य किया। इसके साथ ही राजकीय आयुर्वेद औषधि-निर्माणशाला अधीक्षक पद पर भी कार्य किया।

तदनन्तर स्नातकोत्तर आयुर्वेद शिक्षणकेन्द्र जामनगर (गुजरात) में द्रव्यगुण के प्राध्यापक पद पर नियुक्त हुये और बाद में निदेशक भी रहे। १९६८ में आप वाराणसेय संस्कृत विश्वविद्यालय में आयुर्वेदविभाग के अध्यक्ष हुये और पाँच वर्षों तक इस पद पर रहे। भारत सरकार द्वारा गठित संदिग्धद्रव्य-निर्णयसमिति के आप सदस्य थे। भारतीय चिकित्सापरिषद् उत्तरप्रदेश के आप अध्यक्ष भी रहे हैं।

आपकी निम्नांकित रचनायें हैं—

(१) त्रिदोषालोक
(२) वैद्यसहचर
(३) वेदों में जीवाणुवाद (अंग्रेजी)
(४) तैलसंग्रह
(५) अभिनव नेत्ररोगविज्ञान
(६) प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण
(७) क्रियात्मक औषधिपरिचयविज्ञान (चौखम्बा, १९६६)
(८) आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका वर्गीकरण (जामनगर, १९६६)
(९) हरीतक्यादि निघण्टु की हिन्दी व्याख्या (मोतीलाल बनारसीदास, १९४१)
(१०) नाड़ी-विज्ञान
(११) औषधिविज्ञानशास्त्र (वैद्यनाथ प्रकाशन, १९७०)

ठाकुर बलवन्त सिंह

ठाकुर साहब का जन्म जोनपुर जिला (उत्तर प्रदेश) के ग्राम सखोई में एक क्षत्रिय परिवार में १ जुलाई १९०३ को हुआ। काशी हिन्दू विश्वविद्यालय से वनस्पति विज्ञान में एम० एससी० की उपाधि प्राप्त की। इसी विश्वविद्यालय में आयुर्वेदिक कालेज में आप वनस्पतिविज्ञान के व्याख्याता के रूप में नियुक्त हुए और निरन्तर कार्य किया। अब सेवा से विश्राम लेकर स्वाध्याय एवं चिन्तन–लेखन कर रहे हैं।

प्रारंभ से ही आपका ध्यान आयुर्वेद की सन्दिग्ध वनस्पतियों की ओर आकृष्ट हुआ। इसके लिये एक ओर आपने बृहत्त्रयी तथा निघण्टुओं का गंभीर मनन किया और दूसरी ओर देश के अनेक पर्वतीय एवं जांगल प्रदेशों का भ्रमण कर वनस्पतियों

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

से साक्षात् संपर्क स्थापित किया तथा उनके स्थानिक नाम, प्रयोग आदि की जानकारी प्राप्त की। इस आधार पर आपने अनेक संदिग्ध द्रव्यों का निर्णय किया है। इस प्रकार विगत चालीस वर्षों में आपने भारत के प्रायः सभी प्रदेशों में जाकर वनौषधियों का प्रत्यक्ष सम्पर्क किया और उन्हें प्रकाश में लाने में सफलता प्राप्त की।

रचनायें—हिमालयप्रदेश की यात्राओं में जिन वनौषधियों का परिचय विशेष रूप से उपलब्ध हुआ उन्हें क्रमबद्ध कर आपने 'वनौषधिदर्शिका' का रूप दिया जो आयुर्वेदिक कालेज का० हि० वि० के छात्रसंघ द्वारा १९४७ में प्रकाशित हुआ था। इसी प्रकार 'विहार की वनस्पतियाँ' (श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, १९५५) में विहार के छोटा नागपुर तथा जमुई के अन्य प्रदेशों में उपलब्ध वनस्पतियों का विवरण दिया गया है : 'प्रारम्भिक उद्भिद्शास्त्र' (चौखम्बा, वाराणसी, १९४९) नामक एक पुस्तक आपने आयुर्वेद कालेज के छात्रों के लिए लिखी है जिन्हें वनस्पतिविज्ञान का ज्ञान अपेक्षित है। यह अत्यन्त लोकप्रिय हुई और इसके अनेक संस्करण निकल चुके। इसके अतिरिक्त, दर्जनों महत्वपूर्ण शोध-लेख विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं में प्रकाशित हो चुके हैं। आपकी अभिनव सद्यः प्रकाशित रचना है 'ग्लॉसरी ऑफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन बृहत्त्रयी' (चौखम्बा वाराणसी, १९७२) जिसमें आपके अब तक के विचारों का सार संगृहीत हैं।

अनेक वनस्पतियों पर आपने मौलिक विचार दिये हैं फिर भी रास्ना, मूर्वा, तिलक, तिल्वक, प्रियंगु, मयूरशिखा, नागदन्ती, मांसरोहिणी, विष्णुकन्द, सैरेयक, अर्जक, वेतस, केबुक, क्रमुक, वसुक आदि पर आपके विचार अत्यन्त ही मौलिक हैं। इस प्रकार सन्दिग्ध द्रव्यों के क्षेत्र में आपका योगदान ऐतिहासिक रहा है।

द्रव्यगुणविज्ञान

प्रस्तुत लेखक द्वारा विरचित द्रव्यगुणविज्ञान दो खण्डों में (चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी, १९५५, १९५६) प्रकाशित हुआ। १९६८-६९ में इसका द्वितीय संस्करण निकला और अब तृतीय संस्करण प्रकाशित हुआ है। कहने की आवश्यकता नहीं कि मौलिक सिद्धान्तों की विशद विवेचना के साथ-साथ द्रव्यों के गुणकर्म को वैज्ञानिक शैली पर व्यवस्थित करने का श्रेय इसी कृति को है। सम्प्रति देश और विदेश के आयुर्वेद महाविद्यालयों में यह लोकप्रिय पाठ्यग्रन्थ है। इसका चतुर्थ भाग छप रहा है और पञ्चम भाग भी निकलने वाला है।

अन्तू भाई वैद्य

आप श्री वल्लभराम विश्वनाथ वैद्य के अनुज हैं। 'वनस्पति-परिचय' नामक आपका ग्रन्थ बम्बई से १९५२ ई० में प्रकाशित हुआ। इसमें एक-एक पृष्ठ में एक

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनस्पति का सचित्र वर्णन गुणकर्म, प्रयोग आदि के साथ किया गया है। इस प्रकार इसमें कुछ २१५ ओषधियों का विवरण है।

ठाकुर दलजीत सिंह

आपका जन्म ११ जुलाई सन् १९०३ ई० तहसील चुनार, जिला मीरजापुरान्तर्गत रायपुरी ग्राम के एक जमींदार परिवार में हुआ। आप श्री महावीरप्रसाद जी के ज्येष्ठ सुपुत्र हैं।

वैद्यराज हकीम दलजीतसिंह आयुर्वेद एवं यूनानी वैद्यक के ज्ञाता और हिन्दी के सुलेखक हैं। संस्कृत और हिन्दी के साथ-साथ अरबी-फारसी के भी आप ज्ञाता हैं। अतएव यूनानी ग्रन्थों को हिन्दी में आपने प्रामाणिक रूप में प्रस्तुत किया है।

आपकी रचनाओं में यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान (१९४९) तथा यूनानी द्रव्यगुणादर्श भाग १-२ (१९७२-७४) प्रसिद्ध है।

कविराज महेन्द्रकुमार शास्त्री

उत्तर प्रदेश के मुरादाबाद जिले के सदरपुर गांव में जमींदार श्री चौधरी रूपचन्दजी तथा लेखादेवी के पुत्र के रूप में आपका जन्म ४-४-१९१४ को हुआ।

पञ्जाब विश्वविद्यलय से तथा श्रीमद्दयानन्द आयुर्वेद विद्यालय, लाहौर से 'वैद्य-वाचस्पति' प्रथम श्रेणी में प्रथम पद प्राप्त कर उत्तीर्ण किया। १९३६ में निखिल भारतीयआयुर्वेद विद्यापीठ से आयुर्वेदाचार्य प्रथम श्रेणी में समग्र भारत में प्रथम पद प्राप्त कर सुवर्ण पदक तथा प्रथम पारितोषिक प्राप्त किया। बम्बई आने पर यहाँ की उस समय की मेडिकल काउन्सिल (अब समाप्त) से एल० एम० पी० (४ वर्ष का कोर्स) उत्तीर्ण की।

दयानन्द आयुर्वेदिक कालेज लाहौर में अध्यापन करने के बाद श्रीरामविलास पोद्दार आयुर्वेदिक कालेज में द्रव्यगुणविभाग के प्रोफेसर एवं अध्यक्ष पद पर वर्षों कार्य कर १९७१ में सेवानिवृत्त हुये। आप उक्त संस्था के आचार्य भी रह चुके हैं।

आपकी निम्नांकित प्रमुख रचनायें हैं—

(१) सचित्र लघु द्रव्यगुणादर्श (द्वि० सं० १९५७)
(२) सचित्र उद्भिद्शास्त्र (आधुनिक वनस्पतिविज्ञान)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

(३) त्रायमाण-विनिश्चय
(४) मूर्वानिर्णय
(५) बृहद् द्रव्यगुणादर्श (आयुर्वेद एवं तिब्बी अकादमी लखनऊ से प्रकाश्यमान)
(६) आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास

रामेश बेदी

अपने जीवन का बड़ा अंश दुरूह यात्राओं में लगा कर बेदीजी ने वनस्पतियों को अत्यन्त निकट से देखा और उनसे साहचर्य स्थापित किया। एकल द्रव्यों पर आपकी दर्जनों पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं ! भूटान सरकार के आमंत्रण पर आपने वहाँ जाकर भूटान की वनस्पतियों का संकलन किया है, । आप हाल में ही स्वास्थ्य-मंत्रालय में वरिष्ठ अनुसन्धान पदाधिकारी पद से सेवानिवृत्त हुये हैं। आपका 'बेदी-वनस्पतिकोष' आयुर्वेद विकास में धारावाहिक रूप से प्रकाशित हो रहा है।

ग्राम्यौषधि

वनोषधियों के अतिरिक्त गाँवों के आसपास पाई जानेवाली लोकोपयोगी ओषधियों पर भी प्रभूत वाङ् मय का सृजन हुआ है। घरों में प्रचलित द्रव्यों के औषधीय प्रयोग भी लिखे गये हैं। इसी क्रम में अनेक 'शतकों' तथा 'बूटीदर्पणों'[२] की रचना हुई। गुरुकुल कांगड़ी के वैद्य रामनाथ ने वनोषधिशतक (तृतीय संस्करण, १९७३), गृहद्रव्य-चिकित्साविज्ञान (१९६९) आदि अनेक उपयोगी ग्रन्थों का प्रणयन किया है। (गायघाट, पटनासिटी) के गोस्वामी शंकरगिरि ने जंगलों की अनेक वर्षों बिहार तक निरन्तर यात्रायें कर वनोषधियों का अच्छा अध्ययन एवं संकलन किया है यद्यपि इनकी कोई रचना प्रकाशित न हो सकी। कृष्णगोपाल औषधालय, अजमेर द्वारा प्रकाशित 'गांवों में औषधरत्न' इस दिशा में उत्तम प्रकाशन है।

---

१. अञ्जीर (आत्माराम, दिल्ली), मिर्च (१९५०), त्रिफला (१९५१), तुलसी (१९५५), तुवरक और चालमोगरा (१९५६), पेठा (१९५८) अशोक (१९५९) सर्पगन्धा, सोंठ, तोरी (१९६१), पलाश (१९६२), लशुन-प्याज (१९६३), नारियल (१९६४), खैर (१९६६) प्रभृति।

२. रामलगन पाण्डेकृत 'बृहद् बूटीप्रचार (ठाकुर प्रसाद, बनारस), हरिनारायण-शर्माकृत 'बृहद् बूटाप्रचार' (भार्गव पुस्तकालय, बनारस, १९३१) आदि।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कल्प-ग्रन्थ

निघण्टुओं के अतिरिक्त, एक-एक ओषधि पर भी विवरणात्मक वाङ्मय का सृजन हुआ। इनमें कल्पग्रन्थों का महत्त्वपूर्ण स्थान है। इनमें एक-एक द्रव्य का परिचय तथा प्रयोग दिये गये हैं। विशेषतः रसायन के रूप में इन ओषधियों का प्रयोग है, कुछ तान्त्रिक प्रयोग भी हैं। मध्यकाल में अधिकांश ऐसे ग्रन्थों की रचना हुई। इनमे निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. औषधकल्पसमूह (एशियाटिक सोसाइटी, कलकत्ता)
२. औषधिकल्प (पूना, काशी)
३ औषधिकल्पलतिका (आनन्दाश्रम)
४ औषधिवाड
५ कल्पभूषण (राघवन)
६ कल्पचिन्तामणि (पूना)
७ कल्पद्रुमसारसंग्रह-जयरामगिरिकृत (के० आ० प० ३६५)
८. कल्पनासागर (आनन्दाश्रम)
९. कल्पलता (मद्रास)
१०. कल्परत्न (बड़ोदा)
११. कल्पार्णव (राघवन)
१२. कल्पसागर (जम्मू)
१३. कल्पसंग्रह (पूना)
१४. कल्पसार (त्रिवेन्द्रम)
१५ कल्पसिन्धु (राघवन)
१६. कल्पवल्ली (,,)
१७. नानाविधौषधकल्प (के० आ० प० ४९१)
१८. बृहत् भेषजकल्प (,, १६३)
१९. भेषजकल्प—भरद्वाजकृत (,, १४४)
२०. भेषजकल्पसंग्रह (,, १४५)
२१. भेषजकल्पसंग्रह व्याख्या—वेंकटेशकृत (के० आ० प० १४६)
२२. भेषजकल्पसारसंग्रह (के० आ० प० १४७)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कल्पसंग्रहों के अतिरिक्त, एकल ओषधियों के कल्प पर भी ग्रन्थ लिखे गये। यथा—

१. करंजककल्प (त्रिवेन्द्रम्)
२. कृष्णधत्तूरकल्प (के० आ० प० ३९९)
३. गुग्गुलुकल्प (शार्ङ्गधर की गूढार्थदीपिका में उद्धृत, खण्ड २, ७।५६-६९)
४. ज्योतिष्मतीकल्प (के० आ० प० ३५६)
५. मण्डूकब्राह्मीकल्प (,, ४३९)
६. मदस्नुहीरसायन—पूज्यपादमुनिकृत (के० आ० प० ४२३)
७. मुण्डीकल्पादयः (के० आ० प० ४५२)
८. रुदन्तीकल्प (,, ७११)
९. विजयाकल्प (,, ९९६)
१०. श्वेतार्ककल्प (,, ८०२)

एक-एक द्रव्य पर स्वतन्त्र पुस्तकें भी लिखी गईं। श्री रमेश बेदी ने दर्जनों ऐसी पुस्तकें लिखी हैं। श्यामसुन्दर रसायनशाला, वाराणसी से भी उमेदीलाल वैश्य तथा केदारनाथ पाठक द्वारा विरचित ऐसी कई पुस्तकें प्रकाशित हुई हैं। गणपति सिंह वर्मा, रामसनेही दीक्षित और अमोलचन्द्र शुक्ल ने भी इस दिशा में उल्लेखनीय कार्य किया है। पं० चन्द्रशेखरधर शर्मा (चम्पारन, बिहार) द्वारा रचित गूलरगुण-विकास अत्यधिक लोकप्रिय हुआ। इसका १५वाँ संस्करण चौखम्बा द्वारा १९६५ में प्रकाशित हुआ। हाल ही में आचार्य ब्रह्मदत्त शर्मा द्वारा रचित 'तुलसी' ग्रन्थ डाबर, दिल्ली द्वारा प्रकाशित हुआ है (१९७५)।

पत्रिकाओं के विशेषांक

आयुर्वेदीय पत्रिकाओं ने समय-समय पर वनौषधि-विशेषांक प्रकाशित किये हैं जिनमें ओषधियों के सम्बन्ध में उपयोगी सूचनायें संकलित हैं। इस सम्बन्ध में धन्वन्तरि के वनौषधि-विशेषांक (१९६७, १९६९, १९७१) अवलोकनीय हैं। इसका एक और सन्दिग्ध वनौषधि-विशेषांक १९७५ में प्रकाशित हुआ है।

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थ

द्रव्यगुण के अधिकांश ग्रंथ आज अनुपलब्ध हैं, अनेक पाण्डुलिपियों के रूप में पुस्तकालयों में बन्द हैं और कुछ ऐसे भी हैं जो बहुत पहले प्रकाशित हुये थे किन्तु पुनः लुप्त हो गये।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हाल में निम्नांकित नवीन पुस्तकें प्रकाश में आई हैं—

१. महौषध-निघण्टु—आर्यदास कुमारसिंहकृत (चौखम्बा, १९७१)
२. अभिनव वनौषधि-चन्द्रिका—बनवारीलाल मिश्र एवं रामभरोसी मिश्रकृत, (जयपुर, १९६९)
३. द्रव्यपरीक्षा—बनवारीलालमिश्रकृत (जयपुर, १९७१)
४. द्रव्यगुणहस्तामलक— ,, (जयपुर, १९७६)
५. आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान—शिवकुमारव्यासकृत (दिल्ली, १९६४)

द्रव्यगुण के अन्य ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं—

१. अभिधानचन्द्रिका—भीमसेन
२. अभिधानरत्नमाला (षड्रसनिघण्टु)—(मद्रास, १८८१, १९२८, १९३९)
३. अभिधानमंजरी—भिषगाचार्य (१९५२)
४. अगस्त्यनिघन्टु—अगस्त्य
५. अकारादिनिघण्टु (धन्वन्तरिनिघण्टु)—अमृतनन्दिन्
६. अष्टाङ्गहृदय-द्रव्यविज्ञान
७. अथर्वनिघण्टु
८. औद्भिदद्रव्यनामगुणविमर्श
९. औषधगुणपाठ
१०. औषधनामावली—गोवर्धन
११. ,, —वैद्य विजयशंकर
१२. औषधनिघण्टु
१३. औषधिकोष
१४. औषधिनाममाला (लघुनिघण्टु)—व्यास केशवराम (इण्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना, १९६२)
१५. आयुर्वेदोक्तद्रव्यगुणविज्ञानम्—भोलानाथ मुखोपाध्याय
१६. आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान—के० बी० लाल सेनगुप्त (कलकत्ता, १८७५)
१७. भैषज्यगुणार्णव—पूज्यपाद
१८. भैषज्यविज्ञान—ईशानचन्द्र विशारद (कलकत्ता)
१९. भेषजनाममाला (द्रव्यनिर्णयनिघण्टु)
२०. भेषजरहस्य
२१. भेषजसर्वस्व
२२. भोग्यद्रव्यगुणविषय

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

२३. भोजराजनिघण्टु
२४. चिकित्साभिधान—गन्ध उपाध्याय
२५. दक्षिणामूर्त्तिनिघण्टु
२६. दिव्यौषधिप्रकाश
२७. दिव्यौषधिवर्णन
२८. द्रव्यचिह्न
२९. द्रव्यदशार्थनिरूपण
३०. द्रव्यगुण—पुरुषोत्तम, माधवपुत्र, चक्रदत्तपौत्र
३१. द्रव्यगुण—नारायणदास
३२. द्रव्यगुण—गोपाल
३३. द्रव्यगुणादर्शनिघण्टु
३४. द्रव्यगुणाधिराज
३५. द्रव्यगुणकल्पवल्ली
३६. द्रव्यगुणाकर—हरिशाणसेन
३७. द्रव्यगुणपाठ
३८. द्रव्यगुणसंकलन
३९. द्रव्यगुणविमर्श
४०. द्रव्यगुणमुक्तावली
४१. द्रव्यमुक्तावली
४२. द्रव्यनामगुणकथन
४३. द्रव्यनामनिर्णय
४४. द्रव्यनिश्चयसारसंग्रह
४५. द्रव्यपदार्थप्रतिनिधि
४६. द्रव्यपरीक्षा
४७. द्रव्यप्रकाश
४८. द्रव्यरत्नाकर—मुद्गल
४९. द्रव्यरत्नावली
५०. द्रव्यसंग्रह
५१. द्रव्यसारसंग्रह
५२. द्रव्यवैशेषिक
५३. द्रव्यावली—माधव (महादेव ?)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

५४. द्रव्यावली (द्रव्यकोष)—चन्द्रट
५५. एकाक्षरनिघण्टु—सदाचार्य
५६ ,, —माधव
५७. एकाक्षरी निघण्टु—कृष्णात्मज प्रीतिकर
५८. गन्धशास्त्रनिघण्टु—पृथ्वीसिंह
५९. गुणचन्द्रिका—घनश्याम सूरि
६०. गुणचिन्तामणि
६१. गुणादर्श
६२. गुणज्ञाननिघण्टु
६३. गुणकर्मनिर्देश
६४. गुणनिघण्टु
६५. गुणपटल
६६ गुणपाठ
६७ गुणरत्नाकर—व्रजभूषण
६८. गुणयोगप्रकाश
६९. हनुमन्निघण्टु
७०. इन्द्रकोश (राजेन्द्रकोश)—प्रभाकरसुत रामचन्द्र गौड़ाधीश इन्द्रसिंह के आदेश से रचित
७१. इन्द्रनिघण्टु
७२. कोशकल्पतरु—नारायणसुत विश्वनाथ वैद्य (१६२९-७६)
७३. मुक्तावली—कालीप्रसन्न बिट् (कलकत्ता, १८९१)
७४. नाममालाशब्दसंकेतकलिका—धन्वन्तरि
७५. नामसंग्रहनिघण्टु
७६. निघण्टुप्रकाश—जोशी वैद्य बापू गंगाधर
७७. निघण्टुसमय—धनंजय
७८. निघण्टुसारसंग्रह—राधाकृष्ण
७९. निघण्टुसार—रघुनायक
८०. ,, अशोकमल्ल
८१. निर्णयनिघण्टु—वैद्यनाथ
८२. औषधिकोश
८३. पथ्यापथ्यनिघण्टुसार

२१ द्र० च०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

८४. पर्यायमञ्जरी
८५. पर्यायमुक्तावली—हरिचरणसेन (J. B. R. S. Patna, 1947)
८६. पर्यायार्णव—नीलकण्ठ मिश्र
८७. रसनिघण्टु—कोदन्डराजसुत माधव
८८ रसमूलिकानिघण्टु—बाहट
८९. रत्नमाला—गोवर्धन
९०. शब्दचन्द्रिका—चक्रपाणि
९१. शब्दप्रदीप—सुरपाल
९२. शब्दरत्नप्रदीप—कल्याणमल्ल
९३. शब्दसंग्रहनिघण्टु—अगस्त्य
९४. शाकनिघण्टु—सीताराम शास्त्री
९५. संज्ञासमुच्चय—शिवदत्त मिश्र
९६. सरस्वतीनिघण्टु—शाश्वत
९७. शतौषधानि
९८. शेषराजनिघण्टु
९९. सिद्धौषधनिघण्टु
१००. सूर्यरायान्ध्रनिघण्टु
१०१. ताम्बूलमञ्जरी
१०२. उपवनविनोद—शार्ङ्गधर
१०३. ,, —मलयसूरि
१०४. उपवनविनोदकौतुक—कवीन्द्राचार्य
१०५. वैद्यकगुणसार
१०६. वैद्यकोश—दाऊजी
१०७. वैद्यकनिघण्टुविशेष
१०८. वैद्यामृत—मोरेश्वर भट्ट, माणिक्यभट्टात्मज (१५४७ ई०)
१०९. वैद्यनिघण्टुसार—छिक्कन पंडित
११०. बामननिघण्टु—बामन
१११. बस्तुगुणागुण
११२. वस्तुगुणकल्पवल्ली
११३. वस्तुगुणनिर्णय
११४. वृक्षायुर्विज्ञान
११५. वृक्षायुर्वेद

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

हिन्दी तथा क्षेत्रीय भाषाओं में निम्नांकित ग्रन्थ अवलोकनीय हैं :—

१. निघण्टुशिरोमणि—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल–सुधानिधि प्रेस, इलाहाबाद, (१९१४)

२. द्रव्यसंग्रहविज्ञान— ,, — ,,

३. गुणपरिज्ञान— ,, — ,,

४. प्राणिज औषधि ,, — ,,

५. निघण्टुकल्पद्रुम—सुदर्शनलाल त्रिवेदी—भार्गव पुस्तकालय, बनारस (तृ० सं० १९५८)

६. औषधगुणधर्म विज्ञान—हरिशरणानन्द

७. गुणपरिज्ञान—मोहनलाल गटोचा

८. लघु द्रव्यगुणादर्श—चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कर

९. निघण्टुविज्ञान—जगन्नाथ शर्मा

१०. औषधिविज्ञान—धर्मदत्त

११. द्रव्यकल्पद्रुम (उड़िया)—व्रजबन्धु त्रिपाठी

१२. औषधाकार—धनजी शाह

१३. द्रव्यगुणविज्ञान—रविशंकर पुरोहित

१४. जंगलनी जड़ी बूटी (गु०) वैद्यशास्त्री श्यामलदास गोर

१५. वनौषधिप्रकाश—वासुदेवशास्त्री वापट

आयुर्वेदेतर वाङ्मय में द्रव्यगुण

आयुर्वेद के अतिरिक्त अन्य वाङ्मय में भी द्रव्यगुण की प्रचुर एवं महत्त्वपूर्ण सामग्री उपलब्ध होती है। दर्शनों में द्रव्य-गुण-कर्म के सैद्धान्तिक पक्ष का विमर्श किया गया है। वनस्पतियाँ प्रकृति की रमणीयता में सहयोगिनी हैं अतः रमणीयार्थ-प्रतिपादक काव्य में वनस्पतियों का वर्णन स्वाभाविक है। इससे तत्कालीन वानस्पतिक अवधारणाओं का पता चलता है। कोशों के वनौषधिवर्ग में द्रव्यों के पर्यायरूप में वर्णन मिलते हैं।

वेदों के अतिरिक्त, पुराणों, स्मृतियों, बौद्ध वाङ्मय (त्रिपिटक, जातक आदि), जैन ग्रन्थ, रामायण और महाभारत में भी द्रव्यगुण की महत्त्वपूर्ण सामग्री सुरक्षित

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

है। विशेषज्ञ विद्वानों ने विभिन्न पक्षों पर कार्य कर प्रकाशन किये हैं उनका अवलोकन करना चाहिए।[1]

वैद्येतर विद्वानों द्वारा विरचित ग्रन्थ

१. **भारतीय वनौषधि**—कलकत्ता वानस्पतिक उद्यान के अधीक्षक डा० कालीपद विश्वास की यह रचना है। इसमें ६७२ वानस्पतिक द्रव्यों का विवरण प्रयोगसहित दिया है। सभी वनस्पतियों के रेखाचित्र भी दिये हैं यह इस पुस्तक की बड़ी विशेषता है। यह ग्रन्थ कलकत्ता विश्वविद्यालय से प्रकाशित है (१९५०)।

२. **इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स**—कीर्तिकर एवं बसु द्वारा निर्मित यह बृहत्काय ग्रन्थ भारतीय ओषधियों के लिए एक प्रामाणिक आकर-ग्रन्थ है[2]। प्रायः सभी ओषधियों के चित्र भी दिये गये हैं।

३. **इकोनोमिक बाटनी ऑफ इण्डिया**——इसके रचयिता भीमचन्द्र चटर्जी, प्रोफेसर, इञ्जीनियरिंग कालेज, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय जड़ी-बूटियों में बड़ी रुचि रखते थे। उपर्युक्त ग्रन्थ के निर्माण में भी आपका योगदान था।[3]

४. **इण्डियन मेटिरिया मेडिका**—के० एम० नादकर्णी द्वारा विरचित यह ग्रन्थ इस क्षेत्र में लोकप्रिय रहा है। इसका तीसरा संस्करण १९५४ में दो खण्डों में प्रकाशित हुआ[4]। इसमें वानस्पतिक, जान्तव एवं खनिज सभी प्रकार की ओषधियों का विस्तृत विवरण है। उनके प्रयोगों का भी वर्णन विस्तार से है।

---

१. इस सम्बन्ध में देखें—
बापालाल : संस्कृत साहित्य में वनस्पति (गुजरात विद्यासभा, अहमदाबाद, १९५३)
प्रियव्रत शर्मा : अमरकोष का वनौषधिवर्ग, सचित्र आयुर्वेद, नवम्बर, १९७४
Jyotirmitra : Medicinal Plants of the Ramayana of Valmiki, Nagarjuna, Feb, 1969.
P. V. Sharma : Indian Medicine in the Classical Age, Section II (Chowkhamba, 1972)
B. C. Law : Ancient Indian Flora (Indian Culture, Vol XV, Nos. 1–4, July 1948—June 1949)

२. K. R. Kirtikar and B. D. Basu : Vol I–IV, Allahabad, (1st ed. 1918, 2nd ed. 1933)

३. रूपलाल वैश्य : सन्दिग्ध बूटी चित्रावली, भाग १, पृ० ५६

४. ए० के० नादकर्णी द्वारा सम्पादित तथा पापुलर बुक डिपो एवं धूतपापेश्वर, पनवेल, बम्बई द्वारा प्रकाशित। अब इसका पुनर्मुद्रण हुआ है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

४ इण्डिजिनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया[1]—कर्नल रामनाथ चोपड़ा ने भारतीय ओषधियों का परीक्षण कर उनका विवरण इस ग्रंथ में दिया है। इस दिशा में अपने ढंग का यह प्रथम प्रयास होने पर भी भावी कार्यकर्ताओं के लिए पथप्रदर्शक हुआ।

प्वायजनस प्लाण्ट्स आँफ इण्डिया[2] भी आपकी महत्वपूर्ण रचना है। इसके अतिरिक्त, अन्य सहयोगियों के साथ आपने 'ग्लॉसरी ऑफ इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स'[3] की रचना की। इसका सप्लिमेंट भी प्रकाशित हो चुका है[4]।

इनके अतिरिक्त, निम्नांकित रचनायें भारतीय ओषधियों के अध्ययन के लिए महत्वपूर्ण हैं—

Sakharam Arjun : Bombay Drugs (Bombay 1879)

U. C. Dutt : Materia Medica of the Hindus (2nd ed. 1922)

R. N. Khoury : Materia Medica of India and their therapeutics.

Kanailal De : Indigenous drugs of India

Ainsle : Materia Medica of Hindustan (1813)

Roxburgh : Flora Indica (1874)

Dymock & Gadgil : The Vegetable Materia Medica of the Hindus.

Dymock et al : Pharmacographia Indica (1883)

Moodeen Sherriff : Supplement of Pharmacopoea Medica

Idem : Materia Medica

George watt : Dictionary of Economic Products of India, (1908)

K. C. Bose : Pharmacopoea Indica (1932)

H. V. Savnur : A Handbook of Ayurvedic Materia Medica (Belgaon, 1950)

स्वतन्त्र भारत में सी० एस० आई० आर० द्वारा प्रकाशित 'वेल्थ ऑफ इण्डिया' एक महत्वपूर्ण प्रकाशन है। इसके ९ खण्ड निकल चुके, १० वां अन्तिम खण्ड प्रकाशनाधीन है।

---

१. कलकत्ता, १९३३

२. Chopra, Badhwar & Ghosh : I. C. A. R. 1949

३. Chopra, Nayar & Chopra—C. S. I. R., 1956

४. Chopra, Chopra & Varma : Delhi, 1969

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वनौषधि-सर्वेक्षण

भारतीय वनोषधियों का सर्वेक्षण कर अनेक विवरणात्मक ग्रंथ (फ्लोरा) प्रस्तुत हुये। युरोपीय विद्वानों ने यह ऐतिहासिक कार्य किया। रॉक्सबर्ग तथा वालिच का 'फ्लोरा इण्डिका' प्रारम्भिक रचनाओं में महत्वपूर्ण है। हूकर का 'फ्लोरा आफ ब्रिटिश इण्डिया' अभी भी प्रामाणिक ग्रंथ माना जाता है। प्रादेशिक स्तर पर भी ऐसे ग्रंथ लिखे गये जिनमें हेन्स, डथी, कान्जीलाल, कुक, ब्राण्डिस, माहेश्वरी आदि की रचनायें उल्लेखनीय हैं[1]। ठाकुर बलवन्तसिंह ने हिमालयप्रदेश की वनस्पतियों के लिए 'वनोषधिदर्शिका' तथा छोटा नागपुर और जमुई क्षेत्रों के लिए 'बिहार की वनस्पतियाँ' (१९५५) की रचना की। वैद्य मायाराम उनियाल ने उत्तराखण्ड की वनस्पतियों पर उत्तम कार्य किया है। भारतीय वनस्पतियों के अध्ययन सर्वेक्षण में बोटानिकल सर्वे आफ इण्डिया विशेषतः फादर सन्तापो का योगदान ऐतिहासिक रहा है।

कुछ वर्षों से भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसंधान परिषद् के तत्वावधान में विभिन्न प्रदेशों में वनस्पति-सर्वेक्षण के लिए केन्द्र स्थापित किये गये हैं जिनमें प्रादेशिक स्तर पर कार्य हो रहा है।

भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय

वनस्पतियों का सर्वेक्षण-कार्य प्रारम्भ होने पर भैषज्योद्यानों एवं संग्रहालयों की स्थापना होने लगी। कलकत्ता का वानस्पतिक उद्यान प्राचीन है जहाँ अंगरेजों ने देश-विदेश से पौधे लाकर लगाये। राक्सवर्ग, वालिच आदि विश्वविख्यात वनस्पतिविद् उसके अधीक्षकपद को अलंकृत कर चुके हैं[2]। लखनऊ का राष्ट्रीय वानस्पतिक उद्यान भी उल्लेखनीय है। इस दिशा में सिम्पो (Cimpo) नामक संस्था ध्यान दे रही है। ओषधियों की दृष्टि से काशी हिन्दू विश्वविद्यालय का आयुर्वेदीय भैषज्योद्यान अवलोकनीय है। देहरादून का उद्यान और संग्रहालय तो विख्यात है ही।

---

१. विशेष विवरण के लिए देखें—प्रस्तावना, पृ० १३-१९, वैद्य बापालालकृत निघण्टु-आदर्श (चौखम्बा, १९६८)

२. इस शती के प्रथम चरण में कलकत्ता के कई कविराजों ने वनौषधिवाटिका लगा रक्खी थी। रूपलाल वैश्य ने कविराज हेमचन्द्रदेव और हेमचन्द्र मित्र, काशीपुर कृषिशाला का निर्देश किया है। (सन्दिग्ध बूटीचित्रावली, पृ० ७, २४)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शोधकार्य

जबसे अंगरेजी राज स्थापित हुआ तभी से इस देश के विभिन्न क्षेत्रों की जानकारी का प्रयास यूरोपीय विद्वान करने लगे। मेडिकल कालेज स्थापित होने पर उनमें पहले फार्माकोलोजी की पढ़ाई मेडिसिन विभाग के ही अन्तर्गत होती थी किन्तु बाद में भारतीय ओषधियों में अनुसन्धान की दृष्टि से यह विभाग स्वतंत्र कर दिया गया। इसी परम्परा में चोपड़ा, मुखर्जी, बोस, गुजराल आदि विद्वानों ने कार्य किया। स्वतन्त्रता के बाद यह कार्य तेजी से बढ़ा और प्रायः सभी मेडिकल कालेजों में भारतीय ओषधियों पर अनुसन्धान कार्य होने लगा। इस निमित्त स्वतन्त्र शोध-संस्थान भी स्थापित हुये यथा लखनऊ का केन्द्रीय भेषज शोधसंस्थान। इण्डियन कौंसिल ऑफ़ मेडिकल रिसर्च तथा भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धानपरिषद् स्थापित होने पर इस कार्य में और प्रगति आयी। इस प्रकार शताधिक ओषधियों पर कार्य हुआ और उनके सम्बन्ध में शोधपत्र एवं मोनोग्राफ प्रकाशित हुये।[1]

भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान-परिषद् द्वारा कुछ संयुक्त द्रव्य-अनुसन्धान कार्यक्रम भी संचालित हो रहे हैं जिनमें द्रव्यों के वानस्पतिक, रासायनिक, गुणकर्मात्मक तथा आतुरीय इन सभी दृष्टियों से अध्ययन होते हैं। इसके अतिरिक्त, अन्य अनुसन्धान इकाइयों में भी कार्य हो रहा है। इस अनुसन्धान-परिषद् के द्वारा तय्यिल कुमारकृष्णकृत एक विशाल 'आयुर्वेदीय ओषधिनिघण्टु' (१९६६) प्रकाशित हुआ है। पीतकरवीर पर एक मोनोग्राफ (अरोड़ा एवं रंगस्वामी, १९७२) प्रकाशित हुआ है। के० नारायण ऐयर एवं उनके सहयोगियों द्वारा प्रस्तुत 'आयुर्वेदीय औषधियों का परिचयविज्ञान' क्रमबद्ध रूप में ९ खंडों में प्रकाशित हुआ है (केरल विश्वविद्यालय, त्रिवेन्द्रम, १९५१-१९६६) जिसमें ९२ द्रव्यों का सचित्र विवरण है। यह वनस्पतियों के रूपज्ञान के सम्बन्ध में अत्युपयोगी प्रकाशन है। वनस्पति-परिचयविज्ञान के क्षेत्र में हुए कार्यों का विवरण मेहरा, भटनागर एवं हण्डा ने अपने लेख 'रिसर्चेज इन फार्माकोग्नोसी इन इण्डिया' में दिया है (पंजाब विश्वविद्यालय की अनुसन्धान पत्रिका (एन० एस०), भाग २०, अंक ३-४, पृ० २६१-३३७, सितम्बर, १९७०)।

---

१. आर० बी० अरोड़ा का जटामांसी पर उल्लेखनीय कार्य हुआ है।
देखें—Nardostachys Jatamamsi—A Chemical, Pharmacological and Clinical appraisal (I. C. M. R., 1965)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

जामनगर में केन्द्रीय आयुर्वेदीय शोध संस्थान की स्थापना से आयुर्वेदीय द्रव्यों के सम्बन्ध में अनुसंधान का जो श्रीगणेश हुआ वह वाराणसी के स्नातकोत्तर आयुर्वेद संस्थान द्वारा विकसित एवं उपबृंहित हुआ। इन संस्थाओं द्वारा ओषधियों के सम्बन्ध में अनेक शोधपत्र तथा शताधिक शोधप्रबन्ध प्रस्तुत किये गये हैं। इसी प्रकार डा० एन० हनुमन्त राव के निर्देशन में विजयवाड़ा (आंध्र प्रदेश) का 'अकेडमी आफ आयुर्वेद' प्रशंसनीय कार्य कर रहा है।

स्वतन्त्र संस्थाओं में इण्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन, पूना का नाम उल्लेखनीय है जहाँ डा० जी० एस० पेण्डसे के नेतृत्व में कार्य हो रहा है और चित्रक, बाकुची (१९६३) आदि पर अनेक महत्त्वपूर्ण प्रकाशन भी हुए हैं। वाग्भटीय ओषधियों की संदर्भसूची भी यहाँ से प्रकाशित हुई है।[1]

कृष्णचन्द्र चुनेकर की 'वानस्पतिक अनुसंधानदर्शिका' (चौखम्बा, १९६९) में इन शोधकार्यों का विवरण उत्तम रीति से संकलित है।

भेषजकल्पना

द्रव्यों का इस रूप में प्रस्तुतीकरण जिससे वे अपना कर्म करने में समर्थ हों कल्पना कहलाती है। भेषजकल्पना का प्राचीन स्वरूप कषाय है। 'कषाय' शब्द वस्तुतः खींचने (Extraction) के अर्थ में है। जिसमें द्रव्य का कार्यकर अंश खिंचकर चला आवे वह कषाय है। ऋग्वेद में सोम के स्वरस एवं अभिषव कल्पों का विशद वर्णन है। इससे स्पष्ट है अत्यन्त प्राचीन काल से ही भारतीय भैषज्य-कल्पना का विकसित रूप दृष्टिगत होता है। चरक (सू० ४) में पञ्चविध कषाय-कल्पनाओं का वर्णन है।[2] ये ही मौलिक कल्पनायें हैं, इन्हीं से क्रमशः अन्य कल्पनाओं का विकास हुआ है। क्वाथ और कल्क से ही तैल-घृत सिद्ध किये जाते हैं जिनमें स्नेह-विलेय कार्यकर अंश विशेष रूप से आ जाते हैं और स्नेह का अपना

१. Godbole, Pendse & Bedeker : Glossary of Vegetable Drugs iu Vagbhata, I. D. R. A., Poona, 1966.
Kamat & Mahajan : Medicinal Plants in Dhanwantariya Nighantu (I. D. R. A., Poona, 1972)

२. भल्लातक के प्रसंग में चरक ने क्षीर, क्षौद्र, तैल, गुड, यूष, घृत, पलल, सक्तु, लवण, तर्पण कल्पनाओं का विधान किया है (च. चि. १।२।१३-१६)। कल्पस्थान में वर्तिक्रिया, उत्कारिका, मोदक, लेह, रागषाडव, शष्कुली, पूप, सुरा, पानक, गन्धयोग आदि अनेकविध कल्पनाओं का विधान किया गया है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कर्म तो होता ही है। आसव-अरिष्ट भी हिम एवं क्वाथ के रूपान्तर हैं। क्वाथ अधिक दिनों तक रह नहीं सकता। अभिषवक्रिया द्वारा मद्य बनने से क्वाथ का सुरक्षण होता है; मद्य-विलेय कार्यकारी सत्व इसमें आ जाते हैं तथा मद्य की योगवाहिता से औषध के कर्म में उत्कर्ष आ जाता है। चूर्ण और कल्क से क्रमशः एक ओर वटक और गुटिका का और दूसरी ओर अवलेह-मोदक-पाक का विकास हुआ।

सुश्रुतसंहिता में अनेक कल्पों का वर्णन है जिससे स्पष्ट है कि उस काल तक भेषजकल्पना का पर्याप्त विकास हो चुका था। एक रोग (कुष्ठाधिकार) में ही सुश्रुत ने मन्थ, अरिष्ट, आसव, सुरा, अवलेह, चूर्णक्रिया, अयस्कृति, सार, स्वरस कल्पनाओं का वर्णन किया है और यह संकेत दिया है कि इस आधार पर सहस्रों कल्पनाओं की कल्पना की जा सकती है।[1] इनके अतिरिक्त, मसी, तैल, घृत, लेप, वर्ति आदि विविध कल्पनाओं का प्रयोग किया गया है। क्षारकल्पना का विशद वर्णन मिलता है।[2] अष्टांगसंग्रह[3] में स्नेह, स्वेद, बस्ति, नस्य, धूमपान, गण्डूष, प्रतिसारण, मुखालेप, मूर्धतैल, शिरोबस्ति, आश्च्योतन, अञ्जन, तर्पण, पुटपाक[4] आदि विविध कल्पनाओं का विधान है। भेषजकल्पाध्याय में कषाय-कल्पना, स्नेहपाक आदि का वर्णन किया है।[5]

कल्पानुसार योगों का वर्गीकरण एवं वर्णन प्राचीन काल से चला आ रहा है। नावनीतक में सर्वप्रथम यह शैली दृष्टिगत होती है। इसके बाद चन्द्रट, सोढल, शार्ङ्गधर आदि आचार्यों ने इसे विकसित किया। मध्यकाल में सर्वाधिक उल्लेखनीय घटना हुई मुसलमानों से सम्पर्क जिसके माध्यम से कुछ नवीन कल्पनाओं का समावेश आयुर्वेद में हुआ। इनमें 'अर्क-कल्पना' महत्त्वपूर्ण है जिसके द्वारा उड़नशील तैलों का निष्कासन किया जाने लगा और इस विधि से अन्य द्रव्यों का भी अर्क निकाला जाने लगा। मद्य भी इस विधि से खींचा जाने लगा। सोढल (१२वीं शती) ने सर्वप्रथम अर्क-कल्पना का विधान किया है।[6] इसके बाद इसका प्रयोग तेजी से

१. सुरामन्थासवारिष्टांलेहांश्चूर्णान्ययस्कृतीः।
सहस्रशोऽपि कुर्वीत बीजेनानेन बुद्धिमान्॥ सु० चि० १०।१४

२. सु० सू० ११

३. अ० सं० सू० १५-२३

४. पुटपाकविधि से वनस्पतियों का स्वरस निकालने का विधान सुश्रुत (उ० ४०।७७-७९) में भी है।

५. वही, क० ८, अ० हृ० ६

६. प्रयोगखण्ड, खर्जूरासव (निष्कासयेदर्कमतो यथावद् दत्वा जलं चोपरि यन्त्रकस्य) (श्लो० २७२)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बढ़ा और इस पर अनेक स्वतन्त्र ग्रन्थ भी लिखे गये। मद्य भी इस विधि से निकाला जाता था जो तीक्ष्ण होता था, लोक में इसके लिए 'अरक' शब्द प्रचलित था।[1] यूनानी मलहम भी 'मलहर' के रूप में आयुर्वेदीय बन गया।

द्रव्य को तीक्ष्ण करने के लिए भावना देने का विधान है।[2] किसी योग में तीक्ष्णता या मन्दता करने के लिए संयोग, विश्लेष, काल, संस्कार और युक्ति का अवलम्बन करने का विधान किया गया है।[3]

सुरा में किसी द्रव्य को अभिषुत कर उसका सुराविलेय सत्त्व निकालने की विधि चरक के दृढ़बलकृत अंश में है।[4] सम्भवतः गुप्तकाल में यह विधि प्रचलित थी।

कौटिल्य अर्थशास्त्र के सुराध्यक्ष-प्रकरण में अनेक प्रकार की सुराओं का वर्णन है। रोगों में प्रयुक्त होनेवाले मद्यविकार को अरिष्ट कहा है।[5] इस प्रकार 'आसव' शब्द मद्यसामान्य का वाचक हुआ। आसव-अरिष्ट में यह भेद ध्यान देने योग्य है। मध्यकाल में जब आसव-अरिष्ट दोनों रोगों में प्रयुक्त होने लगे तब उनका भेदक लक्षण भी बदल गया। जो औषध के क्वाथ से बनाया जाय वह अरिष्ट और जो अपक्व औषध से सिद्ध हो वह आसव[6] कहलाया। सम्प्रति यही लक्षण प्रचलित है।

आहारकल्पना

औषधकल्पना के अतिरिक्त, अनेकविध आहारकल्पों का भी वर्णन है। यूष, पेया, यवागू, विलेपी, ओदन, कृशरा प्रभृति कल्प व्याधियों में पथ्य के रूप में बहुशः प्रयुक्त हुए हैं।

औषधयोग

एकल द्रव्यों की तुलना में औषधयोगों की संख्या अत्यधिक है। भैषज्यकल्पना के विकास के साथ-साथ इन योगों की संख्या भी बढ़ती गई और इसी ने आगे चलकर पेटेण्ट का रूप धारण किया।

---

१. बर्नियर : पृ० २५३
'शौण्डिक' (मद्यविक्रयी) में 'शुण्डा' शब्द सम्भवतः मद्यपातनार्थ प्रयुक्त शुण्डाकार यन्त्र (भभका) का बोधक है। अमरकोष में 'शौण्डिक' शब्द आया है।

२. च० क० १२।५१-५२

३. वही, ५२-५३

४. च० क० २।८

५. चिकित्सकप्रमाणाः प्रत्येकशो विकाराणामरिष्टाः—अर्थ० २।२५।१४

६. शार्ङ्ग० मध्य० १०।२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

योगों का नामकरण प्रायः प्रमुख द्रव्य के आधार पर होता है यथा चित्रकादि गुटिका। रोगों के अनुसार भी नामकरण किया गया है यथा शूलवज्रिणी, विषमज्वरान्तक आदि। कहीं-कहीं गुणधर्म के अनुसार नाम है यथा कामेश्वर, मृतसंजीवनी आदि और कहीं योग के आविष्कर्ता देवी-देवता या ऋषि के नाम पर हैं यथा भास्करलवण, काङ्कायनमोदक आदि। धर्म का प्रभाव भी इस पर पड़ा है, सिंहनादगुग्गुलु, तारामंडूर आदि नाम स्पष्टतः बौद्धतन्त्र से प्रभावित हैं।

योगों का इतिहास अपने आप में एक रोचक विषय है। स्थायित्व की दृष्टि से इन्हें तीन वर्गों में विभाजित कर सकते हैं—

१. ऐसे योग जो सहस्राब्दियों से अद्यावधि अक्षुण्ण रूप से चले आ रहे हैं यथा च्यवनप्राश।

२ ऐसे योग जो बीच-बीच में आते हैं और लुप्त हो जाते हैं। समत्रितय गुटिका गुप्त एवं उत्तरगुप्त काल में अत्यन्त प्रचलित योग था जिसका उल्लेख चीनी यात्री इत्सिंग (७वीं शती) ने भी किया है किन्तु सम्प्रति इसका प्रचार नहीं है।

३. कुछ ऐसे योग जो मध्यकाल या आधुनिक काल में प्रविष्ट हुये यथा चोपचीनीपाक, आकारकरभादि वटी, अहिफेनासव, मृतसंजीवनी सुरा आदि।

किसी एक योग को उसके उद्भव से लेकर वर्तमान स्वरूप तक देखें तो उसके उतार-चढ़ाव का पता चल जाता है। कभी कोई द्रव्य उसमें से निकाल दिया जाता है और कभी कुछ द्रव्य और मिला दिये जाते हैं। इस प्रकार उसके अनेक योग बन जाते हैं। प्रत्येक योग स्थितिविशेष में उपादेय होता है। रास्नापञ्चक, रास्नासप्तक, महारास्नादि प्रभृति योग इसी प्रकार बने। हिंग्वष्टक चूर्ण ऐसे भाग्यशाली कुछ ही योग होंगे जो हजारों वर्ष बाद भी अक्षुण्ण रूप से अपना स्थान बनाये हैं।

परिभाषा

भेषजकल्पना-सम्बन्धी तकनीकी बातों के स्पष्टीकरण के लिए परिभाषाओं का निर्माण किया गया यथा यदि वनस्पति के अङ्ग का उल्लेख न हो तो क्या लेना, शुष्क और आर्द्र द्रव्यों का अनुपात, द्रवपदार्थों का योग किस प्रकार किया जाय इत्यादि बातों का विचार इसमें किया गया है। इस विषय पर अनेक ग्रन्थ भी लिखे गये।

मान

अमरकोष (२।९।८५) में यौतव, द्रुवय और पाय्य इन तीन प्रकार के मानों का उल्लेख है। तुला, अंगुलि और प्रस्थ से क्रमशः भार, दैर्घ्य और आयतन का मान

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

किया जाता था (मानं तुलाङ्गुलिप्रस्थैः—अमर०, वही)। इस प्रकार इन्हें तुलमान, अंगुलिमान तथा प्रस्थमान[1] भी कहा जाता है। अमरकोष में इन तीनों का विवरण मिलता है। काशिका (५।१।१९) में इनके लिए क्रमशः उन्मान, प्रमाण और परिमाण शब्द हैं। मान का मानकीकरण संभवतः प्राङ् मौर्यकाल में पाटलिपुत्र के राजा नन्द ने किया[2]। कौटिल्य अर्थशास्त्र (२।१९२) मनुस्मृति (८।१३२-१३७), याज्ञवल्क्य-स्मृति (आचार ३६२-३६५), बृहत्संहिता (अ० ५८,६८,८०) आदि में मान का विवरण मिलता है। आयुर्वेदीय ग्रन्थों में चरक, (क० अ० १२), सुश्रुत (चि० ३१), वाग्भट, (अ० हृ० ९६) और शार्ङ्गधर (पूर्व० १) में मान-प्रकरण अवलोकनीय है। सुदृढ़ राजतन्त्र में अर्थव्यवस्था एवं वाणिज्य को सुचारु रूप से सञ्चालित करने के लिए मान का मानकीकरण आवश्यक होता है। अतः मौर्यकाल, गुप्तकाल, मुगलकाल तथा ब्रिटिशकाल में मान की सुचारु व्यवस्था की गई। मगध में प्रचलित या मगध-साम्राज्य द्वारा मान्य मान मागध और कलिंग में प्रचलित मान कालिंग कहलाता था। कालिंग मान से मागध मान श्रेष्ठ कहा गया है। सम्भवतः इसका कारण कलिंग पर मगध का आधिपत्य है जो अशोक की कलिंगविजय के बाद स्थापित हुआ।

राज्य द्वारा निर्धारित मान के अनुसार व्यवहार न करने तथा ठीक से न तौलने पर वणिक् दण्ड का भागी होता था।[3] छः छः मास पर मान का पुनः परीक्षण करने का विधान था।[4]

ऐसा प्रतीत होता है कि कुछ काल बाद तुलामान तथा प्रस्थमान परस्पर मिलकर एक हो गये जिसके कारण इनका भेद प्रायः समाप्त हो गया और प्रस्थ आदि शब्द भी तोल के ही वाचक बन गये।

---

१. आदिवासियों में अभी भी प्रस्थमान से व्यवहार होता है। तुलामान प्राचीनकाल में कर्ष-पल, मध्यकाल में सेर-छँटाक और अब ग्राम-किलो में परिणत हो गया। अंगुलिमान बाद में इञ्च-फीट और अब मीटर हुआ। इसी प्रकार प्रस्थमान भी क्रमशः घन-इञ्च, घनसेण्टीमीटर में विकसित हुआ।

२. नन्दोपक्रमणानि मानानि—काशिका, २।४।२०; ६।२।१४
देखें—मेरा 'इंडियन मेडिसिन इन दी क्लासिकल एज, पृ० ४१

३. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४०

४. मनु० ८।४०३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भेषजागार

कच्ची ओषधियों तथा सिद्ध ओषधों को सम्यक् रूप से सुरक्षित रखने के लिए उत्तम भेषजागार होना चाहिए क्योंकि यदि ओषधियाँ जल, कीट आदि से दूषित हो जायँ तो उनकी तीक्ष्णता कम हो जाती है[1]।

भेषजागार, पूरब या उत्तर मुख का होना चाहिए। इसमें अधिक वायु का प्रवेश न हो किन्तु पर्याप्त वायुसंचार होता रहे। उसकी सफाई कर उसमें पूजन, धूपन आदि नित्य होना चाहिए। उसकी बनावट ऐसी हो जहाँ अग्नि, जल, सीलन, धुआँ, धूल, चूहे तथा अन्य चौपाये न आ सकें। वह सभी ऋतुओं के लिए अनुकूल हो।

वहाँ फलक, शिक्य और शंकु पर्याप्त होने चाहिए जिन पर थैलों और भाण्डों में ढँक कर ओषधें रक्खी जा सकें[2]।

भेषजकल्पना के उपकरण

भेषज-निर्माण में मुख्यतः ताम्र, लोह और मिट्टी के पात्र व्यवहृत होते रहे हैं। प्राचीन काल में व्यवहृत इन उपकरणों का उल्लेख मिलता है यथा खल्व, शिला, मुशल-उदूखल, चलनी, तुला, शुक्ति, कटाई, संधानयन्त्र, शुण्डापात्र आदि। भेषज-संग्रहण के लिए थैले, घड़े, हाथीदाँत, शृङ्ग आदि के पात्र विहित हैं[3]। ऋग्वेद में सोमाभिषव-प्रकरण में त्रिकद्रुक यन्त्र का वर्णन अवलोकनीय है।

निर्माणशाला एवं फार्मेसियाँ

प्राचीन काल में वैद्य अपने रोगियों के लिए स्वयं औषध बनाता था और उसे अभिमंत्रित कर प्रयोग करता था जिससे उसमें अधिकतम शक्ति रहे। राजाओं के रुग्ण होने पर विशेषतः आत्ययिक स्थिति में राजभवन में वैद्य औषधनिर्माण की व्यवस्था करता था। राजा प्रभाकरवर्धन की अत्यधिक रुग्णता की स्थिति में औषध-निर्माण राजभवन के एक खण्ड में हो रहा था[4]। संपन्न वैद्य अपने भवन के ही एक खण्ड में औषधनिर्माणशाला रखते होंगे तथा वहाँ कुछ ओषधियाँ भी लगाते होंगे। आतुरालयों तथा औषधालयों से संलग्न निर्माणशाला भी होगी। चरक ने आतुरालय

---

१. च० क० १२।५७-५८

२. च० क० १।११, सु० सू० ३७।१३; ३८।७२

३. देखें—जी० पी० श्रीवास्तव : हिस्ट्री ऑफ इण्डियन फार्मेसी, पृ० १६७–१७७

४. विविधौषधिद्रव्यद्रवगन्धगर्भमुत्क्वथतां क्वाथानां सर्पिषां तैलानां च प्रपच्यमानानां गन्धमाजिघ्रन्नवाप तृतीयं कक्षयान्तरम्—हर्षचरित, पृ० २६६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

का जो वर्णन दिया है उससे भी यही प्रतीत होता है। औषधपेषक औषधियों को कूटते-पीसते थे।

निर्माणशाला के स्वरूप का अनुमान भेषजागार के विवरण से ही होता है, इसका स्वतन्त्र वर्णन नहीं मिलता। रसतन्त्र के ग्रन्थों में रसशाला का विशद वर्णन किया गया है।

आधुनिक काल में अंगरेजी फार्मेसियों की शैली पर अंगरेजों के केन्द्र—कलकत्ता, बम्बई जैसे नगरों में आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ भी स्थापित हुईं जिनका काम औषध बना कर विक्रय करना हुआ। इस प्रकार चिकित्सकों से पृथक् इनका वर्ग बना। इस व्यवसाय में लाभ देखकर अनेक रसायनशास्त्री, पूँजीपति तथा वैद्य इस क्षेत्र में आये और क्रमशः सारे देश में उनका जाल बिछ गया। इससे अनेक वैद्य भी प्रभावित हुये किन्तु अभी भी अच्छे चिकित्सक स्वयं औषध-निर्माण ही श्रेयस्कर समझते हैं।

पूर्वी क्षेत्र में ढाका और कलकत्ता में अनेक फार्मेसियों का उदय हुआ। ढाका का शक्ति औषधालय, साधना औषधालय तथा ढाका आयुर्वेदीय फार्मेसी प्रमुख हैं। कलकत्ता में डाबर (डा० एस० के बर्मन) तथा श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन का क्रमशः १८३३ और १९१८ में प्रादुर्भाव हुआ जो सम्प्रति आयुर्वेदीय फार्मेसियों में अग्रगण्य हैं। पश्चिमी अञ्चल में पनवेल (बम्बई) का धूतपापेश्वर, गुजरात की झंडू फार्मेसी तथा ऊंझा फार्मेसी प्रसिद्ध रही है। मथुरा के हरिदास वैद्य की सुखसंचारक कम्पनी एक समय में बहुत लोकप्रिय थी। वैद्य ठाकुरदत्त शर्मा (लाहौर) अमृतधारा के कारण विख्यात हुये। इस प्रकार से छोटी-बड़ी अनेक फार्मेसियों का उदय १९वीं शती के आसपास हुआ। शिक्षणसंस्थाओं ने भी फार्मेसियाँ चलायीं जिनमें गुरुकुल कांगड़ी और काशी हिन्दू विश्वविद्यालय की फार्मेसी प्रमुख हैं। कुछ फार्मेसियाँ सहकारिता के आधार पर भी संचालित हुईं। इनमें मद्रास का 'इंडियन मेडिकल प्रैक्टिशनर्स कोआपरेटिव फार्मेसी ऐण्ड स्टोर्स लिमिटेड' प्रमुख है जिसकी शाखायें दक्षिण भारत के प्रायः सभी नगरों में हैं। इसके द्वारा एक योगसंग्रह (वैद्ययोगरत्नावलि) १९६८ में प्रकाशित हुआ है।

जैसे-जैसे आयुर्वेदीय औषधियों के गुणधर्म एवं उपयोगिता का ज्ञान आधुनिक वैज्ञानिकों को होता गया वैसे वैसे उनका प्रचार भी आधुनिक जगत में बढ़ने लगा। आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय[1] द्वारा १९०० ई० में संस्थापित बंगाल केमिकल ऐण्ड

---

१. आचार्य प्रफुल्लचन्द्र राय का जन्म २ अगस्त १८६१ ई० को जिला खुलना (अब बंगला देश) में हुआ था। देश-विदेश में अध्ययन के बाद प्रेसिडेन्सी कालेज कलकत्ता में रसायनशास्त्र के प्रोफेसर नियुक्त हुये। उन्होंने 'हिस्ट्री ऑफ

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

फार्मस्युटिकल वर्क्स से अनेक आयुर्वेदीय औषधियों के सत्त्व तथा योग प्रस्तुत किये गये जिनका प्रयोग डाक्टरी वर्ग में प्रचलित हुआ। इसी शैली से हिमालय ड्रग्स, चरक फार्मस्युटिकल्स, अलेम्बिक आदि फार्मेसियाँ आधुनिक रूप में आयुर्वेदीय योग प्रस्तुत कर रही हैं जो देश-विदेश में प्रसारित हो रहे हैं।

औषधिविक्रय

पहले यह बतलाया जा चुका है कि भारत के व्यापार-वाणिज्य में औषधियों का प्रमुख स्थान रहा है। अत्यन्त प्राचीनकाल से ही भारतीय औषधियाँ स्थल और जल मार्ग से विदेशों में जाती रही हैं तथा बाहर से इस देश में आती रही हैं। देश बड़ा होने तथा जलवायु, भूमि आदि की विभिन्नता के कारण सर्वत्र सब औषधियाँ नहीं उगतीं अतः एक प्रदेश से दूसरे प्रदेश में इनका यातायात भी होता रहा। यह सब व्यापारियों के माध्यम से होता रहा है। औषधियों के उद्भवस्थान में उन्हें एकत्रित कर बड़ी मण्डियों में भेजा जाता था जहाँ से देश-विदेश में उसका प्रसार होता था। उत्तरभारत में कुष्ठ, रेवन्दचीनी, जटामांसी आदि तथा दक्षिण भारत में चन्दन, पिप्पली, मरिच, शुण्ठी, जातीफल, दालचीनी आदि औषधियों के केन्द्र प्रमुख थे। हर्षचरित में इसका स्पष्ट उल्लेख मिलका है।[1]

धर्मशास्त्र में औषधिविक्रय निन्द्य माना गया है, चिकित्सक का अन्न पूयसदृश कहा गया है।[2] मध्यकाल में वैद्य रोगी के निमित्त प्रस्तुत कच्ची औषधियों तथा निर्मित औषधों का एक नियत अंश अपने लिए रखने लगा जिसे रुद्रभाग और धन्वन्तरिभाग की संज्ञा दी गई। किन्तु चरक के कथन[3] से संकेत मिलता है कि उस काल में भी कुछ लोग चिकित्सा के लिए शुल्क लेते थे और सम्भवतः औषध का भी विक्रय करते थे। किन्तु प्राचीनकाल में 'पण्यभेषज' से कच्ची औषधियों का ही ग्रहण होता था, बनी ओषधियाँ आजकल की तरह बाजारों में नहीं बिकती थीं; वैद्य

हिन्दू केमिस्ट्री' की रचना की जिसका प्रथम और द्वितीय खण्ड क्रमशः १९०२ और १९०८ में प्रकाशित हुये। वह इंडियन केमिकल सोसाइटी के संस्थापक थे जिसकी स्थापना १९२४ में हुई। १६ जून, १९४४ को उनका स्वर्गवास हुआ।
—P. Ray : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Indian Chemical Society, Calcutta, 1956

१. भेषजसामग्रीसंपादनव्यग्रसमग्रव्यवहारिणि—हर्षचरित, पृ० २६७
२. पूयं चिकित्सकस्यान्नम्—मनु० ४।२२०
३. कुर्वते ये तु वृत्त्यर्थं चिकित्सापण्यविक्रयम्—च० चि० १।४।५९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अपने रोगियों के लिए औषध की व्यवस्था करता था या आतुरालयों में प्रयोगार्थ औषध बनती थी।

अधिक लाभ के लिए वणिक् ओषधियों में मिलावट भी करते थे तथा उनके स्थान पर अन्य नकली द्रव्यों को तद्रूप बनाकर व्यवहार भी करते थे। याज्ञवल्क्य स्मृति की मिताक्षरा व्याख्या में इसके कुछ उदाहरण दिये गये हैं यथा मिट्टी में मल्लिकासुगंध मिश्रित कर सुगन्धामलक बनाना, लोहे को वर्णान्तरकरण से रजत बनाना, बिल्वकाष्ठ में चन्दनगंध मिलाकर चन्दन कहना। लवंग आदि में भी ऐसा किया जाता था। कस्तूरी आदि भी कृत्रिम बनाकर बेची जाती थी। इन सबके लिए दण्ड का विधान था।[1]

कौटिल्य अर्थशास्त्र में राजा के दुर्ग का वर्णन करते हुए लिखा है कि पण्यभेषज का आगार पश्चिमोत्तर भाग में होना चाहिए। औषधद्रव्य का समावेश कुप्यवर्ग में किया गया है। इनका संग्रह पर्याप्त मात्रा में किया जाता था तथा बीच-बीच में पुरानी ओषधियों को हटाकर उनके स्थान पर नई रख दी जाती थीं। पण्यभेषज तथा गन्धद्रव्यों के व्यापार पर शुल्क लगता था।[2] आर्द्र ओषधि तथा गन्धद्रव्य बेचना ब्राह्मणों के लिए निषिद्ध था। मिताक्षरा व्याख्या में लिखा है कि यह निषेध ताजी ओषधियों के लिए है, सूखी के लिए नहीं[3] इससे स्पष्ट है कि विज्ञानेश्वर (११-१२वीं शती) के काल में ब्राह्मण भी ओषधियों का व्यापार करते थे।

वायुपुराण में उल्लेख है कि ओषधियों का व्यापार त्रेतायुग में प्रारम्भ हुआ।[4] गुप्तकाल तक यह व्यापार पूर्णतः प्रतिष्ठित हो गया था इसका संकेत बृहत्संहिता के विभिन्न प्रकरणों से भी मिलता है।

भेषजसंहिता (फार्माकोपिया)

ब्रिटिश शासन में आधुनिक चिकित्सा के क्षेत्र में भारत ब्रिटिश फार्माकोपिया को ही आदर्श मानने लगा। भारत के स्वाधीन होने पर इण्डियन फार्माकोपिया अस्तित्व में आया। इसके पूर्व १९४६ में भारत सरकार ने एक 'इण्डियन फार्मा-

१. याज्ञवल्क्य० व्यवहाराध्याय, २४५-२४७
२. कौटिल्य अर्थशास्त्र, २।४।३, २।१७।२-१४; २।२०।४; २।१५।२७-२८; २।२२।६; ५।२।८-१० ।
३. याज्ञवल्क्य० प्रायश्चित्ताध्याय, ३६-३९।
४. प्रादुर्भावश्च त्रेतायां वार्त्तायामौषधस्य तु।
तेनौषधेन वर्त्तन्ते प्रजास्त्रेतायुगे तदा॥—वायु० ८।१२८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोपियल लिष्ट' प्रकाशित की थी जिसमें उपयोगी द्रव्यों की सूची थी। यह वस्तुतः ब्रिटिश फार्माकोपिया के पूरक रूप में था। स्वाधीनता के बाद १९४८ में भारत सरकार ने इण्डियन फार्माकोपिया कमिटी गठित की और तदनुसार १९५५ में इण्डियन फार्माकोपिया प्रस्तुत एवं प्रकाशित हुआ। इसका पूरक अंश १९६० में प्रकाशित हुआ। फार्माकोपिया का संशोधन कर उसका द्वितीय संस्करण १९६६ में प्रकाशित हुआ।[1] कहने की आवश्यकता नहीं कि इसमें अनेक आयुर्वेदीय ओषधियों का समावेश किया गया है।

आयुर्वेदीय भेषजसंहिता के लिए चोपड़ा समिति ने सिफारिश की थी। तदनुसार यत्र-तत्र राज्यों में फार्माकोपिया कमिटी गठित कर कार्य किया गया। कुछ राज्यों (गुजरात, आन्ध्र आदि) ने इसे प्रकाशित भी किया किन्तु केन्द्रीय स्तर पर यह बाद में लिया गया। स्वास्थ्य-मंत्रालय भारत सरकार के अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी १९६२ में गठित की गई जिसके आधीन अनेक उपसमितियाँ बना कर कार्य प्रारम्भ किया गया। १९७२ में इसका पुनः संघटन हुआ। अभी संहिता प्रस्तुत नहीं हो सकी है किन्तु योगसंग्रह (फार्मुलरी) का कुछ रूप आया है जो निकट भविष्य में प्रकाशित होने की आशा है। द्रव्यों एवं योगों के मानकीकरण के लिए अनेक केन्द्र स्थापित हुये हैं जो केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा-अनुसंधान परिषद् के अन्तर्गत कार्य कर रहे हैं। प्रारम्भिक फ़ार्माकोपियल लिष्ट के सहकारी प्रकाशन के रूप में बी० मुकर्जी, निदेशक, केन्द्रीय-भेषज-अनुसंधान संस्थान लखनऊ, द्वारा विरचित 'इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स उल्लेखनीय रचना है। इसका प्रथम भाग आयुर्वेदीय ओषधियों पर प्रकाशित हुआ (सी० एस० आइ० आर०, १९५३)। इसी शैली पर रामसुशील सिंह ने वनोषधि-निर्दशिका लिखी (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ १९६९)। अत्रिदेव गुप्त की भैषज्यसंहिता भी है (हिन्दी समिति, उत्तर प्रदेश, लखनऊ, १९६५)।

राजनियन्त्रण

ओषधियों की शुद्धता तथा विक्रय पर प्राचीन काल से नियन्त्रण रहा है, इसका उल्लेख किया ज़ा चुका है। स्मृतियों में भेषजसंबन्धी अपराधों के लिए दण्डविधान भी है।

आधुनिक काल में ब्रिटिश शासन के अन्तर्गत जब भारत में अंगरेजी दवाओं की खपत बढ़ी और ओषधों की शुद्धता एवं मानक ओषधों की आपूर्त्ति का प्रश्न उठा

१. फार्माकोपिया ऑफ इण्डिया, १९६६, प्रस्तावना, पृ० ९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

तब भारत सरकार ने १९३० में ड्रग्स इनक्वायरी कमिटी का गठन डा० रामनाथ चोपड़ा की अध्यक्षता में किया। इसका प्रतिवेदन १९३१ में प्रकाशित हो गया। भारत में फार्मेसी के नये युग का श्रीगणेश यहीं से होता है। इसीके बाद भारत के विभिन्न स्थानों में फार्मेसी का शिक्षण प्रारम्भ हुआ। १९३२ में काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में डा० महादेवलाल शर्राफ के नेतृत्व में इसकी स्थापना हुई। डा० शर्राफ भारत में फार्मेसी के शिक्षण एवं संघटन के जनक कहे जाते हैं।

यद्यपि प्वायजन्स ऐक्ट १९११, ओपियम ऐक्ट १८७८ तथा डेञ्जरस ड्रग्स ऐक्ट १९३० थे तथापि इससे पूरा काम नहीं हो पाता था अतः १९४० में ड्रग्स ऐक्ट पारित किया गया। १९४५ में ड्रग रूल्स प्रकाशित हुये। भोर कमिटी की संस्तुति के अनुसार १९४८ में फार्मेसी ऐक्ट पारित हुआ जिसके अन्तर्गत फार्मेसी कौन्सिल आफ इण्डिया १९४९ में गठित हुई। इस ऐक्ट में यह प्रावधान है कि राज्यों में भी फार्मेसी कौन्सिल बने और फार्मेसी के शिक्षण-सम्बन्धी निर्णय भी निर्धारित हों।[1]

आधुनिक भेषजकल्पना के लिए यह सब होने पर भी आयुर्वेदीय भेषजकल्पना को नियन्त्रित करने के लिए अभी तक कोई व्यवस्था नहीं हुई है। न तो कच्ची ओषधियों के क्रय-विक्रय पर कोई नियन्त्रण है और न सिद्ध ओषधों पर। १९६४ में ड्रग्स ऐण्ड कौस्मेटिक्स ऐक्ट का जो संशोधित रूप बना उसमें आयुर्वेदिक एवं यूनानी द्रव्यों का भी समावेश किया गया (अध्याय ४ ए)। इसके अन्तर्गत एक आयुर्वेदिक एवं यूनानी ड्रग्स टेक्निकल ऐडवाइजरी बोर्ड गठित है जो प्राविधिक विषयों पर भारत सरकार तथा राज्य सरकारों को परामर्श देता है।[2] आशा है, निकट भविष्य में इसका ठोस रूप आवेगा।

शिक्षण एवं अनुसन्धान

आयुर्वेदीय भेषजकल्पना के शिक्षण के लिए भारत में एक ही कालेज राजपीपला (गुजरात) में है। यों यह विषय आयुर्वेद के पाठ्यक्रम में ही अन्तर्भूत है, उसमें भी इसे रसशास्त्र का अङ्गभूत ही बना दिया गया है, इसे स्वतन्त्र रूप प्राप्त नहीं है। स्नातकोत्तर शिक्षणकेन्द्रों में इस विषय पर कुछ अनुसन्धान कार्य भी हो रहा है। अब इसके विधिवत् शिक्षण के लिए केन्द्रीय स्तर पर पाठ्यक्रम बन रहा है।

अनेक राज्य सरकारों ने ओषधिवितरकों के लिए पाठ्यक्रम प्रचलित किया है।

---

१. Mithal : A Text book of Forensic Pharmacy (1968), Ch.1, P. 5-11

२. प्रस्तुतलेखक भी इसका सदस्य रह चुका है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

भैषज्यकल्पना का वाङ्मय

संहिताओं के तथ्यों में पारम्परिक विचारों को मिलाकर भैषज्यकल्पना के ग्रन्थ लिखे गये। वस्तुतः यह वाङ्मय आधुनिक काल में ही प्रस्तुत हुआ। इन ग्रन्थों में निम्नांकित उल्लेखनीय हैं :—

१. द्रव्यगुणविज्ञान (उत्तरार्ध, प्रथम खण्ड)—आचार्य यादवजी (निर्णयसागर बम्बई, १९४७)
२. द्रव्यगुणविज्ञान (प्रथम भाग, कल्पखण्ड)—प्रियव्रत शर्मा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६८, द्वि० सं०)
३. भैषज्यकल्पना—अत्रिदेव गुप्त (हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, सं० २००८)
४. भैषज्यकल्पनाविज्ञान—अवधविहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५९)
५. औषधनिर्माण—ए० मण्डके, (सुमति प्रकाशन, पूना, १९६७)
६. वनस्पतिकल्प—वही (१९६९)
७. प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण—विश्वनाथ द्विवेदी (सं० २००६)

भैषज्यकल्पना के विशिष्ट अङ्गों पर भी ग्रन्थ निर्मित हुये यथा—

कषायकल्पना—

१. पञ्चविधकषायकल्पनाविज्ञान—अवधबिहारी अग्निहोत्री (चौखम्बा, वाराणसी, १९५७)
२. क्वाथमणिमाला—आर्यदाससुकुमार सिंहकृत (चौखम्बा, १९७०)
३. क्वाथशतक—वाग्भट आत्रेयी (के० आ० प० ४०८)
४. कषायादिपाकविधि—(राघवन्, पा०)
५. कषायचूर्णमात्रायोग (,, ,,)

आसव-अरिष्ट

१. आसवारिष्टसंग्रह—जगदीशप्रसाद गर्ग (मुरादाबाद, १९२९)
२. आसवारिष्टसंग्रह—पक्षधर झा (चौखम्बा, वाराणसी, १९६२)
३. आसव-अरिष्ट—सत्यदेव विद्यालंकार
४. बृहत् आसवारिष्टसंग्रह—देवीसिंह
५. ,, ,, —कृष्णप्रसाद त्रिवेदी
६. आसवविज्ञान—हरिशरणानन्द

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अर्क

१. अर्कप्रकाश[1]—रावण (वेंकटेश्वर, बम्बई, १९५६, नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ, १९३५, मथुरा. १९३०, गोपालाचार्लु, मद्रास, १९१४)

२. अर्कप्रकाश—व्यासपंडित (जम्मू, पा०)

क्षार

१. क्षारनिर्माणविज्ञान—हरिशरणानन्द (पंजाब आयुर्वेदिक फार्मेसी, अमृतसर १९२७)

तैल

१. तैलसंग्रह—विश्वनाथ द्विवेदी

पाक

१. औषधपाकावली (जम्मू, पा०)

२. पाकदर्पण—नल (चौखम्बा, वाराणसी १९१५)

३. पाकाधिकरण (बड़ौदा, पा०)

४. पाकाधिकार (,, ,,)

५. पाकमार्त्तण्ड (पूना, पा०)

६. पाकार्णव (,, ,,)

७. पाकशास्त्र—बिन्दु (पूना, पा०)

८. पाकप्रदीप—रविदत्तवैद्य (खेमराज, बम्बई, १९२४)

९. पाकविधि—दिवाकरचन्द्र (नेपाल, पा०)

१०. पाकावली—माधव उपाध्याय

११. सूपशास्त्र—भीमसेन (मद्रास, पा०)

१२. भोजनकुतूहल—रघुनाथसूरि (बड़ौदा, पा०)

१३. क्षेमकुतूहल—क्षेमशर्मा (आयुर्वेदीयग्रन्थमाला, १९२०)

१४. पाकप्रदीप—रविदत्त (खेमराज, बम्बई, १९२०)

१५. बृ० पाकसंग्रह—कृष्णप्रसादत्रिवेदी (अलीगढ़, १९५०)

मान

१. कर्पादिपरिमाणम्—केशवसुत गोविन्दकृत

---

१. इसमें यशद का उल्लेख है तथा शंखद्रावकविहित पारद का प्रयोग फिरंगरोग में है अतः इसका काल १६वीं शती है।

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

परिभाषा

१. परिभाषा—नारायणदास (राजेन्द्रलाल मिश्र, पा०)
२. आयुर्वेदीय परिभाषा (बं०) (बरहमपुर, १८६९)
३. वैद्यकपरिभाषाप्रदीप—गोविन्दसेन (कलकत्ता, १९०६; गंगाविष्णु श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९३३)
४. परिभाषा-प्रबन्ध—जगन्नाथप्रसाद शुक्ल (चौखम्बा, १९५५)
५. आयुर्वेदीय परिभाषा
६६. नवपरिभाषा—उपेन्द्रनाथदास

सिद्धयोगसंग्रह[1]

१. रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह, भाग १,२ (कालेड़ा, अजमेर, ८ वाँ संस्करण, १९५६)
२. सिद्धभेषजसंग्रह—युगलकिशोर गुप्त (चौखम्बा, वाराणसी, १९५३)
३. राजकीय औषधियोगसंग्रह—रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी (चौखम्बा, १९५०)
४. सिद्धभेषजमंजूषा—जयदेव शास्त्री (रामपुर, १९३२)

५. भारतभैषज्यरत्नाकर—ऊँझा आयुर्वेदिक फार्मेसी के संचालक रसवैद्य श्रीनगीनलाल छगनलाल शाह ने इस बृहत् ग्रन्थ का संकलन किया है। इसमें अकारादि क्रम से वानस्पतिक एवं रसयोग संगृहीत हैं जिनकी कुलसंख्या ९५९८ है। ग्रन्थ पाँच भागों में पूर्ण हुआ है। आरोग्यदर्पण के सम्पादक वैद्य गोपीनाथ गुप्त ने इसकी भावप्रकाशिका हिन्दी टीका की है। १९२४ ई० में प्रथम भाग तथा १९३७ ई० में पञ्चम भाग इस प्रकार १३ वर्षों के अनवरत परिश्रम से यह विशाल ग्रन्थ पूरा हो सका। ग्रन्थ के प्रारम्भ में रोगानुसारिणी सूची भी दी हुई है जिससे यह ग्रन्थ वैद्यसमाज के लिए अत्युपयोगी बन गया है।

६. श्रीशरभेन्द्रवैद्यरत्नावली—(तञ्जोर, १९६२)
७. सहस्रयोग

अन्तिम दोनों ग्रन्थ दक्षिणभारत में प्रचलित हैं।

---

१. योग-ग्रन्थों के विस्तृत विवरण के लिए देखें—आयुर्वेद का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० २८२–३०३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सन्दर्भ-सूची

अग्रवाल, वासुदेवशरण : कादम्बरी-एक सांस्कृतिक अध्ययन, चौखम्बा, वाराणसी, १९५८

वही : हर्षचरित-सांस्कृतिक अध्ययन, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १९६४ (द्वि० सं०)

वही : पाणिनिकालीन भारतवर्ष, चौखम्बा, वाराणसी, १९६३

अत्रिदेव : आयुर्वेद का इतिहास, हिन्दी साहित्य सम्मेलन, प्रयाग, ११५४

वही : आयुर्वेद का बृहत् इतिहास, लखनऊ, १९६०

उपाध्याय, भगवतशरण : कालिदास का भारत, १-२ भाग, भारतीय ज्ञानपीठ, काशी १९६३-६४ (तृ० सं०)

कश्यप : काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३

गुप्त बिरजाचरण : वनौषधिदर्पण, भाग १-२, कलकत्ता, १९०८-९

चक्रपाणिदत्त : चरकसंहिता-व्याख्या (आयुर्वेददीपिका), निर्णयसागर, बम्बई, १९४१ (तृ० सं०)

वही : सुश्रुतसंहिता-व्याख्या (भानुमती) स्वामी लक्ष्मीराम ट्रस्ट, जयपुर, १९३९

चट्टोपाध्याय, प्रभाकर : आयुर्वेद का इतिहास, आयुर्वेद विकास, जनवरी, १९६५

चतुर्वेदी, सीताराम : कालिदास-ग्रन्थावली, अलीगढ़, सं० २०१९ (तृ० सं०)

ठाकर, जयकृष्ण इन्द्रजी : वनस्पतिशास्त्र, पोरबन्दर, १९१०

डल्हण : सुश्रुतसंहिता-व्याख्या (निबन्धसंग्रह) निर्णयसागर, बम्बई, १९१६

दीपङ्कर : कौटिल्यकालीन भारत, १९६८

देसाई, वामन गणेश : ओषधिसंग्रह, बम्बई, १९२७

द्विवेदी, विश्वनाथ : आयुर्वेद की औषधियाँ व उनका वर्गीकरण, जामनगर, १९६६

वही : औषधिविज्ञान शास्त्र, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, नागपुर, १९७०

धर्मदत्त : औषधिविज्ञान, भाग १-२, इटावा, १९३४-११३८

: नेपालराजकीयवीरपुस्तकालयस्य पुस्तकानां बृहत्सूचीपत्रम्, आयुर्वेदविषयकः पंचमो भागः, सं० २०२१

पतञ्जलि : महाभाष्य, १-६ खण्ड, गुरुकुल झज्जर, १९६१-६२

पदे, शंकरदाजी शास्त्री : वनौषधिगुणादर्श (म०), भाग १-७, पूना, १९०९-१२ (द्वि० तृ० सं०)

पुरुषोत्तम : त्रिकाण्डशेष, खेमराज श्रीकृष्णदास, बम्बई, १९१६

बाणभट्ट : कादम्बरी, चौखम्बा, १९६१ (द्वि० सं०)

वही : हर्षचरित, वही, १९६४ (द्वि० सं०)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बापालाल वैद्य : निघण्टु आदर्श (गु०), भाग १-२, लेखक द्वारा प्रकाशित, १९२७-२८
वही : निघण्टु आदर्श, भाग १ (हिन्दी), चौखम्बा, १९६८
वही : संस्कृत साहित्य में वनस्पतियाँ (गु०) अहमदाबाद, १९५२
वही : निघण्टुसंग्रह, स्वाध्याय, भाग ८, अंक १
भट्ट, श्रीकृष्णराम शास्त्री : सिद्धभेषजमणिमाला, जयपुर, (पंचम सं०)
भण्डारी, चन्द्रराज : वनौषधिचन्द्रोदय, भाग १-१०, भानपुरा (इन्दौर), १९३८-४४
भानुजी दीक्षित : रामाश्रमी (व्याख्यासुधा) व्याख्या, अमरकोष, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
भावमिश्र : भावप्रकाश, कृष्णचन्द्रचुनेकरकृत टीकासहित, चौखम्बा, १९६९ (च० सं०)
वही : वही, श्रीगिरिजादयालु शुक्लसंपादित, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९
महेन्द्रभोगिक : धन्वन्तरिनिघण्टु, राजनिघण्टुसहित आनन्दाश्रम, पूना, (द्वि० सं०)
महेश्वर सूरि : विश्वप्रकाश, चौखम्बा, वाराणसी, १९६१ (द्वि० सं०)
मोतीचन्द्र : सार्थवाह, बिहार राष्ट्रभाषा-परिषद्, पटना, १९५३
वही : चतुर्भाणी, बम्बई, १९५९
याज्ञवल्क्यस्मृति (मिताक्षरासहित), चौखम्बा, वाराणसी, १९६७
यादवजी त्रिकमजी : द्रव्यगुणविज्ञानम्, भाग २, बम्बई, १९५०
राजशेखर : काव्यमीमांसा, चौखम्बा, वाराणसी, १९५९ (द्वि० सं०)
वन्द्यघटीय सर्वानन्द : अमरकोषोद्घाटन व्याख्या, त्रिवेन्द्रम्, १९१४
वर्धमान : गणरत्नमहोदधि, मोतीलाल बनारसीदास, दिल्ली, १९६३
वाग्भट : अष्टांगसंग्रह (अत्रिदेवकृत टीका सहित) प्रथम भाग, निर्णयसागर बम्बई, १९५१
वही : अष्टांगहृदय (सर्वाङ्गसुन्दरा व्याख्यासहित) विजयरत्नसेन संपादित, कलकत्ता, १८८६
वही : अष्टांगहृदय (अरुणदत्त-हेमाद्रिकृतव्याख्यासहित) निर्णयसागर, बम्बई, १९२५
वही : अष्टांगहृदय (टीकात्रयसहित), वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई, १९२८
वात्स्यायन : कामसूत्र, चौखम्बा, वाराणसी, १९६४
वामन, जयादित्य : काशिका, चौखम्बा १९५२ (तृ० सं०)
वैद्य रामनारायण (सं०) : यादवस्मृति-ग्रन्थ, श्री वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन, कलकत्ता, सं० २०१८
वैश्य, रूपलाल : अभिनव बूटीदर्पण, चौखम्बा, भाग १-२, १९४०
वही : शालिग्राम-निघण्टुभूषण, खेमराज श्रीकृष्णदास बम्बई, १९५३
शर्मा, दिनेशचन्द्र : वेदों में द्रव्यगुणशास्त्र, जामनगर, १९६८-६९
शर्मा, प्रियव्रत : द्रव्यगुण विज्ञान, भाग १-३, चौखम्बा, वाराणसी, १९५५-५६
वही : आयुर्वेद की कुछ प्राचीन पुस्तकें, चौखम्बा, वाराणसी, १९६२
वही : वाग्भट-विवेचन, चौखम्बा, वाराणसी, १९६८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वही (सं०) : हृदयदीपक, J. R. I. M. Vol. 3, No. 2, १९६९
वही : चरकचिन्तन, चौखम्बा, वाराणसी, १९७०
वही : आयुर्वेद का वाङ्मय, J, R. I. M, Vol. 4, No. 3, १९७१
वही (सं०) : माधव–द्रव्यगुण, चौखम्बा, वाराणसी, १९७३
शर्मा, हेमराज : उपोद्घात, काश्यपसंहिता, चौखम्बा, वाराणसी, १९५३
शार्ङ्गदेव : संगीतरत्नाकर, भाग १, अडियार पुस्तकालय, मद्रास, १९४३
शार्ङ्गधर : शार्ङ्गधरसंहिता (दीपिका–गूढार्थदीपिका व्याख्यासहित) निर्णयसागर, बम्बई, १९३१ (द्वि० सं०)

शास्त्री, महेन्द्रकुमार : आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास, बम्बई, १९४८
शास्त्री, रामगोपाल : वेदों में आयुर्वेद, दिल्ली, १९५६
सिंह, प्रताप (सं०) : आयुर्वेदमहामण्डल–रजतजयन्तीग्रन्थ, भाग १–२, पूना, १९३५–३६

सुश्रुत : सुश्रुतसंहिता, मोतीलाल बनारसीदास, लाहौर, १९३३ (द्वि० सं०)
सेनगुप्त, विनोदलाल : आयुर्वेदविज्ञानम् भाग १–२, कलकत्ता, १८८७
हेमचन्द्र : निघण्टुशेष, अहमदाबाद, १९६८

Amarakosa with commentaries of Ksiraswami and Sarvananda Trivandrum Sanskrit Series. 1915–17.

Banerjee S. C. : Kālidāsa-Koṣa, Chowkhamba, Varanasi, 1968.
B. C. Law Volume, Pt. II-II, Calcutta, 1945–46.

Bernier, Francois : Travels in the Mogul Empire (A. D. 1656–1668),

Beveridge, A. S. : Baburnāmā (Eng. Tr.) Delhi, 1970 (Rep.)

Blockmann, H. : The Ain-e-Akabari (Eng. Tr.), Delhi, 1965 (2nd ed.)

Bloommfield, M. (ed.) : The kausika Sutra of Atharvaveda, New Haven, 1889; Motilal Banarsidass, 1972.

Candolle, A. D. : Origin of Cultivated Plants, New York, 1959 (Rep.)

Chakravarty, Chandra : A Comparatiue Hindu Materia Medica, Calcutta, 1923.

Idem : A Note on Ayurvedic Nighantus, Nagarjuna, June, 1966.

Chaudhary, B. : Vegetables, National Book Trust, New Delhi, 1967.

Chaudhary, Tarapada (ed.) : Paryāyaratnamālā, Patna University Journal, Vol. II. 1946.

A Check-list of Sanskrit Medical Manuscripts in India, C. C. R. I. M. & H., New Delhi, 1972.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Chopra, R. N. et al. : Indigenous Drugs of India, Calcutta, 1958. (2nd ed.)

Danverse, F. C. : The Portuguese in India, London, 1874.

Das Gupta, S. N. : A History of Indian Phdiosophy, Vol. 11, Cambridge, 1961.

Descriptive Catalogue of Manuscripts in the Government Manuscripts Library, Vol. XVI, Part-I, B. O. R. I., Poona, 1939.

A Descriptive Catalogue of the Sanskit Manuscripts, Vol. XII, Saraswati Bhavan, Varanasi, 1965.

A Descriptive Catalogue of the Sanskrit Manuscripts in Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, Vol. XXIII.

A descriptive Catalogue of Sanskrit Manuscripts in Saraswati Mahal Library, Tanjore, Vol. XVI, Srirangam, 1933.

Dutt, U. C. : The Materia Medical of the Hindus, Calcutta, 1922, (2nd ed.)

Dwarkanath, C. : Use of Opium and Cannabis in the traditional systems of Medicine in India, Bulletin on Narcotics, Vol. XVII, No. 1. W. H. O. Geneva, Jan.–March, 1965.

Gibb, H. A. R. : The Travels of Ibn-Batuta (A. D. 1325–1354), Cambridge, 1971.

Idem : Kaiyadeva and a Medical or Botanical Glossary Ascribed to Him-Before A. D. 1450, A. B. O. R. I., Poona, Vol. XIX, 1938–39.

Idem : Studies in Indian Cultural History, Vol. I, Hoshiarpur 1971.

Goodman, L. S. & Gillman A. : The pharmacological basis of Therapeutics, New York, 1970 (4th ed.)

Harshe, R. G. (ed.) : The Sivakoṣa of Sivadatta Misra, Poona, 1952,

Jolly, Julius : Indian Medicine (Translated in English by C. G. Kashikar), Poona, 1951.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Law. B. C. : Ancient Indian Flora, Indian Culture, Vol. XV, Nos. 1-4, July 1948—June 1949.

Macdonell, A. A. & Keith, A. B. : Vedic Index of Names and subiects, Motilal Banarasi Das, 1958.

Majumdar, G. P. : Vanaspati, Calcutta University, 1927.

Idem : Vedic Plants, B. C. Law Vol., Pt. I, P. 645–666.

Patkar, M. M. : Introduction, Sāradıyākhya Nāmamālā, Poona, 1851.

Pharmacopoea of India, Delhi, 1966. (2nd ed.)

Raghavan, V. : New Catalogus Catalogorum, Vol. I-V, Madras University, 1968-69.

The Rauwolfia story, CIBA Pharma, Bombay, 1945.

Ray, H. C. : The Dynastic History of Northern India, Vol. II, Delhi, 1973. (2nd ed.)

Ray, P. : History of Chemistry in Ancient and Medieval India, Calcutta, 1956.

Ray. P. & Gupta, H. N. : Caraka Samhita (A scientific synopsis), New Delhi, 1965.

Report of the Committee to Assess and evaluate the Present status of Ayurvedic system of Medicine, Ministry of Health, Govt. of India, 1958.

Report of the Meeting of the Panel on Ayurveda, Planning Commission, Govt, of India, 1960.

Rogers, Alexander : Tuzuk-i-Jehangiri (Eng. Tr.), Vol. I & II, Delhi, 1968 (2nd ed.)

Sharma, H. D. & Sardesai : Introduction, Amarakosa (with ksira-swami's Commentary) Oriental Book Agency, Poona, 1941.

Idem : Indian Medicine in the Classical Age, Chowkhamba, Varanasi, 1972.

Idem : The Nighantu of Sodhala, A. B. O. R. I., Vol. LII, Poona, 1972.

Idem : The Astanga Nighantu of Acarya Vahata, Madras, 1973.

Sharma, Ramawatar : Introduction, Kalpadrukosa, Vol. I, Baroda, 1928.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Shastri, Ajayamitra : India As seen in the Bṛhat Samhitā of Varahamihira, Motilal Banarasidas, 1969.

Shastri, Shama : Kautilya's Arthashastra, Mysore, 1960 (6th ed.)

Shrivastava, G. P. : History of Indian Pharmacy, Vol. I, Calcutta, 1954. (2nd ed.)

Singh, B. & Chunekar, K. C. : Glossary of Vegetable Drugs in Bṛhattrayi, Chowkhamba, Varanasi. 1972.

Singh, Ranjit : Fruits, National Book Trust. New Delhi, 1969.

Sinhjee, Bhagavat : A Short History of Aryan Medical Science, New York, 1896, Gondal, 1957 (2nd ed.)

Sodhala : Guna Samgraha, Ms., B. O. R. I., poona.

The Travels of Marco Polo (1255–1295), Orion Press, New York.

Tripathi, R. S. : Descriptive Catalogue of Manuscripts in Libraries of Banaras Hindu University, B. H. U. Varanasi, 1971.

dem : Bṛhat Samhita, ed. Subrahmanyam Shastri & Ramkrisna Bhat, Mysore, 1946.

Wealth of India, C. S. I. R., Vol. I–Ix, New Delhi, 1948–1972

Watt, George : Dictionary of Economic Products of India, London, 1889–1893, Rep. Delhi, 1972.

Yazdani, G. : The Early History of the Deccan, Pts. VII–XI, London, 1560.

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शुद्धिपत्र

पृष्ठ	अशुद्ध	शुद्ध
११	प्रतिचीन	प्रतीचीन
१३	दन्धधावन	दन्तधावन
१४	अलपातक	भल्लातक
३७	सलु	सक्तु
४५	आरम्बध	आरग्वध
५१	कुष्ठ	कुष्ठ-
६९	'तार्क्ष्य' और 'ताल' के बीच में तार्क्ष्यघ' रक्खें।	
७३	मूषिकेविषनाशन	मूषिकविषनाशन
७७	अद्यद्विष्टा	अघद्विष्टा
८०	यद्य	यह
८१	महाभाष्य	महाभाष्य (६।१।९; ८।२।२५)
८७	पराविल्क	पर्णवल्क
१०१	पुष्पाभिषेक	पुष्याभिषेक
१०५	बा (ब ला	बा (ब) ला
१११	अथर्ववद	अथर्ववेद
११२	मधुभाख्या	मधुकाख्या
,,	विलय	विजय
१२२	चोर	चारे
१२६	लघुकण्टवारिका	लघुकण्टकारिका
१३४	ऊपर	ऊषर
,,	वीरणितूल	वीरिणेतूल
१५२	श्यामाकताण्डुल	श्यामाकतण्डुल
१५८	त्रिवर्णरुर्षप	त्रिवर्णसर्षप
१७२	अघद्गिष्टा	अघद्विष्टा
२१९	पञ्चमहामूतों	पञ्चमहाभूतों
२३२	बृहत्स्रयी	बृहत्त्रयी
२३३	अहिकेन	अहिफेन
२८६	द्रव्यसंबन्धी[२]	द्रव्यसंबन्धी
२४५	मधुपष्टी	मधुयष्टी
३०३	'शालिग्रामनिघण्टु' शीर्षक पंक्ति २ के बाद रक्खें।	

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुक्रमणिका–१

द्रव्य

अ

अंगूर २५४
अंजीर २५२
अन्धंकरणी ७
अन्धपुष्पिका ७, १६८
अंशुमती १२
अकण्टक वृक्ष १७०
अकरकरा २३२
अकर्ण ३
अक्ष ३, १०४
अगरु ४
अगरुत्रितय ४
अग्निजार २६५
अघद्विष्टा ४, ७७
अचल ६६
अच्छिद्रपत्र ४
अजमोदा २३२
अजशृङ्गी ५, ७१
अजिनफला ५
अजिर ५
अजीता ५
अणु ५
अतस ५
अतसी ५, ३८
अतिबला ६
अतियव २६३
अतिविद्धभेषजी ६, ९०
अदृष्टदहनी ६
अधःपुष्पिका ७२
अधःपुष्प ६

अध्य (ध्या) ण्डा ६
अनन्ता ७
अनबर २६५
अनानास २५३
अनार २५४
अनुलेपन १७०
अपरका ७
अपराजित गण ७
अपराजिता ७, २३१
अपस्कम्भ ७
अपाघ ८
अपामार्ग ८
अपामार्गतण्डुल ९
अपामार्गत्रयोदशी ११
अपामार्गप्रसून ११
अपामार्ग बीरुध ९
अपामार्गहोम १०
अपाष्ठ ११
अफूक २३३
अफ्यून २३३
अभय गण १७०
अभया ११
अभिरोहद ११
अभिषुक २५६
अभीवर्त ११
अभ्रिखाता १२, १११
अमत्रि १२
अमरबेल १२
अमरुद २५३, २५४, २५५
अमरुफल २५३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अमला १२
अमूला १२
अमृत १२
अमृततृण १२
अमृतफल २५३, २५५
अमृतभेषज १३८
अम्बर ३६५
अम्ल १७०
अम्लिका १२
अयाज्ञिक काष्ठ १७०
अरट्टु १२
अरड्डु १२
अरणिका १३
अरणी १३
अरदु १३
अररु १३
अरलु १३
अरलुदण्ड १३
अराटकी ५; १३
अरिमेद १३
अरिष्ट १३
अरुन्धती १३; १४९, १५९
अरुष्कर १४
अरुस्राण १४
अर्क १५
अर्ककोशी १५
अर्कधाना १५
अर्कपर्ण १५
अर्कपुष्प १५
अर्कमणि १६
अर्कमूल १६
अर्कसमुद्ग १५
अर्काष्ठीला १६
अर्जक १५५
अर्जुन १७, ४०, ६६, १२८, २२१
अर्जुनपार्की १९
अलसन्द २६३
अलसान्द्र २६३
अलसाला १९
अलाका १९
अलाबु २५८
अलाबुक १९
अलाबू १९
अल्लूक २५९
अवका १९
अवघ्नती २०
अवालिप्त २०
अशोक २०
अश्मन्तक २०, २१
अश्मयोक्त २१
अश्मला २१
अश्वगन्धा २०, २१
अश्वत्थ २१, ९१
अश्वबला २५८
अश्ववार २३
अश्वावती २४
असन २४
असिक्नी २४, ६९
असिपत्र २४
असृक्स्थान ३०
अस्तृत २४
अस्पगोल २३४
अहिच्छत्रक २४
अहिफेन २३१, २३२

आ

आकल्लक २३२
आकारकरभ २३१, २३२
आकाशफेन २४
आकुलकरा २३२
आकृतिलोष्ठ २४
आखु २४
आघाट २५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

आज़ाद दरख्त २४५
आञ्जन २५
आटरूष २७
आडू २५२
आण्डीक २७
आदार २७, ९६
आदित्यगण १५९, १७०
आदित्यमण्डक १२२
आफताबी ३५२
आमल (क) २८
आमलकी १२
आम्ब २८
आम्र २८
आयती २९
आयुष्यगण १७०
आरग्वध २१, ४५, १०४
आरुक २५३
आर्द्रक २८, २९
आल १९
आल (क) २९
आलु २४५
आलू २५९
आलूबुखारा २५४
आवय १५६
आवय (यु) २९
आषाढा ७७
आसुरी २९, १३५
आसुरीकल्प ४, ३०
आस्रावभेषज ३०
आह्व ३०, ८९

इ

इक्षु ३०, ५१
इक्षु (पुष्प) ३०
इक्षुकाण्ड ३०
इक्षुपर्ण ३०
इङ्गिद ३०
इङ्गुद (दी) ३१
इज्जल ३१
इट ३१
इड ३१
इत्कट ४१
इन्दुक १००
इंद्रयव ३७, ८९
इंद्रवल्ली ३१
इंद्रवारुणी ३१, ५३
इंद्रवारुणीभेद ४६
इंद्रवृक्ष ३१
इंद्राक्ष ३१
इंद्राणी ३१
इरिका ३२
इल्य ३२
इषीका ३२
इसबगोल २३३

ई

ईर्ष्याभेषज ३२
ईश्वरबोल २३४
ईषद्गोल २३४

उ

उग्रगन्धा २३७
उग्रौषधि ३२, १४०
उच्चटा २३४
उच्छिन्नपर्ण १४०
उच्छुष्मा ३२, ४२
उच्छुष्माकल्प ३२
उटंगन २३४
उत्तम वीरुध १२२
उत्तानपर्णा ३२, ८९
उत्पल ३३
उत्सक्तभेषज ३३
उदुम्बर ३३, ३९, ९३, ९६, १०२, ११५
उदुम्बरप्रसून ३३
उदुम्बरमणि ३३
उदुम्बरशलाटु ३३
उदुम्बल ३३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

उद्दोजस ३७
उद्दालक ३७
उद्दयन्ती ३७
उद्दाव २५६
उपवाक (का) ३७
उपोदकी ३७
उपोलव ३७
उमा ३७
उर्वारु (क) ३८
उल ३८
उलप ३८
उशना ३८
उशाना ३८
उशीर ३९
उस्तुरक २४१

ऊ

ऊतीक ३९, ९६
ऊर्जयन्ती ३९
ऊर्जावान् ३९
ऊर्ध्वफल ३९
ऊषणा ३९

ऋ

ऋतजात ३९
ऋतपर्ण ३९
ऋतफल ३९
ऋतावरी ३९, १४३
ऋद्धि ३९
ऋषभ ३९

ए

एकक्लीतक ३९
एकपुष्पा ४०
एरका (क) ४०
एरण्ड ४०, ६९
एरण्डचिर्भट २५६
एरिवेन्थस २६१
एर्वारु ४०
एलचीफल २५८
एला ४०
एलापर्णी २३७

ओ

ओजोमानी ४०
ओषधिगण १७०

औ

औक्ष ४०
औक्षगन्धि ४०

क

ककुच ४०
ककुभ ४०
कक्षतु ४०
कंक ४०
कंकत १३२
कंकतदन्ती ४१
कङ्कोल २३४
कङ्गु १०१
कच्छुरा ४१
कटभ ४१
कटुकपत्रा ३०
कटुका ३०
कठगूलर २५३
कड्बिन्दु ४१
कंट ४१
कंटकारिका ४१
कंटकारी ४१
कंटकी ४१
कंटकी (वृक्ष) ४१, १७०
कण्टूक ४१
कण्हू २५२
कण्वजम्भनी ९८
कदम्ब ४१
कदर ४१
कदल (ली) ४१
कनक्रक ४१

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कंदली ४२
कपिकच्छू ३२
कपितैल २४१
कपित्थक ४२
कम्र् ४२
कमल ४२, ९५
कंपिल्लक ४२
कंबला ४२
कंबू ४३
करञ्ज ४३
करवीर ४३, २३४
करीर ४३, ५४
कर्कटकश ४४
कर्कटिका (क) ४४
कर्कन्धु ४४, ५६
कर्करिक ४४
कर्करी ४४
कर्ण ४५
कर्णिकार ४५
कर्पास ४५
कर्पूर ४५, २३४
कर्पूरक ६६
कर्पूरत्रितय २३५
कर्पूरनिर्यास २३४
कर्मरङ्ग २५४
कर्शफ ४५
कलञ्ज ४५
कलम्बक २३५
कलम्बा २३५
कलाय ४५, ३६२
कलि ३
कलिहारी १२
कल्क २४१
कल्मलि ४५
कल्याणी १३९
कवल ४४, ४५
कवे २६४
कशेरुक ४५
कषाय १७१
कसाम्बु ४६
कस्तुरिका शाक ३८
कस्तूरिका ३८
कस्तूरी २६, २६४
काउण्टेस पाउडर २५०
काककदली ४६
काकजंघा ४६
काकपीलु २३५
काकमाची ४६, ६८, ८२
काकम्बीर ४६
काकातनी ४६
काकिणी ४६
काकुत्था ४६
काकोदुम्बरिका २५३
काचकपुष्पी ४६
काचमादनी ६०
काजू २५४
काजूतक २५४
काञ्चनार ४६
काण्डपुष्पा ४६
काण्डीर ४७
कांदाविष ४७
कापोती ४७
कॉफी २६४
काफे २६४
कांपील ४२, ४७
कारस्कर ४७, २३५
कारीरी ४३
कार्पास ४५
कार्मुक ५५
कार्ष्मर्य ४७
कार्व्य ४८
कालक्लीतक ४८
काला ४८
कालाञ्जनिका २३७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कालाञ्जनी २३७
कालिङ्ग २५५
कालिन्द २५५
कालेयक २३५
काश २३, ४८
काशीफल २५९
कारमीरज २३७
कारमीरजन्मा २३७
किंशुक ४८, १४६
किंशुलुक ४८
किरि ४८
किलासनाशन ४९
किलासभेषज ४९
किशमिश २५४, २५६
कीटमारिणी २४२
कीड़ासारी २४२
कुकरौंधा २३५
कुकुन्दर ४९
कुकुस ४९
कुंकुम ४९, २३७
कुचला २३५
कुटक ४९
कुटज ४९
कुटी ५२
कुट्ट २६१
कुदी ५२
कुद्रींची ४९
कुंद ४९
कुन्दरु २४९
कुपीलु २३५
कुमारी २३६
कुमारी (द्वय.) ४९
कुमुद २७, ४९
कुरण्ट (क) ४९
कुरर ४९
कुलञ्जन २३६
कुलत्थ ५०, ६०
कुलिञ्जन २३६
कुल्माष ५०
कुवल ४४, ५०
कुश ५०
कुशर ५१
कुषुम्भ ५१
कुष्ठ ५१, ८०
कुष्ठकेतु २४९
कुष्ठवैरी २४१
कुसुम्भ ५१, ११५
कुस्तुम्बुरु ५२
कूदी ५२
कूष्माण्ड ५२
कृतव्यधनी ५२
कृत्यागण १७१
कृत्यादूषण ७
कृत्यादूषि ६६
क्रमुक ५२, ५५
कृष्णक ५२
कृष्णचणक ५२, ६४
कृष्णबीज २३७
कृष्णल ५२
कृष्णा ५२, ८२
कृष्णाजाजी ५२
कृसर ५२
केर (रा) ५४
केरापर्णी ५४
केरु ५४
केशदृंहणी ५४
केशर २३७
केशवर्धनी ५४
केशानी ५४
केशी ५४
कैवस २६०
कैबेज २६०
कोद्रव ५४
कोबी २६०
कोल ४४, ५५
कोविदार ५५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

कोशकारी ५५
कोशबिला ५५
कोशातकी ५५
कोहड़ा २५९
कौवीराल ५५
कौहक ५५
क्याम्बू ५५
क्रकोष्मा ५५
क्रमुक ५३, ५५, २४३
क्रमुकवृक्ष ७
क्रिओस २६१
क्लीतक ५६, २४५
क्लीबकरणी ४४, ५६
क्वल ४४, ५६
क्षवक ५६
क्षिप्तभेषजी ५६, ९१
क्षीरचम्पक २३८
क्षीरिणी ५७
क्षीरवृक्ष १०१, १७१
क्षुद्रमुष्टि २३५
क्षुमा ५७
क्षुरप ५७
क्षेत्रियनाशनी ५७

ख

खट्टाशी २६६
खड (डा) ५७
खण्डिका ३६२
खदिर १३, ५७, ९३, ३३१
खदिरसार मणि ६०
खर्जूर ६०, २५४
खर्जूरीविशेष २५५
खर्परसत्व २७५
खर्बूज २५४
खलकुल ६०
खलतुलपर्णी ६०
खल्व ६१
खलआन २३६
खुरासानी अजवायन २४२
खुर्मा २५५
खेसारी २६२

ग

गण्डगात्र २५८
गन्धद्रव्य १७१
गन्धप्रियङ्गु २४३
गन्धमार्जारवीर्य २६६
गन्धवृक्ष ६१
गन्धौषधि ६१
गम्भीका ६१
गर्मुत् ६१
गर्ह्य ६१
गलङ्गल २३६
गलावण ६१
गवादनी ६१
गवीधुक ६१
गवीधुका ७१
गवेधुक ६१
गवेधुका ६१
गहुला २४३
गाजर २५९, २६०
गिरिमालक १०५
गुच्छौषपुष्प २४३
गुञ्जा २३४
गुडूची १२, ४० ६२
गुन्द्र ६३, २४४
गुलब्बास २५१
गुलाचीन २३८
गुलाब २५१
गुल्गुलु ६२
गुल्गुलुगन्धि ६२
गुवाक ६३, २४३
गृञ्जन ६३, २६०
गृञ्जर २६०
गेंदा २५२
गोधूम ६२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गोधूमव्याधि २९
गोभी २६०
गौरसर्षप ६३, ९०
गौलगुलव ६२
ग्रन्थिक २४७
ग्रन्थिगोभी २६०
ग्रु ६३

घ

घुणजम्भनी ७३
घृताची ६३

च

चक्रमर्दक ६४
चक्राङ्किता ६४
चणक ५१, ६१, ६४, २६१
चतुरङ्गुल ६४
चतुष्कोण वनस्पति ६४
चनसुर २३८
चन्दन ६४
चन्द्रशूर २३८
चम्पक ६४, २५२
चव्य २३८
चातनगण १७१
चान्दनमणि ६४
चाय २६४
चिति (त्ति) ६५
चित्रक ६५
चित्रपर्णी ६५
चिलगोजा २५५
चीनक २३५, २६२
चीनी कुलञ्जन २३७
चीपुद्रु ६४, ६५, १४९
चुपुणीका ६५, ८२
चेतन्ती ६५
चोपचीनी २३१, २३८
चौहार २३८
च्युकाकणी ६५

ज

जाङ्गिड ६५, १३४
जतु ६६
जपा ६६, २५२
जमालगोटा २३८
जम्बीर (ल) ६६
जम्बू ६६
जयन्ती ६६
जयपाल २३८
जख्मे हयात २४२
जर्तिल ६६, ७०
जर्दालु २५४
जवादि २६६
जलाषभेषज ६६
जस्त २७५
जाती ६६
जातीत्वक् २३९
जातीफल ६७, २३९
जातीरस २४४
जायफल २३९
जाय्य ६७
जावा कुलञ्जन २३७
जावित्री २३९
जीवन्त ६७
जीवन्ती १४
जीवला १३, १४, ६७, १५९
जीवी ६८
जीव्यलाका ६८
जेसुइट बार्क २५०
ज्येष्ठीमधु ६८
ज्येष्ठीमधुक ११२
ज्वार २६२

छ

छत्राक ६५
छोटा कुलञ्जन २३६
छोहारा २५५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

ट
टङ्क २५५
टमाटर २६०
ड
डिण्डश २६१
डुकुस २५९
डुण्डुस ८५
त
तक्मनाशनगण १७१
तगर ६८
तण्डुलीयक ६८
तमाखु २३१, २३५, २३९
तमाल ६८
तरबूज २५४, २५५
तरुणक ६८
तरुणी २५१
तलाशा (श) ६८
तवक्षीर २६२
तवराजशर्करा २४७
तस्तुब ६९
ताजङ्क ६९
ताबुच ६९
ताम्बूल ६९, २४०
ताम्र ६३
तार्क्ष (र्च) ६९
ताल ६९, २४०
तालीश ६८
तालीस ६९
तिखुर २६२
तिनिश ६९, ७२
तिन्तिडीक
तिन्दुक ६९
तिमिरक २४, ६९
तिर ७१
तिल ६९
तिलक ७१, १६६
तिलपिञ्ज ७०
तिलपिशित ७१
तिलौदन ७१
तिल्वक ७१
तिल्वका ७१
तीक्ष्णतैल ७१
तीक्ष्णवल्श ७१
तीक्ष्णशृङ्गी ५, ७१
तीव्रदारू ७२
तुख्म इस्पंदान २३८
तुग्र ७२
तुङ्ग ७२
तुन्यु ७२
तुम्बर ७२
तुम्बरदण्ड ७२
तुम्बुरु ७२
तुरञ्जबीन २४७
तुरुष्क २३१, २४०
तुरुष्का २४२
तुलसी ७२, २३५
तुवरक २४१
तूर्यन्ती ७२
तृण ७२
तृणजात ३८
तृप ७२
तृष्टा (ष्टिका) ७३
तृष्टाघ (म) ७३
तृष्टिका १०५
तेजन ७३
तेजनी ७३
तौदी ७३
तौविलिका ७३
त्रपुस ७४
त्रायमाण ७४
त्रायमाणा १४, ७४
त्रिकण्टक ७४
त्रिपुर २६२
त्रिफला १७१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

त्रिमधुर १७१
त्रिवर्णसर्षप १५८
त्रिवृत् ७४
त्रिवृता ७४
त्रिवृन्मणि २४
त्रिसन्ध्या १५४
त्रुटि ७४

द

दण्डन ११
दधित्थ ७५
दन्ती २३९
दन्दचीनी २३९
दर्भ ३०, ३२, ७५, ७७, १४०, १६०
दर्भस्तम्ब ७६
दशपत्रा ७६
दशवृक्ष ७६, १७१
दाडिम ७६
दारु ७६
दारुपत्रा ७७
दारुहरिद्रा ७७
दिव्यौषधि ७७
दिविंधुवक ७७
दिव्य भेषज १२२
दुःस्वप्ननाशन गण १७१
दुर्नाम ७७
दुरुच्यवन ७६, ७७, १४०
दूर्वा ८, ७७
दृन्भु ७८
देवजाता वीरुत्
देवजूता ३२, ८९
देवदारु ४६, ७८, ९३; ९६, ९७
देवपाली २४९
देवमुनि ७८
देवी ७८, ८२
द्रवन्ती २३८
द्राक्षा ७८
द्रुघण ७८
द्रुघणमणि ७८
द्रुघ्नी ७८
द्रेक २४५
द्रेकी २४५
द्रेक्का २४५
द्वीपान्तरवचा २३८

ध

धत्तूर ४१, २४१
धन्वन ७८
धव ७९
धातकी ७९
धात्री ७९
धान्य १७१
धुत्तूर ७९
धूपतृण ७९
धूम्रपत्रा २४२

न

नकली कलम्बा २३५
नख २६५
नखरञ्जक २४६
नखरञ्जनी ७९
नड (ल) ७९
नघमार ५१; ८०
नघ ८०
नघरिष ८०
नघाय ५१
नघारिष १४, ५१
नघारिषा ७९
नराची ८०
नरिष्टा ८०
नलद ८०, ८१
नलदी ८१
नलिन ८१
नाकुली ८१
नागकेशर ८१
नागरङ्ग २५६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

नागवल्ली ६९, २४०
नानाबीज १७१
नानारोगभेषज ८१
नानावृक्ष १७२
नानावृत्तीय ३३
नाड्व २८, ८१
नारङ्ग ८१, २५६
नारिकेल ८१, २५५
नारिकेलोदक २५५
नारगील २५५
नासपाती २५३, २५४, २५५
नालिङ्ग ८१
निचुदार ८१, १२३
नितवी ४६, ८२
निम्ब ८२
निर्गुण्डी ८२
निष्पाव ६१, ८२
नीचदारु ८१
नीचैः शाख १००
नीप ८२
नीलागलसाला ८२
नीलिका ८२
नीलिनी १५५
नीली २४, ५३, ८२, १५१
नीलोत्पल ८२, ९५
नीवार ८३
नीविभार्य ८३, १०३
नीवी १५७
नेवजा २५५
न्यग्रोध ८३
न्यस्तिका ८४, १३९

प

पक्व कर्पूर २३४
पक्ववल्कल ८४
पटेरक ५४, ८४
पत्तूर ८४
पत्रगोभी २६०
पथरचूर २४२
पथ्या ८४
पद्म ८४
पद्मक ८५
पद्मकन्द १०७
पद्मचारिणी २५२
पद्मनाल ८४
पद्मपत्र ८५
पद्माक्ष ३
पनस ८५
पनसवन ८५
पपाया २५६
पपीता २३१, २५६
परशु ८५
पराचीन ८५
परायती ८५
परारिका ८५
परिधिवृक्ष १०२
परिवृक्ता ७३
परिव्याध ८५
परुषक ८५
परुषवार ८६
परुषाह्व ८६
पर्ण ८६, ८७, २४०
पर्णकषाय ८७
पर्णकृच्छ्र ८४, १०८, १३९
पर्णधि ८७
पर्णफला ७
पर्णफलिनी ७
पर्णबीज २४२
पर्णयवानी २४२
पर्णवल्क ८७
पर्पट ८७
पर्वतनिम्ब २४५
पर्वतभेषज ८७
पल्ला ८७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पलाण्डु ८७, ११७
पलाश १३, ८८
पलाशवृक्ष ८६
पलितंकरणी ८९
पवाकस्ति ८९
पाकदूर्वा ८९
पाकवलि ८९
पागल की जड़ी २४९
पाटली ८९
पाटा ८९
पाठा ३२, ६७, ७४, ७९, ८९, १६०
पान २४०
पारसीक यवानी २३१, २४२
पारिभद्रिका ९०
पालक २६०
पालक्की २६०
पालक्य २६०
पालाक्य ९०
पालेवत ९०
पाविका ३८, ९०
पाशीमूष ९०
पाषाणभेद २४२
पिङ्ग ९१, १०१, १०३
पिण्डक २४१
पिण्डखर्जूर २५५
पिण्डखर्जूरिका २५५
पिण्डफला ९०
पिण्डालुक ९१
पिण्डीतक ९१
पिंषती ९२
पिचुक ९१
पिचुमन्द ९०
पिपरमिण्ट
पिप्पली १०२
पिप्पल २३, ९१
पिप्पली ३८, ९१, १३१
पिप्पलीमूल ९२
पिप्पल्यादि शान्तिगण १७२
पियाङ्ग १०१
पिश्ता २५६
पीतकरवीर २३४
पीतकूष्माण्ड २५९
पीतमूली २४७
पीतचन्दन २२५
पीतसर्षप १०३
पीतुदारु ९२
पीला ९३
पीलु ९३
पीलुमती ९३
पुण्डरीक ५४, ९४
पुण्डरीकवन ९४
पुत्रजीवक ९४
पुत्रजीवकाक्ष ३
पुदीना २४३
पुनर्नवा ९४
पुन्नाग ९४
पुरुषभेषज ९४
पुष्कर ९५
पुष्करतन्तु ९५
पुष्करदण्ड ९५
पुष्करपर्ण ९५
पुष्कला ९६
पुष्पगोभी २६०
पुष्पा ९७
पुष्याभिषेक १०१, १०४
पूग ९६, २४३
पूतद्रु ९६
पूति २६६
पूतिघास २६६ (फु०)
पूतिरज्जु ९६
पूतीक २७, ३९, ९६, १६५
पूतुदारु ९६, ९७
पूतुदारुमणि ९७
पूतुद्रु ९६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

पुथवृक्षफल १३
पृश्निपर्णी १२, ९८, १५९, १६०
पृषातक ९८
पेडुक २५३
पेरु का चमत्कार २५१
पेरुबियन बार्क २५०
पैद्ध ९९
पोटेटो २५९; २६१
पोथिका १२
पोदीनक २४३
प्रतिसर ११, ९९, १६६
प्रतीचीनफल ८, ११, ९९
प्रतोद ९९
प्रतोदाग्रमणि ९९
प्रप्रोथ ९९
प्रत्यकपुष्पा ९९
प्रपौण्डरीक २४५
प्रबन्धिनी ९९
प्रमन्द (नी) ९९
प्रवाल २६६
प्रसारणी ५४
प्राक्पुष्पा १००
प्राचीन (कण्टक) १००
प्रान्त १००
प्रान्तपुष्पा १००
प्रायश्चिति १००
प्रियङ्गु १००, १०२, २३१
प्रियाल १०१
प्रेणी १०१
प्लक्ष १०१
प्लक्षोदुम्बर १०२

फ

फलवती १०१, ५०२
फलवृक्ष १०२
फलिनी १०१
फलोत्तम २८, ९६, १७२
फल्गु २५३
फाल्गुन १८, १०३, १०४, १५३

ब

बंङ्गण २६०
बकुल १०३
बज १०३
बटाटा २५९, २६१
बटाटास २५९, २६१
बड़ा कुलञ्जन २३४
बदर ४४, १०३
बदरी १०३
बधक १०४
बन अजवायन २३५
बन्धूक १०४
बन्धुजीवक १०४
बब्बूल १०८, २४३
बभ्रु ३, १०४, १३९
बभ्रूतूल १८, १०३, १०४
बर्बर २४४
बर्बरी २४४
बर्बरीत्रितय २४४
बर्बुर २४४
बला १४, १०४
बलासनाशिनी १०४
बलासभेषज १०४
बल्वज १०४
बहुप (पु) त्रिका १०५
बहुला २४०
बाणापर्णी ७३, १३३; १३४
बादरमणि १०४
बादाम २५६
बादंगन २६०
बादिंगान २६०
बाधक १०५
बा (ब) ला १०५
बाह्लिका १०५
बाह्लीक २५१, २३७
बिभीतक ३, १०६

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

बिभीदक १०६
बिल्ब १०६
बिल्बी १०६
बिल्व १०६
बिस १०७
बिही २५७
बीजपूर २५७
बुबुंर १०८
बृहती १०८
बृहत्कण्टकारिका १०८
बृहत्पलाशा १४३
बृहद्दूर्वा १०८
बैगन २६०
बैल्वमणि १०७
बोल २४४
ब्रह्मवृक्ष १०८
ब्रह्मसुवर्चला १०८
ब्राह्मी १०८
भङ्ग १०८, ११०, २४८
भङ्गा १०८, ११०, २४८
भचुण्ड १०९
भण्डी १०९
भद्र १०९
भद्रदारुणा १०९
भद्रमुञ्ज १०९
भद्रमुस्त १०९
भद्रोदुम्बरी २५३
भल्लातक १४, १०९
भव्य १०९
भव्यफला ११०
भव्यास ११०
भार्य १५७
भिण्डा २६०
भिण्डी २६०
भीमसेनी कपूंर २३४
भू ११०
भूमिपाशक ११०
भूम्याहुल्य २४९
भूर्ज ११०
भूस्तृण ११०
भृङ्गरक ११०
भृङ्गराज १९, ११०, १२४, १५१, १५५
भैषज्यगण ४, ९२, १७२

म

मक्का २६३
मङ्गल्य १११
मचकचातनी १११
मञ्जिष्ठा १११
मण्डूकपर्णी १११
मण्डूकी १११
मदन १११
मदनफल १११, ११५
मदनी १००
मदयन्तिका २४६
मदयन्ती १११
मदावती १११
मदुघ ११२
मधुक ११२, ११३
मधुकमणि ११२
मधुकर्कटी २५७
मधुघ ११२
मधुजाता ११३
मधुदुघ ११२
मधुमती ११३
मधुयष्टिका ११३
मधुयष्टी २४४
मधुला २९, ११३
मधूक ११४
मधूकवृक्ष ११२
मधूलक ११४
मधुक्रोडा ११३
मध्वष्ठीला ११४
मन्दिरपुष्प २७८
मन्धुक ११४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

मयूरशिखा ११४
मरिच ११४
मर्कटतिन्दुक २३५
मलयकर्पूर २३४
मलयू २५३
मला ११४
मल्लिका ११४
मशकजम्भनी ११३, ११४
मसुरिया जिनोर २६२
मसूय ११४
मसूर ११५
मसूस्थ ११५
मस्तगी २४५
महाकाय २६३
महादेवी ११५
महानिम्ब २४५
महावला ११५
महाव्रीहि ११५, १३८
महाभरी वचा २३७
महारजन ११५
महावृक्ष ११५
महौषध ११५, २४९
माङ्गलिक फल १०७
माचिका २४६
माचिका २४६
माजू २४५
माजूफल २४५
मातुलानी २४८
मातुलुङ्ग ११५
मादानक ११५
मांसी ११६
मायाफल २४६
मार्कण्डिका २४९
मार्कण्डीय २४९
मालती ११६
माष ११६
माषपर्णी ११७
माषिका १०५
मिरिका ११७
मिश्रधान्य १७२
मुकुन्दक ११७
मुक्लूक २५६
मुक्ता २६६
मुक्तिका ११७
मुञ्ज १५, १०५, १०९, ११७
मुतव ११९
मुद्ग ११९
मुनक्का २५४
मुरब्बा २४७
मुलाली ११९
मुसल ११९
मुस्ता ११९
मूँगफली २६१
मूर्वा १२०, २४९
मूलक १२०
मूलशत १२०
मूलोदक ६८, १२०
मृणाली ११९
मृद्वीका १२०
मेडिका २५९
मेडिकाई २५८
मेतिका १२०
मेदाविशेष २४८
मेथिका १२३
मेषश्रृङ्गी १२०
मेंहदी २४६
मोचक १२०
मोहनप्रकरण ५

य

यज्ञवृक्ष २२, ३३, ५७, ८८, १३२, १७१
यव १२०
यवक १२२
यवगोधूमवल्ली २९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

यवमणि १२२
यवस १२२
यवानीविशेष २३८, २४२
यवाष १२३
यवासशर्करा २४७
यवासा २४७
यशद २७५
यशस्य ७, १७२
यष्टिमधुक ११२
यावन २४१
यावनाल २६२
यावनी २४२
युकेलिप्टस २४७
यूष्य १०६
यूष्य वृक्ष १२५, १७२

र

रङ्गकुष्ठक २४७
रक्तचन्दन १२३
रक्तलशुन ४५
रक्तलशुनक ४२
रक्तशालि १२३
रक्तसर्षप १५८
रक्तिका ४६
रक्तोघ्न ७
रजनी १२०, १२३
रज्जुदाल १२३
रथबन्धुर १२४
रस २४४
रसकर्म १००
रसभरी २५७
राजक्षपणी १२४
राजपर्णी १२४
राजबदर २५६
राजमाष १२४, २६३
राजवृक्ष १२४
राजवृक्षपर्णी १२४
राजिका ३०,१२४
राव्रुलिफया सर्पेण्टिना २४९
रामठ १२४, २५१
रामबाँस २४७
रामा १२४
रास्ना १२५, २३७
रीतिहेतु २७५
रुद्राक्ष ३
रूप १२४
रूमी मस्तगी २४५
रेचक २३९
रेवतिका २४७
रेवन्दचीनी २४७
रेष्य १२५
रोगस्थान ३०
रोपणाका १२५
रोहिणी १२५
रोहितक १२५
रोहिषतृण ५७
रौद्रगण १७२
रौहिण १२५

ल

लकुच १२६
लक्ष्मणा ९८, १२६
लघुकण्टकारिका १२६
लवङ्ग १२६, २४७
लवली २५७
लशुन १२६
लाक्षा १३, ६४, ७९, ८७, १०१, १०९, १२५, १२६, २२३
लाक्षोदक १२७
लिङ्गा १२७
लिबुजा १२७
लियाङ्ग-कियाङ्ग २३६
लीची २५८
लोकाट २५८
लोकेशी ३०, १२७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

लोध १२७
लोध्र १२७
लोमशबिडाल २६६
लोहिततूल १८, १२८
लोहितवृक्ष १२८
वंश १२९
वंशलोचन २६२
वकुल १२८
वङ्ग १२८
वचा १२८
वञ्जुल १२८
वट ८३, १२८
वटकणिका ८४
वत्सनाभ १४७
वधक १२८
वन्दना १२८
वन्य तिल ६६
वपा १२८
वरण १२९
वराटक २६७
वराण १३१
वत्सनाभ २४८
वर्चस्य ७
वर्चस्यगण १७२
वर्षवृद्धा २४४
वर्षाभू १३१
वर्षाह्वू १३१
वर्षाह्वा १३१
वलीक १३१
वल्मी १३१
वसुक १३१
वाघातक १३१
वाण (णा) पर्णी १०५
वाताम २५६
वातिंगन २६०
वातीकृतनाशनी १३१
वातीकृतभेषजी ९१, १३१, १६१
वानस्पत्य-चतुष्टय ८४
वार्ताकु १३१
वालदुच्छ्र १३१
वासा १२८, १३२, १३५
वास्तूक १३२
विकङ्कत (तिका) १३२
विजया २४८
विडङ्ग १३३
वितन्त्री १३३
विदारी १३३
विबाध ५७, १३३
विभीतक १०६, १३३
विभीतक (क) १३३
विभीदक १०६
विलायती अरारोट २६२
विश्लिष्टभेषज (ज) १३३
विश्वभेषज ५१, ६६
विश्वरूप १३३
विश्वभेषजी १३३
विश्वामित्रतृण १३३
विषतिन्दुक २३५
विषदूषण १३३
विषदूषणी १४, १३३
विषमुष्टि २३५, २४५
विषा १३३
विषाणका १३१, १३३
विषाणा १३३, १६०
विषातकी ७३, १३४
विषासहि १५९
विष्कन्धदूषण ६६, १३४
विष्णुकान्ता १३४
विस्रंसिका १३४
विह्वल १३४
वीरण ३८, १३४
वीरिण १३५
वीरोदीक १३५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वीर्यावती १४
वृद्धपुत्री ३७, १३५
वृश्चिकजम्भन १३५
वृष १३५
वृषातकी ७३
वृष्ण्यावती १३५
वेणु १३५
वेणुदाभूंष १३६
वेणुयव १३६
वेतस १३६
वेत्र १३७
वेदतृण १३७
वेष्टन १३७
व्यक्तकशा १३७
व्याघ्रदन्ती १३७
व्याघ्रनख २६६
व्याघ्रपत्रक १३८
व्याघ्री १३७
व्याधिघात १०५, १३८
व्याधिघातकदण्ड १०५
व्यालक १३८
व्रीहि १३८

श

शङ्खपुष्पी ८४, १०४, १३९, १५०, १५५, १६०, १६२
शंशप १४९
शकरकन्द २५९, २६१
शण १०९, १३९, २४८
शणफला १४०
शतकाण्ड ७६, १४०
शतपत्र १४०
शतपत्रा १४०
शतपत्री २५१
शतपर्व १६१
शतपर्वा १४०
शतपुष्पा १४०
शतमूला ७७, १४०
शतवार १४१
शतशाख १४१
शतांकुरा ७७, १४१
शतातृण १४१
शतावरी १४१
शतिङ्ग १४१
शपथयोपनी ७७
शफक १४१
शमक १४२
शमका १४२
शमी १३, ३९, १४२
शमीपत्रिका १४४
शमुक १४४
शम्बूक २६७
शम्याक १४४
शर १४४
शरपुंखा ७३, १०५
शर्मवर्मगण १७३
शलाञ्जाला १४६
शल्मलि १४६
शल्लकी २४९
शाक १४७
शाकलमणि ३४
शाकवर्ग १७३
शाखिमूल २५०
शाण्डदूर्वा ८९, १३९, १४७
शात् १४७
शान्त १७३
शान्तवृक्ष १३
शाम्यवाका १४७
शारीरधातु २६७
शारीरमल २६७
शार्ङ्गविष १४७
शाल १४७
शालातृण १४८
शालमणि १४७
शालि १४८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शालूक १४८
शा (श) कवलि १४७
शाह-आल् २५४
शिग्रु १४८
शिखण्डी १४८
शितीवार
शिम्बल १४६, १४८
शिंशपा १४८
शिरीष १४९ २२१
शीर्षपर्णी १५०
शिलाची (दी) १४९
शिलारस २४१
शीतपाकी १४९
शीतबीज २३४
शीतवुघ्न १४९
शीनिका १४९
शीपाल (ला) १४९
शीपुद्रु १४९
शीर्य १५०
शुक्ति २६६, २६७
शुक्लपुष्प १३९, १५०
शुक्लपुष्पा १५०
शुक्लशाद् १५०
शुण्ठी (ठणी) १५०
शूकतृण १५०
शृङ्गवेर १५०
शृङ्गाटक ७२, १४२, १५०
शृङ्गी १५०
शेफहर्षणी ४२, १५०
शेफालिका १५१
शेलु १५१
शेवाल १५१
शैलेय १५१
शैवाल १९, १५१
शोचि १५१
शोष्यन्ती १५१
श्मशानवृत्त १५१
श्यामपर्णी २६४
श्यामबीज २३७
श्यामा १५१, २३७
श्यामाक १५१
श्यामाकतण्डुल १५२
श्येनहृत १५२
श्योनाक १३
श्रीकृच्छ्र २८
श्रीपर्ण १५२
श्रीफल १५२
श्रीवेष्टक १५२
श्रेष्ठ वीरुध १५८
श्लेष्मातक ३, १२३, १५२
श्वदंष्ट्रा १५३
श्वेतक १५३
श्वेतगिरिकर्णिका १५३
श्वेतचन्दन १५३
श्वेतपाकी १५३
श्वेतपुष्पी बृहती १०८
श्वेतफला १५३
श्वेतवृन्ताक १५३
श्वेतसर्षप १०३
श्वेता १५३

ष

षष्टिक १५३

स

सकलकन्द २६१
सचा १५३
सचीन १५४
सतीन २६२
सदंपुष्पा १५४, १६०
सदंपुष्पी १५४
सदंफला १५४
सदापुष्पा २५४
सदाभद्रा १५५
सनाय २४९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सनायकी २४९
सप्तधान्य १७३
सप्तवर्ण १५५
सप्तपर्णी १५५
सप्तमधु १२२
सप्तमुञ्ज ११७
समक्तभेषज १५५
समुष्पला १३९, १५५
संवननी १३९, २५५
संस्कन्दा १५५
सरल १५५
सरूपङ्करणी १५१, १५५
सर्ज १५५
सर्जक १५५
सर्जरस १५६
सर्पगन्धा २४९
सर्पसुगन्धा १५६, २४९
सर्वगन्ध १७३
सर्वतृण १७३
सर्वबीज १७३
सर्वरस १७३
सर्वरोगभैषज्य ८९
सर्वसुरभि १७३
सर्वौषधि १३९
सर्वौषधि (धि) १७४
सर्षप २९, ८३, ७३, १३४, १५६
सर्षपकाण्डमणि २९
सर्षपैकाण्डमणिबन्धन १५८
सर्षपतैल १५८
सर्षतैलाभ्यङ्ग १५८
सर्षपशाक १५८
सल्लकी १५८
सवंशा १५८
सस्यमञ्जरी ८२, १४६
सह १५८
सहदेव १५८
सहदेवा १५८
सहदेवी १३, १४, ६९, १५९
सहमान १४०, १५९
सहमाना १४, ७७, ८९, ९८ १५९
सहस्य १६१
सहस्रकाण्ड ७६, १४०, १६०, १६१
सहस्रकाण्डा ७७
सहस्रचक्षु १३३, १५४, १६०
सहस्रपर्ण ७६, १४०, १६०
सहस्रपर्णी ८४, १३९, १६०
सहस्रवल्श १६०
सहस्रवीर्य ६६, ७६
सहस्रवीर्या ७७, १६०
सहस्रा २५२
सहस्रावृण १६०
सहस्वती १४, ३२, ९०, ९८, १६०
सहस्वान् ६६
सहा १६१
सहीयसी ९०
साइसर २६१
साबूदाना २६३
सारिवा १६१
साल १६१
साव्रस्क १६१
सितीवार १६१
सिद्धार्थक १६१
सिद्धेश्वर १६१
सिद्धार्थक (का) १६१
सिद्धेश्वर १६१
सिनकोना २५०
सिन्दूरी २५०
सिपुन १६१
सिम्बिका २५८
सिंपदान २३८
सिंही १६१
सिलिन्द्र १६२
सिलाची १४, १४९
सिलृस्कक १६२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

सिल्हक २४१
सीताफल २५८
सीवला १६२
सीलोन कलम्बा २३५
सुगंधितेजन १६२
सुगन्धिवीज १७४
सुगन्धा २३७
सुनिषण्णक १६२
सुभगंकरणी ८४, १२९, १६२
सुभगा ३२, ८९, १४३, १५९
सुमङ्गला १६२
सुरसा १६३
सुर (सूकर) वालक १६२
सुरेश्वरी ३०, १६३
सुलक्षमणा १६३
सुवर्चला १६३
सुवर्णपुष्पी १६३
सुषिर १६३
सूर्यमुखी २५२
सेब २५४, २५८
सैण्टोनिन २३८
सैर्यं १६३
सोम १८, २७, ५१, ९७, ९९, १००, १०३
१०८, १४२, १५२; १५३, १६३,
२३०, २५०
सोमावती १६५
सोयाबीन २६३
सौम्यवृत्त १७४
सौवर्चल ११, १६५
सौवीर २५६
स्तन्य २६७
स्थगर १६५
स्थलकमल २५२
स्थूलङ्करणी १६५
स्थूलग्रंथि २३७
स्पन्दन १६५
स्पृक्का १६५
स्फूर्जक १६५
स्यन्दन १६६
स्योनाक १६६
स्रक् १६७
स्रक्स्य १६६
स्राक्स्य ९९
स्रेकपर्ण १३७
स्वर्णपत्री २४९
स्वधा १६७
स्वधिति १६७

ह

हजारा २५२
हपुषा १६८
हरफारेवड़ी २५७
हरिचन्दन १६८
हरिणी १६८
हरितपुष्पा १६८
हरितभेषज १६८
हरितशाकवर्ण १५५
हरिद्र १६९
हरिद्रा १२३, २२३, १६८
हरिफल २५७
हरिमन्थ २६१
हारिद्रव १६९
हालिम २३८
हिङ्गु १६९, २५०
हिना २४६
हिन्ताल २४०
हिमावली २४७
हिरण्यपर्ण ३९, १६९
हिरण्यपर्णा १६९
हिरण्यपुष्पी १६९
हिरण्यमूल १७०
हिस्पिरथ २५८
हृद्धात्री २४७
हेरुका १७०
हादिका १७०

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुक्रमणिका-२

Latin and English Names

A

Abelmoschus esclentus (L.) moench 260
Abies webbiana Linn. 191
Abrus precatorius Linn. 188
Abutilon indicum (Linn) SW. 183
Acacia arabica Willd. 194, 243
Acacia catechu Willd. 189
Acacia leucophloea Willd. 184
Acacia suma. 13
Acacia suma Buch. Ham. 187
Achyranthes aspera Linn. 183, 194
Aconitum sp. 188
Aconitum chasmanthum stapf. ex Holmes 248
Acorus calamus Linn. 197
Adhatoda vasica Nees. 185
Adina cordifolia 169
Adina cordifolia Benth & Hook. f. 199
Aegle marmelos Corr. 194
Agaricus campestris Linn. 184
Agave. 247
Ailanthes excelsa Roxb. 184, 245
Albizzia lebbeck Benth. 198
Albizzia procera (Roxb) Benth. 187
Alhagi camelorum Fisch. 196
Allium cepa Linn. 193
Allium sativum Linn. 196
Aloe sp. 236
Aloe vera Tourn ex Linn. 188
Alpinia galanga Willd. 236
Alpinia officinarum Hance. 236
Alstonia scholaris R. Br. 198
Alternanthera sessilis (Linn) R. Br. 193
Amaranthus spinosus Linn. 190
Ambergris. 265
Anacardium occidentale Linn. 254
Anacyclus pyrethrum DC. 232
Ananas sativus Linn. 253
Anogeissus latifolia Wall. 192
Anona squamosa. 258
Anthocephalus cadamba Miq. 187
Apium graveolens Linn. 232
Aquilaria agallocha Roxb. 183
Arachis hypogaea Linn. 261
Areca catechu Linn. 189, 243
Aristolochia bracteata Retz. 242
Aristolochia indica Linn. 192
Artemisia maritima Linn. 238
Artocarpus heterophyllus Lam. 193
Artocarpus lakoocha Roxb. 196
Asparagus racemosus Willd. 197
Avena orientalis schreber. 263
Averrhoa carambola Linn. 254
Azadirachta indica A. juss. 192

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

B

Bacopa monnieri (Linn) Pennell. 195
Balanites aegyptiaca (Linn) Delile. 185
Baliospermum montanum Muell-Arg. 239
Balsamodendron myrrha Nees 244
Bambusa arundinacea Willd. 197
Barleria prionitis Linn. 188
Barringtonia acutangula (Linn) Gaertn. 185
Basella cordifolia 97
Basella rubra Linn. 186
Batatas. 259
Bauhinia malabarica Roxb. 184
Bauhinia variegata Linn. 188
Benincasa cerifera Sav. 189
Berberis aristata DC. 191
Bergenia ligulata (Wall.) Engl. 184
Betula utilis D. Don. 195
Bixa orellana Linn. 250
B. juncea Linn. 185
Blumea lacera DC. 188
B. nigra Linn. 185
Boerhaavia diffusa Linn. 194
Bombax ceiba Linn. 198
Borassus flabellifer Linn. 191, 240
Boswellia serrata Roxb. 199, 249
Brassica campestris Var. sarson Prain. 185
Brassica oleracea Linn. 260
Bryonopsis laciniosa Linn. 197
Bryophylum calycinum salisb. 242
Buchanania lanzan Spreng. 194
Butea monosperma (Lam) Kuntze. 193

C

Caesalpinia bonducella. 97
Calamus tenuis Roxb. 197
Callicarpa macrophylla Vahl. 194
Calophyllum inophyllum Linn. 194
Calotropis gigantia (Linn) R. Br. ex Ait. 194
Calotropis procera (Ait) R. Br. 184
Cannabis sativa 140, 195, 248
Capparis aphylla Roth. 187
Carica papaya Linn. 256
Carthamus tinctorius Linn. 189
Cassia angustifolia Vahl. 249
Cassia fistula Linn. 185
Cassia tora Linn 190
Cassytha filiformis Linn. 184
Cedrus deodara (Roxb) Loud. 191
Celosea argentea Linn. 198
Centella asiatica (Linn) Urban. 195
Centipeda minima (Linn) A. Br. et Aschers. 189
Chenopodium album Linn. 197
Cicca acida (Linn) Merrill. 196, 257
Cicer arietinum Linn. 190, 261
Cinchona succirubra Pavon. 250
Cinnamomum camphora Nees & Eberm. 188, 234
Cissampelos pariera Linn. 186

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Citrulus coloynthis Schrad. 189
Citrulus vulgaris schrad. 255
Citrus decumana Linn. 257
Citrus limon (Linn) Burm. f. 190
Citrus medica Linn. 195
Citrus reticulata Blanc. 192,256
Civet 266
Cleome viscosa Linn. 183
Clerodendrum phlomidis Linn. f. 184
Clitorea ternatea Linn. 183
Coccinia indica W. & A. 194
Cocos nucifera Linn. 192, 255
Coffea arabica Linn. 264
Coix lachryma-jobi Linn. 189
Coleus aromaticus Benth. 242
Colosanthes indica. 13
Commiphora mukul (Hook ex Stocks) Engl. 189
Convolvulus pluricaulis Chois. 193
Cordia myxa Roxb. 198
Coriandrum sativum Linn. 189
Coscinium fenestratum (Gaertn) Colbr. 235
Crataeva nurvala Buch-Ham. 197
Crinum sp. 187
Crocus sativus Linn. 188, 237
Crotalaria 140
Crotalaria juncea Linn. 197
Croton tiglium Linn. 238
Cucumis sativus Linn. 191
Cucumis utilissimus Roxb. 186
Cucumis melo Linn. 254
Cucurbita maxima Dulhesne 259
Curcuma angustifolia Roxb. 262
Curcuma longa Linn. 196
C. verrucosa Linn. 197
Cydonia vulgaris Pers. 257
Cymbopogon martini (Roxb) Wats. 185
Cymbopogon sp. 192
Cynodon dactylon (Linn) Pers. 191
Cyperus rotundus Linn. 193

D

Dalbergia sissoo Roxb. 198
Datura stramonium Linn. 187
Datura metel Linn. 241
Daucus carota Var. sativa DC. 259
Delphinium zalil Aitch & Hemsl. 199
Desmodium gageticum DC. 199
Desmostachya bipinnata Stapf. 191
Dichrostachya cineria W. & A. 197
Dillinia indica Linn. 195
Dioscorea sp. 193
Dioscorea sp. 195
Diospyros embryopteris Pers. 191
Dolichos biflorus Linn. 188
Dolichos lablab Linn. 189
Dolichos soja Linn. 263
Dryobalanops camphora Colbr. 234

E

Echinochloa frumentacea Linn. 198
Eclipta alba Hassk. 195
Elephantopus scaber Linn. 195
Elettaria cardamomum Maton. 186

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Embelia ribes Burm. f. 197
Emblica officinalis Gaertn. 183
Eribenthos 261
Eriobotrya japonica Lindl. 258
Erythrina indica Lam. 193
Eupotorium ayapana Vent.

F

Fagonia cretica Linn. 186
Fagopyrum esculenturm Moench. 261
Feronia limonia (Linn) Swingle. 187
Ferula foetida Regel. 196, 250
Ficus bengalensis Linn 192
Ficus carica Linn. 252
Ficus glomerata Linn. 196
Ficus lacor Buch-Ham. 194
Ficus religiosa Linn. 184
Flacourtia indica Merr. 197
Foeniculum vulgare Mill. 197
Fumaria indica Pugsley. 193

G

Garcinia morella Desr. 191
Gentiana kurroo Royle. 191
Glycyrrhiza glabra Linn. 195 244
Gmelina arborea Linn. 188
Gossypium herbaceum Linn. 187
Grewia asiatica Linn. 193
Grewia tiliaefolia Vahl. 192
Gymnema sylvestre 134
Gymnema sylvestre R. Br. 196
Gynandropsis pentaphylla DC. 183

H

Habenaria sp. 186
Hardwickia binata Roxb. 185
Helianthus annuus Linn. 252
Helix aspera 265
Hemidesmus indicus R. Br. 199
Hibiscus cancellatus Roxb. 193
Hibiscus ficulnens Linn. 261
Hibiscus mutabilis Linn. 252
Hibiscus rosa-sinensis Linn. 190, 252
Hordeum vulgare Linn. 196
Hordess sorghum Linn. 262
Hydnocarpus wightiana Blume. 251
Hygroryza aristata Nees. 192
Hyoscyamus niger Linn. 242

I

Imperata arundinacea. 34
Imperata cylindrica Beauv. 191
Indigofera tinctoria Linn. 192
Ipomoea batatas Poir. 261
Ipomoea hederacea Linn Jaca. 237
Ipomoea reniformis Chois. 185

J

Jasminum grandiflorum Linn. 190
Jasminum multiflorum Andr. 188
Jasminum sambac Ait. 195
Jasminum sp. 196
Jateorhiza palmata Miers. 235
Juniperus communis Linn. 199

K

Krios. 261

L

Laccifer lacca (Kerr). 196
Lagenaria siceraria Standl. 258
Lagenaria vulgaris Ser. 184
Lagerstroemia parviflora Roxb. 199
Lathyrus sativus Linn. 262

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Lawsonia alba Lam. 246
Lens culinaris Medic. 195
Lepidium sativum Linn. 238
Leptadenia reticulata W. & A 190
Linum usitatissimum Linn.183
Liquidamber orientalis Miller. 241
Liquid storax. 241
Loranthus longiflorus Desr. 197
Luffa acutangula Roxb. 189
Lycopersicum esculentum Mill. 260

M

Madhuca indica J. F. Gmel. 195
Mallotus philppinensis Muell Arg. 187
Mangifera indica Linn. 185
Manna. 247
Manihot utilissima Pohl. 263
Maranta arundinacee Linn. 262
Marsdenia tenacissima W. & A. 196
Marvel of peru 251
Medicago sativa Linn. 258
Mentha piperata Linn. 242
Melia azedarach Linn. 245
Mesua ferrea Linn. 192
Michelia campaka Linn. 190, 252
Microstylis wallichii Lindl. 186
Mimusa suma 143
Mimusops elengi Linn. 194
Mirabilis Jalapa Linn. 251
Moringa pterygosperma Gaertn. 198
Mucuna pruriens DC. 186
Mucuna sp. 183
Musa paradisiaca Linn. 187
Musk 265
Myristica fragrans Houtt. 190, 239

N

Nardostachys jatamansi DC. 193
Nelumbo nucifera Gaertn. 107
Nephelium litchi Camb. 258
Nerium indicum Mill. 187
Nerium odorum Soland. 234
Nicotiana tabacum Linn. 239
Nigella sativa Linn. 189
Nyctanthes arbor-tristis Linn. 198
Nymphoea alba. 27
Nymphaea alba Linn. 188
Nymphoea stellata 95

O

Ocimum basilicum Linn. 244
Ocimum sanctum Linn. 191
Olax scandens Roxb. 196
Ononis arvensis or spinosa 110
Oroxylum indicum 13
Oroxylum indicum Vent. 199
Oryza sativa Linn. 197
Ougeinia dalbergioides Benth. 191

P

Panicum miliaceaum Linn. 183, 262
Papaver somnifer Linn 233
Parmelia perlata Ach. 198
Paspalum scrobiculatum Linn. 189
Pentapetes phoenicea Linn. 194
Peristrophe bicalyculata Nees. 188

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Phaseolus mungo Linn. 195
Phaseolus radiatus. 61
Phaseolus radiatus Linn. 196
Phoenix dactylifera Linn. 254
Phoenix sylvestris Roxb. 189
Phragmites maxima Blatter & Mc Cann. 193
Physalis peruviana Linn. 257
Pinus longifolia Roxb. 190
Piper betle. 240
Piper betle Linn. 191
Piper chaba Hunter. 238
Piper cubeba Linn. f. 234
Pinus gerardiana Wall. 255
Piper longum. 193
Piper nigrum Linn. 195
Pistacia lentiscus Linn. 245
Pistacia integerrima Stew ex Brandis. 187
Pistacia vera Linn. 256
Pisum sativum Linn. 188
Piyaung. 101
Plantago ovata Forsk. 233
Plumeria acutifolia Poirel. 238
Plumbago zeylanica Linn. 190
Pollinidium angustifoium Comb. Nov. 194
Polytoca barbata. 32
Pongamia pinnata (Linn) Merr. 187
Polato 259, 261
Prosopis spicigera 13, 143, 198
Prunus amygdalus Baill. 256
Prunus mahaleb Linn. 253
Prunus sp. 253
Prunus cerasoides D. Don. 193
Psidium guyava Linn. 253
Pterocarpus marsupium Roxb. 84
Pterocerpus santalinus Linn. f. 196
Punica granatum Linn. 191
Puraria tuberosa DC. 197
Putranjiva roxburghii Wall. 194
Pyrus communis Linn. 255
Pyrus malus Linn. 258

Q

Quercus infectoria oliver 245

R

Randia dumetorum Lam. 195
Randia uliginosa DC. 193
Ranunculus sceleratus Linn. 188
Raphanus sativus Linn. 196
Rauwolfia serpentina. 249
Rauwolfia serpentina Benth ex Kurz. 198
Rheum emodi wall. 247
Ricinis communis Linn. 186
Rosa centifolia Linn. 251
Rubia cordifolia Linn. 195

S

7Saccharum munja Roxb. 198
Saccharum officinarum Linn. 185
Saccharum sp. 188
Saccharum spontaneum Linn. 188
Salix caprea Linn. 197
Salvadora persica Linn. 193
Salvadora sp. 194
Santalum album Linn. 190
Sapindus mukorossi Gaertn. 184
Saraca indica Linn. 194
Saussurea lappa C. B. Clarke. 189

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Saussurea sp. 197
Schrebera swietenioides Roxb. 193
Scirpus kyssor Roxb. 188
Semecarpus anacardium Linn. f. 184
Sesamum indicum Linn. 191
Sesbania bispinosa (Jacq) Fawcett & Rendle. 186
Sesbania sesban (Linn) Merr. 190
Shorea robusta Gaertn. 198
Sida cordifalia 14
Sida cordifolia Linn. 194
Sida rhombifolia Linn. 195
Sida sp. 199
Skimmia laureola Sieb & Zucc. ex Walp. 186
Smilax china Linn. 238
Solanum indicum Linn. 194
Solanum melongena Linn. 197
Solanum nigrum Linn. 192
Solanum tuberosum Linn. 259
Solanum xanthocarpum Schrad & Wendle. 187
Solid Storax. 240
Spinach oleracea Linn. 260
S. rhombifolia. 14
Soymida febrifuga A. Juss. 196
Spinacea oleracea Linn. 193
Strychnos nuxvomica Linn. 188, 235
Styrax offcinale Linn. 240
Symplocos racemosa Roxb. 197
Syzygium aromaticum (Linn) Merr & M. Perry. 196, 247
Syzygium cumini (Linn) Skeels. 190

T

Tagetes erecta Linn. 252
Tamarindus indica Linn. 184
Tecomella undulata (G. Don) Seem. 196
Tectona grandis Linn. f. 198
Temple flower. 238
Tephrosia purpurea (Linn) Pers. 191
Teramnus labialis Spreng. 195
Terminalia arjuna 66
Terminalia arjuna W. & A. 184
Terminalia belerica Roxb. 183
Terminalia chebula Retz. 199
Thea sinensis Linn. 264
Thevetia nerifolia Juss. 234
Tinospora cordifolia (Willd) Miers. 183
Trapa bispinosa 142
Trapa bispinosa Roxb. 198
Tribulus terrestris Linn. 191
Trichodesma indicum R. Br. 183
Triticum aestivum Linn. 190
Typha angustata Bory and Chaub. 189
Typha elephantina Roxb. 186

U

Uraria picta Desv. 190

V

Valeriana wallichii DC. 190
Vateria indica Linn. 198
Vetiveria zizanioides (Linn) Nash. 186
Vigna cylindrica Skeels. 196
Vigna sinensis Savi. 263
Vitex negundo Linn. 195
Vitis vinifera Linn. 192

W

Wendlandia exerta DC. 191
Withania somnifera Dunal. 184

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Woodfordia fruticosa Kurz. 192
Wrightia tomentosa Roem. & Schult. 186

Z

Zanthoxylum alatum Roxb. 199
Zey mays Linn. 263
Zingiber officinale. 28
Zingiber officinale Roscoe. 185
Zizyphus jujuba Lam. 189
Zizyphys nummularia W.H. 187
Zizyphus vulgaris Linn. 256

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुक्रमणिका-३

ग्रन्थ

अ

१अकारादि निघण्टु ३१९
अगस्त्यनिघण्टु ३१९
अथर्वनिघण्टु ३१९
अथर्ववेद १११, २२१
अभिधानचन्द्रिका ३१९
अभिधानचूडामणि २९२
अभिधानमञ्जरी ३१९
अभिधानरत्नमाला ३१९
अभिनव कामशास्त्र ३०९
अभिनवनिघण्टु ३११
अभिनव नेत्ररोगविज्ञान ३१३
अभिनव बूटीदर्पण ३११
अभिनव वनौषधि-चन्द्रिका ३१९
अरुणदत्तनिघण्टु २७९
अर्कप्रकाश ३४०
अष्टाङ्गनिघण्टु २६९
अष्टाङ्गहृदय-द्रव्यविज्ञान ३१९
अष्टाङ्गहृदयनिघण्टु २६९
आत्मसर्वस्व ३१२
आपणो खोराक ३०९
आयुर्वेद का संक्षिप्त इतिहास ३१६
आयुर्वेद की औषधियाँ और उनका वर्गीकरण ३१३
आयुर्वेद-चिन्तामणि ३११
आयुर्वेद-पाठावली ३०९
आयुर्वेदमहोदधि २८६
आयुर्वेद-विहङ्गावलोकन ३०९
आयुर्वेद-वैज्ञानिक विचारणा ३०९
आयुर्वेद-व्याख्यानमाला ३०९
आयुर्वेदीय ओषधिनिघण्टु ३२७
आयुर्वेदीय ओषधिविज्ञान ३१०
आयुर्वेदीय औषधिगुणधर्मशास्त्र ३१०
आयुर्वेदीय औषधिसंशोधन ३१०
आयुर्वेदीय द्रव्यगुणविज्ञान ३१९
आयुर्वेदीय द्रव्याभिधान ३१९
आयुर्वेदीय परिभाषा ३४१
आयुर्वेदीय व्याधिविज्ञान ३०६
आयुर्वेदोक्तद्रव्यगुणविज्ञानम् ३१९
आरोग्यचिंतामणि २८७
आरोग्यदर्पण ३४१
आसव-अरिष्ट ३३९
आसवविज्ञान ३३९
आसवारिष्टसंग्रह ३३९
इकोनोमिक वाटनी ऑफ इण्डिया ३२४
इण्डिजिनस ड्रग्स ऑफ इण्डिया ३२५
इण्डियन फार्माकोपिया ३३६
इण्डियन मेटिरिया मेडिका ३२४
इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स ३२४
इन्द्रकोश ३२१
इन्द्रनिघण्टु २७५, ३२१
उपवनविनोद ३२२
उपवनविनोदकौतुक ३२२
ऋग्वेद २३०
एकाक्षरनिघण्टु ३२१
ओषधिकोश ३२१
औद्भिदद्रव्यनामगुणविमर्श ३१९
औषधकल्पसमूह ३१७
औषधगुणधर्मविज्ञान ३२३
औषधगुणपाठ ३१९
औषधनामावली ३१९

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

औषधनिघण्टु ३१९
औषधनिर्माण ३३९
औषधपाकावली ३४०
औषधाकार ३२३
औषधिकल्प ३१७
औषधिकल्पलतिका ३१७
औषधिकोष ३१९
औषधिनाममाला ३१९
औषधिवाड ३१८
औषधिविज्ञान ३२३
औषधिविज्ञानशास्त्र ३१२
औषधिसंग्रह ३०६

क

कच्छसंस्थानी जड़ीबुटीओ ३०७
कण्ट्रोवर्शियल ड्रग्स इन इण्डियन मेडिसिन ३१०
करञ्जककल्प ३१८
कल्पचिन्तामणि ३१७
कल्पद्रुमसारसंग्रह ३१७
कल्पनासागर ३१७
कल्पभूषण ३१७
कल्परत्न ३१७
कल्पलता ३१७
कल्पवल्ली ३१७
कल्पसंग्रह ३१७
कल्पसागर ३१७
कल्पसार ३१७
कल्पसिन्धु ३१७
कल्पार्णव ३१७
कषायादिपाकविधि ३२९
कृष्णधत्तूरकल्प ३१८
कोशकल्पतरु ३२१
कैयदेवनिघण्टु २८९
कैयदेवनिघण्टु-टीका ३१०
क्रियात्मक औषधिपरिचयविज्ञान ३१२
क्वाथमणिमाला ३३९
क्वाथशतक ३३९
क्षारनिर्माणविज्ञान ३४०
क्षेमकुतूहल ३४०

ख

खोराकना तत्वो ३०९

ग

गदनिग्रह २८२
गन्धशास्त्रनिघण्टु ३२१
गाँवों में औषधरत्न ३१६
गुग्गुलुकल्प ३१८
गुजरातनी वनस्पतिओ ३०९
गुणकर्मनिर्देश ३२१
गुणचन्द्रिका ३२१
गुणचिन्तामणि ३२१
गुणज्ञाननिघण्टु ३२१
गुणनिघण्टु ३२१
गुणपटल ३२१
गुणपरिज्ञान ३२३
गुणपाठ ३२१
गुणयोगप्रकाश ३२१
गुणरत्नाकर ३२१
गुणसंग्रह २८०
गुणादर्श ३२१
गूलरगुणविकास ३१८
गृहद्रव्यचिकित्साविज्ञान ३१६
ग्राम्यौषधि ३१६
ग्लॉसरी ऑफ इण्डियन मेडिसिनल प्लाण्ट्स ३२५
ग्लॉसरी ऑफ वेजिटेबुल ड्रग्स इन बृहत्त्रयी ३१४

घ

घरगथ्थु वैद्यक ३०९

च

चन्द्रकला-व्याख्या २८५
चन्द्रनन्दननिघण्टु २७७
चन्द्रनिघण्टु २७८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

चरकनो स्वाध्याय ३०९
चरकसंहिता २३१
चिकित्साभिधान ३२०

ज

जङ्गलनी जड़ीबूटी ३२३
ज्योतिष्मतीकल्प ३१८

त

ताम्बूलमञ्जरी ३२२
तुलसी ३१८
तैलसंग्रह ३१२, ३४०
त्रायमाणविनिश्चय ३१६
त्रिदोषालोक ३१३

द

दक्षिणामूर्तिनिघण्टु ३२०
दम ३०९
दिनचर्या ३०९
दिव्यौषधिप्रकाश ३२०
दिव्यौषधिवर्णन ३२०
द्रव्यकल्पद्रुम ३२३
द्रव्यकोष ३२१
द्रव्यगुण ३२०
द्रव्यगुणकल्पवल्ली ३२०
द्रव्यगुणपाठ ३२०
द्रव्यगुणमुक्तावली ३२०
द्रव्यगुणविज्ञान ३०६, ३१४, ३२३
द्रव्यगुणविमर्श ३२०
द्रव्यगुणशतक २९४
द्रव्यगुणशतश्लोकी २९४
द्रव्यगुणशास्त्र ३०९
द्रव्यगुणसङ्कलन ३२०
द्रव्यगुणसंग्रह २७८
द्रव्यगुणहस्तामलक ३१९
द्रव्यगुणाकर ३२०
द्रव्यगुणादर्शनिघण्टु ३२०
द्रव्यगुणाधिराज ३२०
द्रव्यचिह्न ३२०
द्रव्यदशार्थनिरूपण ३२०
द्रव्यदीपिका २९८
द्रव्यनामगुणकथन ३२०
द्रव्यनामनिर्णय ३२०
द्रव्यनिर्णयनिघण्टु ३१९
द्रव्यनिश्चयसारसंग्रह ३२०
द्रव्यपदार्थप्रतिनिधि ३२०
द्रव्यपरीक्षा ३१९, ३२०
द्रव्यप्रकाश ३२०
द्रव्यमुक्तावली ३२०
द्रव्यरत्नाकर ३२०
द्रव्यरत्नावली ३२०
द्रव्यवैशेषिक ३२०
द्रव्यसंग्रह ३२०
द्रव्यसारसंग्रह ३२०
द्रव्यावलि २७४, ३२०, ३२१

ध

धन्वन्तरि ३२१
धन्वन्तरिनिघण्टु २७२, ३१९

न

नरसिंहभाष्य २६९
नवपरिभाषा ३४१
नस्यचिकित्सा ३०९
नाडीविज्ञान ३१३
नानाविधौषधकल्प ३१७
नामगुणसंग्रह २८०
नाममालाशब्दसङ्केतकलिका ३२१
नामसंग्रह २८०
नामसंग्रहनिघण्टु ३२१
निघण्टु २७२
निघण्टु आदर्श ३०९
निघण्टुकल्पद्रुम ३८३
निघण्टुप्रकाश ३२१
निघण्टुरत्नाकर ३०२
निघण्टुराज २९२
निघण्टुविज्ञान ३२३

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

निघण्टुशिरोमणि ३०५, ३२३
निघण्टुशेष २८०
निघण्टुसंग्रह ३०२
निघण्टुसमय ३२१
निघण्टुसार ३२१
निघण्टुसारसंग्रह ३२१
निमिनिघण्टु २७८
निर्णयनिघण्टु ३२१

प

पञ्चविधकषायकल्पनाविज्ञान ३३९
पञ्चाशन्निघण्टुसार ३२१
पथ्यापथ्यविबोधक २८९
परिभाषा ३४१
परिभाषा-प्रबन्ध ३४१
पर्यायमञ्जरी ३२२
पर्यायमुक्तावली ३२२
पर्यायरत्नमाला २७०
पर्यायार्णव ३२२
पाकदर्पण ३४०
पाकप्रदीप ३४०
पाकमार्त्तण्ड ३४०
पाकविधि ३४०
पाकशास्त्र ३४०
पाकाधिकरण ३४०
पाकाधिकार ३४०
पाकार्णव ३४०
पाकावली ३४०
प्रकाशव्याख्या २८५
प्रत्यक्ष औषधिनिर्माण ३१३, ३३९
प्राणिज औषधि ३२३
प्रारम्भिक उद्भिद्शास्त्र ३१४
प्वायजनस प्लाण्ट्स ऑफ इण्डिया ३२५

फ

फ्लोरा ऑफ ब्रिटिश इण्डिया ३२६
फ्लोरा इण्डिका ३२६

ब

बिहार की वनस्पतियाँ ३१४, ३२६
बूटीदर्पण ३११
बृहत् आसवारिष्टसंग्रह ३३९
बृहद् द्रव्यगुणादर्श ३१६
बृहन्निघण्टुरत्नाकर ३०३
बृ० पाकसंग्रह ३४०
बृहत् भेषजकल्प ३१७
बेदी-वनस्पतिकोष ३१६
ब्रिटिश फार्माकोपिया ३३६

भ

भारतभैषज्यरत्नाकर ३४१
भारतीय रसशास्त्र ३०६, ३०९
भारतीय वनौषधि ३२४
भावप्रकाश २३१
भावप्रकाशनिघण्टु २९१
भावप्रकाशिका ३४१
भावस्वभाववाद २८२
भेषजकल्प ३१७
भेषजकल्पसंग्रह ३१७
भेषजकल्पसंग्रहव्याख्या ३१७
भेषजकल्पसारसंग्रह ३१७
भेषजनाममाला ३१९
भेषजरहस्य ३१९
भेषजसर्वस्व ३१९
भोज्यद्रव्यगुणविषय ३१९
भोजनकुतूहल २६३, ३४०
भोजराजनिघण्टु ३२०
भैषज्यकल्पना ३३९
भैषज्यकल्पनाविज्ञान ३३९
भैषज्यगुणार्णव ३१९
भैषज्यविज्ञान ३१९

म

मण्डूकब्राह्मीकल्प ३१८
मदनपालनिघण्टु २८७
मदनविनोद २८७
मदनस्नुहीरसायन ३१८
मधुप्रमेह ३०९
महौषधनिघण्टु ३१९

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

माधव-द्रव्यगुण २८२
मानवी आरोग्य ३०९
मुक्ताफल २८५
मुक्तावली ३२१
मुण्डीकल्पायः ३१८
मूर्वानिर्णय ३१६

य
यूनानी द्रव्यगुणविज्ञान ३१५
यूनानी द्रव्यगुणादर्श ३१५
योगरत्नाकर २३१

र
रत्नमाला ३२२
रसकल्पद्रुम २९६
रसतन्त्रसार व सिद्धप्रयोगसंग्रह ३४१
रसनिघण्टु ३२२
रसमूलिकानिघण्टु ३२२
रसरत्नसमुच्चय २७४
रसवैशेषिक २६९
रसहृदय-व्याख्या २९६
रसामृतम् ३०६
राजकीय औषधियोग-संग्रह ३४१
राजनिघण्टु २९२
राजवल्लभनिघण्टु ३०१
राजेन्द्रकोश ३२१
रुदन्तीकल्प ३१८
रूपनिघण्टु ३११

ल
लघु आयुर्वेदविज्ञान ३१५
लघु द्रव्यगुणादर्श ३१५, ३२३
लघु निघण्टु ३१९

व
वनस्पतिकला ३३९
बनस्पति-परिचय ३१४
वनस्पति वर्णन-प्रवेश ३०९
वनस्पतिशास्त्र ३०७
वनौषधि-गुणादर्श ३०४
वनौषधि-चन्द्रोदय ३११
वनौषधिदर्पण ३०६
वनौषधि-दर्शिका ३१४, ३२६
वनौषधि-निदर्शिका ३३७
वनौषधि-प्रकाश ३२३
वनौषधि-विशेषांक ३१८
वनौषधि-शतक ३१६
वस्तुगुणकल्पवल्ली ३२२
वस्तुगुणनिर्णय ३२२
वस्तुगुणागुण ३२२
वानस्पतिक अनुसंधानदर्शिका २९२, ३२८
वामननिघण्टु ३२२
वाष्पचन्द्रनिघण्टु २७९
विजयाकल्प ३१८
वृक्षायुर्विज्ञान ३२२
वृक्षायुर्वेद ३२२
वृद्धत्रयीनी वनस्पतिओ ३०९
वृन्दमाधव २३१
वेदों में जीवाणुवाद ३१३
वेल्थ ऑफ इण्डिया ३२५
वैदिक निघण्टु २६८
वैद्यकगुणसार ३२२
वैद्यक निघण्टुविशेष ३२२
वैद्यनिघण्टुसार ३२२
वैद्यक परिभाषाप्रदीप ३४१
वैद्यकोश ३२२
वैद्ययोगरत्नावलि ३३४
वैद्यसहचर ३१२
वैद्यामृत ३२२
वैद्यावतंस २९४

श
शङ्करनिघण्टु ३११
शतश्लोकी २८५
शतौषधानि ३२२
शब्दचन्द्रिका ३२२
शब्दप्रदीप ३२२
शब्दरत्नप्रदीप ३२२
शब्दसंग्रहनिघण्टु ३२२

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

शाकनिघण्टु ३२२
शार्ङ्गधरसंहिता गूढार्थदीपिका व्याख्या २८५
शालिग्रामनिघण्टु २३१, ३०३
शालिग्रामनिघण्टुभूषण ३०३
शालिग्रामौषधशब्दसागर ३०४
शिवदत्तनिघण्टु ३११
शिवकोष २९६
शिवकोष-व्याख्या २९७
शिवप्रकाश २९७
शेषराजनिघण्टु ३२२
श्रीशरभेन्द्र वैद्यरत्नावलि ३४१
श्वेतार्ककल्प ३१८

ष

षड्रसनिघण्टु ३१९

स

सङ्गीतरत्नाकर २८०
संज्ञासमुच्चय २९६, २९७, ३२२
संस्कृत साहित्यमा वनस्पतिओ ३०९
संहितोत्तरनिघण्टु २६९
सचित्र उद्भिद् शास्त्र ३१५
सचित्र वनस्पति गुणादर्श ३१०
सन्दिग्धनिर्णय (वनौषधशास्त्र) ३१२
सन्दिग्ध बूटी चित्रावली ३११
सरस्वतीनिघण्टु ३२२
सहस्रयोग ३४१
सारोत्तरनिघण्टु २७१
सिद्धभेषजमंजूषा ३४१
सिद्धभेषजमणिमाला २६३
सिद्धभेषजसंग्रह ३४१
सिद्धमन्त्र २८३
सिद्धमन्त्र-प्रकाशव्याख्या २८५
सिद्धयोगसंग्रह ३४१
सिद्धसार २७१
सिद्धसारनिघण्टु २७१
सिद्धसारसंहिता २६९
सिद्धौषधनिघण्टु ३२२
सिद्धौषधमणिमाला ३१२
सुषेणवैद्यक २८६
सूपशास्त्र ३४०
सूर्यरायान्ध्रनिघण्टु ३२२
सोढलनिघण्टु २८०

ह

हनुमन्निघण्टु ३२१
हरमेखलानिघण्टु २७८
हरिलीला २८५
हरीतक्यादिनिघण्टु-व्याख्या ३१३
हिकमतप्रकाश ३०१
हिकमतप्रदीप ३०२
हिस्ट्री ऑफ हिन्दू केमिस्ट्री ३३४
हृदयदीपक २८५
हृदयदीपकनिघण्टु २८५

A Hand book of Ayurvedic Materia Medica 325
Bombay Drugs 325
Dictionary of Economic Products of India 325
Flora indica 325
Indigenous Drugs of India 325
Materia Medica 325
Meteria Medica of Hindustan. 325
Materia Medica of India and their Thrapeutics 325
Materia Medica of the Hindus. 325
Pharmacographia indica. 325
Pharmacopoea indica 325
Report of the Committee for standard and genvine Ayurvedic Herbs and Drugs, 1925. 309
Sepplement of Pharmacopoea Medica 325
The Vegetable Materia Medica of the Hindus. 325

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुक्रमणिका—९

विविध

अ

अङ्गुलिमान ३३३

अमृतधारा ३३४

अयस्कृति ३२९

अरक ३३०

अर्क ३४०

अर्क-कल्पना ३२९

अलेम्बिक ३३५

अष्टविध वीर्य २२१

आ

आयुर्वेदिक एवं यूनानी ड्रग्स टेक्निकल ऐडवायजरी बोर्ड ३३८

आयुर्वेदिक फार्माकोपिया कमिटी ३३७

आयुर्वेदिक फार्मेसियाँ ३३४

आयुर्वेदीय औषधियों का परिचयविज्ञान ३२७

आयुर्वेदीय भेषजसंहिता ३३७

आसव-अरिष्ट ३२९, ३३९

आहारकल्पना ३३०

इ

इण्डियन केमिकल सोसाइटी ३३५

इण्डियन कौंसिल ऑफ मेडिकल रिसर्च ३२६

इण्डियन ड्रग रिसर्च एसोसियेशन पूना ३२८

इण्डियन फार्माकोपियल लिस्ट ३३६

इण्डियन फार्माकोपिया ३३७

इण्डियन फार्माकोपिया कमिटी ३३७

इण्डियन फार्मास्युटिकल कोडेक्स ३३७

इण्डियन मेडिकल प्रैक्टिसर्स कोआपरेटिव फार्मेसी एण्ड स्टोर्स लिमिटेड ३३४

उ

उदोजस ३७

ऊ

ऊँझा फार्मेसी ३३४

ओ

ओपियम एक्ट ३३८

औ

औषधयोग ३३०

औषधिविक्रय ३३५

क

कर्म २२२

कर्षादिपरिमाणम् ३४०

कलायखञ्ज २६२

कषायकल्पना ३३९

कालिङ्गमान ६३२

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय फार्मेसी ३३४

केन्द्रीय भारतीय चिकित्सा अनुसंधान परिषद् ३३७

केन्द्रीय भेषज शोधसंस्थान ३२७

क्षार ३३२

ग

गुरुकुल काँगड़ी फार्मेसी ३३४

च

चरक फार्मास्युटिकल्स ३३५

चूर्णक्रिया ३२९

झ

झण्डू फार्मेसी ३३४

ड

ड्रग्स एण्ड कास्मेटिक्स एक्ट ३३८

ड्रग्स रूल्स ३३८

ड्रग्स इनक्वायरी कमिटी ३३८

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

गोवर्धन ३१९, ३२२
गोविन्द सेन ३४१
गौड़ाधीश इन्द्रसिंह ३२१

घ

घनश्याम सूरि ३२१

च

चक्रपाणि ३२२
चक्रपाणिदत्त २७८
चतुर्भुज मिश्र २९६
चन्द्रट ३२०, ३२५
चन्द्रनन्दन २७७
चन्द्रराज भण्डारी ३११
चन्द्रशेखर गोपालजी ठक्कर ३२३
चन्द्रशेखरधर शर्मा ३१८
चोपड़ा ३२७

छ

छिक्कनपण्डित ३२२

ज

जगदीशप्रसाद गर्ग ३३९
जगन्नाथप्रसाद शुक्ल २०५, ३२३, ३४१
जगन्नाथ शर्मा ३२३
जयकृष्ण इन्द्रजी ठाकर ३०७
जयदेव शास्त्री ३४१
जयराम गिरि ३१४
जहाँगीर २५४, २५६, २५७
जी० एस० पेण्डसे ३२८
जीन निकॉट ऑफ निस्मस २३९
जैन्न २८१
जोशी वैद्य बापू गङ्गाधर ३२१

ठ

ठाकुरदत्त शर्मा ३३४

ड

डथी ३२६
डायस्कोरिडस २३२

त

तय्यिल कुमारकृष्ण ३२७
त्रिमल्लभट्ट २९४

थ

थियोफ्रेष्टस २३२

द

दत्तराम चौबे ३११
दलजीत सिंह ३१५
दामोदर २८७
दिवाकर चन्द्र ३४०
दिवाकर भट्ट २९४
दृढबल ३३१
देवी सिंह ३३९

ध

धनञ्जय ३२१
धनजीशाह ३२३
धनेश्वर २८५
धर्मदत्त ३२३

न

नगीनलाल छगनलाल शाह
नरसिंह २६९
नरहरिपण्डित २९२
नल ३४०
नागार्जुन २६९
नारायणदास ३०१, ३२०, ३४१
नारायणसुत विश्वनाथवैद्य ३२१
निघण्टुकार २७२
निमि २७८
नीलकण्ठमिश्र ३२२
नूरजहाँ २५१
नृसिंहदेव ३०१

प

पत्तधर झा ३३९
पद्मनाभ २८९
पुरुषोत्तम २८२, ३२०
पुरुषोत्तमशास्त्री हिर्लेकर ३१०
पु० वि० धामणकर ३१०
पूज्यपाद ३१९
पूज्यपादमुनि ३१८
पृथ्वी सिंह ३२१
पेलिटियर २५०
प्रफुल्लचन्द्र राय ३३४

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

प्रभाकरसुत रामचन्द्र ३२१
प्लिनी २२३, २५१
प्लुमियर २४९

ब
बनवारीलालमिश्र ३१९
बर्नियर २५४, २६६
बलदेवप्रसाद मिश्र ३११
बलवन्त सिंह ३१२, ३२६
बापालाल ग० शाह ३०७
बालकृष्ण ३०१
बाहट ३२२
बिन्दु ३४०
बिन्दुसार २५३
बिरजाचरण गुप्त ३०६
बी० मुकर्जी ३२७
बोस ३२७
ब्रह्मदत्त शर्मा ३१८
ब्राण्डिस ३२६

भ
भगीरथ स्वामी ३१९
भारद्वाज ३१७
भाव मिश्र २९१
भास्कर २८०
भिल्लम २८१
भिषगाचार्य ३१९
भीमचन्द्र चटर्जी ३२४
भीमसेन ३१९, ३४०
भोलानाथ मुखोपाध्याय ३१९

म
मदनपाल २८७
मलयसूरि ३२२
महादेव २८३, २८५, २८६, ३२०, ३०१
महेन्द्रकुमार शास्त्री ३१५
महेन्द्रभोगिक २७५
माधव २६०, ३२०, ३२१
माधव उपाध्याय ३४०
माधवकवि २८२
मायाराम उनियाल ३२६
मार्को पोलो २५५
माहेश्वरी ३२६
मुखर्जी ३२७
मुद्गल ३२०
मोरेश्वर भट्ट ३२२
मोहनलाल गटोचा ३२३
युगलकिशोर गुप्त ३४१

र
रघुनाथ गणेश नवहस्त २६३
रघुनाथजी इन्द्रजी ३०२
रघुनाथ सूरि ३४०
रघुनायक ३२१
रघुवीरप्रसाद त्रिवेदी ३४१
रफत हुसेन सिद्दिकी २४९
रविगुप्त २७१
रविदत्त वैद्य ३४०
रविशङ्कर पुरोहित ३२३
रॉक्सबर्ग ३२६
राजवल्लभ वैद्य ३०१
राधाकृष्ण ३२१
रामचन्द्र २८३
रामनाथ चोपड़ा ३२५
रामभरोसी मिश्र ३१९
रामसनेही दीक्षित ३१८
रामसुशील सिंह ३३७
रामेश बेदी ३१६
रावण ३४०
रॉवुल्फ २४९
रूपलाल वैश्य ३११

ल
लटकन मिश्र २९१
लिन हुङ्ग २२३
लिनियस २५०
लोलिम्बराज २९४

व
वाग्भट २३१, २६९

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

वाग्भट्ट आत्रेयी ३३९
वामन ३२२
वामन गणेश देसाई ३०६
वालिच ३२६
वासुदेव शास्त्री वापट ३२३
वाप्पचन्द्र २७९
वास्को डि गामा २६५
वाहटाचार्य २६९
विजयरत्न सेन ३०६
विश्वनाथ द्विवेदी २९२, ३१२, ३३९
विष्णुभट्ट २८७
विष्णु वासुदेव गोडबोले ३०२
वेंकटेश ३१७
वैद्यनाथ ३२१
वैद्य रामनाथ ३१६
वैद्य विजयशङ्कर ३१९
वोपदेव २८३, २८५
व्यास केशवराम ३१९
व्यास पण्डित ३४०
व्रजबन्धु त्रिपाठी ३२३
व्रजभूषण ३२१

शा

शङ्कर गिरि ३१६
शङ्करदत्त गौड़ ३११
शङ्करदाजी शास्त्री पदे ३०४
शार्ङ्ग २८९
शार्ङ्गदेव २८०
शार्ङ्गधर २३१, ३२२, ३२९
शालिग्राम वैश्य ३०२
शाश्वत ३२२
शिवकुमार व्यास ३१९
शिवदत्त मिश्र ३२२
शिव शर्मा २९२
श्यामलदास गौर (वैद्यशास्त्री) ३२३
श्रीकण्ठदत्त २८२
श्रीमती क्लाइव ३४२

स

सत्यदेव विद्यालङ्कार ३३९
सदाचार्य ३२१
सलीमुज्जमा सिद्दिकी २४९
सारंग २८९
सिंघण २८१, २८३
सिंहराज २८३
सीताराम शास्त्री ३२२
सुदर्शनलाल त्रिवेदी ३२३
सुरपाल ३२२
सुषेण २८७
सुषेणदेव २८७
सुषेणपण्डित २८७
सोढल २३१, २८०, ३२९

ह

हरिचरण सेन ३२२
हरिदास वैद्य ३३४
हरिशरणानन्द २२३, ३३९
हरिशाण सेन ३२०
हिरामणिजी मोतीरामजी जङ्गले ३१०
हूकर ३२६
हेन्स ३२६
हेमचन्द्र २८०
हेमाद्रि २८३, २८५
Ainsle. 325
Dymock. 325
Dymock et al. 325
Gadgil. 325
George Watt. 325
H. V. Savnur. 325
Kanailal De. 325
K. C. Bose. 325
Moodeen Sherriff. 325
R. N. Khoury 325
Roxburgh. 325
Sakharam Arjun. 325
U. C. Dutt. 325

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

अनुक्रमणिका–४

ग्रन्थकार एवं व्यक्ति

अ

अकबर २३३, २५४, २५७, २९१

अगस्त्य ३१९, ३२२

अत्रिदेव गुप्त ३३९

अन्तियोकस २५३

अन्तू भाई वैद्य ३१४

अमृतनन्दिन् ३१९

अमोलचन्द्र शुक्ल ३१८

अरुणदत्त २७९

अवधबिहारी अग्निहोत्री ३३९

अशोकमल्ल ३२१

आ

आचार्य यादवजी त्रिकमजी ३०५

आचार्य सुरेन्द्रमोहन ३१०

आढमल्ल २७५

आर० बी० अरोड़ा ३२७

आर्यदास कुमारसिंह ३१९, ३३९

इ

इत्सिंग २६४

इन्दु २७७

इब्नबतूता २५६

ई

ईशानचन्द्र विशारद ३१९

उ

उपेन्द्रनाथ दास ३४१

उमेदीलाल वैश्य ३१८

ए

एकाक्षरी निघण्टु ३२१

ए० माण्डके ३३९

एन० हनुमन्त राव ३२८

क

कतो भट्ट ३०२

कल्याणमल्ल ३२२

कवीन्द्राचार्य ३२२

काउण्टेस ऑफ सिनकोन २५०

काशीलाल ३२६

कालीपद विश्वास ३२४

कालीप्रसन्न विट् ३२१

कीर्तिकर एवं बसु ३२४

कुक ३२६

कृष्णचन्द्र चुनेकर २९२, ३२८

कृष्णदत्त मिश्र २९८

कृष्णप्रसाद त्रिवेदी ३३९, ३४०

कृष्णभोगिक २७५

कृष्णशास्त्री नवरे ३०२

कृष्णात्मज प्रीतिकर ३२१

के० एम० नाडकर्णी ३२४

केदारनाथ पाठक ३१८

के० बी० लाल सेनगुप्त ३१९

केशव २८३, २८५

केशवसुत गोविन्द ३४०

कैयदेव पण्डित २८९

कैवेण्टो २५०

कोदण्डराजसुत माधव ३२२

क्षीरस्वामी २७५

क्षेमशर्मा ३४०

ख

खलीफा मामून २५१

ग

गङ्गाधरशास्त्री गुणे ३१०

गणपति सिंह वर्मा ३१८

गन्ध उपाध्याय ३२०

गार्सिया डी ओर्टा २३७

गुजराल ३२७

गोपाल ३२०

गोपीनाथ गुप्त ३४१

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

डाबर (डा० एस० के० बर्मन) ३३४
डैञ्जरस ड्रग्स ऐक्ट ३३८

ढ

ढाका आयुर्वेदीय फार्मेसी ३३४

त

तुलामान ३३२
तैल ३४०
त्रिकद्रुक यन्त्र ३३३

द

दाऊजी ३२२
द्रव्यगुण २१९
द्रुवयमान ३३१
द्रव्यसंग्रहविज्ञान ३२३
द्रव्यों का कालनिर्णय २३०
द्रव्यों का यातायात २२३
द्विविध वीर्य २२१

ध

धूतपापेश्वर ३३४

न

निर्माणशाला एवं फार्मेसियाँ ३३३

प

पञ्चमहाभूत २१९
पञ्चविध कषाय-कल्पना ३२८
पण्यभेषज ३३५
परिभाषा ३३१, ३४०
पर्णकृच्छ्र ३४, १०७
पाक ३४०
पाय्य मान ३३१
पिष्टि २६७
पुष्याभिषेक १०१, १११
पेटेण्ट ३३०
प्रभाव २२१
प्रस्थमान ३३२
प्वायजन्स ऐक्ट ३३८

फ

फार्माकोपिया ३३६
फार्मुलरी ३३७
फार्मेसी ऐक्ट ३३८
फार्मेसी कॉन्सिल आफ इण्डिया ३३८

ब

बङ्गाल केमिकल ऐण्ड फार्मास्युटिकल वर्क्स ३३४

भ

भारतीय चिकित्सा एवं होम्योपैथी की केन्द्रीय अनुसन्धान परिषद् ३२७
भावना ३३०
भेषजकल्पना ३२८
भेषजकल्पना के उपकरण ३३३
भेषजसंग्रहण ३२३
भेषजसंहिता ३३६
भेषजागार ३३३
भैषज्यकल्पना का वाङ्मय ३३९
भैषज्योद्यान एवं संग्रहालय ३२६

म

मलहम ३३०
मलहर ३३०
महादेवलाल सर्राफ ३३८
मागध मान ३३२
मान ३३१, ३४०
मूत्रकृच्छ्र १०८
मौलिक सिद्धान्त २१९

य

योगसंग्रह ३३४, ३३७
योगों का नामकरण ३३१
यौतव मान ३३१

र

रस २२०
रसशाला ३३४
राजनियन्त्रण ३३७

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

राष्ट्रीय वानस्पतिक उद्यान ३२६
रिसर्चेज इन फार्माकोसी इन इण्डिया ३२७

व
वनौषधि-सर्वेक्षण ३२६
विपाक २२०
वीर्य २२१
वैद्यनाथ आयुर्वेद भवन ३३४

श
शक्ति औषधालय ३३४
शक्तिमात्रवीर्यवाद २२१
शिक्षण एवं अनुसंधान ३३८
शुण्डापात्र ३३३
शोधकार्य ३२७
श्रीकृच्छ्र १०७
श्रीफलकृच्छ्र १०७

ष
षड्विधवीर्यवाद २२१

स
संधानपात्र ३३३
साधना औषधालय ३३४
सिरुपो ३२६
सुखसंचारक कम्पनी ३३·
सुरा ३३०
सुराध्यक्ष ३३०

ह
हरिद्रुपर्णी १६९
हरीतकी १६९
हिमालय ड्रग्स ३३५

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

10518
29/02/16

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection

In Public Domain. Digitization by eGangotri and Sarayu Trust

Suśruta-Saṃhitā

With English Translation of Text and
Ḍalhaṇa's Commentary along with Critical notes

Edited and Translated by
Prof. Priya Vrat Sharma

Suśruta-saṃhitā is an authoritative treatise on Āyurveda particularly Śalyatantra (Indian surgery) which is as popular as Caraka-saṃhitā which is a similar compendium on General Medicine. This is an embodiment of the precepts and teachings of Divodāsa, the king of kāśī, recorded by his foremost disciple, Suśruta. A number of annotations and interpretations were composed thereon by eminent scholars from time to time amongst which Ḍalhaṇa's commentary, Nībandhasaṅgraha, is regarded as the most outstanding in style and contents. It serves ascomplementary to the Suśruta's work. In the present Edition, apart from refining the text, English translation has been given of the text and the commentary of Ḍalhaṇa. Critical notes have also been given wherever necessary. Thus it may serve, from all angles, as faithful guide to understand the Suśruta-saṃhitā in all aspects, Ḍalhaṇa's commentary which sheds new light on the hidden meanings of the saṃhitā is comming out in English translation for the first time.

Vol. I Sūtra Sthāna
Vol II Nidān Sthāna, Śārīra Sthāna, Cikitsā Sthāna
Vol III Kalpa Sthāna, Uttar Tantra, 5 Appendices and Index
(Complete in 3 Vols.)

CHAUKHAMBHA VISVABHARATI
Oriental Publishers and Distributors
P.O. Box No. 1084
K. 37/109, Gopal Mandir Lane
Varanasi-221 001 (India)

Bharatiya Vidya Bhavan, New Delhi Collection